गीता-दर्शन
अध्याय: १७
भगवान श्री रजनीश

कृष्ण की भेंट

अर्जुन अनजाना शिष्य है; जान में तो वह मित्र है। कृष्ण जान के गुरु हैं। और अर्जुन के प्रति मित्रता का जो भाव है, केवल अर्जुन की मित्रता के उत्तर में है।

अर्जुन के मन को चोट न पहुँचे, इसलिए कृष्ण बात करते हैं मित्र की भाषा में। और धीरे-धीरे उस मित्र की भाषा में ही गुरु का संदेश भी डालते जाते हैं। और जैसे-जैसे अर्जुन राजी होता जाता है, वैसे-वैसे कृष्ण गुरु होते जाते हैं।

जैसे ही अर्जुन बन्द होता है और डरता है, वैसे ही मित्र हो जाते हैं। जैसे ही अर्जुन राजी होता है, खुलता है, ग्राहक होता है--वे बहुत ऊँचाई पर उठ जाते हैं; उस ऊँचाई पर--जहाँ कि वे परमात्मा हैं; वहाँ से बोलने लगते हैं। इसलिए कृष्ण के इन वचनों में कई तलों के वचन हैं। कभी वे मित्र की तरह बोल रहे हैं; कभी वे गुरु की तरह बोल रहे हैं; कभी वे ठीक परमात्मा की तरह बोल रहे हैं।

आखिरी ऊँचाई से लेकर साधारण जीवन के तल तक कृष्ण बोल रहे हैं। इसलिए गीता बहुत तलों पर है। और अर्जुन पर निर्भर है; अर्जुन जब जिस ऊँचाई पर उठ सकता है, उस ऊँचाई की वे बात करते हैं।

सभी मार्गों की उन्होंने अर्जुन के सामने बात रख दी, ताकि अर्जुन सहज ही चुनाव कर ले। ...

और फिर इस बहाने-- अर्जुन के बहाने--पूरी मनुष्यता के लिए यह संदेश हो जाता है। क्योंकि ऐसा कोई मार्ग नहीं है, जिस पर कृष्ण ने गीता में मूल बात न कर ली हो। तो सभी मार्गों के लोग, अपने योग्य बात, गीता से पा सकते हैं।

कृष्ण की भेंट

अर्जुन अनजाना शिष्य हैं; जान में तो वह मित्र है । कृष्ण जान के गुरु हैं । और अर्जुन के प्रति मित्रता का जो भाव है, केवल अर्जुन की मित्रता के उत्तर में है ।

अर्जुन के मन को चोट न पहुँचे, इसलिए कृष्ण बात करते हैं मित्र की भाषा में । और धीरे-धीरे उस मित्र की भाषा में ही गुरु का संदेश भी डालते जाते हैं । और जैसे-जैसे अर्जुन राजी होता जाता है, वैसे-वैसे कृष्ण गुरु होते जाते हैं ।

जैसे ही अर्जुन बन्द होता है और डरता है, वैसे ही मित्र हो जाते हैं । जैसे ही अर्जुन राजी होता है, खुलता है, ग्राहक होता है--वे बहुत ऊँचाई पर उठ जाते हैं; उस ऊँचाई पर--जहाँ कि वे परमात्मा हैं; वहाँ से बोलने लगते हैं । इसलिए कृष्ण के इन वचनों में कई तलों के वचन हैं। कभी वे मित्र की तरह बोल रहे हैं; कभी वे गुरु की तरह बोल रहे हैं; कभी वे ठीक परमात्मा की तरह बोल रहे हैं ।

आखिरी ऊँचाई से लेकर साधारण जीवन के तल तक कृष्ण बोल रहे हैं। इसलिए गीता बहुत तलों पर है। और अर्जुन पर निर्भर है; अर्जुन जब जिस ऊँचाई पर उठ सकता है, उस ऊँचाई की वे बात करते हैं ।

सभी मार्गों की उन्होंने अर्जुन के सामने बात रख दी, ताकि अर्जुन सहज ही चुनाव कर ले । ...

और फिर इस बहाने-- अर्जुन के बहाने--पूरी मनुष्यता के लिए यह संदेश हो जाता है । क्योंकि ऐसा कोई मार्ग नहीं है, जिस पर कृष्ण ने गीता में मूल बात न कर ली हो । तो सभी मार्गों के लोग, अपने योग्य बात, गीता से पा सकते हैं ।

गीता-दर्शन

भगवान् श्री रजनीश के कुछ हिन्दी प्रवचन-संकलन

गीता-दर्शन गीता के अध्याय १ से १८ तक २२० प्रवचन / १२ खण्डों में
ताओ-उपनिषद् लाओत्से की ताओ-तेह-किंग पर १२७ प्रवचन / ६ खण्डों में
महावीर-वाणी कुल ५४ प्रवचन / ३ खण्डों में
जिन-सूत्र महावीर-वाणी पर ६२ प्रवचन / ४ खण्डों में
ऐस धम्मो सनन्तनो धम्मपद पर १२३ प्रवचन / ६ खण्डों में
महागीता अष्टावक्र-गीता पर ९१ प्रवचन / ९ खण्डों में
भक्ति-सूत्र नारद-भक्ति-सूत्र पर २० प्रवचन / २ खण्डों में
एक ओंकार सतनाम नानक-वाणी (जपुजी) पर २१ प्रवचन
महावीर : मेरी दृष्टि में २६ प्रवचन
कृष्ण : मेरी दृष्टि में २० प्रवचन
दिया तले अँधेरा झेन और सूफी बोधकथाओं पर २१ प्रवचन
सहज समाधि भली कबीर-वाणी, झेन, सूफी व उपनिषद् की कथाओं पर २१ प्रवचन
साधना-सूत्र मेबॅल कॉलिन्स की 'लाइट ऑन द पाथ' पर १७ प्रवचन
शिव-सूत्र १० प्रवचन
सुनो भाई साधो / गूंगे केरी सरकरा
कस्तूरी कुण्डल बसै / मेरा मुझ में कुछ नहीं } कबीर के पदों पर दस-दस प्रवचन
कहै कबीर दिवाना
पिव पिव लागी प्यास दादू-वाणी पर १० प्रवचन
सबै सयाने एक मत दादू-वाणी पर १० प्रवचन
अकथ कहानी प्रेम की फरीद-वाणी पर १० प्रवचन
बिन घन परत फुहार सहजोबाई के पदों पर १० प्रवचन
भज गोविन्दम् शंकराचार्य के पदों पर १० प्रवचन
तत्त्वमसि ५२० अमृत-पत्रों का संकलन
अध्यात्म उपनिषद् आबू शिविर के १७ प्रवचन
सर्वसार उपनिषद् माथेरान शिविर के १७ प्रवचन
कैवल्य उपनिषद् माऊन्ट आबू शिविर के १७ प्रवचन
जगत तरैया भोर की दया-वाणी पर १० प्रवचन
कन थोरे कांकर घने मलूक-वाणी पर १० प्रवचन
मैंने राम रतन धन पायो मीराबाई के पदों पर १० प्रवचन

भगवान् श्री रजनीश के
ग्यारह प्रवचन

गीता-दर्शन

ग्यारहवाँ खण्ड

गीता, अध्याय-१७

रजनीश फाउन्डेशन प्रकाशन, पूना
१९७७

प्रकाशक

मा योग लक्ष्मी
सचिव, रजनीश फाउन्डेशन
श्री रजनीश आश्रम, १७, कोरेगाँव पार्क, पूना-१, महाराष्ट्र

प्रथम संस्करण : ११ दिसम्बर, १९७७
प्रतियाँ : कुल पाँच हजार

मूल्य

राज संस्करण : ६०.०० रुपये
सामान्य संस्करण : ५०.०० रुपये

मुद्रक

प्र० पु० भागवत
मौज प्रिंटिंग ब्यूरो
खटाववाडी, गिरगाँव, बम्बई ४०० ००४

Price Rs. 40.00
For Sale in India Only

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रद्धात्रय विभाग योग : अध्याय १७

संकलन
मा योग प्रज्ञा

सम्पादन
स्वामी योग चिन्मय

सज्जा
स्वामी आनन्द अर्हत

पूर्व-शब्द

तर्क और बुद्धि से समझ में आ जाता है। और एक बड़े से बड़ा खतरा है, जब समझ में आ जाता है, तो हम सोचते हैं : बात हो गई।

इधर मैं देखता हूँ : पचास साल से गीता पढ़ने वाले लोग हैं। रोज पढ़ते हैं। भाव से पढ़ते हैं, निष्ठा से पढ़ते हैं। उनकी निष्ठा में कोई कमी नहीं है। उनके भाव में कोई कमी नहीं है। प्रामाणिक है उनका श्रम। और गीता वे बिलकुल समझ गए हैं। वही खतरा हो गया है। किया उन्होंने बिलकुल नहीं है कुछ भी।

सिर्फ गीता को समझते रहे हैं, बिलकुल समझ गए हैं। उनके खून में बह गई है गीता। वे मर भी गए हों और उनको उठा लो तो वे गीता बोल सकते हैं, इतनी गहरी उनकी हड्डी-मांस-मज्जा में उतर गई है ! लेकिन उन्होंने किया कुछ भी नहीं है, बस, उसको पढ़ते रहे हैं, समझते रहे हैं। बुद्धि भर गई है, लेकिन हृदय खाली रह गया है। और अस्तित्व से कोई सम्पर्क नहीं हो पाया है।

तो कई बार बहुत प्रामाणिक भाव, श्रद्धा, निष्ठा से भरे लोग भी चूक जाते हैं। चूकने का कारण यह होता है कि वे स्मृति को ज्ञान समझ लेते हैं।

अनुभव की चिंत रखना सदा। और जिस चीज का अनुभव न हुआ हो, खयाल में रखे रखना कि अभी मुझे अनुभव नहीं हुआ है। इसको भूल मत जाना।

मन की बड़ी इच्छा होती है, इसे भूल जाने की, क्योंकि मन मानना चाहता है कि हो गया अनुभव। अहंकार को बड़ी तृप्ति होती है कि मुझे भी हो गया अनुभव।

लोग मेरे पास आते हैं। वे मुझसे पूछते हैं कि मुझे ऐसा-ऐसा अनुभव हुआ है, आत्मा का अनुभव हुआ है। आप कह दें कि मुझे आत्मा का अनुभव हो गया कि नहीं ?

मैं उनसे पूछता हूँ कि 'तुम मुझसे पूछने किस लिए आये हो ? क्योंकि आत्मा का जब तुम्हें अनुभव होगा, तो तुम्हें किसी से पूछने की जरूरत न रह जाएगी। मैं कह दूँ कि तुम्हें आत्मा का अनुभव हो गया, तुम बड़ी प्रसन्नता से चले जाओगे। तुम्हें एक प्रमाण-पत्र, एक सर्टिफिकेट मिल गया। सर्टिफिकेट की कोई जरूरत नहीं है। तुम्हें अभी हुआ नहीं है। तुमने समझ ली है सारी बात। तुम्हें समझ में इतनी आ गई है कि तुम यह भूल ही गए हो कि अनुभव के बिना समझ में आ गई है।

अनुभव को निरंतर स्मरण रखना जरूरी है। इसलिए कृष्ण कहते हैं : 'जिनको अपने ही ज्ञान नेत्रों से तत्त्व का अनुभव होता है, वे महात्मा जन हैं।' और यहाँ वे तत्क्षण उनके लिए महात्मा शब्द का उपयोग करते हैं।

अनुभव आपको महात्मा बना देता है। उसके पहले आप पंडित हो सकते हैं। पंडित उतना ही अज्ञानी है, जितना कोई और अज्ञानी। फर्क थोड़ा-सा है कि अज्ञानी शुद्ध अज्ञानी है। और पंडित इस भ्रांति में है कि वह अज्ञानी नहीं है। इतना ही फर्क है कि पंडित के पास शब्दों का जाल है। और अज्ञानी के पास शब्दों का जाल नहीं है। पंडित को भ्रांति है कि वह जानता है। और अज्ञानी को भ्रांति नहीं है।

अगर ऐसा समझें, तब अज्ञानी बेहतर हालत में है। क्योंकि उसका जानना कम से कम, सचाई के करीब है। पंडित खतरे में है। इसलिए उपनिषद् कहते हैं कि अज्ञानी तो भटकते हैं अंधकार में, ज्ञानी महाअंधकार में भटक जाते हैं। वे इन्हीं ज्ञानियों के लिए कहते हैं।

यह तो बड़ा उलटा सूत्र मालूम होता है! उपनिषद् के इस सूत्र को समझने में बड़ी जटिलता हुई, क्योंकि सूत्र कहता है : अज्ञानी तो भटकते हैं अंधकार में, ज्ञानी महाअंधकार में भटक जाते हैं। तो फिर तो बचने का कोई उपाय ही न रहा!

अज्ञानी भी भटकेंगे, और ज्ञानी और बुरी तरह भटकेंगे, तो फिर बचेगा कौन ?— बचेगा अनुभवी। अनुभवी बिलकुल तीसरी बात है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता

सत्रहवाँ अध्याय

श्रद्धात्रय विभाग योग

ग्यारह प्रवचन

अन्तर्सूत्र अनुक्रम

निकट है, दुःखी हो तो दूर है / नाचो, गाओ, पुलकित होओ / • शिष्य पूछे और गुरु उत्तर न दे—चुप रहे—इसका क्या अर्थ है ? / चुप्पी भी उत्तर है / बिना तैयारी के असमय में पूछने पर उत्तर नहीं / जिज्ञासा काफी नहीं—तैयारी चाहिए / पूछते हो प्रेम की, परमात्मा की बातें—चित्त में होती है : वासना, पद-प्रतिष्ठा की खोज / गैर-समय में दिया गया उत्तर घातक / चुप्पी का अर्थ है—रुको, जल्दी मत करो / गुरु तुम्हें देखता है—तुम्हारे प्रश्नों को नहीं / तुम न भी पूछो, तो भी वह समय आने पर उत्तर देगा / निःशब्द उत्तर भी होते हैं / गुरु के पास होना बड़ी बारीक कला है / जो मिले, उसमें ही अनुकम्पा मानो / गुरु-शिष्य संबंध का विकास पूरब में हुआ / प्रश्न के पीछे जिज्ञासा नहीं—अहंकार खड़ा हुआ / प्रश्न—एक बौद्धिक खुजलाहट / गुरु अहंकार तोड़ने के लिए है— उसे सजाने-संवारने के लिए नहीं / तामसी शिष्य चाहता है—गुरु उसके लिए सब कर दे / राजसी शिष्य रुक नहीं सकता—हमेशा उसे करने को कुछ चाहिए / अक्रिया अकर्मण्यता नहीं है / अक्रिया अर्थात् कर्ताशून्य कर्म / राजसी व्यक्ति पूछता है : अक्रिया पाने के लिए क्या करें / शिष्यत्व मिटने की कला है / सत्त्व अर्थात् संतुलन / अति से मुक्ति चाहिये / कृष्ण ने उद्धव को वृन्दावन भेजा—गोपियों को समझाने, पर उद्धव सफल क्यों न हो पाये ? / पण्डित प्रेमी को नहीं समझा सकता / उद्धव को भेजा गया—ताकि वे गोपियों से प्रेम का पाठ पढ़ें / गोपियाँ कृष्ण से कम पर राजी नहीं / भक्त कहेगा, परमात्मा मिल गये तो वेद मिल गये / पण्डित वेद को भगवान् कहता है / भूखे को पाक-शास्त्र व्यर्थ है—परमात्मा के प्यासे को शास्त्र व्यर्थ है / गोपियों को परमात्मा का स्वाद भी लग गया था / जिसको ध्यान की भनक भी लग गई, पण्डित उसको भरमा नहीं सकता / सिर्फ प्रेमी नाराज हो सकता है परमात्मा से—पण्डित नहीं / गोपियाँ बहुत नाराज हुईं / यहूदी फकीर झुसिया का परमात्मा से झगड़ना / गोपियों ने उद्धव को बैरंग वापस भेज दिया / प्रेमी के पास पण्डित की मुसीबत / गुरु अर्थात् जिसने परमात्मा को जाना है और जो तुम्हें भी जना दे / गुरु के लिए शब्द—साधन है—साध्य नहीं / ...जैसा अंतकरण, वैसी श्रद्धा / कोई भी व्यक्ति पूर्ण तामसी, या पूर्ण राजसी या पूर्ण सात्विक नहीं हो सकता / तीनों गुण कम-ज्यादा मात्रा में होंगे / जब तक शरीर है, तब तक तीनों गुण रहेंगे / बुद्ध जैसे जीवन-मुक्त में भी थोड़ा तमस् तो रहता ही है / शरीर रहते

निर्वाण की अवस्था—शरीर छूटने पर महापरिनिर्वाण / सत्त्व की पतली-सी किरण के सहारे सत्त्व के सूर्य की ओर यात्रा संभव / रात तमस् का बढ़ना, दोपहर रजस् का और संध्याकाल में सत्त्व का बढ़ना / संध्या का अर्थ है : बीच का काल, मध्य की घड़ी / सुबह और शाम का संध्याकाल ध्यान और प्रार्थना के लिए सर्वोत्तम / हिंदुओं के लिए संध्या—ध्यान और प्रार्थना का पर्यायवाची / मुसलमानों के नमाज के संध्याकाल / हिंदुओं का ब्रह्म-मुहूर्त / एक ही व्यक्ति—सुबह कुछ, दोपहर कुछ और सांझ कुछ / हर व्यक्ति के भीतर कम से कम तीन आदमी हैं / सत्त्व के क्षणों को जितना बढ़ा सको, उतना अच्छा / बच्चे में सत्त्व, जवान में रजस् और वृद्ध में तमस् की मात्रा अधिक / बच्चे का सौंदर्य—उसके सत्त्व गुण के कारण / बच्चे यानी ब्रह्म-मुहूर्त / बच्चों के बालपन में संतत्व की कीमिया है / साधक अर्थात् जो अपने सत्त्व की मात्रा को बाह्य परिस्थितियों से अप्रभावित रखता है / जीवन के चौबीस घंटों को तीन गुणों के तीन हिस्सों में बाँट लो / तीनों गुणों के संतुलन से अंतस् संगीत का जन्म / आठ घंटे संन्यासी, आठ घंटे दुकानदार और आठ घंटे निद्रा / चौबीस घंटे संन्यासी बनने की कोशिश में भारत ने बहुत कुछ गँवाया है / जीवन के नियम का उपयोग—जीवन के पार उठने के लिए / जैसी श्रद्धा, वैसे तुम / अपनी श्रद्धा को पहचान कर उसी ढंग से जीओ / तीन गुणों का संतुलन—गुणातीत में ले जाता है / सात्त्विक पुरुष देवों को—दिव्यता को पूजते हैं / सात्त्विक श्रद्धा की आँख में ही दिव्यता का दिखाई पड़ना / पति में सत्त्व का जन्म, तो पत्नी बेचैन / पत्नी में सत्त्व का जन्म, तो पति बेचैन / देवता अर्थात् जिसके जीवन में सत्त्व का संतुलन आ गया / सत्त्व स्वर्ग है—इसके भी पार जाना होगा / देवता मुक्त नहीं हैं—वे सुख से बँधे गये हैं / सत्त्व की श्रद्धा वाले देवों को पूजते हैं / राजसी श्रद्धा वाले यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं / राक्षस यानी राजनेता / सफलतम राक्षस—रावण / सभी राजनीतिज्ञों के दस सिर—दस चेहरे / राजनीतिज्ञ को मारना मुश्किल / राजनीतिज्ञ प्रेम की कुरबानी दे सकता है—पद की नहीं / राजसी व्यक्ति यज्ञ की अर्थात् धन की पूजा करते हैं / पद की—धन की—शक्ति की पूजा / तामसी व्यक्ति भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं / कुछ भी करना न पड़े, सब कुछ कोई दूसरा कर दे / तुम साधु-संतों के पास क्या माँगने जाते हो ? / चमत्कार की खोज तामसिक श्रद्धा का

लक्षण है / सत्य साईं बाबा के पास तामसी श्रद्धा वालों का जमाव / संत के पास तो वही पहुँच सकता है, जो माँगने नहीं—अहोभाव प्रकट करने जाता है।

• भक्त के सामने साक्षात् भगवान् हैं, फिर भी विरह कम क्यों नहीं हो रहा है ? / परमात्मा को निकट पाकर भक्त की प्यास सर्वाधिक गहरी / भक्त रोते पाये जाते हैं—अभक्त नहीं / आँसू—सौभाग्य के लक्षण / विरह की अग्नि में भक्त का भस्मीभूत होना और परमात्मा का आविर्भाव / भक्त जब तक भगवान् से एक ही न हो जाय—तब तक विरह / रोने के पहले उसकी याद आनी जरूरी है / रोआँ-रोआँ प्यासा हो उठता है / विरह के आँसुओं की गलत व्याख्या मत कर लेना / गुरु का संबल / ध्यान की शांति से अशांति का बोध सघन / परमात्मा के निकट पहुँच कर समस्त संताप का सघनीभूत हो उठना / विरह के आँसुओं का अहोभाव से स्वीकार / आँखों में आँसू हों—लेकिन पैर में हो नृत्य और हृदय में हो मिलन की आकांक्षा / मिलन के पूर्व की पीड़ा से घबड़ा कर वापस लौटा हुआ व्यक्ति कट्टर नास्तिक हो जाता है / रवीन्द्रनाथ की कविता—परमात्मा के द्वार से वापस भाग खड़ा होना / जो जान लिया, उसे भूल सकते हो—खो नहीं सकते / नास्तिक क्षण भर में आस्तिक हो सकता है / नास्तिक अर्थात् दूध का जला—छाँछ को फूँक-फूँक कर पीने वाला / विरह की पीड़ा—विरह का रेगिस्तान—और मिलन की वर्षा / बिना विरह से गुज़रे—परमात्मा से मिलन असंभव / पण्डित, पुरोहित और पुजारियों के झूठे शार्टकट / परमात्मा के लिये रोओ—ताकि कभी मिलन के आनन्द में हँस सको / विरह आये, तो परम सौभाग्य समझना / • शरणागति में अहंकार की मृत्यु है—तो शरणागति की यात्रा किसके द्वारा होती है ? / शरणागति—यात्रा नहीं—छलाँग है / अहंकार के गिरते ही—यात्रा नहीं होती और मंजिल आ जाती है / अहंकार गिरेगा—देखने से—साक्षी भाव से / अहंकार की लीला देखो—अनेक-अनेक रूपों में / शरणागति होती है—की नहीं जाती / एक मात्र कर्ता है परमात्मा / अपने को कर्ता मान लेना ही भ्रांति है / देखते-देखते कर्ता खो जाता है / • आपकी

आलोचना सुनकर दुःख होता है, आपको देखकर खुशी होती है ! / सुख चुना तो दुःख भी झेलना पड़ेगा / सुख एक उत्तेजना है / सुख मत चुनो—शांत बनो / शांति उत्तेजना नहीं है / संगीत भी उत्तेजना है / जब तक द्वन्द्व है, तब तक अशांति / जागकर मेरे पास रहोगे तो सुख नहीं, शांति आयेगी / शांति में दृष्टि निर्मल और निर्दोष / तुम मत मरो, माँग को मरने दो / तमस् का बोध—सत्त्व का लक्षण है / तीनों गुणों में एक ही जीवन ऊर्जा का प्रवाह है / तमस् और रजस् को सत्त्व की ओर झुकाओ / तीनों के बीच के संतुलन से गुणातीत आयाम का खुलना/मौन, निर्विचार, ध्यान—सत्त्व के लक्षण / भीतर तीन के मिलन से त्रिवेणी—तीर्थ—एक का जन्म / सब साज-सामान भीतर मौजूद है—सिर्फ थोड़ा-सा संयोजन बिठाना है /...आसुरी स्वभाव वाले लोग शास्त्र-विधि से रहित मनोकल्पित घोर तप करते हैं / शास्त्र का नहीं—स्वयं का अध्ययन / न शास्त्र की जरूरत है, न गुरु की—इसमें सचाई है, लेकिन यह केवल सत्त्वगुणी के लिए उपयोगी / सत्त्वगुणी न शास्त्र छोड़ता, न गुरु छोड़ता—सिर्फ पकड़ छोड़ता / पकड़ और मेरापन का मोह छूटते ही सब शास्त्र और सब गुरु उपयोगी / पकड़ छूटती थी, लेकिन शिष्यत्व गहरा होता था / रजोगुणी हर चीज में से दौड़ निकाल लेता है / मेरे भारतीय श्रोताओं में एक प्रतिशत सात्त्विक, नौ प्रतिशत राजसिक और नब्बे प्रतिशत तामसिक लोग थे / कृष्णमूर्ति की बातों से केवल एक प्रतिशत सत्त्वगुणी को ही लाभ / नब्बे प्रतिशत तामसी लोग अपनी गहरी नींद में और अधिक आश्वस्त / शास्त्र अर्थात् जानने वालों के वचनों का संग्रह/शास्त्रों को होशपूर्वक समझने की कोशिश करना / लकीर के फकीर मत बनना / शास्त्र तुम्हें सत्य तक नहीं पहुँचा सकते, लेकिन बहुत से असत्यों से तुम्हें बचा सकते हैं / शास्त्र बचाता है भूल करने से, गुरु सम्हालता है—सही करने की दिशा में / तामसी—आसुरी स्वभाव वाला व्यक्ति न तो शास्त्र की सुनता—न गुरु की; सुनता है—अहंकार की / उलटे-सीधे काम करता रहता है / अहंकार बिना लड़े बच नहीं सकता / भोगी भी शरीर को सताते हैं—और त्यागी भी / तुम मध्य में रहना, संतुलन साधना।

निमित्त मात्र है—शिष्य की संभावनाओं के प्रकट होने में / कृष्ण से श्रद्धा मिली अर्जुन को—भरोसा मिला / हजारों वर्ष लगेंगे—यह पहचानने में. कि मैं किन अर्जुनों से बोल रहा था / • भक्त भक्त ही बना रहेगा, भगवान् कभी नहीं हो सकता—इस मत की आधार-भूमि क्या है ? क्या इसका भी एक विधि की तरह उपयोग किया जा सकता है ? / यह एक विधि है कि भक्त कभी भगवान् नहीं हो सकता / यह भी एक विधि है कि भक्त भगवान् ही है, सिर्फ उसे पता नहीं है / ये दोनों कथन विधियाँ हैं / इनके लाभ भी हैं—और हानियाँ भी / भक्त भगवान् ही है—इससे अहंकार का पोषण संभव / वेदांत की शिक्षा से भारत का भयंकर पतन हुआ / भक्त के मिटने पर ही भगवान् का होना / भक्त की विनम्रता में ही मोक्ष घटित हो जाता है / भक्त भगवान् हो जाता है / भक्ति में ही मत रुक जाना / ज्ञानी को अहंकारी समझने का खतरा / मंसूर की हत्या, क्योंकि उसने कहा कि मैं परमात्मा हूँ—अनल-हक / मंसूर की हत्या से इसलाम बिना शिखर का मंदिर हो गया / जर्मनी के परम संत इकहार्ट को पोप द्वारा चर्च से बाहर निकाल दिया गया / परम संत जेकब बोहमे को भी चर्च ने स्वीकार न किया / हर विधि का लाभ है, हर विधि का खतरा है—खतरे से बचना / विधि का उपयोग करना, लेकिन उसे हमेशा के लिए पकड़ मत लेना / ...तप के तीन तल—शरीर, वाणी, मन / खड़े श्री बाबा का गंदगी भरा तामसिक तप / पदयात्री की सनक-भरी राजस तपस्या। राजसी की बाहरी भाग-दौड़ बंद कर दो तो वह मन में दौड़ता रहता है / पूरब आलसी और पश्चिम राजसी / पश्चिमी युवक-युवतियों की तीर्थयात्रा—गोआ—काठमाण्डू—मनाली / जैन और बौद्ध संन्यासी—राजसी, क्योंकि महावीर और बुद्ध क्षत्रिय हैं / आज के हिन्दू संन्यासी तामसी / हिन्दू संन्यासियों ने आश्रम बनाये / जैन संन्यासी के सतत घूमते रहने के कारण उनकी सारी साधनाएँ खो गईं / युवा संन्यासी घूमे—खबर पहुँचाए / वृद्ध संन्यासी एक जगह रुके / मैं पंद्रह वर्ष तक लगातार घूमता रहा—खबर पहुँचा दी / सूर्य को नमन अर्थात् अंधकार से प्रकाश की ओर चलने का अन्तर्भाव / अस्तित्व में दिव्यता के दर्शन की कला / हिन्दुओं ने सारे जगत् को देवता से भर दिया / नमन से दिव्यता की संभावनाओं का खुलना / द्विज अर्थात् जिसने ब्रह्म को जाना, जिसमें चिन्मय का आविर्भाव हुआ / द्विज के पास ही पहली चिनगारी पकड़ेगी—पहला स्वाद लगेगा / द्विज

से बह रहा है परमात्मा / जिससे तुमने कुछ भी सीखा है, उसके प्रति नमन / झुकने का गहन अभ्यास / जिससे दूसरों ने भी सीखा है, उनके प्रति नमन / पवित्रता अर्थात् प्रामाणिकता / जो प्रामाणिक होगा, वह सरल हो जाएगा / सरलता अर्थात् जीवन के सभी संवेगों को बच्चे की तरह जीना / प्रामाणिकता से सरलता, सरलता से ब्रम्हचर्य / काम-वासना के गहन अनुभव से ब्रम्हचर्य का जन्म / अनुभव की पूर्णता मुक्त करती है / जब तक काम-वासना, तब तक हिंसा, तब तक कलह / भोग के लिए धन चाहिए, पद चाहिए / वाणी का तप—प्रिय, हितकारी, यथार्थ, स्वाध्याय-युक्त बचन / बोलते समय भीतर जागे रहो—कि क्यों बोल रहा हूँ / मन का तप—प्रसन्नता, शांत भाव, मौन, मन का निग्रह और भाव की पवित्रता / प्रसन्नता मन के पार जाने का उपाय है / मन का निग्रह अर्थात् मन के प्रति जागे रहना / साक्षी-भाव है—मन का निग्रह।

• पूर्वीय हिन्दू मनीषा ने जीवन के विकास की परम ऊँचाइयाँ छुईं, फिर उसका पतन कैसे हो गया ? / अतिशय अंतर्मुखी व्यक्ति शांत हो जाएगा, लेकिन दीन-दरिद्र हो जाएगा / बहिर्मुखी व्यक्ति बाहर सुख-सुविधा इकट्ठी कर लेगा, भीतर चिंता और दुःख से भर जाएगा / जीवन द्वन्द्व है—और मन चुनाव / पूरब है ब्रह्मवादी, मायावादी और पश्चिम है —संसारवादी, भोगवादी / संन्यास अर्थात् भीतर और बाहर का संतुलन / एक अति से दूसरी अति में जाने का खतरा / पूरब पदार्थवादी, कम्युनिस्ट होता जा रहा है और पश्चिम अध्यात्मवादी / समग्रता सबसे बड़ी मनीषा है / खतरा है—पश्चिम की युवा पीढ़ी विज्ञान को नष्ट न कर डाले / हिप्पी अर्थात् विज्ञान का विरोध / बाहर और भीतर, भौतिक और अध्यात्म को साथ-साथ विकसित करने का अभिनव प्रयास / गृहस्थ और संन्यासी—अधूरे-अधूरे, परस्पर आधारित / पूरा मनुष्य ही तृप्त होता है / तुम गृहस्थ और संन्यासी एक साथ हो जाओ / एकांगी होना रोग है / जीवन एक संतुलन है / जीवन एक संयुक्त खेल है / उपवास के लिए चर्बी—संगृहीत भोजन जरूरी / पूरब की शांति और

पश्चिम की सुख-समृद्धि का मिलन / • झुकने की महाघटना का सूत्रपात कैसे होता है ? अकड़ का अंतिम परिणाम क्या है ? / अकड़ की पीड़ा / अहंकार की आग में जलना / अहंकार के शिखर से निरहंकार में छलाँग सरल / पहले अहंकार का सघनीभूत होना जरूरी / पहले विज्ञान, फिर धर्म / पहले विचार, फिर ध्यान / पहले अहंकार, फिर निरहंकार • सद्‌गुरुओं की लीलाएँ अलग-अलग क्यों है ? / प्रत्येक व्यक्ति अनूठा, अद्वितीय और बेजोड़ है / जुड़वाँ बच्चे गर्भ में भी भिन्न-भिन्न / सद्‌गुरु सर्वथा भिन्न हैं—विभिन्न पर्वत शिखर की तरह / महावीर, मुहम्मद, कृष्ण, राम—सब भिन्न और अनूठे / जो एक सद्‌गुरु के प्रेम में पड़ गया, उसे दूसरे सद्‌गुरु को पहचानना कठिन / महावीर की नग्न वीतरागता / कृष्ण का राग-रंग / राम की मर्यादा / परम ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव में जीते हैं / कृष्ण के राग-रंग के पीछे, भीतर अनहद नाद का महासंगीत बज रहा है / रूप अलग हैं, लेकिन भीतर एक ही अरूप का वास है / अनेक हैं वाद्य, लेकिन संगीत एक है / अनेक हैं लीलाएँ, लीला करने वाला एक है /...फलाकांक्षायुक्त राजस तप / मूढ़तापूर्ण तामस तप / फल को न चाहना—सत्त्व का शुद्धतम लक्षण / जब तक कुछ चाहोगे, ध्यान न लगेगा / चाह अशांति है / ध्यान है—अभी और यहीं हो जाना / शांति स्वभाव है / अर्जुन फलाकांक्षा के कारण चिंतित है / अपनों को मार कर क्या फल मिलेगा / कृष्ण की पूरी चेष्टा यह है कि अर्जुन फल की चिंता छोड़ दे—निष्काम हो जाए / फल की आकांक्षा छोड़ते ही अहंकार गिर जाता है / एक व्यक्ति की गलती से, चीन में, आक्युपंक्चर के चिकित्साविज्ञान का जन्म / फल की आकांक्षा अर्थात् श्रद्धा का अभाव / कृत्य पर पूरा ध्यान दो, फल की चिंता ही छोड़ दो / जो बोओगे, वही काटोगे / धार्मिक व्यक्ति स्वयं में कारण खोजता है, अधार्मिक व्यक्ति दूसरों में / श्रद्धापूर्वक निष्काम भाव से किए गए कृत्य का फल सुनिश्चित / सत्कार के लिए, लोभवश, पाखण्ड के साथ किया गया तप—राजसिक / राजसिक तप से क्षणभंगुर सुख का मिलना / तामसी तपस्वी—जिद्दी, मूढ़, और आत्म-पीड़क / उपवास अर्थात् ध्यान में परमात्मा के इतने निकट पहुँच जाना कि भूख-प्यास भूल जाए / गांधी और मोरारजी के उपवास सात्त्विक नहीं, राजसिक हैं / सत्य का कोई आग्रह नहीं हो सकता, ज्यादा से ज़्यादा निवेदन हो सकता है / रजस् यानी राजनीति, सत्त्व यानी धर्म / तामसी व्यक्ति दूसरों को दुःख

देने में सुख पाता है / स्वाध्याय करें, ताकि स्वयं के भीतर त्रिगुण की स्थिति का पता चले / सत्त्व है द्वार भगवत्ता का ।

• किसी एक सद्‌गुरु को मानने वाले दूसरे सद्‌गुरु को क्यों स्वीकार नहीं कर पाते ? हम सब जगह झुकते हैं, लेकिन कृष्णमूर्ति के प्रेमी आपको क्यों स्वीकार नहीं कर पाते ? / सद्‌गुरुओं की भिन्नता / एक वर्ग है—कृष्णमूर्ति, बुद्ध, महावीर जैसे सद्‌गुरुओं का / उनका उपदेश—न श्रद्धा, न समर्पण, न निर्भरता—परिपूर्ण स्वतंत्रता / कृष्णमूर्ति को सुनकर उन्हें न समझने वाला कृष्णमूर्ति से ही बँध जाता है / दूसरा वर्ग है—मेहरबाबा, कृष्ण, क्राइस्ट जैसे सद्‌गुरुओं का / उनका उपदेश है—समर्पण, झुकना / कृष्णमूर्ति जैसे गुरु को मानने वाले केवल एक प्रतिशत लोग पहुँचते हैं / स्वतंत्रता के नाम पर अहंकार को पुष्टि / समर्पण के मार्ग में निन्यानबे प्रतिशत लोगों को सफलता / मेरा मार्ग तीसरा है—समर्पण और स्वतंत्रता का सम्मलन / मेरे पास सौ प्रतिशत लोगों के लिए मार्ग है / मेरे शिष्य सब जगह झुकें / डायोजनीज की कथा : एक मालिक बिकने आया है / सबसे मुक्त होना हो, तो सबके प्रति समर्पित हो जाओ / कृष्णमूर्ति के पास अहंकारी और राजसी लोग इकट्ठे और मेहरबाबा के पास आलसी लोग / सत्त्व का व्यक्ति हर जगह से लाभ ले लेता है / रजस तर्क है; सत्त्व तर्क के बाद उपलब्ध हुई श्रद्धा है / कृष्णमूर्ति का मार्ग है—अशरण का / मेहरबाबा का मार्ग है—समर्पण का / मेरा मार्ग है—परस्पर-तंत्रता का / सब चीजें जुड़ी हैं / गंगा एक है—घाट अनेक हैं / • आपने कहा है कि माँगों तो क्षुद्र मिलता है; क्या भगवान् माँगने से भी क्षुद्र ही मिलेगा ? / माँग क्षुद्र करती है / संसार में जीवन भर माँगने की आदत / माँग—सीमित की ही संभव / अचाह होते ही विराट् तुममें उतरने लगता है / माँगने से जीवन-चेतना का सिकुड़ना / • स्वयं पर संदेह श्रद्धा पर ले जाता है, तो श्रद्धा पर संदेह कहाँ ले जाएगा ? / विचार का शिखर—जब संदेह पर संदेह आ जाय / श्रद्धा की पूर्णता अर्थात् श्रद्धा पर श्रद्धा आ जाना / संदेह और श्रद्धा के द्वन्द्व के पार है धर्म / नास्तिकता और आस्तिकता के विदा हो जाने पर परम धर्म का जन्म / जहाँ तक द्वन्द्व है,

कहानी / प्रत्येक व्यक्ति के मन में सदा युद्ध चल रहा है / गीता के प्रारंभ और अंत का युद्ध से कोई संबंध नहीं है / आठ ग्रहों का मिलना—एक झूठा बहाना / अहंकार की आहुति—परमात्मा की आग में / युद्ध से भरी चित्त-दशा / आदर्शवादियों की गलत शिक्षा—व्यक्ति को खण्ड-खण्ड बनाने वाली / कृष्ण का संदेश अर्जुन के लिए—स्वधर्म का स्वीकार / अर्जुन अपने क्षत्रियत्व को इनकार करके एक भीतरी युद्ध में पड़ने जा रहा है / स्वधर्म को कभी न छोड़ना, और पर-धर्म को कभी न पकड़ना / वेश्या का स्वधर्मपालन : एक अद्भुत कथा / व्यक्ति के भीतर का द्वन्द्व ही असली युद्ध है / तुम जहाँ हो, वहाँ पूरे रहो / स्वयं से दूर भागना असंभव / लड़ो मत—अपनी निजता में बहो / स्वयं जैसे बनो / • इस आक्रमणशील युग में स्त्रैण-चित्त, सरल व्यक्ति अपने को कैसे बचाएँ? / मीठी यहूदी कथा : छत्तीस छिपे हुए संतों का पृथ्वी पर घूमना / आदमी अपनी मरजी से दुःखी है / पत्नी व बच्चे द्वारा दुःख और बीमारी के सहारे दूसरों का ध्यान आकर्षित करना / लोगों के ध्यान से अहंकार का पोषण / तुम नहीं सुनते, तो भी संत करुणावश बोले चले जाते हैं / करुणा कभी निराश नहीं होती / आक्रमक-चित्त लोगों को शांत बनाने के चेष्टा करो—भले असफलता ही मिले / अपने हृदय को उन पर उँडेलो / • सजगता से आत्म-स्वीकार फलित होता है या आत्म-स्वीकार से सजगता? / मुरगी पहले या अण्डा—व्यर्थ की उलझन / पहले अण्डे का नाश्ता, फिर मुरगी का भोजन / स्वीकृति सजगता को बढ़ाती है और सजगता स्वीकृति को / शांत लोगों के लिए आत्म-स्वीकार से प्रारंभ, अशांत के लिए सजगता से प्रारंभ / गुठलियाँ मत गिनो, आम चूस लो / ...ओम् अर्थहीन या अर्थातीत ध्वनि / परमात्मा का प्रतीक—ओम् / ओम् के सम्बन्ध में सभी धर्मों की स्वीकृति / ओम् तत् सत्—इन तीन शब्दों में भारत का सारा ज्ञान समाया हुआ है / सत् अर्थात् जो सदा है / तुम मिटोगे, तो ही ओम् तत् सत् सत्य हो पाएगा / सत्कर्म अर्थात् निरहकारं भाव से निकला हुआ कर्म / श्रद्धा अर्थात् समर्पण / एक ही तप है—एक ही यज्ञ है—कि तुम मिटो / एक ही दान है—कि तुम अपने को दे डालो / अहंकार के मिटने पर शेष रह जाता है—ॐ तत् सत्।

गीता-दर्शन

श्रद्धात्रय विभाग योग

सत्य की खोज और त्रिगुण का गणित

पहला प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, प्रातः, दिनांक २१ मई, १९७५

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

इस प्रकार भगवान् के वचनों को सुनकर अर्जुन बोला :

हे कृष्ण, जो मनुष्य शास्त्रविधि को त्यागकर केवल श्रद्धा से युक्त हुए देवादिकों का पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है—सात्त्विकी है अथवा राजसी है या तामसी है?

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्री कृष्ण भगवान् बोले :

हे अर्जुन, मनुष्यों की वह स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकार की ही होती है, उसको तू मेरे से सुन।
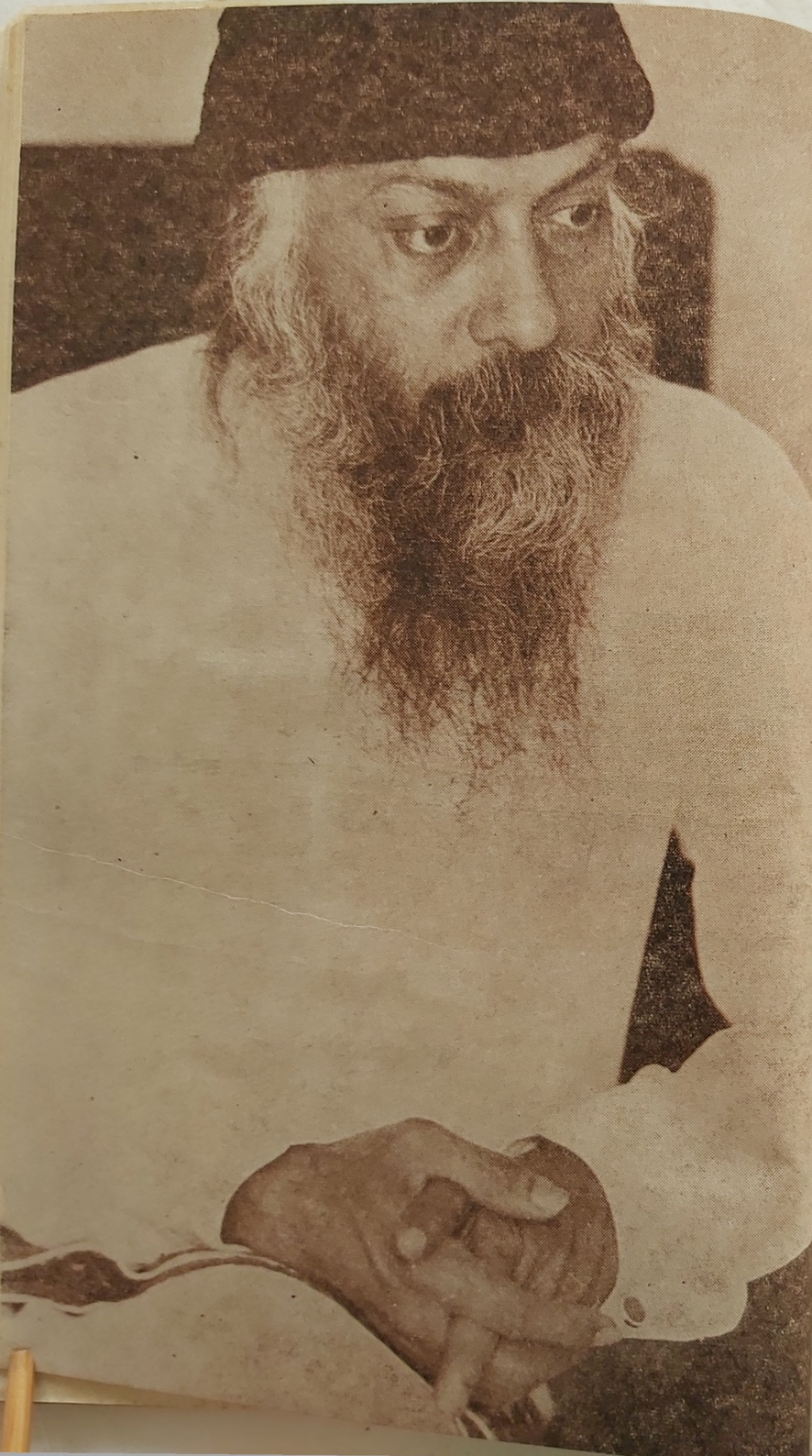
सत्य की खोज उतनी ही पुरानी है, जितना मनुष्य; शायद उससे भी ज्यादा पुरानी। मेरे देखे ऐसा ही है—मनुष्य से भी ज्यादा पुरानी सत्य की खोज है।

स्वभावतः प्रश्न उठेगा कि मनुष्य से पुरानी यह खोज कैसे हो सकती है? खोजेगा कौन?

मनुष्य से पुरानी है खोज सत्य की—ऐसा जब मैं कहता हूँ, तो उसका अर्थ है कि सत्य को खोजने की आकांक्षा से ही मनुष्य का जन्म हुआ है। मनुष्य—मनुष्य है, क्योंकि सत्य को खोजता है। पशुओं में से जो चेतना निखर कर मनुष्य हुई है, वह सत्य की किसी अज्ञात खोज के कारण हुई है।

सभी पशु मनुष्य नहीं हो गये हैं; सभी पौधे मनुष्य नहीं हो गये हैं। अनन्त आत्माएँ हैं, उनमें से बड़ा छोटा-सा खण्ड मनुष्य हुआ है। यह मनुष्य कैसे हो गया है? यह सारा अस्तित्व क्यों नहीं हो गया है? छोटी-सी चेतना की धारा ऊपर उठी है। कौन इसे ऊपर उठा लाया है? सत्य की एक अनजानी खोज इसे ऊपर उठा लायी है।

मनुष्य और पशुओं में यही भेद है। पशु तृप्त हैं; जी रहे हैं; लेकिन जीवन क्या है—इसे जानने की अभीप्सा नहीं है; जीवन कहाँ से है—इसे जानने की कोई जिज्ञासा नहीं है। पशुओं के जीवन में जीवन तो है, चैतन्य का आविर्भाव नहीं; ध्यान नहीं जागा; समाधि की आकांक्षा नहीं जागी; सत्य को जानने की प्यास नहीं उठी। इसलिए कहता हूँ : मनुष्य से भी ज्यादा पुरानी खोज है—सत्य की।

मनुष्य होने के कारण तुम सत्य की खोज करते हो—ऐसा नहीं; सत्य की खोज करने के कारण तुम मनुष्य हुए हो—ऐसा है। लेकिन मनुष्य हो जाने से सत्य की खोज पूरी नहीं हो जाती; बस शुरू होती है। जो अब तक अचेतन थी; वह चेतन बनती है; जो अब तक अनजानी थी, वह जानी-मानी बनती है; जिसे अब तक तुम ऐसे

अँधेरे में टटोलते थे, अब तुम उसे दीया जलाकर खोजते हो। इसलिए मनुष्यों में भी केवल थोड़े से ही लोग 'मनुष्य' हो पाते हैं; शेष मनुष्य होकर भी चूक जाते हैं। सभी मनुष्य भी सत्य के खोजी नहीं मालूम पड़ते। उनमें भी बड़ा न्यूनतम अंश सत्य की खोज पर निकलता है। कठिन है यात्रा; दुर्गम है मार्ग; फिसलने की, गिर जाने की अनन्त संभवनाएँ हैं—पहुँचने की बहुत कम। लेकिन जो पहुँच जाते हैं, वे धन्यभागी हैं; वे जीवन के शिखर को उपलब्ध होते हैं। वे सत्य को ही नहीं पा लेते, वे सत्य-रूप हो जाते हैं। परमात्मा को ही नहीं जान लेते, वे परमात्मा ही हो जाते हैं।

अर्जुन खोजती हुई मनुष्यता का प्रतीक है। अर्जुन पूछ रहा है। और यह पूछना किसी दार्शनिक का पूछना नहीं हैं। पूछना ऐसा नहीं कि घर में बैठे विश्राम कर रहे हैं और गपशप कर रहे हैं! यह पूछना कोई कुतूहल नहीं है; जीवन दाँव पर लगा है। युद्ध के मैदान में खड़ा है। युद्ध के मैदान में बहुत कम लोग पूछते हैं। इसलिए तो गीता अनूठी किताब है।

वेद हैं, उपनिषद् हैं, बाइबिल है, कुरान है; बड़ी अनूठी किताबें हैं दुनिया में, लेकिन गीता बेजोड़ है। उपनिषद् पैदा हुए ऋषिओं के एकांत कुटीरों में, उपवनों में, वनों में। जंगलों में ऋषिओं के पास बैठे हैं उनके शिष्य। उपनिषद् का अर्थ है : पास बैठना। ऐसे पास बैठे शिष्यों से एकांत गुफ्तगू है। ऐसी दो चेतनाओं के बीच चर्चा है। लेकिन बड़ी विश्रामपूर्ण है। आसान है कि उपनिषदों में महाकाव्य भरा हो। उपनिषद् पैदा हुए शांत निगूढ़ मौन एकांत में। लेकिन गीता अनूठी है; युद्ध के मैदान में पैदा हुई है। किसी शिष्य ने किसी गुरु से नहीं पूछा है; किसी शिष्य ने गुरु की एकांत कुटी में बैठकर जिज्ञासा नहीं की है। युद्ध की सघन घड़ी में, जहाँ जीवन और मौत दाँव पर लगे हैं, वहाँ अर्जुन ने कृष्ण से पूछा है। यह दाँव बड़ा महत्त्व-पूर्ण है और जब तक तुम्हारा भी जीवन दाँव पर लगा हो—अर्जुन जैसा, जब तक तुम कृष्ण का उत्तर न पा सकोगे।

कृष्ण का उत्तर अर्जुन ही पा सकता है। इसलिए गीता बहुत लोग पढ़ते हैं, कृष्ण का उत्तर उन्हें मिलता नहीं। क्योंकि कृष्ण का उत्तर पाने के लिए अर्जुन की चेतना चाहिए।

इसलिए मैं नहीं चाहता कि मेरे संन्यासी भाग जाएँ पहाड़ों में। वे जीवन के युद्ध में ही खड़े रहें, जहाँ सब दाँव पर लगा है; भगौड़ापन न दिखाएँ, पलायन न करें; जीवन से पीठ न मोड़ें; आमने-सामने खड़े रहें। और उस जीवन के संघर्ष में ही उठने दें जिज्ञासा को, तो तुम्हें किसी दिन कृष्ण का उत्तर मिल सकता है—पर अर्जुन की चेतना चाहिए; युद्ध चाहिए चारों तरफ। और युद्ध है।

तुम जहाँ भी हो—बाजार में, दुकान में, दफ्तर में, घर में—युद्ध है। प्रतिपल युद्ध

चल रहा है—अपनों से ही चल रहा है। इसलिए कथा बड़ी मधुर है कि उस तरफ भी, अर्जुन के विरोध में, जो खड़े हैं, वे भी अपने ही लोग हैं—भाई हैं, चचेरे भाई हैं, मित्र हैं, सहपाठी हैं, सम्बन्धी हैं।

अपनों से ही युद्ध हो रहा है। पराया तो यहाँ कोई है ही नहीं। जिससे भी लड़ रहे हो, वह भी अपना ही है; दूर का, पास का, कोई नाता-रिश्ता है। सारा जीवन ही सम्बन्धी है; यह पूरा जीवन ही परिवार है और परिवार ही बँटा है और लड़ रहा है। युद्ध दुश्मनों के बीच में नहीं है; युद्ध अपनों के ही बीच में है। युद्ध में तुम किसी और को न मारोगे, अपनों को ही मारोगे। युद्ध में तुम अपनों से ही मारे जाओगे। पराये होते—कठिनाई न थी; दुश्मन होते, कठिनाई न थी; अर्जुन के मन में द्वन्द्व खड़ा हो गया है—सब अपने हैं। और इनको मार कर क्या पाऊँगा? क्या मिलेगा?

अर्जुन भागना चाहता है। वह चाहता है कि किसी ऋषि की कुटी में चला जाय; अरण्य में वास करे; शांत बैठे; ध्यान में डूबे। उसके मन में बड़ा विराग उठा है। लेकिन कृष्ण उसे खींचते हैं; भागने नहीं देते। उसके मन में विराग उठा है; वह जंगल जाना चाहता है; कृष्ण उसे युद्ध के मैदान में रोके रखते हैं।

कृष्ण का प्रयोजन क्या है? वे क्यों समझा रहे हैं कि तू रुक; भाग मत?—क्योंकि जो भाग गया स्थिति से, वह कभी भी स्थिति के ऊपर नहीं उठ पाता। जो परिस्थिति से पीठ कर गया, वह हार गया। भगौड़ा यानी हारा हुआ। जीवन ने एक अवसर दिया है पार होने का, अतिक्रमण करने का; अगर तुम भाग गये तो तुम अवसर खो दोगे।

भागो मत—जागो। भागो मत—रुको। ज्यादा जागरूक, ज्यादा सचेतन बनो; ज्यादा जीवंत बनो; ज्यादा ऊर्जावान बनो; ज्यादा विवेक, ज्यादा भीतर की मेधा उठे; तुम्हारी मेधा इतनी हो जाय कि समस्याएँ नीचे छूट जायँ।

समस्याओं से भाग कर तुम समस्याओं से छोटे रह जाओगे। उनसे लड़ कर ऊपर उठो। उनको सीढ़ियाँ बनाओ। जिनको तुमने पत्थर समझा है—मार्ग का, वे पत्थर ही हैं—ऐसा मत समझो; वे सीढ़ियाँ भी बन सकते हैं। उन पर पैर रखो और तुम ऊँचाई पर पहुँचोगे।

कृष्ण चाहते हैं : अर्जुन युद्ध से निखर के उठे। अर्जुन चाहता है : भाग जाय।

कृष्ण ने भागने न दिया अर्जुन को और जगत् को संन्यास का पहला ठीक-ठीक संदेश दिया है। वैसा संदेश बुद्ध से भी नहीं मिला; महावीर से भी नहीं मिला; क्योंकि उन सब ने भागने वाले को स्वीकार कर लिया। कृष्ण की व्यवस्था जटिल है, लेकिन बड़ी बहुमूल्य है।

मैं राजी हुआ गीता पर बोलने को, क्योंकि गीता में मनुष्य का भविष्य छिपा है।

अब न तो महावीर का संन्यासी बच सकता है दुनिया में, न बुद्ध का संन्यासी बच सकता है। दुनिया ही न रही वह; भगोड़ों का उपाय ही न रहा। अब तो सिर्फ कृष्ण का संन्यासी बच सकता है दुनिया में—जो भागता नहीं है, जो पैर जमाकर खड़ा हो जाता है, जो हर परिस्थिति का भी उपयोग कर लेता है—विपरीत परिस्थिति का भी उपयोग कर लेता है; जो युद्ध के बीच में ध्यान को उपलब्ध होता है। यही तो कला है। भाग कर शांत हो जाने में कला भी क्या है?

हिमालय पर बैठकर तो कोई भी शांत हो जाएगा—कोई भी। उसमें तुम्हारी विशिष्टता क्या है? लेकिन वह शांति हिमालय की है—तुम्हारी नहीं। और जब तुम लौटेंगे, तुम पाओगे : तुम उतने ही अशांत हो, जितने तब थे, जब हिमालय गये थे। बीच का समय व्यर्थ ही गँवाया। तीस साल बाद भी वापस आओगे, तो तुम पाओगे—वही राग, वही क्रोध, वही लोभ, वही मोह—सब बैठे हैं। हिमालय में मौका न मिला निकालने का, इसलिए सोये थे। लौटते ही—समाज में, समूह में, भीड़ में—मौका मिलेगा; वे सब जगने शुरू हो जाएँगे। सुंदर स्त्री दिखाई पड़ेगी, वर्षों सोयी हुई वासना उठ आयेगी। धन दिखाई पड़ेगा, वर्षों सोया लोभ कुण्डली खोलकर सर्प की तरह फैल जाएगा। कोई जरा-सा अपमान कर देगा, वर्षों तक बेजान पड़ा क्रोध एक झटके में जीवंत हो उठेगा। नहीं; कोई भाग कर कभी जीता नहीं। भागना तो हार की स्वीकृति है! वह तो तुमने मान ही लिया कि तुम जीत न सकोगे।

कृष्ण अर्जुन को कहते हैं, 'रुक।' इसलिए संदेश बड़ा अनूठा है।

अर्जुन की जिज्ञासा भी अनूठी है। जीवन-मरण दाँव पर लगा है। तुम्हारा भी अगर जीवन-मरण दाँव पर लगा है, तो मैं तुमसे जो कहूँगा, वह भगद्गीता हो जाएगी। तुम्हारा अगर जीवन-मरण दाँव पर नहीं लगा है, तुम ऐसे ही चले आये हो, जैसे तुम ताश खेलने चले गये हो—किसी मित्र ने बुलाया; वर्षा के दिन हैं; फुरसत का समय है; तुम ताश खेल आये हो। कुछ दाँव पर नहीं लगा है। नहीं; ऐसे न चलेगा। अगर ताश खेलने में भी तुमने पूरा जीवन दाँव पर लगा दिया है, अगर तुम जुआरी भी हो, तो बात बदल जाती है।

अगर तुमने सब कुछ दाँव पर लगाया है, तो मैं तुमसे जो कहूँगा, वह तुम्हारे लिए भगवद्गीता हो जाएगी। अकेले मेरे कहने से कुछ न होगा। तुम्हें अर्जुन जैसी चेतना चाहिए।

मनुष्य की खोज मनुष्य से भी पुरानी है; वही खोज तुम्हें यहाँ ले आई है। और तुम भाग मत जाना; क्योंकि यही वह जगह है, जहाँ सत्य का अंतिम उद्घाटन होगा—संसार में, भीड़ में, गहन में, बाजार में, उपद्रव में, युद्ध में। वही कुरुक्षेत्र है, जहाँ किसी दिन पाण्डव और कौरव इकट्ठे हो गये थे—युद्ध को।

और ध्यान रखना, जिनसे तुम्हारा संघर्ष है, वे अपने ही हैं। और ध्यान रखना जिससे तुम्हें पूछना है, वह तुम्हारे कहीं बाहर नहीं, तुम्हारी चेतना का ही सारथी है।

यह प्रतीक बड़ा मधुर है। अशोभन भी लगता है सोच कर कि अर्जुन तो रथ में सवार था और कृष्ण सारथी थे। लेकिन बड़े पुराने नियमों के अनुसार सारी कथा को रूप दिया गया है। तुम्हारे भीतर तुम्हारा सारथी है। तुमने कभी उससे पूछा नहीं; तुमने कभी उस पर ध्यान ही न दिया। सारथियों पर कभी कोई ध्यान देता है? अर्जुन अनूठा रहा होगा, क्योंकि बैठा तो ऊपर था, रथ में था, असली तो वही था; सारथी तो सारथी ही था। घोड़ों की साज-सम्हाल कर लेता था, ठीक; रथ को चला लेता था, ठीक। तुम्हें कभी जिज्ञासा उठ आये तो कहीं तुम कोचवान से पूछते हो? लेकिन अर्जुन ने सारथी से पूछा।

तुम्हें खोजना होगा : तुम्हारे भीतर सारथी कौन है? रथ तो साफ है—कि शरीर है। मालिक भी तुम्हें पक्का पता है कि तुम्हारा अहंकार है। सारथी कौन है? समस्त ज्ञानी कहते हैं : तुम्हारा विवेक, तुम्हारा बोध—साक्षी भाव सारथी है, उससे ही पूछना होगा। तुम्हारे सारथी से ही उठेगी वह आवाज, जिससे तुम्हारे लिए गीता का प्रकाश साफ हो जाएगा और गीता का मार्ग साफ हो जाएगा।

गीता क्या कहती है, तुम तब तक न समझ पाओगे, जब तक तुम्हारा सारथी तुम्हें मिला नहीं।

रथ तुम्हारे पास है; मालिक भी भले तुम बैठे हो; घोड़े भी इंद्रियों के भागे जाते हैं। इन सब के बीच सारथी जैसे खो ही गया है, उसे खोजो। सारी ध्यान की प्रक्रियाएँ सारथी को खोजने के लिए हैं।

मीठी कथा है महाभारत में कि युद्ध के पूर्व अर्जुन और दुर्योधन अपने सभी मित्रों, सगे-सम्बन्धियों के घर गये—प्रार्थना करने कि युद्ध में हमारी तरफ से सम्मिलित होना। सभी नाते-रिश्तेदार थे, सभी जुड़े थे; गृह-युद्ध था। अर्जुन भी पहुँचा कृष्ण के पास; दुर्योधन भी पहुँचा। दोनों एक ही समय पहुँच गये। दोनों सदा ही एक समय पहुँचते हैं—तुम्हारे भीतर भी।

तुम्हारी बुराई और तुम्हारी भलाई सदा साथ-साथ खड़ी है। तुम्हारा असत् रूप और सत् रूप सदा साथ-साथ खड़े हैं। दोनों तुम्हीं से तो ऊर्जा लेते हैं; दोनों की शक्ति तो तुम्हीं हो; दोनों तुम्हीं से तो माँगते हैं और सदा साथ-साथ माँगते हैं।

जब भी तुम चोरी करने जाते हो, तभी तुम्हारे भीतर का अचोर कहता है, 'मत करो।' जब तुम झूठ बोलते हो, तुम्हारे भीतर वह स्वर भी रहता है, जो कहता है, 'नहीं, उचित नहीं है।' जब तुम सत्य बोलते होते हो, तब भी कोई भीतर से कहता कि लाभ न होगा, हानि होगी। जरा-सा झूठ बोल लेने में हर्ज भी क्या है? जीवन

में थोड़ा-बहुत तो चलता ही है; ऐसे बिलकुल संन्यासी होकर तो लुट जाओगे। जब नहीं चोरी करते हो, तब भी मन कहता है कि 'क्या कर रहे हो? चूके जा रहे हो। उठा लो; कोई देखने वाला भी नहीं है। और चोरी तो तभी चोरी है, जब पकड़ी जाय; यहाँ तो पकड़े जाने का कोई उपाय भी नहीं दिखता; कोई है भी नहीं असपास; उठा लो।' चोर और अचोर साथ-साथ हैं; झूठ और सच साथ-साथ हैं।

अर्जुन और दुर्योधन साथ-साथ पहुँच गये हैं—कृष्ण के पास। लेकिन स्वभावतः दोनों के पहुँचने में बुनियादी फर्क है; वही फर्क निर्णायक हो गया।

दुर्योधन तो बैठ गया सिर के पास। कृष्ण सोये थे; दोपहर का वक्त होगा; विश्राम में खलल देना उचित नहीं है। दुर्योधन तो बैठ गया जाकर सिरहाने के पास; अर्जुन बैठ गया पैर के पास। वहीं निर्णय हो गया। उस क्षण में सारी गीता का निर्णय हो गया। उस क्षण में सारा महाभारत जीत लिया गया; हार लिया गया। उसके बाद तो विस्तार है। बीज तो घट गया। अर्जुन के पैरों के पास बैठने में बीज घट गया।

अगर तुम्हें अपने साक्षी को खोजना है, तो विनम्र होना पड़ेगा। तुम्हें अगर अपने सारथी को खोजना है, तो विनम्र होना पड़ेगा, क्योंकि अहंकार ही तो धुआँ पैदा करता है और देखने नहीं देता। अहंकार ही तो अटकाता है, उलझाता है। अहंकार ही तो परदा बन जाता है—सख्त।

दुर्योधन कैसे बैठ सकता है—पैरों में? दुर्योधन...? बात ही पैर में बैठने की—उसके मन में न उठी होगी। वह सहज—अपने स्वभाववश ही जाकर सिर के पास बैठ गया। अहंकार सदा सिर के पास है। और जहाँ अहंकार है, वहीं चूक हो जाती है। फिर तुम अपने सारथी से नहीं मिल पाते। फिर सब मिल जाएगा, सारथी नहीं मिलेगा।

अर्जुन बैठा है—पैर के पास। वह विनम्र निवेदन है; वह निरअहंकार भाव है; साक्षी मिल ही जाएगा।

कृष्ण की आँख खुली। कथा कहती है : स्वभावतः पहले अर्जुन दिखाई पड़ा। विनम्र पर आँख पड़ेगी—साक्षी की; अहंकारी पर आँख नहीं पड़ेगी। अहंकारी तो अपने में अकड़ा है; वह तो सिर के पीछे बैठा है। वह सम्राट् होकर बैठा है; वह कृष्ण से बड़ा होकर बैठा है; वह कृष्ण से ऊपर बैठा है।

तुम्हारा अहंकार रथ में सवार है और सारथी से इतने ऊपर बैठ गया है कि सारथी भी अगर देखना चाहे, तो तुम दिखाई न पड़ोगे। और तुम तो अंधे हो, इसीलिए तुम सिर के पास बैठे हो। अगर थोड़ी भी आँख होती, तो तुम पैर पकड़ लिये होते; तुम पैर के पास बैठे होते।

वहीं युद्ध जीत लिया गया। निर्णय तो सब हो ही गया—उसी क्षण। फिर तो बाकी विस्तार की बातें हैं; वे छोड़ी भी जा सकती हैं। जो जानते हैं, उनके लिये कथा पूरी हो गई।

अर्जुन पर आँख पड़ी, तो कृष्ण ने स्वभावतः पूछा, 'कैसे आये?' जिस पर आँख पड़ी, उससे पहले पूछा। तत्क्षण दुर्योधन बोला, 'मैं भी साथ ही आया हूँ। मुझे न भूला जाय; मैं भी यहाँ मौजूद हूँ।' अहंकार को बतलाना पड़ता है कि मैं मौजूद हूँ। विनम्र—पता ही चल जाता है कि मौजूद है। और जब बतलाना पड़े, तो शोभा चली जाती है। तो कृष्ण ने कहा, 'ठीक, तुम दोनों साथ ही आये हो; लेकिन मेरी नजर अर्जुन पर पहले पड़ी, इसलिए पहले स्वभावतः मैं उससे पूछूँगा। कैसे आये हो? क्या माँगने आये हो?'

दुर्योधन डरा, भयभीत हुआ। यह तो गलती हो गई। गलती इसलिए हो गई कि यह तो लाभ का क्षण चूक गया। अगर कभी अहंकारी विनम्र भी होना चाहता है, तो लोभ के कारण। विनम्रता उसका आधार नहीं होती। अगर अहंकारी कभी अक्रोधी भी होना चाहता है, तो कारण निरअहंकारिता या अक्रोध नहीं होता; कारण कुछ और ही होते हैं—लोभ, पद, प्रतिष्ठा, वासना, महत्त्वाकांक्षा।

दुर्योधन डरा कि यह तो मुश्किल हो जाएगी। अर्जुन ने कहा, 'मैं भी उसी लिए आया हूँ; दुर्योधन भी उसी लिए आया है। हम माँगने आये हैं—आपकी सहायता। युद्ध टाला नहीं जा सकता; युद्ध होकर रहेगा। हम प्रार्थना करने आये हैं कि आप हमारे साथ हों।' कृष्ण ने कहा, 'तुम दोनों आये हो, तो एक ही उपाय है कि एक मेरी फौजों को माँग ले, और एक मुझे।'

दुर्योधन कंप गया होगा—कि अर्जुन निश्चित फौजों को माँग लेगा। क्योंकि कृष्ण को लेकर क्या करेंगे? इस अकेले को क्या करेंगे? खायेंगे—कि पीयेंगे? इस अकेले का मूल्य क्या है? विराट फौजें हैं इसकी और पहला मौका अर्जुन को मिला है; मैं गया। यह तो बाजी चूक गया। अच्छा हुआ होता—चरणों में बैठ गया होता; अच्छा हुआ होता—चरण पकड़ लिये होते।

चौंका होगा दुर्योधन भी, जब अर्जुन ने निर्णय दिया। अर्जुन ने कहा, 'अगर यही निर्णय है, तो मैं आप को माँग लेता हूँ।' छाती फूल गई होगी दुर्योधन की। सोचा होगा, 'यह मूढ़ ही रहे पाण्डव।'

अहंकारियों को विनम्र व्यक्ति मूढ़ ही मालूम पड़ते हैं। अज्ञानियों को ज्ञानी पागल मालूम पड़ते हैं। नासमझों को समझदार नासमझ मालूम पड़ते हैं। रोगियों को—स्वस्थ लगता है कि कुछ महारोग से पीड़ित है। पीलिया के मरीज को सभी कुछ पीला दिखाई पड़ने लगता है। बहुत बुखार के बाद उठे आदमी को स्वादिष्ट से

स्वादिष्ट भोजन भी तिक्त मालूम पड़ते हैं, स्वाद नहीं मालूम पड़ता; मिठाई में भी मिठास नहीं मालूम पड़ती।

दुर्योधन हँसा होगा, प्रसन्न हुआ होगा; हाथ में आयी बाजी यह मूढ़ अर्जुन फिर हार गया! ऐसे ही ये पाण्डव सदा हारते रहे हैं। ऐसे ही वहाँ हारे थे, जब शकुनी ने दाँव फेंके। ऐसे ही यहाँ फिर हार गये। वहाँ तो मेरी चालाकी से हारे थे। यहाँ अपनी ही बुद्धि-हीनता से हार गये। ये हारने को ही हैं; विजय का कोई उपाय नहीं। ऐसा शुभ अवसर चूक गया! अर्जुन माँग लेता फौजों को; कृष्ण को लेकर क्या करेगा? एक कृष्ण—अकेला कृष्ण किस मूल्य का है। लेकिन यहीं निर्णय हो गया। एक कृष्ण एक तरफ, सारा संसार दूसरी तरफ, तो भी एक कृष्ण चुनने जैसा है।

एक चुनने जैसा है। इक साधे सब सधे, सब साधे सब जाय। एक को पकड़ के अर्जुन जीत गया। लेकिन यह कोई जीतने के लिए एक नहीं पकड़ा था, यह खयाल रखना। नहीं तो भूल हो जाएगी। तब तो फिर दुर्योधन और अर्जुन के गणित में कोई फर्क न रह जाएगा। यह जीतने के लिए एक को नहीं पकड़ा था। एक को पकड़ने के कारण जीत गया, यह बात और है। अपनी बुद्धि से भी पूछना होता तो खुद की बुद्धि भी कहती कि चुन लो फौज-फाँटा; वहाँ शक्ति है। लेकिन जो समझदार है, वह शक्ति नहीं चुनता—शांति चुनता है।

कृष्ण को चुनकर अर्जुन ने शांति चुन ली, साक्षी भाव चुन लिया, बोध चुन लिया, बुद्धत्व चुन लिया। वही वक्त पर काम आया। अंधी फौजें, अंधी ऊर्जा को चुनकर दुर्योधन क्या पाया? नौकर-चाकर इकट्ठे कर लिए; मालिक खो गया।

तुम भी जीवन में ध्यान रखना, क्योंकि सौ में निन्यानबे मौके पर मैं भी देखता हूँ कि तुम दुर्योधन के गणित से ही सोचते हो। फौज-फाँटा चुनते हो। एक को छोड़ देते हो।

रोज वही घटना घट रही है। वह एक तुम्हारे भीतर छिपा—तुम्हारा विवेक—उसे तुम छोड़ देते हो। कभी धन चुनते हो, कभी मकान चुनते हो, कभी पद चुनते हो, प्रतिष्ठा चुनते हो—हजार चीजें चुनते हो—फौज-फाँटा। और एक को छोड़ देते हो। तुम सोचते भी हो कि उस एक में रखा भी क्या है। इतना विस्तार है संसार का, इसे पा लो। इतना बड़ा साम्राज्य है—उस एक को पा कर करोगे भी क्या? होगी आत्मा, होगी विवेक की अवस्था, होगा ध्यान, होगी समाधि। लेकिन वह एक ही है। और इतना विराट संसार पड़ा है—अभी जीतने को; पहले इसे कर लो। फिर उस एक को बाद में देख लेंगे।

अगर तुम्हारे सामने यह सवाल उठे, कि तुम एक परमात्मा को चुन लो या सारे संसार को, तो तुम क्या करोगे? सौ में निन्यानबे मौके पर तुम वही करोगे, जो दुर्यो-

धन ने किया—और तुम प्रसन्न होओगे। वही तुम करते रहे हो; करोगे—यह कहना ही गलत है। तुम कर ही रहे हो।

लेकिन अर्जुन धन्यभागी हुआ। कृष्ण को पा कर सब पा लिया। नौकर-चाकरों का क्या हिसाब है? घोड़े-रथों की क्या कीमत है? और वक्त पर यही एक काम आया। वक्त पर सदा 'एक' काम आता है।

युद्ध के सघन मैदान में, जब अर्जुन के प्राण कंपने लगे, होश खोने लगा, गांडीव थरथराने लगा, पैर के नीचे की जमीन खिसक गयी, कुछ सूझ न पड़े—सब तरफ अँधेरा हो गया, एक क्षण में सब शुरू हो जाने को है; योद्धा तत्पर हो गये, शंखनाद होने लगे, अर्जुन की प्रतीक्षा होने लगी कि देर क्यों हो रही है और उसके गात शिथिल हो गये, उसका गांडीव मुरदा हो गया, उसकी ऊर्जा जैसे कहीं खो गयी। अचानक उसने अपने को असहाय पाया। और उस क्षण में उस एक से ही ज्योति मिली। इस एक क्षण में वही सारथी काम आया।

खोजो भीतर—कौन है सारथी। ध्यान की खोज सारथी की खोज है। कौन है, जो तुम्हें वस्तुतः चलाता है, वही सारथी है। कौन है—असली मालिक?—अहंकार?—तो तुम सिर के पास बैठे दुर्योधन हो। विवेक—तो तुम पैर के पास बैठ अर्जुन हो। वही काम आयेगा—जीवन के सघन युद्ध में।

अर्जुन बनो, तो कृष्ण की गीता तो सदा तुममें जन्म लेने को तत्पर है। तुम जरा गर्भ दो; तुम जरा जगह दो। गीता जैसी अर्जुन को मिली, वैसी ही तुम्हें भी मिल सकती है।

अर्जुन बोला, 'हे कृष्ण, जो मनुष्य शास्त्र-विधि को त्याग कर केवल श्रद्धा से युक्त हुआ देवादिकों का पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी अथवा राजसी अथवा तामसी?'

इसके पहले कि हम इस सूत्र में प्रवेश करें, जीवन के गणित को समझ लेना जरूरी है, उपयोगी है। जिन्होंने भी जाना है कभी, अनन्त काल में जो भी जागे हैं और बुद्ध हुए हैं—भगवत्ता पायी है, उन सब ने कुछ बातों पर सहमति दी है—अपने हस्ताक्षर की मोहर लगाई है। वे बातें बहुत थोड़ी हैं। बहुत-सी बातों में उनमें भेद है; भेद ही नहीं विरोध भी है। क्योंकि वे विभिन्न लोगों से बोले, इसलिए भेद है। क्योंकि वे विभिन्न समयों में बोले, इस लिए विभिन्नता है। और क्योंकि वे विभिन्न दृष्टिओं से बोले, इसलिए विरोध भी है। सत्य बहुत बड़ा है, दृष्टि बड़ी छोटी है। विपरीत—दृष्टि में नहीं समाता—सत्य में समाता है।

तो कृष्ण जो बोले अर्जुन से—वह बात अलग, परिस्थिति अलग; महावीर बोले, गौतम से—वह बात अलग, परिस्थिति अलग। गौतम भिन्न व्यक्ति है। जितने

महावीर भिन्न हैं कृष्ण से—उतना ही गौतम भिन्न है अर्जुन से। और सारी स्थिति भिन्न है। वन के एकांत में, सुबह पक्षियों की चहचहाअट में, महावीर से गौतम कुछ पूछता है और महावीर बोलते हैं। वृक्ष की छाया के तले आनन्द बुद्ध से कुछ पूछता है और बुद्ध बोलते हैं। जीसस बोले, मुहम्मद बोले—परिस्थितियाँ भिन्न थीं, इसलिए बहुत बातें भिन्न हैं। लेकिन मूल सत्य भिन्न नहीं हो सकते।

उन कुछ मूल सत्यों में एक है—तीन का गणित। जीसस कहते हैं : ट्रिनिटी—उस तीन के गणित को। वे कहते हैं : परमात्मा तीन हो गया। हिन्दू कहते हैं : त्रिमूर्ति। वही ट्रिनिटी—कि परमात्मा तीन हो गया। ईसाइयों के नाम अलग हैं। हिन्दू कहते हैं : ब्रह्मा, विष्णु, महेश। ईसाई कहते हैं : परमात्मा पिता, बेटा जीसस और दोनों के बीच में पवित्र आत्मा—ऐसे तीन चेहरे हैं। लेकिन तीनों के भीतर छिपा है एक।

योगी कहते हैं—त्रिकुटी—जहाँ तीन मिलते हैं, वहाँ एक का अनुभव होता है। तान्त्रिक कहते हैं—त्रिपुटी—जहाँ तीन—तीन की तरह—खो जाते हैं और एक समन्वय साधता है, वहीं परम का आविर्भाव होता है।

हिंदू, जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान—सभी ने तीन की बात कही है और इन सब में सर्वाधिक गहरी जिन्होंने तीन की चर्चा की है, वे हैं—सांख्य-दार्शनिक। उनका नाम ही सांख्य पड़ गया, क्योंकि उन्होंने पहली दफा जीवन के गणित की संख्या खोजी। सांख्य का अर्थ है—संख्या। जिन्होंने पहली दफा गणित बिठाया, वह सब से प्राचीन है। सब से पहले उन्होंने तीन का राज प्रकट किया; उसकी वजह से वे सांख्य ही कहलाने लगे। उन्होंने जीवन के पूरे गणित को ठीक से पकड़ लिया। उन्होंने कहा कि एक से तीन होते हैं और फिर तीन से नौ होते हैं। और फिर नौ से अनन्त होते चले जाते हैं। और जब वापसी में यात्रा होती है, तो फिर अनन्त घट कर नौ बनते हैं; नौ घट कर तीन बनते हैं; तीन घट कर एक हो जाता है। सारा संसार संख्या का विस्तार है—एक से तीन, तीन से नौ, नौ से इक्यासी, फिर इक्यासी गुणित इक्यासी—और आगे—और आगे। ऐसे ही पीछे लौटना पड़ता है

परसों रात एक इटालियन संन्यासिनी वापस लौटती थी—नेपल्स। उसे मैंने नाम दिया है—कृष्ण-राधा। उसने कभी पूछा न था—अब तक—कि इसका अर्थ क्या है? जाते समय मैंने उससे पूछा, 'कुछ पूछना है?' उसने कहा कि 'और कुछ नहीं पूछना है; बड़ी तृप्त—शांत होकर जाती हूँ। एक बात भर पूछनी है, जो पहले दिन मैं पूछने से चूक गयी : कृष्ण-राधा का अर्थ क्या है? आपने मुझे राधा क्यों पुकारा है?' तो उसे मैंने जो कहा है, वह तुमसे भी मैं कहना चाहूँगा, क्योंकि इन सूत्रों से उसका बड़ा गहरा सम्बन्ध है।

उसे मैंने कहा कि पुराने शास्त्रों में राधा का कोई उल्लेख नहीं है। गोपियाँ हैं, सखियाँ

हैं—सोलह हजार हैं, कृष्ण उनके साथ नाचते हैं; उनकी बाँसुरी बजती है और सारा वन-प्रान्त आनन्द से गूँज उठता है; रास की लीला चलती है। लेकिन राधा का कोई नाम पुराने शास्त्रों में नहीं है। सिर्फ इतना ही कहीं-कहीं उल्लेख है कि और सारी सखियों में, और सारी गोपियों में एक गोपी है, जो कृष्ण के बहुत निकट है, जो उनकी छाया की तरह है। लेकिन उसका कोई नाम नहीं है। यह भी उचित ही है; क्योंकि कृष्ण के करीब नाम रहेगा, तो करीब ही न आ सकोगे। इसलिए पुराने शास्त्रों ने उसे कोई नाम नहीं दिया। वह छाया की तरह है, कृष्ण के निकट है। अपनी तरफ से कृष्ण से निकट है, तो स्वभावतः कृष्ण के तरफ से भी निकटता है। क्योंकि भक्त जितना निकट भगवान् के आ जाय उतना ही निकट भगवान् भक्त के आ जाता है। वह तुम पर ही निर्भर है कि तुम कितने निकट भगवान् को चाहते हो, उतने निकट तुम पहुँच जाओ। जो तुम भगवान् से चाहते हो—तुम्हारे प्रति, वही तुम भगवान् के प्रति करो—यही तो सूत्र है।

तो शास्त्र कहते हैं कि वह गोपी निकट है—बहुत निकट है, छाया की तरह है। लेकिन किसी नाम का उल्लेख नहीं है। अच्छा किया। क्योंकि नाम-रूप खो जाय, तभी तो कोई कृष्ण के निकट आता है। इसलिए नाम क्या देना। फिर हजारों साल तक नाम नहीं दिया गया।

कुछ सात सौ वर्ष पहले अचानक राधा का नाम प्रकट हुआ। गीत गाये जाने लगे; महा कवियों ने परम रचनाएँ रचीं; जयदेव ने गीतगोविन्द गाया; राधा का आविर्भाव हुआ। राधा शब्द बहुमूल्य होने लगा, इतना बहुमूल्य हो गया कि अगर तुम अकेले अब कृष्ण कहो, तो आधा मालूम पड़ता है। राधा-कृष्ण ही पूरा मालूम पड़ता है। और यह नाम न केवल महत्त्वपूर्ण हो गया, कृष्ण को पीछे हटा दिया; राधा आगे आ गई। कोई नहीं कहता : कृष्ण-राधा। लोग कहते हैं : राधा-कृष्ण।

यह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जब भक्त इतने निकट आ जाता है कि परमात्मा में एक हो जाता है, तो पहले तो भक्त परमात्मा की छाया होता है; फिर परमात्मा भक्त की छाया हो जाता है।

राधा आगे आ गई।

यह राधा नाम कैसे खोज लिया—जब नाम शास्त्रों में था ही नहीं? नाम की खोज अलग है। नाम की खोज के पीछे बड़ा गणित है—सांख्य का गणित है। 'राधा' शब्द बनता है—धारा शब्द को उलटा देने से। योगियों की खोज है कि धारा का अर्थ होता है—बहिर्गमन। जैसे गंगोत्री से गंगा की धारा निकलती है, तो स्रोत से दूर जाती है। स्रोत से दूर जाने वाली अवस्था का नाम—धारा। और राधा धारा का उलट शब्द है। उसका अर्थ है : जो स्रोत की तरफ वापस आती है। जब एक से तीन

बनते हैं, तीन से नौ बनते हैं, नौ से इक्यासी बनते हैं—तो धारा। जब इक्यासी से नौ बनते हैं, नौ से तीन बनते हैं, तीन से एक बनता है—तो राधा।

राधा योगियों और सांख्य अनुभोक्ताओं के अनुभव से निकला हुआ शब्द है। उन्होंने जाना कि जीवन की धारा बहिर्गामी है, बाहर जाती है, दूर जाती है, मूल से दूर जाती है, उत्स से दूर जाती है, उत्स की तरफ पीठ होती है, आँखें अनन्त क्षितिज पर लगी होती हैं—यह 'धारा' की अवस्था है। जब कोई लौटता है मूल उत्स की तरफ—स्रोत की तरफ, जब गंगा वापस लौटने लगती है—गंगोत्री की तरफ, तो उलटी यात्रा शुरू होती है—अप-स्ट्रीम। अब धारा बाहर की तरफ नहीं जाती है, भीतर की तरफ आती है। बहिर्मुखता बंद होती है; अंतर्मुखता शुरू होती है; तभी तो कृष्ण के पास आती है राधा। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे गंगोत्री में गिर जाती है। गंगा विलीन हो जाती है; एक रह जाता है।

उस छाया की तरह घूमने वाली सखी को हजारों साल तक नाम न मिला। कोई सात सौ वर्ष पहले अचानक नाम का आविर्भाव हुआ। और जिन्होंने नाम दिया, वे बड़े अद्भुत लोग रहे होंगे। जिन्होंने नाम नहीं दिया, वे भी बड़े अद्भुत लोग थे। और जिन्होंने नाम दिया, वे कुछ कम अद्भुत लोग न थे, क्योंकि नाम उन्होंने ऐसा गहरा दिया, कि उसमें सारे शास्त्र को समा दिया।

मैंने जो प्रतीक चुना है आश्रम के लिये, वह एक से तीन, तीन से नौ—इसका ही प्रतीक है। सृष्टि और प्रलय दोनों उसमें हैं। अगर धारा की तरह जाओ, तो एक से तीन, तीन से नौ और अनन्त होता जाता है। अगर लौटने लगो, वर वापस आने लगो, तो नौ से तीन और तीन से एक हो जाता है।

इस सम्बन्ध में समस्त ज्ञानियों की सहमति है कि अस्तित्व का ढंग है, सृष्टि का ढंग है—एक से अनेक। तीन पहला पड़ाव है, और फिर प्रलय—जब सृष्टि सिकुड़ती है और यात्रा समाप्त होती है, लीन होती है; सृष्टि की रात आती है; ब्रह्मा का दिन पूरा हो जाता है, तब फिर एक पड़ाव है—आखरी पड़ाव—तीन। पहला पड़ाव भी तीन है, इसलिए तीन बड़ा महत्त्वपूर्ण है—ट्रिनिटी, त्रिमूर्ति, त्रिकुटी, त्रिपुटी।

महावीर के त्रि-रत्न, बुद्ध की त्रि-शरण, लाओत्से के थ्री ट्रेज़र्स—वह सब—तीन पर उसका जोर है; क्योंकि वही पहला पड़ाव है, वही अंतिम पड़ाव है। वहीं से तुम शुरू हो, वहीं तुम समाप्त होते हो; क्योंकि फिर एक में तो परमात्मा ही बचता है। जब तक एक है, तुम शुरू नहीं हुए; जब फिर एक हो गया, तुम न रहे। तीन से अहंकार शुरू होता है और तीन पर ही अहंकार समाप्त हो जाता है।

यह जो सांख्यों ने तीन सूत्र खोजे, वे हैं : सत्त्व, रज, तम। इन तीन से—सांख्य-योगी कहते हैं—सारा अस्तित्व बना है। त्रिगुण—इन तीन का ही सारा खेल है।

जिसने इन तीन को जान लिया, उसके हाथ में कुंजी आ गई; वह चाहे तो वापस लौट जाय—एक में लीन हो जाय। तो इन तीन के स्वभाव को हम थोड़ा समझ लें।

तम का अर्थ है—आलस्य; तम का अर्थ है—ठहरना; तम का अर्थ है—रुकना। तम बाँधने वाली शक्ति है। अगर तम न हो, तो चीजें चलती ही जाएँगी और रुक न सकेंगी। तुम एक पत्थर उठाकर फेंकते हो, अगर तम न हो जगत् में—कुछ रोकने की शक्ति न हो, अवरोध न हो जगत् में—तो पत्थर फिर चलता ही जाएगा—चलता ही जाएगा, रुकेगा कैसे? तम है—अवरोधक ऊर्जा। तो पत्थर को जब तुम फेंकते हो, तो तुम उसे रज की शक्ति देते हो; इसलिए तुम्हारा हाथ दुखता है; शक्ति हाथ से गई। तुमने कुछ गँवाया—पत्थर को फेंकने में। और जितनी शक्ति तुमने दी, जितने जोर से फेंका, जितना गँवाया, जितनी ऊर्जा दे दी—पत्थर को, उतनी दूर पत्थर जाता है। जैसे ही ऊर्जा खतम हो जाती है, तम की शक्ति उसे नीचे खींच लेती है।

जिसको न्यूटन ने ग्रेविटेशन कहा है, वह तम का ही एक स्थानीय उपयोग है, वह तम का ही एक रूप है। तम के और बहुत रूप हैं; लेकिन जिसको न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण कहा...क्योंकि वह बैठा है बगीचे में और एक फल को उसने गिरते देखा और उसे सवाल उठा कि जब फल गिरता है वृक्ष से, तो ऊपर की तरफ क्यों नहीं जाता? बायें क्यों नहीं जाता? दायें क्यों नहीं जाता? नीचे ही क्यों आता है?

तम है नीचे की तरफ खींचने वाली शक्ति; तो जिससे तुम नीचे गिरते हो, वह तम है। जिससे तुम नरक में गिरते हो, वह है तम। जब तुम्हारे भीतर चोरी तुम करते हो, तो तम है; झूठ बोलते हो—तम है। जहाँ-जहाँ तुम नीचे उतरते हो, वहाँ तम है। तम है—एक आलस्य, एक निद्रा।

गुरुत्वाकर्षण तम का एक रूप है, और आध्यात्मिक अंधापन भी तम का एक रूप है। जिन्होंने भी समाधि जानी, वे कहते हैं : हलके हो गये, जैसे पंख लग गये—कि आकाश में उड़ जायें। जब तुम्हारे भीतर भी ध्यान थोड़ा गहरा होगा, तो तुम अचानक किसी दिन पाओगे बैठे-बैठे, जैसे शरीर जमीन के ऊपर उठ गया। आँख खोलकर पाओगे, जमीन पर ही बैठे हो। सोचोगे : भ्रांति हो गई, कल्पना हो गई। फिर आँख बंद करोगे, फिर थोड़ी देर में पाओगे : शरीर ऊपर उठ गया। शरीर नहीं उठ रहा है, लेकिन तम की शक्ति कम हो रही है। इसलिए भीतर अनुभव होता है—जैसे शरीर ऊपर उठ गया; हलका हो गया।

जितना तमस् होगा, उतना बोझ होगा; लोगों को चलते देखो : ऐसे चल रहे हैं, जैसे सिर पर बोझ रखे हों; बोझ बिलकुल दिखाई नहीं देता; वह तम का बोझ है, उसे तुम किसी तराजू पर न तौल सकोगे; वह आत्मिक बोझ है; वह चिंताओं का बोझ है, दुर्गुणों का बोझ है, गलत आदतों का बोझ है, गलत संस्कारों का बोझ है, गलत

सम्बन्धों का बोझ है, गलत निर्णयों का बोझ है—वह सब बोझ वहाँ है; वह सब तमस का फैलाव है। तमस् यानी जो रोकता, तमस् यानी जो अटकाता, तमस् यानी जो अवरोध बनता।

तुम्हारे पैर अगर ज़मीन में गड़े हैं, तो वह तमस् है। तुम अगर अपनी चेतना स्थिति में ऊपर नहीं उठ पाते, तो तमस् का बहुत वजन है।

तमस् जरूरी है, याद रखना, क्योंकि तमस् के बिना जीवन न हो सकेगा। पर उसकी एक सीमा जरूरी है। जैसे नमक भोजन में जरूरी है, पर नमक ही नमक का भोजन करने मत बैठ जाना। और माना कि नमक के बिना भोजन बेस्वाद लगता है, लेकिन इससे तुम यह गणित मत बिठाना कि नमक ही नमक खाओगे, तो बहुत स्वाद आयेगा। गणित सीधा है। नमक के बिना भोजन बेस्वाद लगता है, इसलिए स्वाद नमक में है। तो नमक ही नमक खाओ, स्वाद ही स्वाद मिलेगा!

तमस् जरूरी है, अपरिहार्य है, लेकिन उसका एक निश्चित अंश। और जिस दिन कोई व्यक्ति उसके निश्चित अंश को पहचान लेता है, उस दिन तमस् का भी उपयोग शुरू हो जाता है। फिर तमस् तुम्हें रोकता नहीं है। फिर पत्थर सीढ़ियाँ बन जाती हैं, फिर तुम ऊपर जाने के लिए भी तमस् का उपयोग करते हो; क्योंकि पत्थर पर भी तो पैर जमाना पड़ेगा। एक सीढ़ी से तुम पैर उठाते हो—एक पैर उठाते हो; तो एक पैर को तो तुम जमाये रखते हो। जब तुम एक पैर उठाते हो, तो दूसरे पैर को ठीक से जमा कर रखना पड़ता है। वह तमस् का उपयोग है। फिर दूसरे को तुम ऊँची सीढ़ी पर जमा लोगे ठीक से, तब पहले पैर को उठाओगे। वह भी तमस् का उपयोग है

तमस् नीचे ला सकता है, अगर अतिशय हो जाय। और तमस् ऊर्ध्वारोहण बन सकता है, अगर समझपूर्वक उसका उपयोग किया जाय। योगी तमस् को काट नहीं डालता। सिर्फ तमस् का सम्यक् उपयोग सीखता है। अति मारता है; सम्यक् उपयोग सदा सहयोगी है, साथी है।

वैज्ञानिक भी कहते हैं कि तमस् के बिना अस्तित्व नहीं हो सकता। वैज्ञानिकों ने भी पदार्थ के अन्वेषण में इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन और पोज़िट्रॉन की विभाजना की है। और वे कहते हैं कि इनमें से एक रोकता है अन्यथा परमाणु-विस्फोट हो जाय। रोकने वाला तत्त्व चाहिए, जो बाँध के रखता है—रस्सी की तरह।

दूसरा तत्त्व है—रजस्। रजस् है—ऊर्जा, गति, त्वरा, तेजी। तुम जब एक पत्थर फेंकते हो, तो तुम रजस् से फेंकते हो। वह तुम्हारी ऊर्जा है। आकाश में तारे घूमते हैं, पृथ्वी परिक्रमा लगाती है—सूर्य की; तुम सुबह उठते हो—वह रजस् है। अगर तमस् ही हो, तो तुम एक बार सोओगे, फिर कभी उठोगे नहीं। उठेगा कौन?

जो आदमी सुबह उठने में देर करता है, उसको हम तामसी कहते हैं, उसको तमस

पकड़ रहा है। रात भर सो लिया है, फिर भी बिस्तर नहीं छोड़ सकता है। उठता भी है, तो ऐसी शिकायत से भरा उठता है। दिन का स्वागत नहीं है—उसके मन में। सूर्योदय की प्रसन्नता नहीं है—उसके मन में। पक्षियों के गीत उसे सुनाई नहीं पड़ते। वह एक ही सुख जानता है; अपनी दुलाई में दबे हुए पड़े रहना और अपनी ही गंदी साँस को चलाते रहना, पीते रहना। एक ही सुख जानता है वह—मुरदे की भाँति पड़े रहना। यह आदमी आत्मघाती है। क्योंकि जीवन का क्या अर्थ है फिर? जीवन तो ऊर्जा है, जागना है; जीवन तो गति है। मृत्यु में तमस् पूर्ण को घेर लेता है। इसे समझ लो।

मृत्यु में तमस् इतना अति हो जाता है कि उसमें रज और सत्त्व दोनों डूब जाते हैं, तो आदमी मर गया।

जो आदमी सुबह उठने में मुश्किल पा रहा है, वह थोड़ा-थोड़ा मरा हुआ आदमी है—ठीक जिंदा आदमी नहीं है। उसके चेहरे पर तुम दिन भर मक्खियाँ उड़ते हुए पाओगे। उसके चेहरे पर एक उदासी, उसके चेहरे पर धूल जमी हुई मिलेगी; नींद की एक परत उसके चेहरे पर तुम पाओगे। उसकी आँखें ताजी नहीं होंगी; उसकी आँखों में स्फटिक-मणि की चमक न होगी। उसकी आँखों पर धूल जमी होगी। वह किसी तरह ढो रहा है; वह राह देख रहा है साँझ की कि किस तरह बिस्तर पर फिर पड़ जाय। ऐसा आदमी शराब पीयेगा; क्योंकि शराब तमस् को बढ़ा देगी। ऐसा आदमी धूम्रपान करेगा; क्योंकि धूम्रपान में छिपा हुआ निकोटिन तमस् को बढ़ाता है। ऐसे आदमी की अगर तुम जीवन-विधि पहचानोगे तो तुम पा जाओगे कि कहाँ-कहाँ तमस् है।

तमस् का एक रूप निकोटिन है; वह सिगरेट में है—छिपा हुआ, तम्बाकू में है। छिपा हुआ। ऐसा आदमी तम्बाकू चबाता रहेगा। और हद के लोग हैं! ऐसे आदमियों ने अगर शास्त्र लिखे तो उसमें उन्होंने यह भी लिख दिया कि वैकुण्ठ में बैठे हुए विष्णु भगवान् ताम्बुल चर्वण करते हैं। निकोटिन की तुमको जरूरत होगी; विष्णु भगवान् को है, तो उनका विष्णु होना भी संदिग्ध है। वह तो शास्त्र पुराने जमाने में लिखे गये, नहीं तो पता नहीं, कि सिगरेट पीते विष्णु भगवान् या क्या करते? या हुक्का गुड़गुड़ाते!

तामसी आदमी की जीवन व्यवस्था देखो : ज्यादा खायेगा, क्योंकि ज्यादा भोजन नींद लाता है, तमस् बढ़ता है। अतिशय खायेगा; भर लेगा इस तरह कि सारी ऊर्जा पेट में चली जाय और मस्तिष्क की ऊर्जा खाली हो जाय, तो वह सो सके। इसलिए तो भरे पेट नींद अच्छी आती है। उपवास करो, तो रात नींद नहीं आती। अति भोजन तमस् को बढ़ाता है। ऐसे आदमी की आदतें गौर से देखो तो तुम पाओगे,

अगर उसे मौका मिले सोने का, तो वह बैठेगा नहीं। अगर बैठना ही पड़े, तो वह चलेगा नहीं, खड़ा नहीं होगा। अगर खड़ा ही होना पड़े, तो चलेगा नहीं। उसका सार ही यह है कि अगर उसको मरने का मौका मिले तो वह मरना चाहेगा—जियेगा नहीं। ऐसे लोग आत्मघात कर लेते हैं। और अगर नहीं कर पाते, तो केवल आलस्य की वजह से। इतना उपद्रव भी वे नहीं कर पाते, तो केवल आलस्य की वजह से। इतना उपद्रव भी वे नहीं कर पाते। कौन जाये ज़हर खरीदने!

मुल्ला नसरुद्दीन एक घर में नौकर था। बड़ा घर था। बहुत नौकर-चाकर थे। और जैसा बड़ा घर था—शाही ठाठ-बाठ था। भयंकर आलस्य था—नौकरों में। पता ही नहीं चलता कि कौन क्या करता है? कौन क्या नहीं करता? काम बड़ा अस्तव्यस्त था। मालिक चिंतित हुआ। सब उपाय कर लिये, लेकिन काम में कोई सुधार न हुआ। तो उसने एक इफिसिएंसि एक्सपर्ट बुलाया कि जो थोड़ी सलाह दे कि क्या करना। उसे विशेषज्ञ ने कहा, 'बुलाओ सब नौकरों को।' सारे नौकर पंक्तिबद्ध खड़े किये गये।

उस विशेष ने कहा, 'तुममें जो सबसे ज्यादा अलाल हो, वह बाहर निकल आये, क्योंकि मैं उसे ऐसा काम दे दूँगा, जिसमें ज्यादा काम करना ही न पड़े। एक सड़ी मछली पूरी नदी को गंदा कर देगी। तो मुझे ऐसा लगता है कि तुममें कोई एक महा अलाल है, जो सब को खराब कर रहा है। वह बाहर निकल आये। हम उसे कोई दण्ड न देंगे; नौकरी न छुड़ाएँगे। आश्वासन पक्का है। हम उसे ऐसा ही काम दे देंगे, जिसमें कुछ करना ही ज्यादा न पड़े; पहरेदार की तरह स्टूल पर बैठा सोता रहे या मालिक की दुकान है कपड़े-लत्ते की, उसे ऐसी जगह बिठा देंगे, जैसे उदाहरण के लिये—उसने कहा—कि जहाँ मालिक के कपड़े की दुकान में पैजा में और नाईट ड्रेस और इस तरह की चीजें बेची जाती हैं, वहाँ बिठा देंगे कि वहाँ सोया रहे। और वहाँ तख्ती लिख देंगे : हमारे कपड़े पहनने से ऐसी गहरी नींद आती है। कोई रास्ता निकाल लेंगे। बाहर आ जाए—जो आदमी सब से ज्यादा अलाल है।'

सब लोग बाहर आ गए—सिर्फ मुल्ला नसरुद्दीन को छोड़ कर। उस विशेषज्ञ ने पूछा, 'नसरुद्दीन, मालिक को भी संदेह है और मुझको भी संदेह है कि तुम ही हो उपद्रवी। लेकिन तुम बाहर क्यों नहीं आये।' उसने कहा, 'मालिक, जहाँ हम हैं, बड़े आनन्द में हैं। दो कदम कौन चले?'

अगर आलसी आत्महत्या नहीं करता, तो सिर्फ इसलिए कि उसमें भी कुछ करना पड़ेगा अन्यथा वह आत्मघाती की तरह जीता है।

रजस् है—ऊर्जा, त्वरा, शक्ति। रजस् की अगर अति हो जाय, तो आदमी राजनीतिज्ञ हो जाता है—भागता है; महत्त्वाकांक्षा या धन की दौड़ शुरू हो जाती है, या

पद की दौड़ शुरू हो जाती है; वह रुक नहीं सकता। उसे रुकना मुश्किल है। उसे तुम हमेशा भागता ही पाओगे। वह कहाँ जा रहा है, इसका उसे पक्का पता न हो; लेकिन एक बात पक्की होती है कि वह तेजी से जा रहा है। उससे तुम यह मत पूछो कि कहाँ जा रहे हो। इतनी उसे फुरसद नहीं। इतना समय भी नहीं है—रुक कर सोचने का। गति है।

पूरब में तमस ज्यादा है, इसलिए लोग गरीब हैं, भिखमंगे हैं, मूढ़ हैं। पश्चिम में रजस् ज्यादा है, इसलिए लोग महत्त्वाकांक्षी हैं, तनाव से भरे हैं, परेशान हैं, पागल हैं। धन खूब पैदा कर लिया; बड़ी विशाल अट्टालिकाएँ बना ली हैं, विज्ञान के बड़े साधन आविष्कृत कर लिए हैं; स्पीड को बढ़ाये चले जाते हैं—रोज। उनसे पूछो, 'जा कहाँ रहे हो? पैदल जाओ कि जेट पर जाओ, लेकिन जाना कहाँ है?' वे कहते हैं, 'जाने का कोई सवाल नहीं है। लेकिन तेजी से जा रहे हैं। मंजिल का सवाल ही क्या है। जाने में मजा आ रहा है।' पागलपन है पश्चिम में।

अगर रजस् ज्यादा हो जाय, तो आदमी को विक्षिप्त करता है। तुम जानते हो राजसी आदमी को कि वह खाली नहीं बैठ सकता है। उससे बैठना ही पड़े थोड़ी देर, तो पच्चीस दफे करवटें बदलता है। वह रात सो नहीं सकता; करवटें बदलता रहता है। नींद में भी उसका रजस् सक्रिय है। उसे कुछ न कुछ करने को चाहिए। कोई भी गोरखधंधा हो तो भी वह करना चाहेगा, चाहे उसका कोई परिणाम न हो। खाली नहीं बैठ सकता। बैठने की कला उसे नहीं आती। तमस् का तत्त्व थोड़ा कम है; रजस् का तत्त्व थोड़ा ज्यादा है। ऐसे आदमी ही दुनिया में उपद्रव करते हैं। चंगेजखाँ, तैमूरलंग, नादिरशाह, हिटलर, मुसोलिनी, माओत्सेतुंग, इन्दिरा, जयप्रकाश—सबमें रजस् ज्यादा है।

अब बूढ़े जयप्रकाश को खाली बैठना नहीं जमता। पूर्ण क्रांति करनी है! किसी ने कभी पूर्ण-क्रांति की है? कभी पूर्ण-क्रांति होती है? अगर पूर्ण-क्रांति होगी, तो फिर बचेगा क्या? पूर्ण-क्रांति तो प्रलय में ही हो सकती है। नहीं; उपद्रव करना है।

उपद्रवी पैदा होते हैं, समाज-सुधारक पैदा होते हैं, समाज-सेवक पैदा होते हैं—अगर रजस् ज्यादा हो। तुम्हारे पैर भी न दुःख रहे होते हैं, तो भी वे दबाते हैं। तुम उनसे कितना ही कहो, संकोच वश तुम एकदम मना भी नहीं कर सकते। पर वे कहते हैं, 'हमें सेवा करनी है।'

दुनिया में जितनी मिस्चीफ और जितना उपद्रव होता है, वह रजस् गुण-धर्मा व्यक्तियों का परिणाम है। तमस् वाला आदमी अपने लिये कितना ही नुकसान करता हो, दूसरे को नहीं करता; यह उसकी खूबी है। आलसी कहाँ दूसरे को नुकसान करने जाय? तुम झगड़ा भी करो, तो वह कहता है, 'झगड़े में हमें पड़ना नहीं है। क्योंकि

तब कुछ करना पड़े।' तुम उसका कोट छीनो, तो वह कमीज भी दे देता है, कि तू ले जा, ताकि दोबारा न आना पड़े।

सारा उपद्रव संसार का—क्रांतियाँ इतिहास—रजस्—अति रजस् से पीड़ित लोगों का परिणाम है, जिनको बुखार चढ़ा है। वे व्यस्तता चाहते हैं; कोई न कोई काम चाहिए। क्योंकि काम के बिना वे खाली नहीं बैठ सकते। खाली बैठते हैं, तो उन्हें बेचैनी मालूम पड़ती है; उनकी ऊर्जा उन्हें भगाती है, दौड़ाती है, फिर इससे कोई प्रयोजन नहीं है कि कहाँ भागते हैं, कहाँ दौड़ते हैं। लेकिन दौड़ने में राहत मिलती है। ऐसे लोग खूब धन कमा लेते हैं। धन कमाने के बाद बड़ी मुश्किल में पड़ते हैं कि अब इसका क्या करें? तो उस धन से और धन कमाते हैं। फिर खड़े होकर सोचते हैं कि अब इसका क्या करें? तो उस धन से और धन कमाते हैं। और कोई उपाय नहीं मालूम पड़ता।

शुरू में धन कमाने वाले लोग सोचते हैं कि जब धन कमा लेंगे, तो आराम करेंगे। लेकिन आराम वे कर नहीं सकते, क्योंकि आराम करने वाले लोग धन नहीं कमा सकते। आराम करने वाले पहले से ही आराम कर रहे हैं। जो सोचता है कि धन कमाकर आराम करूँगा—महल बन जाएगा, सब सुविधा होगी, नौकर-चाकर होंगे, बस, फिर आराम। उसको पता नहीं है कि इतना जो तुम करोगे, तो तुम्हारा रजस् धर्म बढ़ेगा—और एक घड़ी ऐसी आयेगी, जब सब तो होगा, लेकिन तुम पाओगे कि आराम कैसे करें! वह तो भूल ही गये। आराम हो ही न सकेगा।

अति रज हो जाय, तो विक्षिप्तता में ले जाता है, जैसे अति तम हो जाय, तो आत्मघात में ले जाता है।

पूरब आत्मघाती है, पश्चिम विक्षिप्त है। लेकिन रजस् की एक मात्रा चाहिए; उतनी मात्रा चाहिए, जितने से जीवन का संतुलन बन जाय। क्योंकि बुद्ध में भी उतना रजस् तो है अन्यथा कौन तपश्चर्या करेगा? उतना रजस् तो है अन्यथा कौन ध्यान करेगा? उतना रजस् तो है अन्यथा कौन साक्षी को खोजेगा? बस, उतना ही है। उतना तमस् है, जितने से विश्राम हो जाता; उतना रजस् है जिससे जरूरी श्रम हो जाता। और जिसने रज और तम की—दोनों की संतुलित मात्रा को उपलब्ध कर लिया, उसके जीवन में तीसरे तत्त्व का उदय होता है: वह है—सत्त्व।

सत्त्व का अर्थ है—संतुलन। संतुलन परम शुद्धि है। सत्त्व का अर्थ है—भीतर की सारी विक्षिप्तताएँ शांत हो गयीं; आलस्य शांत हो गया; कोई अति न रही; जिसको कबीर ने कहा है: निर्‌अति; कोई अति न रही। जब कोई अति नहीं रह जाती, तो सुरति जगती है। वह सुरति ही सत्त्व है।

तब तुम्हारे भीतर एक सात्विक भाव का जन्म होता है—एक कुँआरेपन का। तुम एक संगीत की तरह मधुर हो जाते हो; तुम्हारा तम भी उस संगीत का अंग है और तुम्हारा रज भी उस संगीत का अंग है; उन दोनों के तारों पर ही तुम्हारी सात्विकता की धुन उठती है। सात्विकता का अर्थ है—हार्मनी, लय-बद्धता—कुछ भी ज़्यादा नहीं, कुछ भी कम नहीं। इसलिए सत्त्व संतोष लाता है और सत्त्व एक परितृप्ति देता है और सत्त्व तुम्हारे लिये योग्य स्थिति बनाता है कि तुम इन तीनों के ऊपर जा सको। एक त्रिकोण बनाओ—एक ट्राएंगल; उसमें नीचे के दो आधार कोण तो हैं—तम और रज के और ऊपर का शिखर कोण है—सत्त्व का।

सत्त्व अंत नहीं है; सत्त्व तो केवल संतुलन की दशा है। इसलिए वह व्यक्ति सात्त्विक है, जिसके जीवन में अति नहीं है, जो न तो अति गृहस्थी है और अति संन्यस्थ है; जो न तो अति धन में लगा है और न अति त्याग में लगा है; जो न अति भोग में है, न अति निरोध में है; जो न अति राग में है, न अति विराग में है; जिसकी भीतर लय सध गई, जिसने अपने भीतर के विरोध में सामंजस्य खोज लिया, जिसने अपने तम और रज को जीवन के रथ में जोत लिया—वे दोनों बैल हो गये और दोनों अब जीवन के रथ को खींचने लगे—साथ-साथ—विरोध में नहीं, एक दूसरे की दुश्मनी में नहीं, एक दूसरे के गहन सहयोग में। तम और रज का जहाँ सहयोग होता है, वहीं तीसरे का जन्म हो जाता है।

जहाँ तम और रज का सहयोग होता है, वहाँ सत्त्व का जन्म हो जाता है। सत्त्व गौरीशंकर का शिखर है। वही अंत नहीं है, लेकिन छलाँग के लिये आखिरी जगह है; वहाँ से छलाँग एक में लगती है; आदमी तीन के पार हो जाता है।

उस 'एक' को तुम समझ सकते हो इस ट्राएंगल—इस त्रिकोण के बीच का बिंदु। वह तीनों से बराबर दूरी पर है; इसलिए कोई चाहे तो तमस् से भी उसकी तरफ जा सकता है—यद्यपि यात्रा बहुत कठिन होगी। कोई वाल्मीकि तमस् से भी सीधा चला जाता है; मरा-मरा जप कर राम को उपलब्ध हो जाता है।

पक्के आलसी रहे होंगे वाल्मीकि और पक्के तमस् से भरे रहे होंगे; अंधकार से भरे रहे होंगे। यह भी फिक्र न की पता लगाने की कि मरा-मरा जप रहा हूँ। यह ठीक भी मंत्र है या नहीं? डाकू हैं, लुटेरे हैं, हत्यारे हैं। गहन तमस् रहा होगा—नीचे की तरफ प्रवाह रहा होगा। लेकिन यात्रा कर ली; सीधे उपलब्ध हो गये। कोई अंगुलीमाल सीधे उपलब्ध हो जाता है।

तो वह जो एक है—जो मूल उद्‌गम है, वह इन त्रिकोणों के ठीक बीच का बिंदु है। इसका तीनों कोने से बराबर फासला है—सत्त्व से, रज से, तम से।

लेकिन तम से यात्रा बहुत कठिन है, क्योंकि यात्रा करने का मन ही नहीं होता। यात्रा करे कौन?

रज से भी यात्रा करनी कठिन है; उतनी कठिन नहीं, जितनी तम से है; पर फिर भी कठिन है। यात्रा तो करना हो जाता है, लेकिन रुकना नहीं आता। और उस परम में तो रुकना पड़ेगा। तम वाला आदमी ऐसे बैठा रहता है, जैसे मंजिल पर पहुँच गया और रज वाला आदमी मंजिल के पास से भी गुजर जाता है, लेकिन समझता है, यह भी मार्ग है। क्योंकि उसे चलने की धुन है; वह रुक नहीं सकता।

तुमने कहानी सुनी होगी : एक जंगल में आग लग गई। उसमें एक अंधा आदमी है जो चल सकता है, लेकिन देख नहीं सकता। और एक लँगड़ा है, जो देख सकता है, लेकिन चल नहीं सकता। वह लँगड़ा है—तमस का प्रतीक; वह अंधा है—रजस का प्रतीक।

अंधा चल सकता है, दौड़ सकता है, लेकिन देख नहीं सकता। वह मंजिल के पास से दौड़ता निकल जायगा, मंजिल के बीच से भी दौड़ता निकल जायगा। चल सकता है, लेकिन देख हीं सकता। और जो देख नहीं सकता वह रुकेगा कैसे? और लँगड़ा है, जो देख सकता है, मंजिल दिखाई पड़ती रहेगी कि दूर आकाश में उत्तुंग शिखर दिखायी पड़ते हैं—स्वर्ण कलश परमात्मा के, मगर वह लँगड़ा है, वह बैठा है; अपने वृक्ष के नीचे ही रहेगा; वह चल नहीं सकता।

वह जो कहानी है, वह सांख्य साधकों की कहानी है। उन दोनों का जोड़ चाहिए। सांख्यों ने जोड़ करवा दिया। वह बच्चों की कहानी नहीं है। तुम समझना मत कि बच्चों के लिए लिखी गई है। बच्चों की किताबों में है, बूढ़ों के लिए है। दोनों तो व्यर्थ थे, एक लयबद्धता चाहिए थी कि दोनों सहयोगी हो जायँ।

दोनों सहयोगी हो गए। समझी उन्होंने अपनी हालत। अंधे ने कहा, 'मैं चल सकता हूँ, दौड़ सकता हूँ, पैर मेरे परिपूर्ण स्वस्थ हैं। मगर कहाँ जाऊँ, कहाँ दौड़ूँ? कैसे निकलूँ बाहर इस आग के? कहाँ है मार्ग? कौन-सी ऐसी जगह है, जहाँ लपटें न हों, और मैं बाहर निकल जाऊँ, यह मैं नहीं जानता। तो दौड़ तो काफी रहा हूँ, लेकिन दौड़ने में उलटा मैं जल जाऊँगा; खतरा है।' उस लँगड़े ने कहा, 'मैं तुम्हारे काम आ सकता हूँ। मैं देख रहा हूँ कि कहाँ मार्ग है, कहाँ मंजिल है। पैर नहीं मेरे पास। तुम मुझे अपने कंधे पर ले लो।' अंधे ने लँगड़े को कंधे पर ले लिया, लय बँध गई।

जिस दिन रजस् के कंधे पर तमस् बैठ जाता है, उसी दिन लय बँध जाती है। उसी दिन संगीत पैदा हो जाता है। अब मार्ग खोजने में कोई कठिनाई नहीं है। दोनों मिल कर सत्त्व की यात्रा पर निकल जाते हैं; सत्त्व दूर नहीं है।

तमस् से भी यात्रा हो सकती है—हुई है। लेकिन अति कठिन है। अंधा भी कोशिश करे, तो निकल सकता है—टटोल-टटोल कर, लेकिन बड़ा मुश्किल होगा।

और लँगड़ा भी घसीट-घसीट कर बाहर हो सकता है; लेकिन बड़ा मुश्किल होगा। जो तमस् से यात्रा करते हैं—सीधे, उनको घसीट-घसीट कर यात्रा होती है। जो रजस् से यात्रा करते है, उनको अंधे की टटोल-टटोल कर यात्रा करनी पड़ती है। संयोग है—निकल जाय तो। अन्यथा आग तो भस्मीभूत कर ही लेगी। जो समझदार हैं, वे दोनों का जो जोड़ बिठा लेते हैं। उनके जोड़ से संगीत पैदा होता है, वही सत्त्व है।

वह सत्त्व भी अंतिम नहीं है, लेकिन उस संगीत से फिर मध्य के बिंदु की तरफ सुगमता से यात्रा हो जाती है। जैसे कोई टहलता हुआ बाहर हो जाय। टहलता हुआ कहता हूँ। खेल-खेल में बाहर हो जाय; कुछ श्रम नहीं पड़ता; सत्त्व से छलाँग बड़ी आसान है। क्योंकि वहाँ पैर भी हैं, ऊर्जा भी है, आँखें भी हैं और बँधी हुई लयबद्धता में सब साफ दिखाई पड़ता है, जैसे झील शांत हो गई—कोई लहरें नहीं और झील दर्पण बन गई।

अर्जुन ने कृष्ण से जो यहाँ पूछा, वह है—श्रद्धात्रय विभाग योग। क्योंकि व्यक्तित्व अगर तीन प्रकार के हैं, तो श्रद्धाएँ भी तीन होंगी। तामसी की भी श्रद्धा होगी, आलसी की भी श्रद्धा तो होती ही है। राजसी की भी श्रद्धा होगी; सत्त्व को उपलब्ध व्यक्ति की भी श्रद्धा होगी।

तो अर्जुन ने कहा, 'हे कृष्ण, जो मनुष्य शास्त्र-विधि को त्याग कर केवल श्रद्धा से युक्त हुए देवादिकों का पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है?—सात्विक अथवा राजसी अथवा तामसी?'

कृष्ण ने कहा, 'मनुष्यों की वह स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसी तीन प्रकार की होती है।'

इससे बड़ी हैरानी होगी, क्योंकि तुम तो सदा सोचते रहे होगे कि श्रद्धा सदा सात्त्विक होती है। श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है।

तमस् से भरे हुए व्यक्ति की श्रद्धा कैसी होगी? तमस् से भरा हुआ व्यक्ति अगर प्रार्थना भी करेगा, तो इसीलिए करेगा, ताकि उसे कुछ करना न पड़े। वह परमात्मा पर भरोसा करेगा, तो इसीलिए करेगा, ताकि खुद करने से बच जाय। वह कहेगा, 'सब करने वाला वही है।' बातें बड़ी ज्ञान की करेगा। कहता है, 'सब करने वाला वही है, देने वाला वही है; चलने-फिरने से क्या होगा? करने से क्या होगा?' वह कहेगा, 'हम तो भाग्य में श्रद्धा करते हैं।' वह कहेगा, 'जो होना है, वह हो ही जाता है। उसकी बिना आज्ञा के तो पत्ता भी नहीं हिलता।' तो कहता है कि 'वह तो पशु-पक्षियों को पालता है, तो हमें न पालेगा?' बड़ी ज्ञान की बातें करता है—आलसी भी। लेकिन छिपा रहा है तमस् को। वह यह कह रहा है कि हम कुछ करना

नहीं चाहते। असल में वह यह नहीं कह रहा है कि परमात्मा सब करता है। वह यह कह रहा है कि हम कुछ करना नहीं चाहते।

परमात्मा की ओट में वह तमस् को छिपा रहा है।

इस मुल्क में करोड़ों की संख्या है ऐसे लोगों की—जिनकी श्रद्धा तमस् की है, जो कुछ न करेंगे। लेकिन उनके जीवन में कोई परम संगीत भी बजता हुआ सुनाई नहीं पड़ता। जीवन तो उदास थका-माँदा दिखाई पड़ता है। बातें बड़े ज्ञान की करते हैं कि 'उसकी मरजी के बिना क्या होगा ? सब उसी पर छोड़ दिया है।' छोड़ा उन्होंने कुछ भी नहीं है। कुछ कर नहीं सकते, कुछ करने की हिम्मत नहीं है, ऊर्जा नहीं है और तमस् से राग बना लिया है, रस बना लिया है। इसलिए बड़ी ऊँची बातें करते हैं।

अगर कोई दूसरा धन कमा रहा है, तो तामसी कह रहा है, 'क्या करोगे कमा कर ? उसकी मरजी होगी तो लँगड़े पहाड़ चढ़ जाते, अंधे पढ़ने लगते, बहरे सुनने लगते। और उसकी मरजी न होगी, तो दौड़ते रहो, क्या होगा ?' वह अपने को समझा लेता है। वह कहता है कि 'मैं संतोषी हूँ।' भीतर सब तरह की वासनाएँ जलती हैं, भीतर सब तरह की महत्त्वाकांक्षाएँ उठती हैं, सब सपने उठते हैं, लेकिन उन सपनों के लिए तो दाँव लगाना पड़े; उसकी हिम्मत नहीं है। वह कहता है, 'मैं संतुष्ट हूँ। जो दे दिया, ठीक है, काफी है पर्याप्त है। मैं ज्यादा की माँग नहीं करता।' वह ज्ञानी का ढोंग करता है।

तुम ऐसे आदमी को देख सकते हो; उसे पहचानने में अड़चन न होगी। क्योंकि जिसका संतोष सात्त्विक है, तुम उसके संतोष की कथा उसकी आँखों—उसके चेहरे—उसके जीवन पर लिखी हुई पाओगे; तुम उसे आह्लादित पाओगे, तुम उसे विधायक रूप से प्रसन्न और उत्फुल्ल पाओगे; तुम उसके रोएँ-रोएँ में कोई बाँसुरी बजती हुई पाओगे; तुम उसके पास बैठोगे तो धन्य हो जाओगे, जैसे स्नान कर लिया। उसकी पवित्रता तुम्हें छुएगी।

आलसी का संतोष केवल आलस्य को ढाँकने का, छिपाने का रेशनलाइजेशन है। वह कहता है, 'जो होना है, वह होगा।' तो तुम पाओगे, उसके चेहरे पर उदासी की परतें हैं; उसके आँखों में तुम धुंध पाओगे—उज्ज्वल प्रकाश नहीं। उसके पास बैठकर तुम्हें नींद और जंभाई आयेगी—स्नान नहीं होगा। उसके पास बैठकर तुम थके हुए अनुभव करोगे, क्योंकि तामसी व्यक्ति दूसरे की शक्ति को चूसता है। जब भी तुम तामसी व्यक्ति को मिलोगे, तुम पाओगे कि तुम कुछ खो कर लौटे।

राजसी व्यक्ति अपनी शक्ति को देता है, इसलिए राजसी व्यक्ति के पास जा कर तुम पाओगे कि तुम्हारी भी महत्त्वाकांक्षा के दीये जलने लगे। वह तुम्हें भी रोग

पकड़ा देगा। वह कहेगा, 'क्या कर रहे हो—बैठे-बैठे। इस चुनाव में ही खड़े हो जाओ। बुद्धू से बुद्धू मंत्री हुए जा रहे हैं। तुम क्यों पीछे खड़े हो ? कुछ करते न बनता हो, तो कम से कम तीन दिन का अनशन ही कर लो; कम से कम अखबारों में नाम तो छप जाएगा। तुम अपनी तरफ से आमरण अनशन करो; तुड़वाने की कोशिश हम करेंगे। नाम तो कर जाओ, ऐसे ही मर जाओगे ?' वह कुछ न कुछ उपद्रव सुझा देता है। अगर राजसी व्यक्ति के पास बैठें, तो सम्हल कर बैठना, क्योंकि वह खुद उपद्रव से भरा है; वह बाँटता है; वह देता है। उसके पास बैठ कर तुम उपद्रव लेकर लौटोगे। किसी राजनेताकी सभा से तुम लौटोगे तो तुम्हारी तबियत होगी कि उठा कर पत्थर बस में ही मार दें। कोई कारण नहीं है, लेकिन वह राजनेता तुम्हें बीमारी दे गया।

राजनेता कहे चले जाते हैं कि 'हम बिलकुल अहिंसात्मक हैं। हम किसी को हिंसा थोड़े ही सिखाते हैं।' मगर वे सब हिंसा सिखाते हैं। उनका होने का ढंग ही हिंसात्मक है।

जयप्रकाश कितना ही कहें कि बिहार में जो उपद्रव हुआ, उसकी मेरी जिम्मेवारी नहीं...। किसी और की जिम्मेवारी नहीं है। वे कितना ही कहें कि मैं तो अहिंसा की बात करता हूँ; अब अगर लोगों ने पत्थर फेंक दिये—बसों पर, आग लगा दी—पुलिस थानों में तो मैं क्या कर सकता हूँ ?'

वे गलत बात कह रहे हैं।

ऊपर से तुम अहिंसा की बात करते हो, लेकिन भीतर से तुम्हारे सारे जीवन की ऊर्जा जो है, वह रजस् की है। तुम लोगों को भड़काते हो; तुम लोगों को उकसाते हो। पहले भड़काते हो, फिर उनको कहते हो : शांत हो जाओ; अहिंसा का पालन करो। पहले आग लगा देते हो, फिर बुझाने की कोशिश करते हो!

लोगों को भड़का दो, उनके भीतर का रजस् जग जाय; उपद्रव करने को वे निकल पड़ें, फिर तुम्हारे हाथ के बाहर हो सकता है; तुमने सोचा भी न हो कि वे मकानों में आग लगाएँगे और दुकानें जलाएँगे। तुम्हारे सोचने न सोचने का सवाल नहीं है। तुमने जो ऊर्जा उन्हें दी, वह ऊर्जा उपद्रवी है।

तामसी व्यक्ति तुम्हारी ऊर्जा को चूसता है, वह आलस्य से भरा हुआ है, तो तुम जब उसके पास जाते हो, तो वह शोषण करता है। उसके पास से तुम थके लौटोगे। तुम्हारी भी तबियत सो जाने की होगी।

राजसी व्यक्ति भड़काता है। वह तुम्हें त्वरा से भरता है—बुखार से—कि कुछ कर गुजरो। उसके शब्द सुनकर दुनिया में उपद्रव होते हैं। उसके पास से आकर लोग झंझट में पड़ जाते हैं।

एक मित्र परसों ही मुझसे पूछे आकर; जयप्रकाश के साथी हैं। कहने लगे, 'मैं

बड़ी मुसीबत में पड़ गया हूँ, दुविधा खड़ी हो गई है। आपको क्या पड़ा, एक झंझट हो गई। अब जयप्रकाश या आप? क्या करूँ? क्या दोनों के बीच कोई समन्वय नहीं हो सकता?' मैंने कहा, 'तुम कोशिश करो समन्वय की; उसमें तुम पगला जाओगे। वह समन्वय हो नहीं सकता। क्योंकि दो अलग लोग—दो अलग आयाम।

'वहाँ तुम्हें जयप्रकाश भड़का रहे हैं, यहाँ मैं तुम्हें शांत करने की कोशिश कर रहा हूँ। तुम तालमेल कैसे बिठाओगे? वे कह रहे हैं : पूर्ण क्रांति; मैं कहा रहा हूँ : पूर्ण शांति। इसमें तालमेल कैसे बिठाओगे? वे कहते हैं : संसार को बदल कर रहेंगे। मैं कहता हूँ : तुम अपने को बदल लो, तो काफी है। इसमें कोई तालमेल हो नहीं सकता।'

तो मैंने उनको कहा, 'तुम मुझे भूल जाओ। इस झंझट में तुम पड़ो ही मत। किताबें वगैरह मेरी फेंक दो; मुझे भूल जाओ। और तुम जयप्रकाश के पीछे चलो।' उन्होंने कह, 'वह तो असम्भव है। वह नहीं हो सकता। अब शक तो पैदा हो ही गया है।' तो फिर मैंने कहा, 'शक अगर पैदा हो गया है, तो जयप्रकाश को छोड़ दो।' उन्होंने कहा, 'लेकिन यह भी बड़ा मुश्किल है।' तो मैंने कहा, 'मरो—दुविधा में मरो। इसमें मैं क्या कर सकता हूँ? कोई भी क्या कर सकता है? तो तुम्हारी बैलगाड़ी में दोनों तरफ बैल जोत लो और चलो। दोनों को हाँको। अस्थि-पंजर टूट जाएँगे। घसीटोगे; पहुँचोगे कहीं भी नहीं।'

मेरे लिये तो जयप्रकाश रुग्ण हैं; विक्षिप्त मन की दशा है; सभी राजनीतिज्ञ होते हैं। इसलिए जब मैं यह कहा रहा हूँ, तो मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि इंदिरा विक्षित नहीं है। पद पर जो होते हैं, उनकी विक्षिप्तता दिखाई नहीं पड़ती। जो पद पर नहीं होते, उनकी विक्षिप्तता दिखाई पड़ती है।

मोरारजी पद पर होते हैं, बड़े समझदार मालूम पड़ते हैं। जब पद के बाहर होते हैं, तब विक्षिप्त हो जाते हैं। पद की समझदारी—कोई समझदारी है? पद की समझदारी तो यह है कि जो अपने पास है, वह छूट न जाय, इसलिए उपद्रव से डरने लगता है आदमी। लेकिन जिसके पास कुछ नहीं है, उससे तुम छुड़ाओगे क्या? नंगा नहायेगा, तो निचोड़ेगा क्या? तो वह कहता है : पूर्ण क्रांति करवा देंगे। उसका तो कुछ खोना नहीं है, इसलिए वह उपद्रवी होता है।

पद पर बैठे हुए राजनेता उतने ही पागल हैं, जितने पद के बाहर। जमात एक है। उनकी भाषा एक है। उनकी दुनिया एक है।

रजस् वाले व्यक्ति के पास से तुम 'रोग' लेकर लौटोगे।

सात्त्विक व्यक्ति न तो तुम्हें कुछ देता है, न तुम से कुछ लेता है। सात्त्विक व्यक्ति के पास बैठ कर तुम तुम ही हो जाओगे। यह थोड़ी समझने की बात है। वह तुमसे

कुछ नहीं लेता; वह तुम्हें कुछ देता भी नहीं। वह तुम्हें सिर्फ तुम्हारे होने का मौका देता है। उसकी छाया में बैठकर, तुम तुम हो जाओगे—तुम जो हो। तुम्हें अपना सत्त्व सुनाई पड़ने लगेगा। तुम्हें अपने भीतर के संगीत की थोड़ी भनक पड़ने लगेगी।

सात्त्विक व्यक्ति कुछ देता नहीं है, लेता नहीं है; सिर्फ उसकी मौजूदगी तुम्हारे भीतर एक रूपांतरण बनने लगती है। तुम उसकी मौजूदगी में भीतर के द्वंद्व को क्षीण करने लगते हो। तुम उसकी मौजूदगी के प्रकाश में एक भीतर के आंतरिक सहयोग को उपलब्ध हो जाते हो। वह सामंजस्य देता है; कुछ देता नहीं, कुछ लेता नहीं। वह तुम्हें तुम्हारी सुध देता है; तुम्हें तुम्हारी थोड़ी-सी भनक देता है; वह तुम्हें तुम्हीं बनाना चाहता है। तुम्हें तुम्हारी थोड़ी-सी मनक देता है; वह तुम्हें तुम्हीं बनाना चाहता है।

सात्त्विक व्यक्ति वही है, जो तुम्हें तुम्हीं बनाना चाहे। इसलिए तुम्हारे बहुत से महात्मा सात्त्विक नहीं हैं। तुम्हारे बहुत से महात्मा राजसिक हैं। वे तुम्हें गति देते हैं कि छोड़ो। यह छोड़ो, वह छोड़ो। यह व्रत ले लो, वह कसम ले लो। चलो, ब्रह्मचर्य की कसम खा लो। कुछ न कुछ उपद्रव तुम उसके पास से लेकर लौटोगे। तो वह महात्मा सात्त्विक नहीं है; उन्हें राजनीतिज्ञ होना था। वे गलत जगह फँस गये हैं।

कई दफा हो जाता है—आदमी गलत जगह फँस जाता है। कुछ महात्मा राजनीति में फँस जाते हैं; कुछ राजनीतिज्ञ महात्मा होने में फँस जाते हैं। तब बड़ी अड़चन होती है।

जो महात्मा तुम्हें बदलने की कोशिश करे, तुम्हें कुछ देने की कोशिश करे—कि तुम ऐसे हो जाओ, तुम वैसे हो जाओ—जो तुम्हें आदर्श दे, वह महात्मा नहीं है; वह राजनीतिज्ञ है।

सात्त्विक व्यक्ति तुम्हें आदर्श देता ही नहीं, तुम्हारी स्वयंता देता है, तुम्हारी निजता देता है। तुम जो हो, बस, वही—उसी के लिये तुम राज़ी हो जाओ। जैसा संगीत उसने अपने भीतर पाया, वैसा संगीत तुम्हारा भी हो जाय।

सात्त्विक व्यक्ति एक आशीष है—बस—उपदेश नहीं; आदेश तो बिलकुल नहीं—सिर्फ एक आशीष। इसलिए पुरानी परम्परा है कि हम संतों के पास सिर्फ आशीर्वाद माँगने जाते हैं—और कुछ माँगने नहीं। और कुछ माँगने की बात ही गलत है। और कुछ माँगना हो, तो राजसी के पास जाना चाहिए, तामसी के पास जाना चाहिए।

सात्त्विक के पास तो सिवाय आशीष के और कुछ भी नहीं है। लेकिन उसके आशीष की छाया में परम रूपान्तरण घटित होते हैं। उसके आशीष की छाया में अंधेरे घर प्रकाशित हो जाते हैं, बुझे दीये जल जाते हैं।

और जो सत्त्व को उपलब्ध हो जाता है, वह त्रिगुण के पार आसानी से हो जाता है। सत्त्व चट्टान है, जहाँ से एक में छलाँग लगती है।

तामसी व्यक्ति की श्रद्धा आलस्य की होगी। वह अपने आलस्य को ही अपनी श्रद्धा बनायेगा। राजसी व्यक्ति की श्रद्धा राजस की होगी। वह अपने राजसीपन को ही अपनी श्रद्धा बनाएगा। वह कहेगा : 'कर्म-योग।' वह राजसी व्यक्ति की श्रद्धा है।

लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य लिखा। वह किताब राजसी व्यक्ति की लिखी गई किताब है। और उसका बड़ा प्रभाव हुआ। क्योंकि गीता में उन्होंने सिद्ध किया कि कर्म-योग ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। इससे झूठी कोई बात नहीं हो सकती। इसमें लोकमान्य तिलक ने अपने को ही गीता में पढ़ लिया। वे राजसी व्यक्ति थे, राजनेता थे। वे खाली नहीं बैठ सकते थे। यह गीता-रहस्य भी खाली न बैठने के कारण लिखी गई। मंडाले के जेल में क्या करें? कुछ काम-धाम न रहा। खाली बैठ नहीं सकते। सात्त्विक व्यक्ति होता, तो ध्यान कर लेता। मंडाले का जेल महान् समाधि बन जाता। लेकिन अब यह राजसी व्यक्ति क्या करे? कुछ उपाय नहीं। तो कोयले के टुकड़ों से दीवाल पर गीता-रहस्य की पहली टीकाएँ लिखनी उन्होंने शुरू कीं। फिर कागज के टुकड़ों पर धीरे-धीरे टीका लिखी।

यह टीका राजसी व्यक्ति की टीका है—राजनेता की। फिर इसी टीका ने गांधी को प्रभावित किया, विनोबा को प्रभावित किया। और वह गीता-रहस्य हिन्दुस्तान के लिए पचास साल का पूरा इतिहास बन गई।

'कर्म करो', तिलक ने कहा। और गांधी ने कहा, 'कर्म-योग ही असली योग है। सेवा करो, समाज सुधारो, अस्पताल बनाओ। गरीबों को मकान दो—जमीन दो। यह करो, वह करो।' भूदान आया, सर्वोदय आया। वह सब गीता-रहस्य से सूत्र-पात हुआ। लेकिन वह राजसी व्यक्ति की व्याख्या बड़ी भिन्न होगी।

सात्त्विक व्यक्ति की व्याख्या शांति की होगी—सेवा की नहीं। इसका यह अर्थ नाहीं है कि शांत व्यक्ति सेवा नहीं कर सकता। लेकिन शांत व्यक्ति का—सेवा लक्ष्य नहीं होता; उसकी शांति से निकलती है सेवा। इसका यह अर्थ नहीं कि शांत व्यक्ति कुछ भी नहीं करेगा। करेगा; लेकिन करने की उसमें 'त्वरा' नहीं होती, करने की आकांक्षा नहीं होती। जीवन जो करा ले, वह करता है। लेकिन करने के पीछे पागल नहीं होता। ऐसा नहीं है वह खाली नहीं बैठ सकता है—इसलिए करता है। जरूरत हो तो करता है; जरूरत नहीं होती, तो शांत बैठता है। कर्म उसके लिए कोई रोग नहीं है—कोई न्यूरोसिस (विक्षिप्तता) नहीं है। कर्म उसके लिए जीवन-ऊर्जा का खेल है।

सात्त्विक व्यक्ति जीता सदा अपने सत्त्व में है—अपनी शांति में है। कोई कर्म

उसकी शांति को व्याघात नहीं कर पाता। आग लगी हो, तो वह बुझायेगा; बैठा नहीं रहेगा। आग लग गई है, बुझायेगा जरूर; लेकिन भीतर आग की कोई भी खबर न पहुँचेगी। भीतर की शांति अखण्ड रहेगी। आग भीतर की शांति को न जलायेगी। वह बेचैन न होगा। वह कर्म भी करेगा, वह विश्राम भी करेगा। वह जीवन के अनेक रंग-रूपों में रहेगा। लेकिन भीतर का स्वर—संगीत का रहेगा, वह लय-बद्धता कायम रहेगी।

सात्त्विक व्यक्ति की श्रद्धा क्या? सात्त्विक व्यक्ति की श्रद्धा है—भीतर की परम कुँवारी दशा, चैतन्य की शुद्धतम दशा को उपलब्ध हो जाना। वह अपने सारे जीवन के दर्शन को इस भाँति सोचेगा...जैसे कि वह भी भाग्य की बात करेगा। अब थोड़ा समझ लेने जैसा है।

तामसी व्यक्ति भाग्य की बात करेगा—अपने को कर्म से बचाने के लिये। राजसी व्यक्ति भाग्य की बात करेगा—अपने को कर्म में डालने के लिये। वह कहेगा, 'भाग्य में जो लिखा होगा, वह होगा। भाग्य में लिखा है कि मुझे प्रधान-मंत्री होना है। मैं भी क्या कर सकता हूँ? जो लिखा है, वह होकर रहेगा। जो भाग्य में लिखा है, उससे बचा कैसे जा सकता है?' वह अपने कर्म की विक्षिप्तता को बचायेगा—भाग्य से।

सात्त्विक व्यक्ति भी भाग्य की बात करेगा, लेकिन उसके भाग्य में कोई बचाव नहीं होता। वह कहेगा, 'जो होगा, वह होगा; जो होना है, वह होता है।' इसलिए न तो वह करने को बेचैन होगा और न वह न-करने को पकड़ेगा। जीवन उसे जहाँ ले जाएगा—युद्ध के मैदान में, तो युद्ध के मैदान में खड़ा हो जाएगा। पहाड़ की कंदराओं में, तो पहाड़ कंदराओं में मौन होकर बैठ जाएगा। उसे सब स्वीकार है। और उसकी स्वीकृति तुम पहचान सकोगे; क्योंकि उसके चारों तरफ अहोभाव का नाद बजता रहेगा।

श्री कृष्ण बोले, 'मनुष्यों की वह स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विक और राजसी तथा तामसी—ऐसी तीन प्रकार की होती है, उसको तू मुझसे सुन।'

आज इतना ही।

भक्त और भगवान् • गुरु की चुप्पी • प्रेमी और पण्डित
त्रिगुण और श्रद्धा का शोधन

दूसरा प्रवचन
श्री रजनीश आश्रम पूना, प्रातः, दिनांक २२ मई, १९७५

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

हे भारत, सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयं भी वही है।

उनमें सात्त्विक पुरुष तो देवों को पूजते हैं और राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : भक्त जब भगवान् को मिलता है, तब उसे पुलक और आनन्द का अनुभव होता है। क्या भगवान् को भी उस क्षण वैसी पुलक और आनन्द का अनुभव होता है?

भगवान् कोई व्यक्ति नहीं है, जिसको भक्त जैसी पुलक और आनन्द का अनुभव हो सके। भगवान् तो पूरा ही अस्तित्व है। इसलिए पुलक और आनन्द की घटना तो घटती है, लेकिन वहाँ कोई अनुभव करने वाला नहीं है।

जैसे भक्त के छोटे से हृदय में आनन्द गूँज जाता है, वैसा कोई हृदय परमात्मा का नहीं है, जहाँ आनन्द गूँज जाय। परमात्मा तो पूरा अस्तित्व है, इसलिए पूरा अस्तित्व ही पुलक से भर जाता है। इतना फर्क है।

पुलक तो घटेगा ही, क्योंकि भटका हुआ घर लौट आया; दूर गया पास आ गया; खो गया था—वापस मिल गया; अस्तित्व की तरफ जिसकी पीठ थी, उसने मुँह कर लिया।

तो आनन्द की घटना तो घटेगी ही, लेकिन भगवान् कोई व्यक्ति नहीं है, वहाँ कोई व्यक्ति के भीतर छिपा हुआ हृदय नहीं है। इसलिए जैसा अनुभव भक्त को होगा, वैसा कोई अनुभव करने वाला भगवान् में नहीं है। वह तो परम शून्यता है।

पुलक होगी; वह पुलक बादलों में सुनी जाएगी; कह पुलक नदियों में गूँजेगी; वह पुलक फूलों से खिलेगी; वह पुलक चाँद-तारों में ज्योति देगी। लेकिन कोई हृदय नहीं है, जो अनुभव करेगा। या तुम ऐसा कहो—वह भी कहना ठीक है—कि हृदय ही हृदय है; सारा अस्तित्व उसका हृदय है।

सारा अस्तित्व एक सिहरन-सी, एक आनन्द की मधुर घड़ी से भरा जाएगा। इसे भक्त ही जान पाएगा; तुम न पहचान पाओगे। तुम्हें भक्त का आनन्द तो दिखाई

पड़ेगा, क्योंकि भक्त तुम्हारे जैसा ही व्यक्ति है। उससे तुम्हारा थोड़ा ताल-मेल है। वह कितना ही भिन्न हो गया हो, उसकी यात्रा बदल गयी हो, उसने परमात्मा की तरफ मुँह कर लिया हो, (तुमने पीठ कर रखी है) तो भी वह तुम्हारे जैसा है, व्यक्ति है। उसके हृदय में कुछ घटेगा; आँसू बहेंगे, तो तुम आँसुओं को पहचान सकते हो। वह नाचने लगेगा, तो तुम नाच को समझ सकते हो। उसके चेहेरे पर अहोभाव की छाया पड़ेगी, तो पूरा न समझ सको, तो भी थोड़ा तो समझ ही लोगे। वह भाषा तुमसे परिचित है। लेकिन परमात्मा में जो पुलक घट रही है, वह तुम न देख पाओगे; वह तुम नहीं समझ पाओगे। इसलिए तो बहुत-सी घटनाएँ हैं, जो कथाएँ जैसी मालूम होने लगी हैं; वे सत्य घटनाएँ हैं।

बुद्ध को परम ज्ञान हुआ और वृक्षों में फूल खिल गए—बिना ऋतु के। ये फूल दूसरों ने देखे हों, यह संदिग्ध है। यह फूल बुद्ध ने ही देखे होंगे। ये फूल साधारण फूल न थे, जो रोज ऋतु में खिलते हैं और गिरते हैं। ये तो वृक्ष के अंतर्भाव के फूल थे, इन्हें तुम बाजार में न बेच सकते थे; इन्हें तुम देख भी न सकते थे। ये तो अदृश्य के फूल थे, जो बुद्ध को दिखाई पड़े होंगे।

कहते हैं, मुहम्मद को जब ज्ञान हुआ, तो रेगिस्तान की तपती दुपहरियों में बादल उन्हें छाया देने लगे। मगर ये बादल किसी और को दिखाई न पड़े होंगे। ये बादल जो छतरियाँ बन गए और मुहम्मद के ऊपर मंडराने लगे, यह मुहम्मद ने ही खबर की होगी औरों को। तुम्हारी आँखें इतनी सूक्ष्म घटना को न देख पाएँगी। वस्तुतः कोई बादल बने भी—यह भी जरूरी नहीं है। लेकिन छाया मुहम्मद को मिलने लगी—यह पक्का है। तपती दुपहरी में भी सूरज जलाता नहीं, भयंकर रेगिस्तान में भी कंठ में प्यास नहीं जगती, ऐसी शीतलता मुहम्मद को मिलने लगी। एक संवाद शुरू हो गया अस्तित्व के साथ।

निश्चित ही जब तुम प्यार से भरोगे—अस्तित्व के प्रति, तो अस्तित्व भी अपने प्यार को तुम्हारी तरफ लुटाएगा। अस्तित्व जड़ नहीं है, यही तो मतलब है कहने का कि अस्तित्व परमात्मा है।

तुम रोओ, तो पत्थर रोएगा नहीं; उसमें कोई संवेदना नहीं है। तुम हँसो तो पत्थर हँसेगा नहीं। पत्थर से कोई प्रत्युत्तर न मिलेगा। यही तो मतलब है : पत्थर होने का। तो हम कहते हैं कि उस आदमी का हृदय पाषाण है। उसका क्या मतलब होता है? कहीं पाषाण के हृदय होते हैं? 'पाषाण-हृदय' का इतना ही मतलब होता है कि उसमें से प्रतिसंवेदन नहीं उठता। वह तुम्हें दुःखी देख कर दुःखी न होगा। तुम्हारी गीली आँखें उसके हृदय को गीला न करेंगी। तुम्हारे भाव तुम्हारे ही रहेंगे; वह कोई प्रत्युत्तर न देगा। उसका हृदय पाषाण है।

इस अस्तित्व को परमात्मा कहने का अर्थ है कि यहाँ पाषाण कुछ भी नहीं है। 'पाषाण' झूठा शब्द है। यहाँ पत्थर भी आंदोलित होते हैं; क्योंकि सभी तरफ सचेतन है; सभी तरह चैतन्य का विस्तार है।

तो प्रतिसंवेदना होगी, लेकिन इतनी सूक्ष्म है वह घटना कि भक्त ही जान पाएगा कि भगवान् को क्या हो रहा है; साधारण जन न पहचान पाएँगे, क्योंकि वे करीब-करीब अंधे हैं, बहरे हैं। न तो उनके पास कान हैं—उस अमृत-नाद को सुनने के; न उनके पास आँखें है—उस अरूप को देखने की।

इसलिए तुम्हें मीरा नाचती हुई दिखाई पड़ेगी और तुम्हें मीरा थोड़ी पागल भी मालूम पड़ेगी; क्योंकि जिसके साथ वह नाच रही है, वह तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। मीरा तो अपने कृष्ण के साथ नाच रही है। वह कृष्ण कोई व्यक्ति नहीं है। हवाओं के झोंके में भी वही कृष्ण है; हवा छूती है मीरा को, तो कृष्ण के हाथ ही छूते हैं। और मैं तुमसे कहता हूँ कि निश्चित जब तुम्हारे पास मीरा का हृदय होगा, तो वह तुम्हें और ढंग से छूएगी। छूने-छूने में कितना फर्क है!

राह से तुम चलते हो और एक आदमी से शरीर छू जाता है; फिर तुम्हारी प्रेयसी तुम्हें छूती है या तुम्हारी माँ तुम्हारे सिर को छूती है या तुम अपने बेटे को छूते हो—दोनों छूना क्या एक-से हैं? अगर हम शरीर-शास्त्री से पूछें कि जाँच करके बताओ कि दोनों तरह के स्पर्श में कोई फर्क है? वह कोई फर्क न बता पाएगा। वह कहेगा, 'दोनों स्थितियों में चमड़ी चमड़ी को छूती है। थोड़े से ताप का आदान-प्रदान होता है। गरमी एक शरीर से दूसरे शरीर में थोड़ी-सी जाती है। बस, इतना ही।' माँ छूएगी तो भी यही होता है; राह पर चलता राहगीर छूएगा तो भी इतना ही होता है। कोई प्रेम से थपथपाएगा तो भी यही होता है। कोई क्रोध से मारेगा तो भी यही होता है। जहाँ तक शरीर-शास्त्री की पकड़ है, दोनों एक-सी घटनाएँ हैं।

हवा का झोंका तुम्हें भी छूता है, मुझे भी छूता है; मगर तुम्हें ऐसे ही छूता है: जैसे राह पर कोई अजनबी से धक्का लग गया। मीरा को भी छूता है; लेकिन वह प्रेमी का हाथ है। उस झोंके में कुछ आया है। उस झोंके में सिर्फ स्पर्श नहीं है, स्पर्श के पीछे छिपा हुआ राज़ है—एक भाव-दशा है।

वृक्षों में फूल तुम्हें भी खिलते हैं; तुम भी देख लेते हो उनके रंग-रूप को। मीरा भी देखती है, लेकिन वहाँ वृक्षों में उसका प्रेमी ही खिल रहा है। आषाढ़ आता है, मोर नाचते हैं। तुम भी देख लेते हो, पर मीरा के लिये उसका कृष्ण ही नाचता है। असल में मीरा के लिए सारा अस्तित्व कृष्ण-रूप हो गया है। इसलिए अब जो भी होता है, वह कृष्ण में ही हो रहा है। और पूरी भाषा बदल जाती है, पूरे अर्थ बदल जाते हैं।

अगर मनोवैज्ञानिकों को कहो कि मीरा के पदों का विश्लेषण करो, तो तुम बहुत धक्का खाओगे। क्योंकि मनोवैज्ञानिक जो बातें कहेंगे, उनका तुम्हें भरोसा भी न आये, लेकिन तुम्हारा भी भीतर भरोसा वही है।

जब मीरा कृष्ण की बात कहती है और कहती है, 'सेज सजा ली है, फूल बिछा दिये हैं; अब तुम आओ।' तो मनोवैज्ञानिक कहेगा, 'यह तो कुछ काम-दमन मालूम पड़ता है; यह तो सेक्स-सप्रेशन है। यह तो कृष्ण में पति को ही खोज रही है। ऐसा लगता है—राणा से मन नहीं भर पाया। ऐसा लगता है—कुछ बात चूक गयी; काम अतृप्त रह गया। वह जो शरीर की वासना थी, वह प्रकट नहीं हो पायी; वह दब गई। और अब वही शरीर की वासना नये भ्रम बन रही है। तो कृष्ण को पति मान रही है, सेज सजा रही।'

यह सेज का सजाना और बुलाना यह काम-वासना मालूम पड़ेगी—मनसविद् को। वह तो मनोवैज्ञानिकों ने अभी मीरा पर कृपा नहीं की है। उनको मीरा का ज्यादा पता नहीं है, क्योंकि मनोविज्ञान का जन्म पश्चिम में हो रहा है। यहाँ भी मनोवैज्ञानिक हैं, लेकिन वे अध-कचरे हैं और वे पश्चिम में जो होता है, उनके पीछे चलते हैं, वे सीधे कुछ करते नहीं।

लेकिन पश्चिम में उन्होंने जीसस की काफी खोज-खबर ली है। और मीरा जैसी स्त्रियाँ पश्चिम में हुई हैं, उनकी उन्होंने काफी खोज-खबर ली है। संत थेरेसा हुई है, पश्चिम में। मनोवैज्ञानिकों ने उसका विश्लेषण किया है। वह ठीक मीरा है—पश्चिम की। और उसके प्रतीक तो सब काम-वासना के हैं। करोगे भी क्या?

मनुष्य के पास जितने भी मधुर शब्द हैं, सभी काम-वासना के हैं। जब वह परम मधुरिया घटती है, तो कौन से शब्दों का उपयोग करोगे?

दो ही तरह की भाषाएँ हैं, तुम्हारे पास। या तो बाजार की भाषा है; वह बहुत ही क्षुद्र है। उस भाषा में तो परमात्मा को पकड़ा नहीं जा सकता। और या फिर दो प्रेमियों की एकांत की भाषा है। वह जरा कम क्षुद्र है, लेकिन है तो क्षुद्र ही; क्योंकि वे प्रेमी भी बाजार के ही रहने वाले लोग हैं।

जब मीरा को घटना घटती है या थेरेसा को, तो वे क्या करें, भाषा कहाँ से लाएँ? तुम्हारे बाजार की भाषा का उपयोग करें तो बिलकुल ही व्यर्थ मालूम होती है। क्या कहें—कि परमात्मा के झोंके में लाखों रुपये आ गये! क्या कहें कि पूरा रिजर्व बैंक उलटा दिया—परमात्मा के झोंके में। वह भी भद्दा लगेगा; वह भी कुछ सार्थक न मालूम पड़ेगा। तुम उसे भी न पकड़ पाओगे। ज्यादा से ज्यादा इतना ही होगा कि इन्कम टैक्स ऑफिसर मीरा के पीछे पड़ जाएँगे कि कहाँ है? वे करोड़ों रुपये कहाँ हैं?

दूसरी भाषा प्रेम की है, जो प्रेमी एक दूसरे से बोलते हैं; वह बड़ी निजी है। लेकिन उसमें काम-वासना की धुन पकड़ में आती है। तड़पते हैं प्रेमी, राह देखते हैं; मिलन होता है। अहोभाव से भरते हैं। वही भाषा समझ में आती है। मीरा उसका उपयोग करती है; थेरेसा ने भी उसका उपयोग किया है।

पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों ने बड़ी छीछा-लेदर की है—थेरेसा की। वही वे मीरा के साथ करेंगे। उनको मीरा का पता नहीं है। वे कहते हैं, 'यह तो काम-वासना है।' वे तो हर चीज में काम-वासना खोज लेते हैं; क्योंकि दूसरी तो किसी चीज का उन्हें पता ही नहीं है।

'सेज सजी है, पिया घर नहीं आये। फूल बिछा रखे हैं; मैं तुम्हारी राह देखती हूँ, तुम आओ। सुहागरात के लिए तैयारी है।' अब यह सारी भाषा तो प्रेम की है। या तो हम कहेंगे कि मीरा का मन काम-वासना से ग्रस्त है, इसलिए परमात्मा के नाम पर वही वासना निकल रही है। या हम समझेंगे—मीरा पागल है। क्योंकि हम मीरा की बिछी हुई सेज देख सकते हैं, पड़े हुए फूल देख सकते हैं, मीरा बैठकर रोती है—किसी की प्रतीक्षा करती है, यह भी देख सकते हैं; लेकिन वह कभी आता है? कभी आया है? कभी आयेगा?—उसकी हम द्वार पर दस्तक भी नहीं सुनते।

मीरा को फिर हम कभी रोते भी देखते हैं—कि उसका विरह हो गया है और कभी नाचते भी देखते हैं—कि मिलन हो गया। न तो हमें विरह के क्षण में कोई घर आता दिखाई पड़ता।...

मीरा पागल लगती है। लोग खूब हँसे होंगे मीरा पर। इसलिए तो मीरा कहती है : 'सब लोक-लाज खोई—इज्जत सब चली गई।' राणा ने जो बार-बार मीरा को जहर के प्याले भेजे, वह इसलिए कि उसकी भी इज्जत इसके पीछे डूबती थी।

यह किस प्रेमी की बात कर रही है? यह किस कृष्ण के पीछे दीवानी है? लोग इसको तो पागल समझते या रुग्ण समझते या मनोविकार से ग्रस्त समझते। पति भी मुश्किल में पड़ा हुआ था।

हमने ज़हर तो आते देखा, हमने मीरा को ज़हर को पीते भी देखा, लेकिन मीरा पर हमने उस ज़हर का असर होते नहीं देखा। तब जरा हम बेचैन हुए। यह तो अनूठी बात है। कैसे ज़हर का असर न हुआ?

अगर तुम मनस्विद् से पूछोगे, तो उसके पास इसके लिए भी व्याख्या है। वह कहता है, 'यह भी आत्म-सम्मोहन है। अगर मीरा को पक्का भरोसा है कि यह ज़हर नहीं है या परमात्मा की कृपा से यह अमृत हो जाएगा, तो इस भरोसे के कारण ही ज़हर शरीर में प्रवेश नहीं कर पाता। मनोवैज्ञानिक उसके लिए भी कुछ न कुछ तो व्याख्या खोजेगा!

हम परमात्मा से बचने को इस तरह आतुर हैं कि हम सब मान सकते हैं—व्यर्थ से व्यर्थ बात मान सकते हैं, परमात्मा को नहीं मान सकते।

मनोवैज्ञानिक कहता है कि यह जो मन का इतना प्रगाढ़ रूप से भाव है—कि यह ज़हर नहीं है—इसलिए शरीर में ज़हर प्रवेश नहीं करता—मन के कारण ही। कोई कृष्ण थोड़े ही ज़हर को अमृत में बदल रहे हैं।

ज़हर भी अमृत में बदल जाय, तो भी हम अंधे हैं; तो भी हम कोई व्याख्या अपनी ही खोज लेंगे। इतनी बड़ी घटना भी हमें तृप्त नहीं कर पाएगी; इसका कारण है कि हमें वह कृष्ण दिखाई नहीं पड़ता। और अन-देखे को हम कैसे मान लें? इतने मूढ़ हम कैसे हो जायँ?

घटना तो घटती है; जब भक्त भगवान् को मिलता है, तो जितनी पुलक भक्त में घटती है, अगर तुम मुझ से ठीक पूछो, तो उससे अनन्त गुना पुलक भगवान् में घटती है। घटनी ही चाहिए; क्योंकि अनन्त गुना है भगवान्- भक्त से। भक्त तो एक बूँद है, भगवान् तो एक सागर है। अगर बूँद इतनी नाचती है, तो तुम सोचो, सागर कितना नाचता होगा? लेकिन वह कोई व्यक्ति नहीं है।

यह सारी समष्टि वही है। इसमें वह सब रूपों में नाचता है, सब रूपों में हँसता है, सब रूपों में पुलकित होता है। हरियाली में और हरा हो जाता है। इंद्रधनुष में और गहरा हो जाता है। लेकिन वह दिखाई पड़ता है उसी को, जिसके हृदय में अहोभाव भरा है, जो नाच रहा है। आज उसे परमात्मा साथ ही नाचता हुआ दिखाई पड़ता है।

यही तो अर्थ है कि सोलह हजार गोपियाँ नाचती हैं और प्रत्येक गोपी को लगता है कि कृष्ण उसके साथ नाच रहे हैं। कृष्ण अगर व्यक्ति हों, तो एक ही गोपी के साथ नाच सकते। कृष्ण कोई व्यक्ति नहीं हैं। कृष्ण तो एक तत्त्व का नाम है। वह तत्त्व सर्वव्यापी है। जब तुम नाचते हो और तुम नाचने की क्षमता जुटा लेते हो, तब तुम अचानक पाते हो कि सारा अस्तित्व तुम्हारे साथ नाच रहा है।

फिर अस्तित्व बहुत बड़ा है, वह दूसरों के साथ भी नाच रहा है। इसलिए भक्त को कोई ईर्ष्या पैदा नहीं होती। अन्यथा तुम सोच सकते हो कि सोलह हजार स्त्रियों ने क्या गति कर दी होती—कृष्ण की। अगर यह बात साधारण संसार की बात हो—जैसा कि इतिहासविद् मानते हैं...।

और यह कठिन नहीं है; सोलह हजार स्त्रियाँ हो सकती हैं; उस जमाने में हुआ करती थीं। अभी निजाम हैदराबाद मरा, तब उसकी पाँच सौ स्त्रियाँ थीं। बीसवीं सदी में अगर पाँच सौ हो सकती हैं, तो सोलह हजार कोई ज्यादा तो नहीं है। सिर्फ बत्तीस गुनी। कोई बहुत बड़ा गणित नहीं है। आज से पाँच हजार साल पहले

सोलह-हजार स्त्रियाँ हो सकती थीं। जितनी सुंदर स्त्रियाँ होतीं, वे सब इकट्ठी कर लेते—पूरे राज्य से। यह कठिन नहीं है।

लेकिन सोलह हजार स्त्रियाँ? अगर तुम्हें एक भी स्त्री का अनुभव है, तो तुम समझ सकते हो। कृष्ण की हत्या कर दी होतीं—अगर कृष्ण कोई व्यक्ति हैं। सोलह हजार स्त्रियाँ कितनी भयंकर ईर्ष्या से न भर गयी होतीं! और कृष्ण एक के साथ नाच सकते, कोई एक राधा हो जाती और बाकी पिछड़ जातीं। उपद्रव खड़ा होता। लेकिन कोई ईर्ष्या पैदा न हुई।

यह बड़ी मीठी कथा है कि गोपियों में कोई ईर्ष्या पैदा न हुई। उनका विरह भी साथ-साथ था, उनका मिलन भी साथ-साथ था। क्योंकि कृष्ण कोई व्यक्ति नहीं है तत्त्व की बात है। सारा अस्तित्व है; जहाँ भी तुम नाचो, अस्तित्व तुम्हें घेरे हुए है। कृष्ण के हाथ तुम्हारे गले में पड़े हैं। आलिंगन है—हवा में, धूप में।

सब तरफ से कृष्ण तुम्हें घेरे हुए हैं। वे तुम्हारे साथ नाचने को तैयार हैं। बस, तुम्हारे पैरों के उठने की कमी है। तुम जरा नाच सीख लो, परमात्मा नाचने को राजी है। तुम जरा हँसना सीख लो, परमात्मा हँसने को राजी है। तुम रोओगे, तो अकेले रोओगे; तुम हँसोगे तो सारा अस्तित्व तुम्हारे साथ हँसेगा, क्योंकि परमात्मा रो नहीं सकता। इसे थोड़ा समझ लो।

परमात्मा दुःखी नहीं हो सकता। इसलिए मैं कहता हूँ कि भक्त आनंदित होता है, तो पूरा अस्तित्व आनंदित होता है। लेकिन तुम यह मत सोचना कि जब भक्त रोता है, तो अस्तित्व भी रोता है। पूर्ण—रोना जानता ही नहीं; पूर्ण की पहचान ही—रोने से, रुदन से, उदासी से नहीं है। पूर्ण का कोई सम्बन्ध ही दुःख-पीड़ा से नहीं है।

कहावत है कि जब तुम हँसते हो, तब सारा अस्तित्व तुम्हारे साथ हँसता है। जब तुम रोते हो, तब तुम अकेले रोते हो।

रोना निजी है, व्यक्तिगत है, इसलिए तो जब तुम रोना चाहते हो, तो तुम अकेले होना चाहते हो। द्वार-दरवाजा बंद कर लेते हो। तुम नहीं चाहते—कोई आये। तुम नहीं चाहते कि पत्नी भी भीतर आये। तुम चाहते हो—अकेला छोड़ दो—बिलकुल अकेला छोड़ दो। क्योंकि रोना निजी घटना है। लेकिन जब तुम हँसते हो, तो तुम पास-पड़ोस के लोगों को बुला लेते हो। जब तुम हँसते हो, तब तुम निमंत्रण भेज देते हो। जब तुम आनन्द में होते हो, तब तुम भोज का आयोजन कर लेते हो, कि आयें—मित्र, पड़ोसी, सम्बन्धी—हम सब साथ ही नाचें, हम सब साथ ही प्रसन्न हों।

प्रसन्नता निजी नहीं है; फैलती है, विस्तीर्ण होती है। दुःख निजी है; सिकुड़ता है, सड़ता है। तुम अकेले ही दुःखी रह जाते हो। और अचानक तुम पाते हो कि सारे

जगत् से तुम्हारा तालमेल टूट गया। जितने तुम ज्यादा दुःखी हो, उतना ही परमात्मा से दूर। या उलटा चाहो तो उलटा कहो : जितने तुम परमात्मा से दूर, उतने ज्यादा दुःखी। वे दोनों ही बातें हैं। जितने तुम परमात्मा के पास, उतने तुम सुखी। दूसरी बात भी सही है कि जितने तुम सुखी, उतने तुम परमात्मा के पास।

इसलिए मेरी शिक्षा आनन्द की है। मैं तुम्हें उदास नहीं बनाना चाहता कि तुम आँखें बंद करके ध्यान लगा कर उदास हो कर, मुरदा होकर बैठ जाना—लंबे चेहरे कर के—कि तुम कोई बहुत बड़ा काम कर रहे हो—कि तुम जैसे परमात्मा पर कोई अनुग्रह कर रहे हो—कि तुम्हारी बड़ी कृपा है कि घंटे भर तुम चेहरा बना के, हाथ में माला लेकर और पत्थर की तरह बैठे रहते हो। नहीं, पत्थर बहुत हैं। तुम्हारे और पत्थर होने की जरूरत नहीं है—तुम नाचो।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, 'आप के ये ध्यान कैसे हैं? क्योंकि हम तो यही सोचने थे कि आँख बंद करके पद्मासन जमा कर और शांत होकर बैठ जाना है। नाचना! संगीत!—यह ध्यान कैसा?' मैं उनसे कहता हूँ कि 'तुमने कभी परमात्मा को ऐसा बैठा देखा है?—उदास?'

चारों तरफ देखो : पक्षी गीत गा रहे हैं, हवा नाच रही है, वृक्षों के पुलक का क्या कहना? समारंभ चल रहा है, उत्सव चल रहा है। तुम इसके भागीदार होना चाहते हो?—तो नाचो। नाचो—कि मोर फीके पड़ जायँ। गाओ—कि पक्षी चुप होकर सुनने लगें। पुलकित हो उठो—कि हवाएँ झेंप जायँ, तभी तुम परमात्मा के निकट आओगे। जो आनन्दित है, वह निकट आ जाता; जो निकट आ जाता, वह महा आनन्द से भर जाता। जैसे-जैसे तुम निकट आते हो, वैसे-वैसे तुम पाते हो कि यह उत्सव तुम्हारा नहीं है, यह उत्सव तो सब का है।

धर्म उत्सव है; और मंदिर दुष्टों के हाथ में पड़ गये हैं; वे उदास लोगों के हाथ में पड़ गये हैं। कुछ कारण हैं।

उदास लोग आक्रमक हो जाते हैं और आक्रमक लोग बकवासी हो जाते हैं। आक्रमक लोग दूसरों पर कब्जा करने लगते हैं। आक्रमक लोग दूसरों को रास्ता बताने लगते हैं। जो उदास हैं, वे दूसरों को उदास करने में रस लेते हैं। लेकिन महावीर उदास नहीं हैं, न बुद्ध उदास हैं, कृष्ण तो बिलकुल ही नहीं। उनके ओठों पर बाँसुरी रखी है। मैं तुमसे कहता हूँ—बुद्ध के भी होठों पर बाँसुरी रखी है—अदृश्य है, तुम्हें दिखाई नहीं पड़ती। मैंने देखी है—इसलिए कहता हूँ।

जब भी कोई बुद्ध हुआ है, होंठ पर बाँसुरी जरूर रही है; दिखाई पड़े, न दिखाई पड़े। कृष्ण की बाँसुरी दिखाई पड़ती है; बुद्ध की बाँसुरी दिखाई नहीं पड़ती। लेकिन उस बोधि-वृक्ष के नीचे भी वेणु बज रही है, गीत उठ रहा है। बुद्ध को तुमने शांत बैठे देखा है। वह तुम्हारी भ्रांति है। तुम अगर गौर से देखते तो तुम उस भीतर के नाच को देख लेते। जब भी कोई परमात्मा को पाया है, नाचा है। और जब भी कोई नाचा है, तो परमात्मा तो नाच ही रहा है, वह तत्क्षण तुम्हारे साथ हो जाता है; उसकी गल-बहियाँ तुम्हारे कंधों पर पड़ जाती हैं।

लेकिन परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है, इसे खयाल रखना। परमात्मा यानी समष्टि।

● दूसरा प्रश्न : गुरु शिष्य की निरंतर सहायता करता रहता है, पर वह कई मौकों पर बार-बार पूछने पर भी चुप रह जाता है, ऐसा क्यों कर घटित होता है?

कभी जरूरी होता है कि चुप होने से ही सहायता की जा सकती है। कभी बोलकर सहायता की जा सकती है। कभी बोलकर नुकसान होगा। कभी चुप रहने में ही सहायता पहुँचेगी। कभी संदेश शब्दों में दिया जा सकता है; और कभी संदेश शब्दों में दिया नहीं जा सकता। फिर कभी तुम तैयार होते हो—जो तुमने पूछा उसके लिए और कभी तुम तैयार नहीं होते—और तुमने असमय में पूछ लिया होता है। और असमय में कुछ भी नहीं दिया जा सकता।

तुम्हें पता न हो, गुरु को पता होता है कि तुम जो माँग रहे हो, अभी उसके लेने के हकदार नहीं हो। अभी देना व्यर्थ होगा, अभी हीरे-मोती तुम्हें दे दिये जाएँगे, तो तुम उन्हें कंकड़-पत्थरों में मिला लोगे। अभी तुम्हें हीरे-मोती का बोध नहीं है; अभी पारखी पैदा नहीं हुआ है।

कभी इसलिए गुरु चुप रह जाता है कि अभी तुम तैयार नहीं हो। तुमने असमय में प्रश्न पूछा और तुम्हारी जिद हो जाती है कि तुम उस प्रश्न में अटक जाते हो। तुम बार-बार पूछते हो। तुम लाख बार पूछो, तो भी असमय में उत्तर नहीं दिया जा सकता। तुम्हें पता न हो समय का, तुम्हें पता न हो परिपक्वता का, गुरु को तो पता है; वह उसी दिन उत्तर देगा, जिस दिन तुम तैयार हो जाओगे। तुम्हारे लाख पूछने का सवाल नहीं है। तुम न भी पूछो, जिस दिन तुम तैयार होगे, उत्तर दिया जाएगा।—तुमने कभी न भी पूछा हो—तो भी।

तुम्हारी तैयारी पर उत्तर निर्भर करेगा; तुम्हारी जिज्ञासा पर निर्भर नहीं है बात।

और तुम्हारी जिज्ञासा और तुम्हारी तैयारी में अकसर तालमेल नहीं होता। तुम पूछते आकाश की हो, तुम खड़े होते जमीन पर हो। तुम पूछते प्रेम की हो, चित्त काम-वासना से भरा होता है। अगर कुछ भी कहा जाएगा, तो तुम काम-वासना के अर्थों में ही समझोगे।

तुम पूछते परमात्मा की हो, आकांक्षा पद-प्रतिष्ठा की बनी होती है। परमात्मा भी तुम्हारे लिए एक तरह की पद-प्रतिष्ठा है—परम पद होगा, लेकिन है पद ही; परम सम्पदा होगी, लेकिन है सम्पदा ही।

जरूरी नहीं है कि तुम जब पूछो, तब तुम तैयार हो। गुरु उत्तर देता है, तुम्हारी तैयारी से। इसलिए बहुत बार चुप रह जाएगा। चुप रह जाने में उसकी अनुकम्पा है। क्योंकि गैर-समय में दिया गया उत्तर घातक हो जाता है। तुम समझोगे कि तुमने उत्तर पा लिया। और उत्तर तुम्हें मिला नहीं, क्योंकि अभी तो प्रश्न ही पैदा न हुआ था। तुम इस उत्तर को कंठस्थ कर लोगे। तुम इस उत्तर को दूसरों को भी देने लगोगे। तुम्हें खुद भी कुछ पता नहीं है। तुम्हारी प्यास ही अभी न थी और पानी दे दिया गया। तुम इसे पीओगे कैसे? प्यास होगी तो पीओगे; कंठ सूखेगा तो पीओगे। और यह पानी तुम्हें मिल गया, तुम करोगे क्या? तुम दूसरों के गले में जबरदस्ती उतारोगे। तुम्हें ज्ञान मिल जाय—असमय में, तो तुम पंडित हो जाओगे—ज्ञानी नहीं।

तो गुरु बहुत बार चुप रह जाता है। वह तुम से यह कह रहा है कि 'रुको, जल्दी मत करो।' तुम लाख बार पूछो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। क्योंकि सवाल 'तुम्हारा' है, तुम्हारे पूछने का नहीं है। गुरु 'तुम्हें' देखता है; तुम क्या पूछते हो, यह गौण है। तुम न भी पूछो, तो भी वह तुम्हें देखता रहता है। तुम्हें जब जिस चीज़ की जरूरत है, वह कहेगा।

फिर बहुत बार तुम तैयार भी होते हो, लेकिन तुम्हारा प्रश्न ही ऐसा होता है, जिसका उत्तर शब्दों में नहीं हो सकता, तब वह चुप रह जाता है। चुप रह जाने का मतलब यह नहीं है कि उसने उत्तर नहीं दिया; चुप रह जाने का मतलब है कि उसने चुप रहकर उत्तर दिया है। चुप रहना एक उत्तर है।

एक नये नाटककार ने बर्नार्ड शॉ को अपना नाटक देखने आमंत्रित किया। बर्नार्ड शॉ गया। पर शुरू से उसने एक दो मिनिट तो देखा और आँख बंद कर के वह घर्राटे लेने लगा। वह नाटककार—बगल में बैठा—बड़ा पीड़ित हुआ कि यह आदमी आया न आया बराबर। और इससे बेहतर—तो न आता। यह भी कोई बात हुई! कोई शिष्टाचार हुआ! लेकिन बूढ़े बर्नार्ड शॉ को उठाना भी ठीक नहीं। और वह आदमी जरा तेज और नाराज प्रकृति का था, इसलिए, वह नाटककार—नया-नया था—कुछ बोला भी नहीं कि ठीक है, अब जो हुआ; आया—यही बहुत।

पूरा नाटक हो जाने पर बर्नार्ड शॉ ने आँख खोली; उठकर चलने लगा। उस नाटककार ने पूछा, 'और आपका मन्तव्य? आपने कुछ कहा नहीं!' बर्नार्ड शॉ को चुप देखकर उस नाटककार ने कहा, 'आप मन्तव्य देंगे भी कैसे! आप पूरे वक्त सोये रहे।' बर्नार्ड शॉ ने कहा, 'सोये रहना मंतव्य है। कूड़ा-कर्कट है, सब बेकार है। सोये रहना मन्तव्य है। मैंने कह दिया, जो कहना था। जान होती तो मैं जागा रहता। जान ही न थी। मुरदा नाटक। घर्राटे ही ज्यादा बेहतर थे। मन्तव्य मैंने दे दिया।'

कभी सोना भी मन्तव्य होता है, कभी चुप रहना उत्तर होता है। गुरु जो भी करे: बोले, तो गौर से सुनना; न बोले, तो और भी गौर से सुनना। क्योंकि बोलने को तो तुम कम गौर से सुनोगे तो भी सुन लोगे; न बोलने को तो बहुत गौर से सुनोगे तो ही सुन पाओगे।

और जब तुम एक ही प्रश्न बहुत बार पूछते चले जाओ, गुरु हर बार चुप रह जाता हो, तब तो बात बहुत साफ है कि वह एक ही उत्तर बार-बार दोहरा रहा है और तुम बार-बार चूकते जा रहे हो।

गुरु के पास होना एक कला है, जो खोती गई है। बड़ी बारीक कला है। पूरब के मुलकों ने उसे विकसित की थी, वह धीरे-धीरे क्षीण हो गई और खो गई। वह सूक्ष्मतम संवाद है—दो व्यक्तियों के बीच।

और शिष्य को जिद्द नहीं होनी चाहिए कि मेरे प्रश्न का उत्तर मिले। उसे तो जो मिले उसमें अनुकम्पा माननी चाहिए, तो ही उसकी पात्रता बढ़ेगी।

पश्चिम से लोग आते हैं, उनको गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का कोई भी बोध नहीं है, इसलिए बड़ी अड़चन खड़ी होती है।

एक लेखका पश्चिम से आई; बड़ी लेखिका है, कई किताबें लिखी हैं, सो उपद्रव भी बहुत है उसके मन में; विचारों का बड़ा जाल है। उसने कुछ पूछा। मैं टाल गया। वह बड़ी नाराज़ वापस लौटी। वह कहके गयी—संन्यासियों को—कि 'मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं मिला। मैं नाराज जा रही हूँ। मैं बड़ी आतुरता से प्रश्न का उत्तर पाने आई थी।'

थोड़ा समझने की कोशिश करो। जब तुम्हारे प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता, तो तुम्हें चोट किस कारण लगती है? उत्तर नहीं मिला—इसलिए या 'तुम्हारे प्रश्न' का उत्तर नहीं मिला—इसलिए।

और बड़े मजे की बात है कि दस दिन वह यहाँ थी; दस दिन में एक भी दिन ऐसा नहीं था, जिस दिन मैंने उसके प्रश्न का उत्तर न दिया हो। एक भी दिन ऐसा नहीं था, जिस दिन उसके प्रश्न का उत्तर न दिया हो। सीधा नहीं दिया। वह चाहती थी कि मैं उसके प्रश्न का उत्तर सीधा दूँ, ताकि वह पकड़ पाये कि उसके प्रश्न का उत्तर मिला। प्रश्न मूल्यवान नहीं है, अहंकार मूल्यवान है।

दस दिन मैंने निरंतर उसके प्रश्न का उत्तर दिया है, बहुत बहानों से दिया है। लेकिन वह उसकी पकड़ में न आया। प्रश्न उसका था ही नहीं मूल्यवान। प्रश्न अगर मूल्यवान होता, अगर प्यास लगी होती, तो रोज जो मैं पानी बहाये जा रहा था, उसने पी लिया होता।

लेकिन नहीं, प्रश्न तो मूल्यवान था ही नहीं। प्यास तो लगी ही न थी। प्रश्न तो

एक बौद्धिक खुजलाहट की तरह था; कोई प्यास नहीं थी। एक खुजलाहट थी—दिमाग में। और चाहती थी कि सीधा जब जो वह पूछे, जिस भाषा में पूछे, उसको मैं उत्तर दूँ। गहरे में आकांक्षा थी—'उसको' उत्तर दूँ; उसके अहंकार को ध्यान दूं; उसका अहंकार तृप्त हो। वह भूल मैं नहीं कर सकता।

यहाँ म अहंकार तोड़ने को बैठा हूँ। यहाँ अहंकार सजाने और संवारने का काम नहीं चल रहा है। यहाँ तो जो मिटने को राजी है, उनके ही टिकने का सुविधा है। यहाँ जो किसी तरह अपने को बचा रहे हैं—वर्षा होती रहेगी—और वे प्यासे लौट जाएँगे।

शिष्य का अर्थ ही है, जिसने गुरु के हाथों में छोड़ दिया; वह जवाब दे तो ठीक; वह न दे तो और भी ठीक। वह बुलाये—उसकी कृपा; वह हटाये—और बड़ी कृपा। गुरु तभी गुरु है, जब शिष्य ने इतना छोड़ दिया हो कि उसकी आज्ञा सब हो जाय। वह कह दे, चुप रहो जिंदगी भर, तो वह चुप रह जाय; फिर पूछे ही न। इसलिए श्रद्धा मूल्यवान है।

लेकिन जैसा कि कृष्ण ने कहा, श्रद्धा तीन तरह की होगी। इस सम्बन्ध में भी समझ लेना जरूरी है।

जब तुम पूछते हो, तब भी तुम्हारी श्रद्धा तीन तरह की होती है। एक तरह का पूछने वाला आता है, उसकी श्रद्धा तामसी श्रद्धा है। तामसी श्रद्धा का अर्थ है कि वह चाहता है—गुरु सब करके दे दे; उसे कुछ करना न पड़े। वह सोया रहे, खुर्राटे ले और गुरु ध्यान करे, समाधि लगाये। और जब भोजन पक जाय, तो वह चबाने तक को राजी नहीं है। वह चाहता है कि तुम्हीं चबाकर भी दे दो। कोई तरकीब अगर हो कि ध्यान को, समाधि को इन्ट्राविनस इन्जैक्शन की तरह दिया जा सके, तो वह कहेगा, 'बस, तुम लगा दो इन्जैक्शन, लटका दो बोतल समाधि की, भर दो मुझे समाधि से। अब मुझ से तो हाथ-पैर भी नहीं हिलाया जाता!'

एक तामसी व्यक्ति की श्रद्धा है, जो गुरु के पास आता है कि गुरु सब करे। और वह समर्पण भी करता है, तो इसीलिए करता है कि 'लो, अब सम्हालो।' और वह सोचता है कि बड़ी अनुकम्पा कर रहा है—गुरु पर—कि समर्पण कर दिया। तुम्हारे पास था क्या समर्पण करने को? तुम्हारा अंधकार, तुम्हारी नींद, तुम्हारा अज्ञान? तुम समर्पण क्या कर रहे हो?

मेरे पास लोग आते हैं—उस वर्ग के, वे कहते है कि 'सब आप को समर्पित; अब आप ही जानो; अब आप जो करो।' और अगर मैं उनको कहूँ कि उठकर जरा इधर बैठ जाओ, तो वे नाराज हो जाते है। अगर मैं उनको कहूँ कि जरा जाओ, मकान के चार चक्कर लगा आओ, तो वे नाराज हो जाते हैं। वे कहते हैं, 'सब आप

पर ही छोड़ दिया, अब आप हमसे यह क्यों करवा रहे हैं? (जब आप पर ही छोड़ दिया, तो आप ही चक्कर लगाओ।) जब सभी छोड़ दिया, हम बचे ही नहीं...!' मगर क्या यही छोड़ने का अर्थ होता है? यह तामसी की श्रद्धा है। वह छोड़ता है इसलिए, ताकि करने की झंझट से बचे।

फिर राजसी की श्रद्धा है। वह भी कहता है, 'छोड़ दिया', लेकिन छोड़ नहीं पाता। वह जारी रखता है; वह अपना करना जारी रखता है। वह कहता है, 'सब छोड़ दिया।' छोड़ नहीं पाता। क्योंकि वह छोड़ कर खाली नहीं बैठ सकता। वह कहता है, 'कुछ बताओ।' वह हमेशा कहता है, 'कुछ करने को बताओ।' अगर तुम उससे कहो कि कुछ करने का नहीं है; बस, वहीं सम्बन्ध छूट जाता है। ध्यान अक्रिया है—तो सम्बन्ध छूट गया।

तामसी मानने को राज़ी है कि ध्यान अक्रिया है। अक्रिया का मतलब है : अकर्मण्यता—उसकी भाषा में। अक्रिया अकर्मण्यता नहीं है। अक्रिया तो क्रिया का सूक्ष्मतम रूप है—श्रेष्ठतम रूप है। वह तो नवनीत है क्रिया का। वह तो सूक्ष्मतम क्रिया है। अक्रिया का मतलब—न करना नहीं है। अक्रिया का मतलब है—इस भाँति करना कि करने और न करने में फर्क न रह जाय; इस भाँति उठना कि उठने वाला भीतर न हो—कर्ता न रहे। इस भाँति चलना, जैसे कि शून्य चल रहा हो—कहीं भनक न पड़े, आवाज न हो, पग-ध्वनि न आये।

अक्रिया का अर्थ है : करना तो सब, लेकिन कर्ता न रह जाय। तो फिर कौन क्रियाकर रहा है? फिर परमात्मा ही कर रहा है। जिस दिन तुम्हारा कर्ता मिट जाता है और परमात्मा ही तुम्हारे भीतर कर्ता बन जाता है—करते तुम बहुत हो, लेकिन अब क्रिया नहीं होती, क्योंकि तुम ही नहीं, तो क्रिया कैसे होगी? अब तुम बाँस की पोंगरी हो; अब तुम नहीं गाते, गीत उसके हैं; तुम सिर्फ मार्ग देते हो, बस, इतना।

लेकिन आलसी और तामसी श्रद्धा से भरा आदमी बिलकुल राजी है—अक्रिया के लिए। लेकिन अक्रिया का उसका अर्थ है : अकर्मण्यता। वह कहता है, 'बिलकुल ठीक। यह जमती है बात। हम लेटे जाते हैं।' वह ध्यान का अर्थ समझता है : नींद; वह ध्यान का अर्थ समझता है : कुछ न करना।

अगर राजसी श्रद्धा वाले व्यक्ति को कहो, अक्रिया, तो वह उसे जमती नहीं। अगर समझ में भी आ जाय थोड़ी, तो वह कहता है, 'अक्रिया करने के लिये क्या करें? कुछ करना बताओ ताकि अक्रिया सध जाय!' अक्रिया का मतलब ही है न करना—कर्ता को छोड़ देना। वह कर्ता को नहीं छोड़ पाता।

मेरे पास उस तरह के लोग आते हैं, उनको अगर मैं कहता हूँ, तुम शांत बैठो।... और राजसी व्यक्ति को में निरन्तर कहता हूँ कि तुम शांत बैठो; क्योंकि वही उसको

रजस् के बाहर ले जाएगा। तामसी को कहता हूँ, 'नाचो, कूदो, उछलो; कुछ क्रिया करो, ताकि तुम तमस् के बाहर आओ।' तुम जहाँ हो; वहाँ से बाहर ले आना है।

राजसी को मैं कहता हूँ, 'कुछ मत करो; शांत बैठ जाओ।' वह कहता है, 'यह न चलेगा। थोड़ा आलम्बन दें; मंत्र कर सकते हैं?' वह कह रहा है कि 'शांत हम बैठ नहीं सकते। राम-राम, राम-राम—अगर इतना भी सहारा हो, तो चलेगा। हम इसी को पगलापन बना देंगे; भीतर राम-राम, राम-राम इतने जोर से करेंगे कि सारा राजस इसमें लग जाय। कुछ करने को बता दो; माला फेरें? गीता का पाठ करें? योगासन करें? उपवास करें?' करने की भाषा उसको समझ में आती है। न-करने की बात उसको समझ में नहीं आती।

सत्त्व की श्रद्धा वाला ही ठीक से समझ पाता है कि अक्रिया क्या है। अक्रिया अकर्मण्यता नहीं है। अक्रिया अकर्म भी नहीं है। अक्रिया अकर्ता भाव है। अक्रिया बड़ी सूक्ष्म क्रिया है—शुद्धतम क्रिया है; इतनी शुद्ध है कि वहाँ कर्ता की मौजूदगी से अशुद्धि पैदा होती है, इसलिए कर्ता शून्य है।

जैसे हवाएँ बहतीं, आकाश में बादल तिरते, ऐसा ही सत्त्व को उपलब्ध या सत्त्व की श्रद्धा का व्यक्ति तिरता है—बहता है; नदी बहती है, ऐसा बहता है। लेकिन कोई भाव नहीं होता कि मैं बह रहा हूँ। सागर पहुँच जाता है, लेकिन कोई यात्रा नहीं होती। यह नहीं सोचता कि सागर जा रहा हूँ। तुमने गंगा को देखा : टाईम-टेबल हाथ में लिये? नक्शा फैलाये?—कि सागर जा रही हूँ! न कोई टाईम-टेबल, न कोई नक्शा है। इसलिए तो ठीक समय पर पहुँच जाती है। अगर टाईम-टेबल हो, उसी में वक्त लग जाएगा। और सब गड़बड़ हो जाएगा।

एक स्टेशन पर मैं बैठा था; कोई आठ घंटे से ट्रेन लेट होती गई। पहले दो घंटा लेट थी, फिर चार घंटा, फिर छह घंटा। मैंने जाकर स्टेशन मास्टर को पूछा कि 'समझ में आता है—दो घंटा लेट थी। लेकिन क्या ट्रेन पीछे की तरफ जा रही है! चार घंटा हो गई—अब छह घंटा, अब आठ घंटा—मामला क्या है? अगर ऐसे ही चला तो आएगी कैसे?' तो मैंने उसको कहा कि 'फिर यह टाईम-टेबल छापने की जरूरत क्या है?' उसने कहा, 'साहब, अगर टाईम-टेबल न हो तो कैसे पता चलेगा कि ट्रेन कितनी लेट है?' यह बात मुझको भी जँची। टाईम-टेबल का एक ही उपयोग है कि उससे पता चलता है कि गाड़ी कितनी लेट है।

गंगा पहुँच जाती है—समय पर। न कोई नक्शा है कि कहाँ से जाना है। कोई लिए जाता है।

अनन्त तुम्हें लिए ही जा रहा है। तुम नाहक ही शोरगुल मचाते हो। उस शोरगुल में तुम्हें देर हो जाती है, उससे तुम्हारा अनन्त से सम्बन्ध टूट जाता है।

अक्रिया का अर्थ है : मैं जाने वाला नहीं हूँ; मैं तेरे हाथ में हूँ, तू ले जाने वाला है। इसका यह मतलब नहीं है कि मैं कुछ न करूँगा। इसका मतलब है, तू जो करवाएगा—करूँगा। इसका यह अर्थ नहीं कि अब तू कर; हम आराम करेंगे। इसका अर्थ है कि अब जो तू करवाएगा, हम करेंगे। न हमारा अब कोई आराम है और न हमारा अब कोई कर्म है। जब तू आराम करवाएगा, तब आराम करेंगे। जब तू कर्म करवाएगा, तब कर्म करेंगे। लेकिन हर घड़ी तू होगा, हम न होंगे।

यह 'हमारे' न हो जाने की कला ही शिष्य होने की कला है। और तब बिना कुछ किये बहुत होता है। तब बिना माँगे, बहुत मिलता है। तब बिना भटके, यात्रा पूरी हो जाती है। बिना चले, मंजिल भी मिलती है। तुम नाहक ही चल रहे हो; उस श्रम से तुम व्यर्थ ही दबे जा रहे हो।

शिष्य का अर्थ है, छोड़ा जिसने गुरु के हाथों में कि अब वह जो करवाएगा, करेंगे। और यह श्रद्धा तीन तरह की होगी! अगर यह सत्त्व की श्रद्धा हो तो ही क्रांति घटेगी; आलस्य की हो, चूक जाओगे। रजस् की हो, चूक जाओगे।

पूरब से जो लोग आते हैं...। भारत से जो लोग मेरे पास आते हैं, उनकी श्रद्धा अकसर तमस् की होती है। पश्चिम से जो लोग आते हैं, उनकी श्रद्धा अकसर रजस् की होती है। क्योंकि पूरब में शिक्षा बड़ी प्राचीन है—आलस्य की, भाग्य की। उसको हमने अपना तमस् बना लिया है। बड़े अच्छे शब्दों के जाल में हमने अपने आलस्य को, अकर्मण्यता को छिपा लिया है।

पश्चिम की सारी शिक्षा है रजस् की—दौड़ो, पाओ; घर बैठे कुछ न मिलेगा; करना पड़ेगा। वे दौड़ने में इतने कुशल हो गये हैं कि जब उन्हें मंजिल भी मिल जाती है, तो रुक नहीं पाते हैं; तब वे आगे की मंजिल बना लेते हैं; वे दौड़ते ही रहते हैं।

पूरब सो रहा है, पश्चिम भाग रहा है। तामसी सोता है, राजसी भागता है। दोनों चूक जाते हैं। सोया हुआ, इसलिए चूक जाता है कि वह मंजिल तक चलता ही नहीं है। और भागने वाला इसलिए चूक जाता है कि कई बार मंजिल पास आती है, लेकिन वह रुक नहीं सकता। वह जानता ही नहीं कि रुके कैसे। एक जानता नहीं कि चले कैसे, एक जानता नहीं कि रुके कैसे।

सत्त्व का अर्थ है : संतुलन; सत्त्व का अर्थ है—जानना कि कब चलें, जानना कि कब रुकें। जानना कि कब जीवन में गति हो, और जानना कि कब जीवन में विश्राम हो। जिसने ठीक-ठीक विश्राम जाना और ठीक-ठीक कर्म जाना, वह सत्त्व को उपलब्ध हो जाता है—सम्यक्त्व को उपलब्ध हो जाता है। सम्यक् गति और सम्यक् विश्राम—ठीक-ठीक जितना जरूरी है, बस, उतना ही, उससे रत्ती भर ज्यादा नहीं। इस 'ठीक' की पहचान का नाम ही विवेक है।

तुम अपने भीतर जाँच करना; अकसर तुम पाओगे—अति है। या तो एक अति होती है या तो दूसरी अति होती है। निरति चाहिए—अति से मुक्ति चाहिए। श्रम भी करो, विश्राम भी करो। दिन श्रम के लिए है, रात्रि विश्राम के लिए है। और दोनों के बीच अगर एक सामंजस्य सध गया, तो तुम पाओगे, तुम न दिन हो और न तुम रात हो; तुम तो दोनों का चैतन्य हो—दोनों का साक्षी-भाव हो। यही सत्त्व में अनुभव होगा।

● तीसरा प्रश्न : कृष्ण ने गोपियों को समझाने ले लिये उद्धव को वृन्दावन भेजा था, पर वे सफल क्यों न हो पाये?

हो ही न सकते थे; बात ही सम्भव न थी। उद्धव थे ज्ञानी और ज्ञान कब प्रेमियों को समझा पाया है! कृष्ण ने मजाक किया। ज्ञानी कभी प्रेमी को नहीं समझा सकता; क्योंकि ज्ञानी के पास होते हैं—शब्द कोरे। पण्डित थे उद्धव; बड़े पंडित होंगे; कुशल होंगे समझाने में, लेकिन उन्होंने जिनको समझाया होगा तब तक, वे गोपियाँ नहीं थीं, जिनको प्रेम का रस लग गया हो।

पंडित तभी तक तुम्हें सार्थक मालूम होगा, जब तक तुम्हें प्रेम का रस नहीं लगा। प्रेम के 'काटे' को पंडित नहीं 'झाड़' सकता। पण्डित उन्हीं को 'झाड़' सकता है, जो प्रेम के काटे नहीं हैं। पण्डित उनके काम का है, जिनकी प्यास ही नहीं जगी। पण्डित उनको बड़ा महापण्डित मालूम होता है—कि कितनी जानकारी लाता है! लेकिन जिसको प्यास जग गई है, और जिसे प्रेम की भनक पड़ गई है, और जिसके हृदय में कोई धुन बजने लगी—अज्ञात की, उनके लिए पण्डित कूड़ा-कर्कट है। उद्धव गोपियों के लिए व्यर्थ थे।

मरी जो समझ है, वह यह ह कि उन्होंन उद्धव को गोपियों को समझाने भेजा ही नहीं था; उद्धव को समझने भेजा था—गोपियों को। ऐसा किसी ने कभी कहा नहीं, लेकिन मेरी यही समझ है। उद्धव को मूर्ख बनाया; उसको अकल दी कि तू जरा जा; यहाँ तू बड़ा पण्डित हुआ जा रहा है, क्योंकि जिनको तू समझा रहा है, उनको प्रेम का रस ही नहीं लगा है; उनकी प्यास ही नहीं जगी है, तो तू ज्ञान की बातें कर, वे सिर हिलाते हैं। जब प्रेमी मिलेगा, तब तुझे अड़चन आयेगी, तब तेरी ज्ञान की बातें जरा भी काम न आयेंगी। जिसको प्यास लगी है, उसे तुम पानी का शास्त्र समझाओगे, क्या फल होगा? वे कहेंगे : पानी चाहिए।

गोपियों ने कहा, 'कृष्ण चाहिए, तुम किस लिए आये हो?' उद्धव बड़े बुद्धू बने। जाना ही नहीं था, अगर थोड़ी अकल होती। लेकिन पण्डित से ज्यादा बेअकल आदमी ही नहीं होता। जाना ही नहीं था; पहले ही हाथ जोड़ लेना था—कि गोपियों के पास? मैं जाने वाला नहीं, क्योंकि वहाँ हम व्यर्थ ही सिद्ध होंगे।

वे कृष्ण को माँगती थीं—उद्धव को नहीं। संदेश-वाहक नहीं चाहिए था; चिट्ठी-

पत्री लाने से क्या होगा? बुलाया था प्रेमी को, आ गया पोस्टमैन! इनसे क्या लेना-देना है? उन्होंने उद्धव को बैरंग भेज दिया—वापस।

वह उद्धव को समझाने के लिये ही कृष्ण ने खेल किया होगा। इतना तो पक्का था कि गोपियाँ नहीं समझायी जा सकतीं; कृष्ण तो समझते हैं कि नहीं समझायी जा सकतीं। कृष्ण से कम पर वे राज़ी न होंगी।

प्रेमी का अर्थ है : परमात्मा से कम पर जो राजी न होगा। तुम परमात्मा के सम्बन्ध में समझाओ, प्रेमी कहेगा, 'क्यों व्यर्थ की बातें कर रहे हो?' परमात्मा के सम्बन्ध में नहीं जानना है उसे। उसे परमात्मा को जानना है।

परमात्मा के सम्बन्ध में वेद क्या कहते हैं, उपनिषद् क्या कहते है, शास्त्रों में क्या लिखा है, क्या नहीं लिखा है?—वह कहेगा, 'बंद करो, यह बकवास। मुझे परमात्मा चाहिए। परमात्मा मिल गया, तो मुझे वेद मिल गये। परमात्मा ही मेरा वेद है।' लेकिन पंडित कहता है : वेद भगवान्!

पण्डित वेद को भगवान् बतलाता है। प्रेमी को भगवान् ही वेद है। और बड़ा फर्क है; जमीन-आसमान का फर्क है। तुम माँगते हो भगवान् को, वह ले आता है—वेद की पोथियों को। वह कहता है, 'सब इसमें लिखा है।' यह ऐसे ही है, जैसे कोई भूखा मर रहा हो और तुम जाकर पाक-शास्त्र का ग्रंथ सामने रख दो और कहो कि 'सब तरह के भोज-मिष्टान्न—सब—इसमें लिखे हैं।' वह तुम्हारे पाक-शास्त्र को उठाकर फेंक देगा—भूखा आदमी। हाँ, भरा पेट होगा, तो विश्राम से बैठ कर पाक-शास्त्र पढ़ेगा। लेकिन भूखे को पाक-शास्त्र का क्या अर्थ है?

जिसको परमात्मा की भूख लग गयी है, उसके लिए वेद व्यर्थ है, उपनिषद् बकवास है, गीता असार है; वह परमात्मा को चाहता है; उससे कम पर वह राज़ी नहीं है। और गोपियाँ न केवल परमात्मा को चाहती थीं, बल्कि उनको परमात्मा का स्वाद भी लग गया था; वे परमात्मा को जान भी चुकी थीं। हाँ, जिसने न जाना हो परमात्मा को, उसको प्यास भी लगी हो, तो शायद थोड़ी देर तक पण्डित उसको भरमा ले। क्योंकि उसके पास कोई कसौटी तो नहीं है—अनुभव की। इसलिए अज्ञानियों को पण्डित भरमा लेता है। लेकिन जिसको ध्यान की जरा-सी भी भनक आ गयी, फिर पण्डित उसको नहीं भरमा सकता।

ये गोपियाँ कृष्ण के साथ नाच चुकी थीं; वह उनकी स्मृति में संजोया हुआ मंदिर था। वह स्मृति भूलती नहीं थी, बिसरती नहीं थी। वह तो निश-बासर, दिन-रात भीतर कौंधती रहती थी। एक दफा जिसने चख लिया—कृष्ण का साथ, नाच लिया कृष्ण के साथ—वृक्षों के तले—पूर्णिमा की रातों में, अब इसे पण्डित धोखा नहीं दे सकता, भरमा नहीं सकता।

उद्धव ने खूब समझाया होगा; ज्ञान की बातें की होंगी, गोपियों ने उनकी जरा भी न सुनी। बल्कि गोपियाँ नाराज हुईं—कि कृष्ण ने यह कैसा मजाक किया! यह बरदाश्त के बाहर है। और प्रेमी परमात्मा से नाराज हो सकता है—सिर्फ प्रेमी—पण्डित कभी नहीं नाराज हो सकता। पण्डित तो डरता है; प्रेमी थोड़े ही डरता है, प्रेमी तो अभय है।

गोपियाँ नाराज हुईं। यह मजाक बरदाश्त के बाहर है; इस उद्धव को किसलिये भेजा? इससे क्या लेना-देना है? आना हो, कृष्ण आ जाएँ; कम से कम पण्डितों को तो न भेजें। परमात्मा चाहिए—शास्त्र नहीं; ज्ञान नहीं—अनुभव चाहिए। गोपियाँ बहुत नाराज हुईं; प्रेमी नाराज हो सकते हैं।

मैंने यहूदी फकीर झुसिया का जीवन पढ़ा है। वह प्रार्थना करने जाता; बड़ा फकीर था; बड़े उसके भक्त थे; अनूठा आदमी था; वह जब यहूदी मंदिर में प्रार्थना करता, तो कभी-कभी सुनने वाले लोगों से कह देता, 'अब तुम बाहर हो जाओ। इस परमात्मा के बच्चे को ठीक करना ही पड़ेगा। तुम बाहर हो जाओ। एक सीमा है—बरदाश्त की।'

लोग बाहर हो जाते, तब उसका झगड़ा शुरू होता। वह परमात्मा से सीधी-सीधी बातें करता। झगड़ा ऐसा होता कि मौका आ जाय, तो मार-पीट हो जाय। अगर गाँव में कोई भूखा मर रहा है, तो वह गुस्से में आ जाता; वह कहता, 'तेरे रहते यह कैसे हो रहा है? तेरा प्रेमी भूखा मर रहा है, यह हम बरदाश्त नहीं कर सकते। हम तेरी सब पूजा-पत्री बंद कर देंगे।'

कहते हैं, झुसिया जैसा आदमी यहूदी परम्परा में दूसरा नहीं हुआ। कैसा उसका गहन प्रेम रहा होगा—कि परमात्मा से लड़ने को राजी है। कलह हो जाती; कई दिन तक मंदिर ही न जाता। झुसिया कहता, 'पड़ा रहने दो उसको वहीं; कोई पूजा मत करो, कोई प्रार्थना मत करो; जब हमारी नहीं सुनी जा रही है, तो हम भी क्यों उसकी सुनें।'

झुसिया ने कहा है—अपनी प्रार्थनाओं में—कि 'देख, तू एक बात ठीक से समझ ले; हमें तेरी जरूरत है, वह पक्का। तुझे भी हमारी जरूरत है; इसलिये तू यह मत समझ कि तू हम पर कोई अनुग्रह कर रहा है। हमारे बिना तू भगवान् न होगा। भक्त के बिना कैसे होगा? माना कि हम 'भक्त' न होंगे, वह भी ठीक। लेकिन तू भी भगवान् न होगा। जितनी हमें तेरी जरूरत है, उतनी तुझे हमारी जरूरत है। इसका सदा खयाल रख; इसको भूल मत जा।'

प्रेमी लड़ सकता है—प्रेमी ही लड़ सकता है; उसे भय नहीं है। पण्डित तो डरता है, कंपता है। पण्डित तो देखता है कि कहीं क्रिया-काण्ड में कोई भूल न हो जाय;

कि शास्त्र में जैसी विधि लिखी है, वैसी पूरी होनी चाहिए। उसमें कहीं भूल-चूक न हो जाय। पता नहीं, परमात्मा नाराज हो जाय। इसने परमात्मा को जाना नहीं।

परमात्मा कहीं नाराज होता है? यह पहचाना ही नहीं। यह मूढ़ है। इसे पता ही नहीं कि परमात्मा नाराज होता ही नहीं। नाराज होने जैसी घटना परमात्मा में घटती ही नहीं। और उस घड़ी में, जब कोई झुसिया जैसा भक्त परमात्मा को कहता होगा—कि बंद कर देंगे तेरी प्रार्थना, तो परमात्मा नाचता होगा कि जरूर कोई प्रेमी मौजूद है।

गोपियाँ बहुत नाराज हुईं—उद्धव पर, और उन्होंने उन्हें बैरंग ही वापस भेज दिया—कि तुम जाओ; तुम्हें किसने बुलाया? और वे खूब हँसी—उद्धव पर—उनकी ज्ञान की बातों पर। पंडित खूब बुद्धू बना होगा। पंडित सदा ही प्रेमी के पास आकर मुश्किल में पड़ जाएगा। यह कथा बड़ी प्रतीकात्मक है।

पंडित कभी भी सफल नहीं हो सकता—प्रेमी के सामने। अगर वह सफल होता दिखाई पड़ता है, तो उसका कुल कारण इतना है, कि प्रेमी मौजूद नहीं है; परमात्मा को कोई खोज नहीं रहा है। इसलिए पंडित तुम्हें सब तरफ से सिंहासनों पर बैठे दिखाई पड़ते हैं। तुम जिस दिन परमात्मा को खोजोगे, उसी दिन पंडित सिंहासनों से नीचे उतर जाएँगे; तब उनकी कोई जगह नहीं होगी। तब तो तुम उसे सिंहासन पर विराजमान करोगे, जो ज्ञान नहीं—अनुभव दे सकता है; जो तुम्हें परमात्मा के संबंध में नहीं बताता, जो तुम्हें परमात्मा बता सकता है; उसको ही हमने गुरु कहा है।

कबीर कहते हैं, 'गुरु गोविंद दोई खड़े, काके लागूँ पाँय—दोनों सामने खड़े हैं, बड़ी मुश्किल में पड़ गये हैं कबीर—कि किसके पैर लगूँ?, क्योंकि अगर परमात्मा के पैर लगूँ—उचित न होगा। अगर गुरु के पैर लगूँ, तो भी अड़चन मालूम पड़ती है। परमात्मा सामने खड़े थे; पहले गुरु के पैर लगे।

पद बड़ा मधुर है और उसके दो अर्थ हो सकते हैं। पद है: 'गुरु गोविंद दोई खड़े काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपकी, जिन गोविंद दियो बताय।' इसके दो अर्थ संभव हैं।

एक अर्थ तो यह है कि शिष्य को अड़चन में पड़ा देखकर गुरु ने गोविंद की तरफ इशारा कर दिया कि तू गोविंद के पैर लग। इस अर्थ से मैं राज़ी नहीं। यह मुझे जँचता नहीं; मुझे तो दूसरा अर्थ जँचता है। वह दूसरा अर्थ कभी किया नहीं गया है।

वह दूसरा अर्थ मुझे यह लगता है कि 'गुरु गोविंद दोई खड़े, काके लागूँ पाँय—मुश्किल में पड़ गये हैं कबीर। किसके पैर पड़ूँ? दोनों सामने खड़े हैं।' तब वे गुरु के पैर पर गिर पड़े, क्योंकि उन्होंने जाना, सोचा कि—'बलिहारी गुरु आपकी जिन गोविंद दियो बताय—तुमने ही गोविंद बताया, नहीं तो गोविंद को हम देख ही कैसे पाते, इसलिए तुम्हारे पैर पहले छू लेते हैं।'

गुरु का अर्थ है : जिसने जाना हो और जो तुम्हें जना दे; जिसने देखा हो और जो तुम्हें दिखा दे; जिसने चखा हो और जो तुम्हें चखा दे। शब्द यह न कर पाएँगे। गुरु भी शब्दों का उपयोग करता है, लेकिन निःशब्द की तरफ ले जाने के लिए; शास्त्र का सहारा लेता है—तुम्हें कभी बे-सहारा कर देने के लिए। समझाता है, तुम्हारे मन को उस घड़ी में ले जाने के लिए, जहाँ सब समझ और ना-समझ छूट जाती है। इसलिए गुरु के लिए शब्द अंत नहीं है, केवल साधन है। पण्डित के लिए शब्द सब कुछ है—साधन भी साध्य भी; उसके पार कुछ भी नहीं है।

उद्धव हारे। पण्डित सदा हारता रहा है। और कृष्ण ने बिलकुल ठीक ही किया—उद्धव को भेज कर—जो उसकी फजीहत करवाई। उससे उद्धव को कुछ समझ आ गई हो तो अच्छा, नहीं तो अभी तक भटक रहे होंगे!

अब सूत्र :

'हे भारत', कृष्ण ने कहा, 'सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अंतःकरण के अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयं भी वही है। उनमें सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं और राजस पुरुष यक्ष और राक्षस को तथा अन्य जो तामस पुरुष हैं, वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं।'

'मनुष्यों की श्रद्धा उनके अंतःकरण के अनुरूप होती है।' तुम्हारा अंतःकरण तमस् से भरा हो, तो तुम्हारी श्रद्धा सात्त्विक नहीं हो सकती। क्योंकि श्रद्धा तो तुममें उगती है; तुम्हारे अंतःकरण की भूमि में ही वह बीज टूटता है; तुम्हारी भूमि ही उसे रसदान देती है, पुष्टि देती है; वह पौधा तुम्हारा है।

तो तुम्हारा अंतःकरण जैसा है, वैसी ही तुम्हारी श्रद्धा होगी। अपने अंतःकरण की ठीक-ठीक पहचान तुम्हारी श्रद्धा की पहचान बन जाएगी।

इस सूत्र में कृष्ण साधक के लिये बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें कह रहे है। एक तो यह जानना जरूरी है कि तुम्हारा अंतःकरण कैसी दशा में है। ऐसा मत सोचना कि जो लोग तामसिक हैं, वे बिलकुल तामसिक है। शुद्ध तामसिक व्यक्ति हो ही नहीं सकता। क्योंकि तीन गुणों के जोड़ के बिना कोई भी नहीं हो सकता। इसलिए जब हम कहते हैं—तामसी, तो हमारा मतलब सापेक्ष होता है, रिलेटिव होता है। हमारा मतलब होता है कि तामसी ज्यादा, राजसी कम, सात्त्विक कम। तमस् का अनुपात ज्यादा है, इतना ही अर्थ होता है।

कोई व्यक्ति पूर्ण तामसी नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो टूट जाएगा। होने के लिये तीनों ही गुण आवश्यक हैं। इसलिए कोई व्यक्ति अगर तामसी होता है, तो समझो सत्तर परसेंट तामसी है, उन्तीस परसेंट राजसी, एक परसेंट सात्त्विक। पर एक परसेंट सात्त्विक भी होना जरूरी है। नहीं तो, जैसे तीन पैर की तिपाई में से एक पैर निकाल

लो, तो तिपाई फौरन गिर जाय ऐसा व्यक्ति जी नहीं सकता—जिसका एक 'पैर' गिर गया हो। तुम तिपाई हो; वे तीनों गुण चाहिए; मात्रा कम-ज्यादा हो सकती है; यह हो सकता है कि एक टाँग बिलकुल पतली हो—तिपाई की—धागे जैसी हो, मगर उतनी जरूरी है। एक टाँग बहुत मोटी हो, हाथी-पाँव की बीमारी हो गयी हो, यह हो सकता है। लेकिन टाँगें तीन ही होंगी। तुम्हारी 'मुर्गी' तीन टाँग से ही चलती है; उससे कम में न चलेगा।

तामसिक वृत्ति का व्यक्ति गहन तमस् भरा होता है, लेकिन दूसरे तत्त्व भी मौजूद होते हैं।

यह पहली बात समझ लेना कि कोई पूर्ण तामसी नहीं है; कोई पूर्ण राजसी नहीं है; कोई पूर्ण सात्त्विक नहीं है। शुद्धतम व्यक्ति में भी—बुद्ध में भी, जब तक उनकी देह नहीं छूट जाती—तमस् की टाँग रहेगी; पतली होती जाएगी; उलटा हो जाएगा अनुपात; तुम्हारी तमस् की टाँग हाथी-पाँव है; बुद्ध की तमस् की टाँग—समझो मच्छड़ की टाँग है। पर रहेगी; उतना अनुपात रहेगा।

जब तक शरीर है, तब तक तीनों रहेंगे। इसलिए बुद्ध ने निर्वाण की दो अवस्थाएँ कही है। पहला—निर्वाण, जब समाधि उपलब्ध होती है, लेकिन शरीर बचता है तब। वह पूर्ण निर्वाण नहीं है—जीवन-मुक्त हो गया व्यक्ति; जंजीरें टूट गयीं, लेकिन कारागृह अभी मौजूद है। कैदी न रहा, जंजीरें नहीं हैं—हाथ-पैर पर; यह भी हो सकता है कि जेलर प्रसन्न हो गया हो—इस व्यक्ति से और इसने उसको कैदियों के ऊपर सुपरिन्टेंडेंट या सुपरवाइज़र बना दिया हो, बाकी है कारागृह के भीतर; अभी दीवालें मौजूद हैं। इतना प्रसन्न:हो गया हो जेलर—इसकी सात्त्विकता से कि इसको बाहर-भीतर आने-जाने की भी सुविधा हो गयी हो; सब्जी खरीदने बाहर चला जाता हो; इसके भागने का डर न रहा हो। लेकिन इसे भी लौट आना पड़ता है। कभी-कभी घर के लोगों से भी मिल आता हो, गपशप भी कर आता हो, लेकिन फिर भी लौट आना पड़ता है।

अभी इसकी नाव भी शरीर के किनारे से ही बँधी रहेगी। इसकी स्वतंत्रता बढ़ गयी—बहुत बढ़ गयी; यह करीब-करीब ऐसा स्वतंत्र हो गया है, जैसा कि कारागृह के बाहर के लोग हैं, लेकिन करीब-करीब—अप्रोक्सिमेट।

जरा-सी बात तो अभी अटकी है—अभी शरीर से बँधा है। इसको हम जीवन-मुक्त कहते हैं, क्योंकि यह निन्यानबे प्रतिशत मुक्त है। कुछ बचा नहीं, सब हो गया है। सिर्फ शरीर के गिरने की बात है।

इसलिए बुद्ध ने कहा कि जब शरीर गिर जाता है, तब महा परिनिर्वाण—तब महा समाधि लगती है। जीवन-मुक्त तब मोक्ष को उपलब्ध हो जाता; तब मुक्तत्व

उसका स्वभाव हो जाता; अब दीवाल भी गिर गई, अब कारागृह भी न रहा; जंजीरें भी टूट गईं।

रजस् से भरे व्यक्ति में भी तमस् होता है, सत्त्व होता है। तीनों सभी में होते हैं। और तीनों सभी में होते हैं, इससे ही क्रांति की सम्भावना है। नहीं तो मुश्किल हो जाय। अगर कोई व्यक्ति पूरा ही तामसी हो—सौ प्रतिशत—चौबीस कॅरेट तामसी हो, तो फिर कुछ नहीं किया जा सकता; कोई उपाय न रहा। यह तो करीब-करीब लाश की तरह पड़ा रहेगा—कोमा में रहेगा, बेहोश रहेगा, क्योंकि होश के लिए भी थोड़ा रजस् चाहिए। यह तो हाथ-पैर भी न हिलाएगा; यह तो आँख भी न खोलेगा; इसका तो जीना भी जीना न होगा; यह तो मुरदे की भाँति होगा; जीते जी मुरदा होगा। नहीं, इसकी फिर कोई सम्भावना क्रांति की न रह जाएगी।

दूसरे तत्त्व मौजूद हैं, उनसे ही क्रांति का द्वार खुला है, उन्हीं के सहारे एक से दूसरे में जाया जा सकता है। जैसे तुम अँधेरे कमरे में बैठे हो, लेकिन छपरेल से, खपड़ों की संध से एक छोटी-सी सूरज की किरण भीतर आ रही है—सब ओर घना अंधकार है, पर एक छोटी किरण अंधकार में उतर रही है। वही द्वार है। तुम उसी किरण के सहारे चाहो तो सूरज तक पहुँच जाओगे, चाहे वह दस करोड़ मील दूर हो। तुम उसी का किरण का अगर मार्ग पकड़ लो, तो तुम सूरज के स्रोत तक पहुँच जाओगे। वह गहन अंधकार पीछे छूट सकता है; यात्रा संभव है। इसलिए तीनों तत्त्व सभी में हैं। यह पहली बात समझ लेनी जरूरी है।

दूसरी बात समझ लेनी जरूरी है कि तीनों तत्त्वों का अनुपात भी सदा स्थिर नहीं रहता। रात तमस् बढ़ जाता है; दिन में रजस् बढ़ जाता, संध्या काल में सत्त्व बढ़ जाता है। इसलिए हिंदुओं ने संध्याकाल को प्रार्थना का क्षण समझा।

सुबह—जब रात जा चुकी और सूरज अभी नहीं उगा, वहीं ब्रह्म-मुहूर्त है। उसको ब्रह्म-मुहूर्त कहने का कारण भीतर की गुण-व्यवस्था से है। रात जा चुकी, पृथ्वी जाग गई, पक्षी बोलने लगे, वृक्ष उठ आये, लोग नींद के बाहर आने लगे; सारी पृथ्वी पर तमस् का जाल सिकुड़ने लगा। सूरज करीब है क्षितिज के, जल्दी ही उसका किरण-जाल फैल जाएगा, जल्दी ही सब उठ बैठेगा, रजस् पैदा होगा। सूरज के ऊपर उगते ही काम-धाम की दुनिया शुरू होगी। अभी सूरज नहीं उगा, रजस् उगने को है। अभी रात गई, तमस जा चुका, मध्य की छोटी-सी घड़ी है, वह संध्या है।

संध्या का अर्थ है : बीच का काल, मध्य की घड़ी। उस मध्य की घड़ी में सत्त्व का प्रमाण ज्यादा होता है। वह दोनों के बीच की घड़ी है। इसलिए उस क्षण को ध्यान में लगाना चाहिए। क्योंकि अगर ध्यान सत्त्व से निर्मित हो, तो दूरगामी होगा। उस सत्त्व को अगर तुम ध्यान बनाओ तो धीरे-धीरे तुममें सत्त्व बढ़ता जाएगा।

ऐसे ही साँझ को सूरज डूब गया; रजस् का व्यापार बंद होने लगा, सूर्य ने समेट ली अपनी दुकान, द्वार-दरवाजे बंद करने लगा। रात आने को है—आती ही है, उसकी पहली पग-ध्वनियाँ सुनाई पड़ने लगीं। मध्य का छोटा-सा काल है—वह संध्या है।

दुनिया के सभी धर्मों ने मध्य के काल चुने हैं। क्योंकि उस मध्य के काल में, जब दो तत्त्वों के बीच की थोड़ी-सी संधि होती है, तो सत्त्व का क्षण महत्वपूर्ण होता है।

तुम्हारे भीतर हो सकता है पचास प्रतिशत या साठ प्रतिशत तमस् हो, तीस या चालीस प्रतिशत रजस् हो, एक प्रतिशत सत्त्व हो, तो उस मध्य काल में वह एक प्रतिशत प्रमुख होता है और उसका अगर तुम उपयोग कर लो, तो ब्रह्म-मुहूर्त का तुमने उपयोग कर लिया।

इसलिए हिंदुओं के लिए तो प्रार्थना शब्द संध्या का पर्यायवाची हो गया। वे जब प्रार्थना करते हैं, तो वे कहते हैं, 'संध्या कर रहे हैं।' वे भूल गए हैं कि इसका अर्थ क्या था?

इसलाम में भी नियम है : सूरज उगने के समय, सूरज डूबने के समय, सूरज जब मध्य आकाश में हो तब—ऐसी सूरज की पाँच घड़ियाँ उन्होंने चुनी हैं, लेकिन दो घड़ियाँ यहाँ भी मौजूद हैं—सुबह और सांझ। उन घड़ियों में सत्त्व तेज होता है।

रात्रि तमस् तेज हो जाता है, दिन रजस् तेज हो जाता है। तो तुम्हारे भीतर चौबीस घंटे अनुपात एक-सा नहीं रहता। इसलिए तो भिखारी सुबह-सुबह तुमसे भीख माँगने आते हैं। उस वक्त सत्त्व की थोड़ी-सी छाया होती है; तुम शायद दे सको। भिखारी दिन भर के बाद भीख माँगने नहीं आते, क्योंकि वे जानते हैं, रजस् से थका आदमी चिड़चिड़ा हो जाता है, वह नाराज होता है। वह भिखारी को देख-कर ही गुस्से में भर जाएगा; देने की जगह छीनने का मन होगा।

सुबह-सुबह तुम उठे हो और एक भिखारी द्वार पर आ गया है। इनकार करना जरा मुश्किल होता है। साँझ को भी तुम्हीं रहोगे, दोपहर भी तुम्हीं रहोगे। लेकिन सुबह जरा इनकार अटकता है, एकदम से कह देना—नहीं—सम्भव नहीं मालूम होता। भीतर से कोई कहता है : कुछ दे दो।

जो आदमी समझदार है, वह अपनी जीवन विधि को इस तरह से बनायेगा कि वहाँ इन गुणों का ठीक-ठीक उपयोग कर ले। अगर तुम्हें कोई शुभ कार्य करना हो, तो संध्या का काल चुनना; तो तुम्हारी गति ज्यादा हो सकेगी। अगर कोई अशुभ कार्य करना हो, तो मध्य-रात्रि चुनना, तो तुम्हारी गति ज्यादा हो सकेगी; हत्यारे, चोर-सब मध्य-रात्रि चुनते हैं।

सुबह, भोर के क्षण में तो चोर को भी चोरी करना मुश्किल हो जाएगा, हत्यारे को भी हत्या करना मुश्किल हो जाएगा, उसकी जीवन-धारा भिन्न होगी।

भरी दोपहर में सब दफ्तरें और दुकानें खुलती हैं—दुनिया की; ग्यारह बजे—वह रजस् का व्यापार है। बाजार धूम में होता है, जब सूरज आकाश में होता है। फिर शाम होते-होते सब क्षीण हो जाता है।

रात्रि लोग क्लब घरों में इकट्ठे होते हैं—शराब पीने, नाचने; वेश्याओं के घर-द्वार पर दस्तक देते हैं; रात में तमस् प्रगाढ़ है।

तुम कभी-कभी हैरान होओगे कि सुबह, भोर में जिसको तुमने प्रार्थना करते देखा, उसे दोपहर में बाजार, तुम लोगों को लूटते देखोगे—उसी आदमी को; उसी आदमी को रात तुम वेश्या घर में शराब पीते पाओगे। तुम बड़े हैरान होओगे कि बात क्या है। क्या यह आदमी वही है? तुम सोचेगे, इसकी प्रार्थना झूठी है। जरूरी नहीं। प्रार्थना सही रही हो। तुम सोचोगे, यह दुकान पर जो तिलक-चंदन लगाकर बैठता है, वह सब बकवास है। जब उसने तिलक-चंदन लगाया था, तब तिलक-चंदन का भाव रहा हो; इसे झूठ मत समझना। तिलक-चंदन हटा नहीं, क्योंकि तिलक-चंदन तो चमड़ी पर लगा है। भीतर के तमस् रजस्, सत्त्व का रूपांतरण हो गया।

तो दुकान पर बैठकर यह आदमी 'हरि बोल, हरि बोल' भी करता रहता है और जेब भी काटता रहता है। जरूरी नहीं कि इसका 'हरि बोल' सदा ही झूठ होता हो; कभी-कभी किन्हीं क्षणों में बिलकुल सच होता है। यही आदमी रात वेश्या के घर चला जाता है। तुम भरोसा नहीं कर पाते, क्योंकि तुम्हें पता नहीं है—आदमी एक नहीं है—तीन है।

हर आदमी के भीतर कम से कम तीन आदमी हैं। तेरह होंगे—वह दूसरी बात है। मगर तीन हैं ही। कहावत है, जब कोई आदमी बिलकुल भ्रष्ट हो जाता है, तो लोग कहते है : 'तीन तेरह हो गए'। तीन तो है ही, लेकिन अब तेरह हो गये; अब मामला ही खराब हो गया, अब सब खण्ड-खण्ड हो गया।

ठीक से अगर तुम अपने जीवन का निरीक्षण करो तो तुम बहुत-सी बातें समझ पाओगे। प्रत्येक समझपूर्वक जीने वाले आदमी को अपने जीवन की निरंतर निरीक्षणा करते रहनी चाहिए और देखना चाहिए कि किन क्षणों में शुभ प्रगाढ़ होता है। उन क्षणों का शुभ के लिए उपयोग करो। और उन क्षणों को जितना बढ़ा सको—बढ़ाओ। तुम्हारी भोर जितनी बड़ी हो जाय, उतना अच्छा। तुम्हारी संध्या जितनी लम्बी हो जाय, उतना अच्छा। और जो तुमने शुभ क्षण में पाया है, उसकी सुवास को दूसरे क्षणों में भी खींचने की कोशिश करो, तो ही रूपांतरण होगा; नहीं तो रूपांतरण न होगा।

फिर दिन के चौबीस घंटे में ही यह बदलाहट होती है, ऐसा नहीं है; जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में भी गुण भिन्न भिन्न होते हैं। बच्चे में सत्त्व का अनुपात ज्यादा होता है, क्योंकि वह जीवन की भोर है। जवान में रज का अनुपात ज्यादा होता है,

क्योंकि वह जीवन की आपा-धापी—बाजार है। बूढ़े में रजस् और सत्त्व दोनों क्षीण हो जाते हैं, तमस् बढ़ जाता है; क्योंकि वह मौत का आगमन है। मौत याने पूर्ण तमस् में गिर जाना।

अब यह बड़े मजे की बात है, लेकिन सभी बूढ़े दूसरों को शिक्षा देते हैं। वे बच्चों को भी चलाने की कोशिश करते हैं। होना उलटा चाहिए कि बूढ़े बच्चों के पीछे चलें। साँझ भोर का पीछा करे। इसलिए तो दुनिया उलटी है। यहाँ नाव नदी पर नहीं है; यहाँ नदी नाव पर है। बूढ़े बच्चों को चला रहे हैं; गलत हो रहा है। साँझ सुबह को चलाये, तो गलत हो जाएगा। बूढ़ों को बच्चों का अनुसरण करना चाहिए, क्योंकि बच्चे निर्दोष हैं।

जीसस ने कहा है, 'जो बच्चों की तरह भोले-भाले होंगे, वे ही मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश कर सकेंगे।' बूढ़ा आदमी तो चालाक हो जाता है। हो ही जाएगा—जीवन भर का अनुभव, जीवन भर की दाँव-पेंच, कलाएँ, राजनीति, चालबाजियाँ—धोखे जो दिये, धोखे जो खाये—सब का अनुभव। बूढ़ा आदमी निर्दोष हो, बड़ा मुश्किल है; हो जाय, तो संत।

बच्चा निर्दोष होता है—लेकिन संत नहीं। सभी बच्चे निर्दोष होते हैं, वह स्वाभाविक है। वह कोई गुण नहीं है; क्योंकि बच्चों का संतत्व सब खो जाएगा। चौदह वर्ष के होंगे, काम-वासना जगेगी; रजस् पैदा होगा। सब भूल जाएँगे—सब निर्दोषता बच्चों की खो जाएगी। तुमने कभी सोचा कि सभी बच्चे जब पैदा होते हैं, तो सुंदर मालूम होते हैं। कोई बच्चा कुरूप नहीं होता। और सभी बच्चे बड़े होते-होते कुरूप हो जाते हैं। शायद ही कोई आदमी सुंदर बचता है। क्या मामला है?

बच्चे सत्त्व को उपलब्ध होते हैं। अभी आ रहे हैं—सीधे परमात्मा के घर से। अभी वह सुवास उनके शरीर को घेरे है; अभी-अभी पैदा हुए हैं, भोर का क्षण है, ब्रह्म-मुहूर्त है। बच्चे यानी ब्रह्म-मुहूर्त। अभी प्रार्थना गूँज रही है, अभी मंदिर की घंटियाँ बज रही हैं; अभी तिलक ताजा है; अभी हाथों में लगे चंदन में गंध है; अभी-अभी आते हैं—मूल स्रोत से, उत्स से। खो जाएँगे कल।

अगर दुनिया कभी समझदार होगी, तो बूढ़े बच्चों का अनुसरण करेंगे, उनसे सीखेंगे। बच्चों का बालपन संतत्व की कीमिया है। और जब कोई बूढ़ा आदमी बच्चे जैसा हो जाता है, तो इस जगत् में अनूठी घटना घटती है। जब कोई बूढ़ा आदमी बच्चे जैसा हो जाता है, तो इस जगत् में अपूर्व सौंदर्य घटता है। ऐसे बूढ़े आदमी के सौंदर्य की तुम कोई तुलना नहीं कर सकते; कोई जवान आदमी इतना सुंदर नहीं हो सकता; क्योंकि जवानी में बड़ा तनाव है, बेचैनी है, दौड़ है, उपद्रव है, आपा-धापी है। कैसे कोई जवान इतना सुंदर हो सकता है?—तूफान है, आँधी है।

बुढ़ापे में सब शांत हो गया; आँधी जा चुकी; तूफान बिदा हो गया; तूफान के पीछे के क्षण हैं, जब सब शांत हो जाता है और एक सन्नाटा घेर लेता है।

अगर बूढ़े आदमी ने बचपन को फिर से पुनरुज्जीवित कर लिया, तो वह संत हो जाता है। नहीं तो वह महा तामसी हो जाता है। इसलिए बूढ़े आदमी बहुत तामसी हो जाते हैं। उनका जीवन करीब-करीब मुरदा जैसा हो जाता है। चिड़चिड़ा, नाराज—हर चीज उनके लिए की जाय; कुछ करने की तैयार नहीं हैं। हर चीज की अपेक्षा और हर चीज से शिकायत है। कोई चीज तृप्त नहीं करती। सारा जगत् असार मालूम पड़ता है; व्यर्थ मालूम पड़ता है; और आकांक्षा मरती नहीं, महत्वाकांक्ष जगी रहती है। माँग कायम रहती है। करना कुछ नहीं है, माँग भारी है।

तो जीवन में भी घड़ियाँ बदलती हैं, जब अनुपात बदल जाता है। और जीवन का ही सवाल नहीं है। अनुपात रोज भी बदल जाता है। परिस्थिति भी अनुपात को बदल देती है।

तुम दोपहर बड़ी दौड़ में थे, अचानक एक शुभ-संवाद किसी ने दे दिया, तत्क्षण भीतर की मात्रा में भेद हो जाता है। किसी ने शुभ-संवाद दे दिया, तुम्हारी दौड़ ठिठक गई; किसी ने खुशी की एक खबर दे दी, तुम प्रसन्न हो गये, तुम्हारे भीतर की मात्रा बदल गई।

तुम भोर में बड़े सत्त्विक थे और किसी ने खबर दी कि कोई मर गया है; उदासी छा गई, तमस् ने घेर लिया।

तो प्रति क्षण परिस्थिति भी बदलती है, लेकिन ये सारी बातें तुम्हें अपने भीतर ठीक से स्वाध्याय करनी चाहिए, ताकि तुम इनका ठीक-ठीक उपयोग कर सको।

और जो व्यक्ति अपने अनुपात को न तो परिस्थिति से प्रभावित होने देता है, न समय की धारा से प्रभावित होने देता है, न जीवन की अवस्थाओं से प्रभावित होने देता है, वही व्यक्ति साधक है। इसलिए साधना बड़ी कठिन मालूम पड़ती है। जो भरी दोपहरी में ऐसा होता है, जैसे ब्रह्ममुहूर्त में कोई हो; जो बुढ़ापे में ऐसा होता है, जैसे बचपन में कोई हो; तब साधना का सूत्र शुरू होता है।

पहले ठीक से निरीक्षण करो, फिर निरीक्षण को ठीक से सोच कर अपने जीवन की गति को बदलो। और गति बदलनी है इस भाँति कि अति न हो जाय। तीनों की मात्रा समान हो जाय।

एक तिहाई हो तमस्, वह जरूरी है। इसलिए चौबीस घंटे में आठ घंटे सोना जरूरी है; वह एक तिहाई तमस् है। उससे कम सोओगे, नुकसान होगा; उससे ज्यादा सोओगे, नुकसान होगा। आठ घंटा सोना जरूरी है। आठ घंटा जीवन की दौड़-धूप जरूरी है।—रजस्—भागो, दौड़ो; महत्त्वाकांक्षा का विस्तार है। उसको भी

अनुभव करो, क्योंकि बिना अनुभव के गुजर गये तो पकोगे नहीं, पार न होओगे, अतिक्रमण न होगा। आठ घंटा व्यापार व्यवसाय दौड़-धूप; आठ घंटा सत्त्व—प्रार्थना, पूजा, ध्यान। ऐसा एक तिहाई, एक तिहाई जीवन को बाँट दो।

अगर तुम्हारा सारा समय एक तिहाई, एक तिहाई की मात्रा में बँट जाय, तो तुम धीरे-धीरे पाओगे, यह अनुपात स्थिर हो जाता है। तब न तो रात में यह बदलता, न दिन में बदलता; न जवानी में, न बुढ़ापे में। यह अनुपात धीरे-धीरे, धीरे-धीरे थिर हो जाता है। इस थिरता का नाम ही सत्त्व की उपलब्धि है। क्योंकि जब तीनों समान होते हैं, तब तुम्हारे भीतर एक संगीत बजने लगता है—अनजाना, जिसे तुमने पहले कभी नहीं सुना।

इसलिए मैं कहता हूँ, हिमालय मत भागना, क्योंकि वह कोशिश है—चौबीस घंटे सत्त्व में जीने की। वह भी अतिशय है। इसलिए मैं संन्यासी को भी कहता हूँ कि घर में रहना। आठ घंटा संन्यासी, आठ घंटा दुकानदार। आठ घंटा निद्रा में पड़े हैं—न संन्यासी, न दुकानदार। विश्राम भी तो चाहिए—संन्यास से भी, दुकान से भी!

चौबीस घंटे संन्यासी बनने की कोशिश में भारत ने बहुत गँवाया है। न तो वे संन्यासी—संन्यासी हो पाये, क्योंकि वे हो नहीं सकते। उन्होंने कोशिश की कि तिपाई के दो पैर तोड़ दें और एक ही पैर पर खड़े हो जायँ; लँगड़ा गये।

तो भारत का संन्यास बुरी तरह लँगड़ा गया और बुरी तरह धूल-धूसरित हो कर गिरा। गरिमा पैदा नहीं हुई। संन्यासी संतुलित न रहा।

और तुम तोड़ नहीं सकते दूसरे दो पैर, क्योंकि जिंदा रहने के लिये वे ज़रूरी है। पीछे के द्वार से वे प्रवेश कर गये। तो संन्यासी बाहर से दिखाएगा कि उसकी कोई धन में उत्सुकता नहीं है और भीतर से धन जोड़ेगा। बाहर से दिखाएगा, उसकी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है, लेकिन विस्तार में मन लगा रहेगा। बाहर से दिखाएगा कि मेरे जीवन में कोई तमस् नहीं है, लेकिन भीतर भयंकर तमस् घिरा रहेगा।

भाग नहीं सकते, जीवन के नियम के विपरीत नहीं चल सकते। जीवन के नियम का उपयोग करो। समझदार वह है, जो जीवन के नियम का उपयोग करके जीवन के पार उठ जाता है। ना-समझ वह है, जो जीवन के नियम को तोड़ने की कोशिश करके बाहर होना चाहता है। वह और उलझ जाता है। संन्यास एक कला है—संतुलन की।

कृष्ण ने कहा, 'हे भारत, सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अंतःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयं भी वही है।'

तुम्हारी श्रद्धा ही तुम हो। अगर तुम्हारी श्रद्धा आलस्य की है, तो तुम्हारा जीवन आलस्य की कहानी होगा। अगर तुम्हारी श्रद्धा रजस की है, महत्त्वाकांक्षा की है,

दौड़ की है, तो तुम्हारा जीवन एक दौड़-भाग होगा। अगर तुम्हारी श्रद्धा सत्त्व की है, शांति की है, शून्य की है, शुभ की है, तो तुम्हारे जीवन में एक सुवास होगी, जो स्वर्ग की है, जो इस पृथ्वी की नहीं है। तुम्हारी श्रद्धा ही तुम हो।

अपनी श्रद्धा को ठीक से पहचान लो, क्योंकि न पहचानने से बड़ी जटिलता बढ़ती है। आदमी तो होता है आलसी, उसका अंतःकरण होता है आलसी और आकांक्षा करता है, उन सुखों को पाने की, जो राजसी को मिलते हैं। तुम मुश्किल में पड़ोगे, तुम्हारी श्रद्धा तुम हो। आदमी तो होता है राजसी, दौड़-धूप में पड़ा और चाहता है, वह शांति मिल जाय—जो सात्त्विक को मिलती है। यह हो नहीं सकता।

मेरे पास एक राजनीतिज्ञ कभी-कभी आते हैं। वे कहते हैं, 'शांति चाहिये।' उन्हें शांति मिल नहीं सकती। इसमें किसी का कसूर नहीं है। राजनीति की दौड़-धूप, तुम शांत हो कैसे सकते हो ? और तुम अगर शांत हो गये, तो जिस दौड़-धूप में तुम लगे हो कि किस तरह मंत्री, किस तरह मुख्य-मंत्री, किस तरह 'यह' हो जायँ, 'वह' हो जायँ—यह फिर कौन करेगा ? तुम अगर शांत हो गये, तो ये महत्त्वाकांक्षाएँ भी शांत हो जाएँगी।

तो मैंने उनसे कहा, 'तुम दोनों में से एक चुन लो। मैं तुम्हें शांत कर सकता हूँ, लेकिन तब राजनीति जाएगी; यह दौड़-धूप न रह जाएगी; यह पागलपन न रह जाएगा। और अगर तुम्हें यह पागलपन पूरा करना है, तो शांति की बात मत करो। मेरे पास आओ ही मत।' तो उन्होंने कहा, 'ऐसा करें, एक दो साल का समय दें। दो साल और कोशिश कर लूँ।'

मंत्री वे हो गये हैं—एक राज्य में, अब मुख्य-मंत्री होने की चेष्टा है। 'एक दो साल...फिर तो शांत होना ही है!'

यह आदमी शायद ही शांत हो पाये, क्योंकि दो साल में कुछ पक्का है कि मुख्य-मंत्री हो जाओगे और मुख्य-मंत्री होकर केन्द्रीय मंत्रि-मण्डल में जाने की आकांक्षा न उठे, इसका कुछ पक्का है ? दौड़ने वाले के लिए तो सदा दौड़ कायम रहती है। आकांक्षा तो सदा 'और' की बनी रहती है। वे कभी नहीं आयेंगे।

जिसे आना है, वह अभी आता है। जिसको समझ आ गई, वह अभी आता है। जो कहता है, 'कल आयेंगे', उसको समझ नहीं है, तभी तो कल के लिये टाल रहा है। कल का किसको भरोसा है ? और जो आज कल के लिये टाल रहा है, वह कल भी—कल के लिए टालेगा। उसकी कल पर टालने की आदत हो जाएगी।

अपनी श्रद्धा को ठीक से पहचानो और अपनी श्रद्धा से भिन्न मत माँगो। अगर भिन्न माँगना है, तो अपनी श्रद्धा को रूपांतरित करो अन्यथा तुम बड़ी उलझन में पड़ जाओगे; भीतर बड़ा बेबूझ हो जाएगा; पहेली हो जाओगे; सभी लोग पहेली हो गए हैं।

लोग ऐसा सुख चाहते हैं, जो राजसी को मिलता है, और ऐसी शांति चाहते हैं, जो सात्त्विक को मिलती है और ऐसा विश्राम चाहते हैं, जिसको आलसी भोगता है। बड़ी मुश्किल है; वे सभी एक साथ चाहते हैं, कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

भीतर को ठीक से पहचानो, क्योंकि तुम्हारी श्रद्धा ही तुम्हारा जीवन है।

'जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयं भी वही है।' और अगर तुमने ठीक से भीतर को पहचाना, तो तुम जल्दी ही यह समझ जाओगे कि तृप्ति किसी एक से नहीं हो सकती। उन तीनों का संयोग चाहिए। और तीनों के संयोग में ही तृप्ति फलती है, परितोष झरता है। और तीनों के संयोग से ही एक की प्रतीति शुरू होती है। और तीनों का संयोग धीरे-धीरे-धीरे तुम्हें उस एक की तरफ ले जाता है, जो गुणातीत है।

पाना तो उसे ही है, जो त्रिगुण के बाहर है। उस एक की ही खोज करनी है। तीनों पैरों को तुम एक ही अनुपात का बना लो, एक ही बल का, और तुम पाओगे कि 'तिपाई' सध गई। तिपाई सध गई, तो सब सध गया। अब तुम तिपाई पर पैर रख सकते हो और एक की तरफ यात्रा शुरू हो सकती है।

'जो सात्त्विक हैं, वे देवों को पूजते हैं।' ये प्रतीक हैं। इन्हें भी खयाल में ले लो। जो सात्त्विक है, उसके मन की पूजा सत्त्व की तरफ होती है, स्वभावतः, क्योंकि तुम जो हो, और तुम जो होना चाहते हो, उसी का तुम्हारे मन में आदर होता है। अगर राजनेता आता है और तुम उसके स्वागत के लिए स्टेशन पर पहुँच जाते हो, तो भला तुम राजनिति में न हो, लेकिन उसके स्वागत की खबर बताती है कि तुम राजसी हो। मौका न मिला होगा तुम्हें—उपद्रव में पड़ने का, जिंदगी में उलझन होगी; पत्नी है, बच्चे हैं, काम-धाम है और तुम नहीं पड़ पाते। लेकिन दर्शन करने तुम राजनीतिज्ञ का पहुँच जाते हो। तुम्हारी श्रद्धा; या कि फिल्म अभिनेता आया है, उसके पास भीड़ लगा लेते हो—तुम्हारी श्रद्धा। कि संन्यासी आया हो, तुम उसके दर्शन को पहुँच जाते हो—तुम्हारी श्रद्धा। तुम्हारी श्रद्धा ही तुम्हें संचारित करती है।

सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं—दिव्यता को पूजते हैं।

दिव्यता का अर्थ है : जिनके जीवन में संगीत बजने लगा—तीनों की एकता का। अभी वे एक को उपलब्ध नहीं हुए हैं; अभी यात्रा बाकी है; लेकिन बड़ा पड़ाव आ गया, तिपाई सध गई। उनके जीवन में स्वर्ग का संगीत बजने लगा। बाकी तो प्रतीक हैं कि स्वर्ग में देवता रहते हैं। ऐसा स्वर्ग कहीं नहीं है। यहीं—जमीन पर तुम्हारे आसपास रहते हैं; लेकिन तुम्हारी सत्त्व की श्रद्धा होगी, तो दिखाई पड़ेंगे। सत्त्व की श्रद्धा न होगी, तो दिखाई न पड़ेंगे, क्योंकि श्रद्धा आँख है।

तुम्हारे पास ही...हो सकता है कि तुम्हारे पड़ोस में कोई रहता हो; हो सकता है, तुम्हारे घर में रहता हो; हो सकता है, तुम्हारी पत्नी में हो; हो सकता है, तुम्हारे

पति में हो। लेकिन सत्त्व की आँख होगी तो दिखाई पड़ेगा। अगर पति सात्त्विक हो जाय और पत्नी की आँख सत्त्व की न हो, तो उसे कुछ और दिखाई पड़ेगा।

मेरे पास कई स्त्रियाँ शिकायत लेकर आती हैं कि आप बरबाद मत करो, हमारे पति को मत उलझाओ इस ध्यान में। अभी तो बाल-बच्चे बड़े हो रहे हैं। और अभी तो काम-धंधा शुरू ही हुआ है। और अगर वे ध्यान में उलझ गये, तो क्या होगा? पति में अगर सत्त्व पैदा हो रहा है, तो पत्नी को दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि उसकी श्रद्धा अभी रजस् की है; वह कहती है, अभी थोड़े और गहने चाहिए।

वह पति के ध्यान की कुरबानी के लिए राज़ी है, अपने और थोड़े गहनों की कुरबानी के लिए राज़ी नहीं है। वह कहती है, 'अभी तो मकान बहुत छोटा है; थोड़ा मकान तो बड़ा हो जाने दो। अभी बैंक में बैलेन्स है ही क्या? बुढ़ापे में क्या होगा? अगर कल पति को कुछ हो जाय, तो हम क्या करेंगे?'

न तो पति की आत्मा से कोई मतलब है, न पति के जीवन से कोई मतलब है। 'अगर पति को कुछ हो जाय'—इसकी चिंता है। तो बैंक में बैलेन्स होना चाहिए, चाहे पति रहे, चाहे जाय।

श्रद्धा रजस् की है। तो पति ध्यान करने बैठे तो पत्नियाँ बाधा डालती हैं। अगर पत्नी में श्रद्धा पैदा हो जाय सत्त्व की, तो पति बेचैन हो जाता है।

पति मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं, 'यह आपने क्या कर दिया; एक उपद्रव खड़ा कर दिया। अब पत्नी को ज्यादा रस नहीं है कामवासना में। वह ध्यान में लगी रहती है! हम कहाँ जायँ? हमारी कामवासना तो मर नहीं गई है। तो कृपा करें।' 'अभी तो मैं जवान हूँ', वे कहते हैं। 'ये तो बुढ़ापे की बातें हैं; पचास साल बाद आप इसको सिखाते ध्यान, तो ठीक था।'

जो श्रद्धा होती है, वह दिखाई पड़ता है। ध्यान जैसी घटना घट रही हो, उसमें भी सौभाग्य नहीं मालूम पड़ता है। पत्नी शांत हो रही है—इसमें भी पीड़ा लगती है।

तुम चकित होओगे, लोगों ने मुझसे आकर कहा है, पत्नियों ने कहा है कि 'पति अब क्रोध नहीं करते, इससे हमें हैरानी होती है। वे पहले क्रोध करते थे, ठीक था। अब ऐस लगता है कि उन्हें उपेक्षा हो गयी है।' अक्रोध में उपेक्षा दिखती है। अक्रोध में एक घटना नहीं दिखती कि इस आदमी के जीवन में एक फूल खिला है, हम आनन्दित हों। अक्रोध में दिखता है कि इस आदमी को अब रस नहीं रहा; इसलिए हम गाली भी दें तो यह सुन लेता है। क्योंकि इसको कोई मतलब ही नहीं है। उपेक्षा से भर गया है यह आदमी।

ध्यान रखना, लोग उपेक्षा पसंद नहीं करते; चाहे गाली दो, वे उसके भी लिए राजी हैं; कम से कम इतना रस तो रखते हो कि गाली देते हो। उपेक्षा बहुत

काटती है। तटस्थ हो गए! उदासीन हो गए! पत्नी घबड़ाती है कि यह तो हाथ के बाहर चला आदमी। ऐसे उदास होते-होते एक दिन घर से भाग जाएगा; फिर हम क्या करेंगे? वह चाहती है कि पति नाराज हो, लड़े, मारे-पीटे तो भी चलेगा—ध्यान न करे।

सत्त्व की श्रद्धा हो तो ही सत्त्व दिखाई पड़ता है।

'देवता' का अर्थ है, जिनके जीवन में संतुलन आ गया; जिनके जीवन में सत्त्व ने ऐसी संतुलन की सुगंध दे दी कि जो अब करीब-करीब मुक्ति के किनारे खड़े हैं। स्वर्ग वह सीमा है, जहाँ से आदमी मोक्ष में छलाँग मार ले। थोड़े अटके हैं; अटकाव यह है कि उनको अभी संगीत से ही रस पैदा हो गया है; इसको भी छोड़ने की हिम्मत करनी पड़ेगी। यह सोने की जंजीर है; बड़ी प्यारी लगती है, इसलिए हम देवताओं को मुक्त पुरुष नहीं कहते। और जब बुद्ध पुरुष पैदा होते हैं, तो हमारे पास कथाएँ हैं कि देवता उन्हें सुनने आते ह कि हमें मुक्ति का मार्ग दें। उनको आना पड़ेगा, क्योंकि अब वे सत्त्व के सुख से बँध गये हैं। स्वर्ग भी बन्धन है—बड़ा प्यारा बन्धन है; बड़ी मिठास है उसमें, लेकिन है काँटा। कितनी ही मीठी पीड़ा देता हो, उसे भी निकाल देना होगा।

जिनकी सत्त्व की श्रद्धा है, वे देवों को पूजते हैं। वे जहाँ भी दिव्यता को पाएँगे, वहाँ उनका सिर झुक जाएगा।

जिनकी राजस् श्रद्धा है, वे यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं। राक्षस का अर्थ है: जिसके जीवन में रजस् प्रगाढ हो गया; सत्त्व और तम दोनों दब गये—बस, रजस् प्रगाढ़ हो गया।

बड़े राजनेता यानी राक्षस। तुम उस तरह सोचते नहीं अब, क्योंकि तुम इन प्रतीकों का अर्थ भूल गए। तुम सोचते हो, रावण राक्षस था। किस लिए? सफल से सफल राजनीतिज्ञ था; स्वर्ण की लंका बसा ली थी। और क्या चाहिए सफल राजनीतिज्ञ के लिए? तुम्हारे सफल राजनीतिज्ञ मिट्टी के घर भी तो नहीं बसा पाते हैं—लोगों के लिए; भूखा मरता है समाज। लेकिन लंका में स्वर्ण का बसा दिया था नगर रावण ने। और कैसा सफल राजनीतिज्ञ चाहिए?

रावण सफल से सफल राजनीतिज्ञ था; कुशल से कुशल कूट-नीतिज्ञ था; प्रगाढ शक्तिशाली था। दौड़ उसकी महान थी। कथा तो यह है कि अगर उसे न हटाया गया होता—स्वयंवर से, तो उसने सीता को जीत लिया होता; राम खाली हाथ घर वापस लौटे होते। उसे हटाया गया। डर था। क्योंकि वह इतना कुशल राजनीतिज्ञ था और इतना शक्तिशाली था कि एक सिर नहीं थे उसके; उसके दस सिर थे; सभी राजनीतिज्ञों के होते हैं—एक चेहरा नहीं—दस चेहरे।

सभी राजनीतिज्ञ दसानन है। उनको कुछ पक्का नहीं है कि वे कौन-सा चेहरा तुम्हें दिखा रहे हैं। जब जैसी जरूरत हो, वे वैसा चेहरा दिखाते हैं। जब वोट माँगनी हो, तो मुस्कराते हैं—एक चेहरा। जब वोट मिल गई, तब वे ऐसा देखते हैं कि तुम्हें पहचानते ही नहीं—दूसरा चेहरा। जब वे ताकत में हैं, तब एक चेहरा; जब वे ताकत में नहीं, तब उनके कैसे हाथ जुड़े हैं और सिर झुका है कि आपके चरणों के सेवक हैं। दसानन—उनके दस चेहरे हैं और एक काटो, तत्क्षण दूसरा पैदा हो जाता है, इसलिए राजनीतिज्ञ को मारना मुश्किल है।

स्वयंवर भरा था, तो कथा यह है कि यह देख कर देवताओं ने कि रावण बाजी मार ले सकता है...। कई कारण थे; वह शिव का भक्त था।

तुम राजनीतिज्ञ को सदा पाओगे, किसी न किसी का भक्त है। कोई जा रहा है सत्य साँई बाबा के पास। कोई नहीं, तो दिल्ली में बहुत ज्योतिषी बैठे हैं, उनकी ही भक्ति में लगा है। हनुमान चालीसा पढ़ रहा है, इलेक्शन जीतना है!

इस रावण ने अपने सिर चढ़ा-चढ़ा के, कहते हैं, शिव को भी राजी कर लिया था। शिव का भक्त था और वह धनुष भी शिव का था। यह तोड़ देता; यह आदमी बलशाली था।

तो कथा यह है कि देवताओं ने यह देखकर कि यह तो खतरा हो जाएगा और राम तो विनम्र व्यक्ति हैं, वे आगे आ कर खड़े भी न होंगे; यह रावण तो उछल कर खड़ा हो जाएगा और धनुष तोड़ देगा। राम को शायद मौका ही न मिले; शायद कोई पूछे ही न कि राम भी आये थे। और राम तो पीछे खड़े रहेंगे। राम के होने का अर्थ ही है कि जो पीछे खड़ा रहे; जिसको आगे आने की दौड़ न हो; जो महत्त्वाकांक्षी न हो।

लक्ष्मण भी ज्यादा महत्त्वाकांक्षी था—राम से। वह दो-चार दफा उठ आया—बीच-बीच में। और उसने कहा, 'भाई, अगर मुझे आज्ञा दें, तो अभी इस धनुष-बाण को तोड़ दूँ।' उसको रोकना पड़ा, कि 'तू बैठ; तू थोड़ा तो ठहर।' वह भी तोड़ने को बहुत तत्पर था। वह भी महत्त्वाकांक्षी था; वह भी राजनीतिज्ञ था।

रावण को हटाया; देवताओं ने जोर से शोरगुल किया आ कर—स्वयंवर के आसपास कि रावण तू यहाँ क्या कर रहा है? लंका में आग लग गई है। और जब 'लंका में आग लगी हो...।' यह भी बड़ा सोचने जैसा है।

राजनीतिज्ञ प्रेम की कुरबानी दे सकता है; राजधानी में आग लगी हो, उसकी कुरबानी नहीं दे सकता। भागा रावण लंका की तरफ; भूल गया सीता—और सब—और यह प्रेम—और यह सब उपद्रव; क्योंकि राजनीतिज्ञ प्रेम की कुरबानी दे सकता है, पद की कुरबानी नहीं दे सकता। इसलिए तुम राजनीतिज्ञों को हमेशा पाओगे कि

अगर उनको पत्नी का त्याग करना पड़े, वे तैयार हैं। अगर विवाह न कर पायें, तो तैयार। लेकिन उनका स्वयंवर—पद से है। अन्यथा रावण ने कहा होता, 'जो होना हो—हो जाय; जल जाय लंका'; अगर सच में ही प्रेम होता—सीता के प्रति। लेकिन हृदय होते ही नहीं राजनीतिज्ञ के पास, प्रेम कहाँ से होगा? वह तो सीता को जीतने आया था; इसको भी एक जीत बनाने आया था; इसको भी, अपने जीत के जो हजार चाँद थे, उसमें एक चाँद और जोड़ देना था—कि सीता को भी जीत लाया। जैसे लोग ट्रॉफी जीत लाते हैं। सीता एक ट्रॉफी थी, जिसको वह बैण्ड-बाजे बजा कर लंका में ले जाता और कहता कि देखो, इसको भी जीत लाया। रानियाँ उसके पास और भी बहुत थीं। कुछ रानियों की कमी न थी। कोई सीता से कम सुंदर थीं, ऐसा भी न था। भरा पूरा रनिवास था।

कोई सीता से लेना-देना न था रावण को अन्यथा वह कहता कि 'ठीक।' भाग गया; वह देवताओं की साजिश थी; सत्त्व का षडयंत्र था कि इस राजसी व्यक्ति को हटा लिया जाय। सीता राम के योग्य थी—राम के लिए थीं; सत्त्व का सत्त्व से मिलन हो सके, इसलिए देवताओं ने व्यवस्था की।

यह रावण राक्षस है, इससे तुम यह मत समझना कि 'राक्षस' कोई जाति है मनुष्यों की। राक्षस गुण है; वह राजनीतिज्ञ का नाम है; पद-लोलुप का नाम है।

'राजस् पुरुष यक्ष और राक्षस को पूजते हैं।' वे उनको पूजते हैं, जिनके पास शक्ति है, या जिनके पास पद है या जिनके पास धन है। कुबेर यक्ष है। कुबेर का अर्थ है : जिसके पास सब से बड़ा धन है—सारे जगत् में; जो खजान्ची है स्वर्ग के देवताओं का—ट्रेजरर कुबेर—वह यक्ष है। तो या तो धन की पूजा है या पद की पूजा है। लेकिन दोनों ही पूजा के पीछे शक्ति की पूजा है।

अगर ऐसा व्यक्ति देवी-देवताओं की भी पूजा करता है, तो भी शक्ति के लिए ही करता है। वह माँगता है, 'और दो शक्ति; ऐसी शक्ति दो कि सब को पराजित कर दूँ; मैं पराजित न हो पाऊँ—अपराजेय हो जाऊँ।' राजस् शक्ति की माँग करता है।

'और अन्य जो तामस पुरुष हैं, वे प्रेत और भूत गणों को पूजते हैं।' फिर तीसरा वर्ग है—तमस् से भरे लोगों का; उनकी आकांक्षा इतनी ही है कि उनका आलस्य अखण्डित रहे। कोई उन्हें जगाए न; उनकी आकांक्षाएँ कोई और पूरा कर दे; वे पड़े रहे। वे अपनी मूर्च्छा में सोये रहें, वे शराब पीये रहें, वे नींद में डूबे रहें, वे प्रमाद में रहें; कोई और पूरा कर दे उनकी जरूरतों को।

भूत-प्रेत से अर्थ है, ऐसे लोग जो खुद भी तमस् प्रधान हैं, ऐसी आत्माएँ जो खुद भी तमस् प्रधान हैं, वे इनकी पूर्ति करती रहती हैं। इस तरह के लोग हैं : तुम्हें वेश्या के घर ले जाने वाला एक एजेन्ट भी होता है, वह भूत-प्रेत है। तुम्हें धन की ओर

लगाने वाला, जुआ खिलाने वाला भी होता है; तुम्हें लॉटरी में दाँव लगाने की उत्सुकता पैदा करवाने वाला—टिकिट बेचने वाला भी होता है। वे तुम्हारे आलस्य को बढ़ाते हैं; वे कहते हैं : हम कर देंगे; तुम मजे से सोये रहो, तुम जरा-सा इतना सहारा दे दो, सब ठीक हो जायगा। ठीक वैसी ही व्यवस्था आत्माओं की भी है। जैसे ही शरीर छोड़ती हैं आत्माएँ...। तीन तरह की आत्माएँ हैं, क्योंकि तीन तरह के गुण हैं। प्रेत को तुम राज़ी कर सकते हो।

तुममें से बहुत-से प्रेत को ही राज़ी करने को उत्सुक हैं। कोई तुम्हें ताबीज दे दे, जिससे बीमारी ठीक हो जाय; कोई तुम्हें भभूत दे दे, जिससे खजाना मिल जाय। तुम्हारी आकांक्षा ऐसी है कि तुम्हें कुछ न करना पड़े; तुम ऐसे आलस्य में पड़े रहो, खजाने तुम्हारी तरफ आते जायँ। प्रेत उत्सुक कर लेते हैं—ऐसे लोगों को। वे जीवित भी हैं, शरीर में भी हैं—और शरीर के बाहर भी हैं।

तुम्हारी श्रद्धा तुम्हें गति देती है। तुम जाते हो साधु-संतों के पास, लेकिन हो सकता है, तुम साधु-संतों के पास जा ही न रहे हो। तुम्हारी श्रद्धा पर निर्भर है। हो सकता है, तुम साधु के पास जा रहे हो कि उसके पास जाने से धन की वर्षा हो जाएगी।

एक आदमी, मैं दिल्ली से बम्बई आ रहा था, हवाई जहाज पर मुझे मिल गये। मेरे पास ही बैठे थे; उन्होंने कहा कि 'बड़ी कृपा हो गई है, मौका मिल गया, संयोग है। बस, आपका आशीर्वाद चाहिए।' मैंने कहा कि 'ठीक; इसमें भी क्या कोई नाही करता है—आशीर्वाद देने में।'

पन्द्रह दिन बाद वे जबलपुर पहुँचे मुझसे मिलने। पैर पर गिर पड़े; वे कहने लगे, 'गजब हो गया—आपके आशीर्वाद से।' मैंने कहा, 'क्या हुआ? मुझको मत फँसाना। वह अशीर्वाद मैंने तुम्हें दिया, यह भी पक्का नहीं है। सिर्फ न कहना भद्दा लगेगा, इसलिए मैं चुप रहा। हुआ क्या?' उसने कहा, 'आप कुछ भी कहो। मैं मुकादमा जीत गया। दस लाख रुपये मुकदमे में जीतने से मिल रहे हैं। और सच बात यह है कि जीतना मुझे था नहीं; नियमानुसार मुझे हारना चाहिए था। वह दावा मेरा गलत था; लेकिन आपकी कृपा!' मैंने कहा कि 'तुम मुझे मत फँसाओ।'

अब यह आदमी आशीर्वाद माँग रहा है; एक गलत मुक़दमा है, वह जीतने की आकांक्षा है। यह आदमी संत के पास पहुँच ही नहीं सकता। यह जहाँ भी जाएगा, इसकी श्रद्धा ही इसको खराब करती रहेगी।

लोग मुझसे आशीर्वाद तब से माँगते हैं, तो मैं पूछता हूँ कि पहले बता दो, तुम्हारा इरादा क्या है? तुम किसी भूत-प्रेत की तलाश में तो नहीं हो? नहीं तो पीछे तुम मुझे फँसाओगे।

क्या है तुम्हारी आकांक्षा? किसलिए आशीर्वाद चाहते हो? तुम क्या माँगते हो, वह तुम्हारी अंतःकरण की श्रद्धा से उपजता है।

कृष्ण कहते हैं, 'ऐसे तीन तरह के लोग हैं।' तुम जरा अपनी खोज करना कि तुम किस तरह के हो।

तुम्हें भीड़ दिखाई पड़ेगी साँईबाबा के पास। वह भीड़ उनकी है—जो भूत-प्रेत की तलाश कर रहे हैं, क्योंकि ऐसे ही लोग चमत्कृत हो सकते हैं इस बात से कि हाथ से घड़ी निकल आई। तुम किसी जादूगार को खोज रहे हो, मदारी की खोज रहे हो कि संत को खोज रहे हो?—कि हाथ से राख गिर गई और हाथ बिलकुल खाली था; कि हाथ से शंकर जी की पिंडी निकल आई; तुम पागल हो गये हो! और कितनी ही पिंडी निकल आयें—शंकर जी की, क्या होगा?

कितनी घड़ियाँ निकालते हैं! और बड़े मजे की बात है : स्विस मेड घड़ियाँ निकालते हैं। दो ही उपाय हैं। या तो बाजार से खरीदी जाती हैं। नहीं तो स्वर्ग मेड होतीं! स्विस मेड हैं। और या फिर भूत-प्रेत लगा रखे हैं, जो चोरी करके ले आते हैं। दोनों हालत में नाजायज बात है।

सब घड़ियाँ बाजार से खरीदी जा रही हैं।

साँईबाबा एक घर में बम्बई मेहमान होते थे—पारसी घर में। वह महिला मेरे पास आई; उसने कहा, 'मेरी आँखें खुल गईं। लेकिन अब मैं दूसरों को समझाती हूँ, वे मेरी सुनते नहीं। मेरे ही घर में रुकते थे सत्य साँईबाबा और मैंने ही दूसरे पारसिओं में उनका नाम प्रचारित किया। और जिनमें नाम प्रचारित किया, वे भी मेरी अब नहीं सुनते हैं।'

मैंने पूछा, 'हुआ क्या?' उसने कहा : बड़ी उलझन की बात हो गई है। पिछली बार जब वे जाने लगे तो एक बैग भूल से छूट गया; उसमें सात सौ घड़ियाँ थीं। तब मेरी आँख खुली कि घड़ियाँ कहाँ से निकलती हैं! अब मैं लोगों को समझाती हूँ, तो साँईबाबा ने उन लोगों को कह दिया है कि 'मेरे विपरीत अशुभ शक्तियाँ काम कर रही हैं। उन्होंने उसका मन भ्रष्ट कर दिया है। अशुभ शक्तियाँ—शैतान काम कर रहा है। और उसी शैतान ने वह बैग और घड़ियाँ घर में रख दीं, ताकि उस महिला की श्रद्धा उठ जाय।' और लोग मानते हैं कि साँईबाबा ठीक कह रहे हैं और यह बुढ़िया गलत कह रही है।

लोगों की श्रद्धा है; लोग मानना चाहते हैं, इसलिए मानते हैं। लोग चमत्कार चाहते हैं, क्योंकि उनकी वासना चमत्कार से ही तृप्त हो सकती है। आलसी हैं। घड़ी पानी हो सौ रुपये की तो कौन-सी मुश्किल है। थोड़ी-सी मेहनत करो और सौ रुपये की घड़ी मिल जाती है। उसके लिये सत्य साँई बाबा के होने की कोई आवश्यकता

ही नहीं है। लेकिन आलसी उतनी मेहनत भी नहीं करना चाहता। वह चाहता है, कोई पैदा कर दे घड़ी।

फिर भरोसा भी आता है कि जो घड़ी पैदा करता है, अगर चाहे तो घड़ियाल भी पैदा कर सकता है। जो छोटी चीज पैदा कर देता है, वह बड़ी भी चीज पैदा कर सकता है। है तो चमत्कार यह, अब कृपा की जरूरत है। तो आज घड़ी पैदा की, कल घड़ियाल पैदा करेगा; आज जरा-सी राख दी, कल देखना—अमृत दे देगा। आकांक्षा बढ़ती चली जाती है।

तुम जब तक माँगते हो, तब तक तुम संत के पास न आ सकोगे।

देवों की पूजा वे लोग करते हैं, जो धन्यवाद देने आते हैं; जो कहते हैं, 'इतना मिला है—वैसे ही, उसका धन्यवाद देने आए हैं।' संतों के निकट वे ही लोग पहुँच पाते हैं, जो सिर्फ अहोभाव प्रकट करने आते हैं। नहीं तो तुम राजसी पुरुषों के पास पहुँचोगे या तुम तामसी पुरुषों के पास पहुँचोगे।

कहाँ तुम जाते हो, ठीक से पहचानना। अगर तुम्हें हिन्दुस्तान भर के तामसी इकट्ठे देखने हों, तो सत्य साँईबाबा के पास मिल जाएँगे। अलग-अलग खोजने की जरूरत नहीं है। तुम अकारण कहीं नहीं जाते हो। तुम्हारी श्रद्धा ही तुम्हें कहीं ले जाती है।

आज इतना ही।

विरह का सौभाग्य • शरणागति की छलाँग • सुख नहीं, शांति खोजो तामसी का तप

तीसरा प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, प्रातः, दिनांक २३ मई, १९७५

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन, जो मनुष्य शास्त्रविधि से रहित केवल मनोकल्पित घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहंकार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं तथा जो शरीर रूप से स्थित भूतसमुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ अन्तर्यामी को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुरी स्वभाववाले जान।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : भक्त के सामने साक्षात् भगवान् हैं, फिर भी विरह कम क्यों नहीं हो रहा है ?

जैसे-जैसे भगवान् की प्रतीति होती है, विरह बढ़ता है। जैसे-जैसे निकट आते हैं, वैसे-वैसे दूरी खलती है। जितने पास आते हैं, उतनी ही पीड़ा होती है, क्योंकि पास आने पर ही पहली दफा पता चलता है कि अब तक सारा जीवन व्यर्थ ही गँवाया। और पास आने पर ही पता चलता है कि इतनी थोड़ी-सी दूरी भी अब बहुत दूरी है। जिसे स्वाद लग गया, उसे ही तो पीड़ा होती है। जिसे स्वाद ही न लगा, उसे पीड़ा भी कैसे होगी ? तुमने जिसे थोड़ा जान लिया, उसी को तो जानने की प्यास पैदा होती है। जिसे तुमने बिलकुल नहीं जाना, उसकी खोज भी कैसे पैदा होगी ?

जब तुम्हें परमात्मा बिलकुल सामने दिखाई पड़ने लगे, तभी तुम्हारी विरह की अग्नि अपनी प्रगाढता में जलेगी। इसलिए तो भक्त रोते हैं, अभक्त थोड़े ही रोते हैं; अभक्त तो प्रफुल्लित दिखाई पड़ते हैं। संसार में, बाजार में, दुकान पर—तुमने अभक्तों को रोते देखा है ? वे तो तुम्हें हँसते हुए, मुसकराते हुए मिल जाएँगे। उन्हें तो उस पीड़ा का कोई पता ही नहीं, जो परमात्मा के द्वार पर अनुभव होती है।

प्रेमियों को रोते देखा जाता है—अप्रेमियों को नहीं। प्रेम रुलाता है, क्योंकि प्रेम निखारता है। और आँसुओं को दुर्भाग्य मत समझना, वे सौभाग्य के लक्षण हैं।

और परमात्मा की पीड़ा जब तुम्हें जलाने लगे, मँथने लगे, मारने लगे, तब समझना कि सौभाग्य की आखिरी घड़ी करीब आ गई, क्योंकि परमात्मा जब तुम्हें मार ही डालेगा विरह में, तभी तुम्हारे भीतर उसका प्रवेश हो सकेगा। जब तुम अपनी ही विरह की अग्नि में पूरे जल कर भस्मीभूत हो जाओगे, तभी उस भस्म से नये का अविर्भाव होगा।

भक्त मिटता है, तो भगवान् पूरी तरह उपलब्ध होता है। तुम्हारे मिटने में ही सम्भावना है।

लेकिन स्वभावतः प्रश्न उठता है कि भगवान् सामने हो, तो विरह समाप्त हो जानी चाहिए। लेकिन विरह भगवान् के सामने होने से समाप्त नहीं होता। जब तुम भगवान् को पा ही जाओगे, जब वह सामने न होगा, बल्कि तुम्हारे भीतर हो जाएगा, जैसे कोई प्यासा नदी के किनारे आ गया, किनारे पर खड़े होने से थोड़ी ही प्यास बुझती है, नदी में उतारना पड़ेगा। नदी में उतरने से भी प्यास नहीं बुझती, नदी को अपने भीतर उतारना पड़ेगा। तो जैसे-जैसे नदी दिखाई पड़ने लगेगी, वैसे-वैसे प्यास प्रगाढ होने लगेगी। अब तक तो किसी तरह सम्हाला, अब सम्हाले भी न सम्हलेगी। जैसे-जैसे नदी पास आने लगेगी, वैसे-वैसे तुम्हारा कंठ और भी जोर से आकुल होने लगेगा। पानी को पास देखकर, दबी हुई प्यास उभर कर उठ आएगी। अब तक किसी तरह मन को समझाया था, पानी को पास देखकर अब मन को समझाया न जा सकेगा। अब तक किसी तरह बाँध-बूँध कर चल लिए थे; अब सब व्यवस्था टूट जाएगी। अब तो पागल की तरह दौड़ शुरू होगी। लेकिन ठीक किनारे पर भी आकर तो प्यास नहीं बुझती। नदी में खड़े होकर भी प्यास नहीं बुझती।

जब तक कि परमात्मा और तुम एक ही न हो जाओ—कि पानी तुम्हारे खून में न बहने लगे —कंठ में नहीं—तुम्हारे हृदय में न उतर जाय, तब तक प्यास नहीं बुझती।

परमात्मा और तुम्हारे बीच जब तक इंच भर का भी फासला है, तब तक तुम जलोगे। उतना फासला भी अनन्त फासला है। और पास आकर ही दूरी पता चलती है। तुम इसे विरोधाभास मत समझना। दूरी जब रहती है, तब तो पता ही नहीं चलती। क्योंकि तुम्हें यही पता नहीं कि कोई परमात्मा है, किसी कि खोज करनी है। रोओगे किसके लिए? रोने के पहले थोड़ा स्वाद लग जाना जरूरी ही है, थोड़ी भनक पड़ जानी जरूरी है। रोने के पहले उसकी याद आ जानी जरूरी है। लेकिन याद कैसे आयेगी, अगर उसे बिलकुल न जाना हो? दूर से ही देखी हो उसकी छवि, लेकिन तुम्हारे सपनों में समा जानी चाहिए। फिर तुम सो न सकोगे; फिर तुम जाग न सकोगे; फिर दिन और रात बेचैनी से भर जाएँगी।

कबीर ने कहा है, 'परमात्मा का प्यासा निशि-बासर जागे।' वह न सो सकता है, न जाग सकता है। उसकी बेचैनी का हिसाब नहीं है। विरह की अग्नि भयंकर हो जाती है। एक ही पुकार उठने लगती है, सारा प्राण एक ही पुकार से भर जाता है, प्यास कंठ में ही नहीं होती, रोएँ-रोएँ में समा गयी होती है।

इसलिए भक्तों को ही रोते देखा गया है, परम भक्तों को ही विरह से जार-जार

देखा गया है। लेकिन वह सौभाग्य का क्षण है। उन आँसुओं को तुम दुर्भाग्य समझ लोगे, तो भूल हो जाएगी। उन आँसुओं की गलत व्याख्या मत कर लेना, क्योंकि बहुत लोग गलत व्याख्या करके वापस भी लौट जाते हैं। क्योंकि ऐसी नदी से क्या लेना-देना, जिसके पास जाकर प्यास बढ़ती हो। हम तो इसी खयाल से नदी के पास जाते हैं कि प्यास बुझ जाएगी। ऐसे जल को क्या करना, जिसके पास आने से आग बढ़ती हो। भय पकड़ ले सकता है। और भय यह भी कह सकता है कि जिस जल के पास आने से प्यास बढ़ रही है, उसे भूल कर पी मत लेना। नहीं तो लपटें ही लपटें हो जाएँगी। भाग जाओ।

बहुत लोग परमात्मा के द्वार से लौट गए हैं। उन्होंने आँखें बंद कर लीं, उन्होंने अपने को किसी तरह सम्हाल लिया। गिरने को ही थे, मिलने को ही थे, जरा-सा ही फासला था, एक कदम काफी हुआ होता, लेकिन वे लौट गये। फिर जन्मों-जन्मों तक भटकते हैं। इसलिए ठीक़-ठीक व्याख्या बड़ी अर्थपूर्ण है, जब ऐसी घटना घटे।

गुरु का मूल्य इन्हीं सब आयामों में है कि वह तुम्हें ठीक व्याख्या दे सकेगा। जब तुम्हारे पैर उखड़ रहे होंगे, तब वह उन्हें जमा सकेगा। जब तुम भागने की तैयारी कर रहे होओगे, तब वह तुमसे कहेगा, 'जरा और, और सुबह होने के करीब है। मंजिल पास है और तू भागा जा रहा है!'

उस वक्त जरा-सा सहारा चाहिए—कि कोई तुम्हें पकड़ ले, कोई तुम्हारे पैरों को रोक दे। वापस लौट न पड़ो तुम कहीं। कहीं तुम गलत व्याख्या न कर लो।

और तुमसे गलत व्याख्या की ही सम्भावना है। सही व्याख्या तुम कर कैसे सकोगे? तुम्हारा तर्क तो यही कहेगा कि हट जाओ ऐसी जगह से। जहाँ पास जाने से आग बढ़ती हो, वहाँ से दूर ही हो जाओ।

मेरे पास बहुत लोग आते हैं, वे कहते हैं कि 'इतनी अशांति ध्यान के पहले न थी!' अशांति का भी पता तभी चलता है, जब तुम थोड़ा शांत होने लगते हो। अशांति को जानेगा कौन? सारी दीवाल काली हो, तो जरा-सी भी सफेद रेखा खींच दो, तो सफेद रेखा भी उभर कर दिखाई पड़ती है, और दीवाल भी उभर कर दिखाई पड़ती है, क्योंकि विपरीत में प्रतीति होती है। तुम अशांत ही रहे हो, अशांति तुम्हारा स्वभाव हो गई है, अशांति के अतिरिक्त तुमने कभी कुछ जाना नहीं, इसलिए अशांति को भी कैसे जानोगे? विपरीत चाहिए। कन्ट्रास्ट चाहिए। कुछ और तुम जानो तो तुलना हो सके। इसलिए ध्यान करते ही अशांति बढ़ती है।

लोग चकित होते हैं, क्योंकि कि वे ध्यान की खोज में आये थे, सोच कर कि शांति बढ़ेगी; शांति नहीं बढ़ती—शुरू में तो अशांति बढ़ती है। कहना ठीक नहीं है कि अशांति बढ़ती है। अशांति तो थी ही पहले, उसका पता न चलता था, अब पता

चलता है। और जैसे-जैसे शांति बढ़ेगी, वैसे-वैसे अशांति का पता चलेगा। जैसे-जैसे तुम जागोगे, वैसे-वैसे पता चलेगा कि कितने सोये रहे।

सोये आदमी को पता ही नहीं चलता कि वह सो रहा है, जागे को पता चलता है। सुबह जिसकी नींद टूटने लगी है, जो करवट बदलने लगा, और जिसे भनक पड़ने लगी—आसपास के जागती दुनिया की, बरतन बजने लगे, दूधवाले दूध बेचने लगे, सड़क पर लोग चलने लगे, जिसे थोड़ी भनक भी पड़ने लगी, अब जो सोया भी नहीं है, जागा भी नहीं है, जो बीच में खड़ा है—संध्याकाल आ गया—उसे पता चलता है कि रात भर सोये रहे।

जागते क्षण में पता चलता है नींद का; शांत होने पर पता चलता है, अशांति का। आनन्द जब उतरने के करीब होगा, तब तुम जानोगे कि कैसे महा दुःख से तुम आये हो। स्वर्ग के द्वार पर तुम्हें पता चलेगा कि अब तक की यात्रा नरक में हुई। स्वर्ग के द्वार पर ही पता चलेगा; उसके पहले पता न चलेगा; क्योंकि पता चलने के लिये विपरीत जरूरी है।

परमात्मा के करीब पहुँच कर तुम्हें अपने सारे अस्तित्व का सारा संताप सघनीभूत होकर पता चलता है; इसलिए विरह बढ़ता है। उस विरह में गलत व्याख्या मत करना। उस सौभाग्य के क्षण को, उन आँसुओं को, विरह को आनन्दभाव से, अहोभाव से स्वीकार करना। रोना—लेकिन नाचना बंद मत करना। आँसू टपकें, लेकिन पैर नाचें। आँखें विरह से भरी हों, लेकिन हृदय मिलन की आकांक्षा से, मिलन की आशा से भरा रहे। कंठ में प्यास हो, लेकिन हृदय में भरोसा हो कि नदी करीब आ गई। क्षण भर की देर और है। और जब इतनी प्रतीक्षा कर ली, तो यह क्षण भी बीत जाएगा।

अनन्त कल्प बीत गए, सृष्टियाँ बनीं और उजड़ीं और तुम प्यासे बने रहे; उतना सह लिया; जन्मों-जन्मों इतनी यात्रा की, मंजिल कभी करीब न आई; भटकते ही रहे; वह सब हो गया, अब क्षण भर के लिए क्या घबड़ाहट है। हृदय आश्वासन से भरा रहे। वहीं तुम्हारी आस्था काम आयेगी; वहीं तुम्हारी श्रद्धा का पता चलेगा। क्योंकि उस क्षण में बहुत लोग भाग गये हैं।

गुरु के बिना इसलिए कठिनाई है। गुरु के बिना भी कभी-कभी कोई उपलब्ध हो जाता है; पर कभी-कभी। उसको हम अपवाद मान ले सकते हैं। अन्यथा गुरु के बिना कोई उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि ऐसे पड़ाव आते हैं, जहाँ कौन तुम्हें भरोसा दे? ऐसे पड़ाव आते हैं, जहाँ कौन तुम्हारा हाथ पकड़कर तुम्हें रोक ले? ऐसे पड़ाव आते हैं, जहाँ कि क्षण भर भी अगर ठीक व्याख्या न मिले, तो अनन्त काल के लिए भटकाव पुनः शुरू हो जाएगा। और जो व्यक्ति एक बार परमात्मा के मंदिर से वापस

लौट आता है, वह सदा-सदा के लिए उस मंदिर की यात्रा को बंद कर देता है। उस तरफ जाने से भय लगता है।

मेरी अपनी प्रतीति यही है कि इस संसार में जिनको तुम नास्तिक मानते हो, वे वे ही लोग हैं, जो कभी परमात्मा के मंदिर के पास से वापस लौट गए। अब वे नास्तिक हो गए हैं। अब वे कहते हैं, 'परमात्मा है ही नहीं।' वे किसी और को नहीं समझा रहे हैं; वे अपने को ही समझा रहे हैं। जो उपद्रव उन्होंने परमात्मा के पास अनन्त काल की यात्रा में कभी जाना होगा, वह जो उस विरह की अग्नि ने उन्हें इतना घबड़ा दिया है कि उस घबड़ाहट में सिर्फ एक ही बचाव है कि वे अपने को समझा लें कि परमात्मा है ही नहीं, इसलिए खोज किसकी करनी है? उसका मंदिर है कहाँ? यही संसार सब कुछ है। कहीं जाना नहीं है। वे दूसरों को नहीं समझा रहे हैं।

जब नास्तिक तर्क देता है और कहता है कि ईश्वर नहीं है, तो वह तुम्हें नहीं समझा रहा है, वह अपने को समझा रहा है कि कहीं पैर फिर से उस रास्ते पर न मुड़ जायँ। वह डरा हुआ है—अपने से ही—कि कहीं फिर कोई वह आग न जला दे; कहीं फिर कोई छू न दे—उस घाव को; फिर कहीं वह विरह न पैदा हो जाय और फिर कहीं मैं उस तरफ न चल पड़ूँ, जहाँ से भाग आया हूँ।

रवीन्द्रनाथ की एक छोटी-सी कविता है, कि मैं खोजते-खोजते एक दिन परमात्मा के द्वार पर पहुँच गया। अनन्त काल तक खोजा; जब तक नहीं पाया था, तब तक बड़ी खोज थी। कितना भटका, कितने श्रम किये, कितने साधन किये और फिर आज जब द्वार पर खड़ा हो गया, तो मन एकदम उदास हो गया। हाथ में साँकल उठा ली थी—बजाने को था, दस्तक देने को ही था कि तत्क्षण खयाल आया, फिर क्या करोगे? जब परमात्मा मिल जाएगा, फिर क्या करोगे?

भय पकड़ गया, रोआँ-रोआँ कंप गया कि फिर क्या करेंगे? अब तक जो भी करने का जाल था, वह सब व्यर्थ हो जाएगा। अपनी यात्रा समाप्त हो गई। फिर करोगे क्या? फिर कुछ करने को बचता नहीं। परमात्मा का अर्थ है: वैसी दशा, जिसके पार पाने को कुछ नहीं, करने को कुछ नहीं, होने को कुछ नहीं। परमात्मा का अर्थ है: पूर्ण विराम।

मन घबड़ा गया—वही मन जो खोजता था, खोजने के लिए राज़ी था, क्योंकि कामधंधा था, व्यस्तता थी और अहंकार को एक तृप्ति भी थी कि खोज रहा हूँ परमात्मा को। और दूसरे तो मूढ़ हैं—धन को खोज रहे हैं। दूसरे ना-समझ हैं—पद को खोज रहे हैं। दूसरे अज्ञानी हैं—व्यर्थ को खोज रहे हैं, असार को खोज रहे हैं। मैं सार की खोज पर निकला हूँ; मैं परम गुह्य की खोज पर निकला हूँ। मैं रहस्यों के लोक में जा रहा हूँ। अहंकार बड़ा तृप्त था, संतुष्ट था।

द्वार पर खड़े होकर परमात्मा के—घबड़ाहट आ गई, पैर कंप गए कि यह तो

खतरा है, खोज समाप्त हो जाएगी। करने को कुछ बचेगा नहीं! अहंकार के लिए कोई जमीन न रह जाएगी—खड़े होने को।

रवीन्द्रनाथ ने बड़ा अद्भुत गीत लिखा है, किसी ने कभी नहीं लिखा। इसलिए रवीन्द्रनाथ में बड़ी अनुभूतियाँ थीं, बड़ी सूझें थीं। यह आदमी असाधारण था। यह आदमी सिर्फ कवि नहीं था; यह आदमी ऋषि था। जैसे उपनिषद् के ऋषि हैं। रवीन्द्रनाथ के वचन वैसे ही समझे जाने चाहिए, जैसे उपनिषद् हैं। रवीन्द्रनाथ नया उपनिषद् हैं। उनको साधारण कवि मत समझ लेना, जो कवि सम्मेलनों में कविता कर रहा है और तालियाँ सुन रहा है। उनको तुम कोई काका हाथरसी मत समझ लेना। वे ऋषि हैं। बड़े गहरे प्रगाढ अनुभव से उनकी प्रतीति निकली है।

रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि यह देखकर मैं भाग खड़ा हुआ। मैं इतना डर गया कि मैंने साँकल भी धीरे से छोड़ी कि कहीं अनजान में बज न जाय। और मैं इतना डर गया कि मैंने जूते—जिनको पहने हुए मैं मंदिर की सीढियाँ चढ़ गया था—हाथ में ले लिए कि कहीं पदचाप भीतर सुनाई न पड़ जायँ; कहीं वह द्वार खोल ही न दे और कहे, 'आओ।' कहीं वह आलिंगन कर ही ले—तो मिटे। फिर कोई बचाव न रहेगा। और फिर उसको सामने खड़ा देखकर भागना भी अशोभन मालूम होगा।

गीत का आखिरी पद कहता है कि उस दिन से जो भागा हूँ, तो बस, उस मंदिर की राह को छोड़कर सब राहों पर घूमता हूँ। फिर मेरी खोज जारी है। लोगों को कहता हूँ: परमात्मा खोज रहा हूँ, योग कर रहा हूँ, ध्यान कर रहा हूँ और मुझे पक्का पता है कि वह कहाँ है। उस जगह को भर छोड़ कर सब जगह खोजता हूँ।

नास्तिक मेरे लिए वही आदमी है, जिसको कोई बहुत गहन पीड़ा का अनुभव किसी जन्म में हो गया। वह पीड़ा इतनी भयंकर थी कि वह दोबारा उसको पुनरुक्त नहीं करना चाहता। वह अपने को समझाता है: परमात्मा है ही नहीं। वह अपने को तर्क देता है। वह अपने चारों तरफ तर्क का एक जाल निर्मित करता है। वह अपने ही खिलाफ षड्यंत्र रचता है। वह किसी दूसरे का धर्म बिगाड़ने को नहीं है, न तुमसे उसे कुछ मतलब है। अन्यथा तुम सोचो, ऐसे नास्तिक हैं, जो जीवन भर 'ईश्वर नहीं है'—यह सिद्ध करने में समय व्यतीत करते हैं। है ही नहीं जो, उसके लिए तुम अपना जीवन क्यों खराब कर रहे हो? तुम कुछ और कर लो। ईश्वर तो है नहीं, बात खतम हो गई। लेकिन जीवन भर व्यतीत करते हैं!

मेरी अपनी प्रतीति यह है कि कभी-कभी भक्तों को भी वे मात कर देते हैं। भक्त भी इतनी संलग्नता से जीवन व्यतीत नहीं करता—परमात्मा के लिए, जितना नास्तिक करते हैं। लिखते हैं, सोचते हैं, तर्क जुटाते हैं, समझाते हैं, शास्त्र लिखते हैं—बड़े-बड़े—कि ईश्वर नहीं है।

इस सब के पीछे कुछ मनोविज्ञान होना चाहिए। जो है ही नहीं, उसकी कौन फिक्र करता है? कोई तो सिद्ध नहीं करता कि 'आकाश-कुसुम' नहीं होते। कोई तो सिद्ध नहीं करता कि गधे को सींग नहीं होते। इसको क्या सिद्ध करना है? और जो सिद्ध करे, वह गधा। क्योंकि इसको क्या प्रयोजन है? गधे को सींग नहीं होते, यह जाहिर बात है। खतम हो गई बात। इसको सिद्ध करने की कोई भी जरूरत नहीं है।

लेकिन ईश्वर नहीं है—अगर ईश्वर भी ऐसा है, जैसे कि गधे के सींग नहीं हैं—तो क्या पागलपन कर रहे हो! किसको सिद्ध कर रहे हो? किसके लिए लड़ रहे हो? क्या प्रयोजन है? सिद्ध भी कर लोगे तो क्या सार है? जो था ही नहीं, उसको तुमने सिद्ध कर लिया कि वह नहीं है—क्या पाया? कहीं और जीवन ऊर्जा को लगाते, कहीं और खोजते। लेकिन नास्तिक के पीछे एक ग्रंथि है। वह ग्रंथि यह है कि अगर वह सिद्ध न करे कि ईश्वर नहीं है, तो डर है कि कहीं फिर कदम उसी तरफ न उठने लगें। यह बड़ी अचेतन प्रक्रिया है। यह उसके अनकॉन्शस में है। उसे भी पता नहीं है।

इसलिए जब भी कोई नास्तिक मेरे पास आ जाता है, तो मैं उसमें रस लेता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ, यह कभी करीब तक पहुँचा हुआ आदमी है। इसकी यात्रा बस पूरे होने के करीब थी। यह दया के योग्य है। इस पर नाराज मत होना। यह करुणा के योग्य है। और यह वहाँ पहुँचा है, जहाँ बहुत से आस्तिक कभी नहीं पहुँचे हैं। एक छलाँग—एक क्षण और—और सुबह हो गई होती। इस पर श्रम करने जैसा है। यह लड़ने जैसा नहीं है। इसका विरोध करने जैसा नहीं है। इसकी आलोचना करने जैसी नहीं है। इसे तो पूरे प्रेम में ले लेने जैसा है। किसी भाँति इसे फिर से याद आ जाय, तो एक क्षण में यह फिर वहीं खड़ा हो सकता है, जहाँ से भागा था।

जो भी हमने अनन्त जन्मों में पाया है, उसे हम भूल जायँ, खो नहीं सकते। वह जीवन का नियम ही नहीं है। जो तुमने जान लिया है, उसे तुम भूल सकते हो—खो नहीं सकते। उसकी विस्मृति कर सकते हो, उसे छिपा सकते हो भीतर गहन में, गहन अचेतन में उसे दबा सकते हो कि तुम्हें भी दिखाई न पड़े, तुम ऐसा छिपा सकते हो कि भीतर रोशनी भी लेकर जाओ तो उसका पता न चले। लेकिन तुम उसे मिटा नहीं सकते।

जो जान लिया गया, वह जान लिया गया, वह चेतना का अमिट अंग हो जाता है। इसलिए नास्तिक क्षणभर में आस्तिक हो सकता है। आस्तिक को आस्तिक होने में बहुत समय लगता है। अभी इसे ईश्वर का भय तो समाया ही नहीं। अभी यह कुतूहल में ही है; एक जिज्ञासा उठी है कि ईश्वर हो शायद। शायद ईश्वर से आनन्द मिलता हो।

नास्तिक ऐसा आदमी है, जिसके बाबत गाँव में प्रचलित कहावत सही है कि दूध का जला छाँछ भी फूँक-फूँक कर पीता है। वह दूध का जला है, अब वह छाँछ भी फूँक-फूँक कर पी रहा है। आस्तिक ऐसा आदमी है, जो छाँछ ही पीता रहा है। वह दूध को भी—जलते—उबलते दूध को भी छाँछ की तरह पी जाएगा। जलेगा, तभी उसे पता चलेगा। फिर शायद वह भी छाँछ को भी फूँक फूँक कर पीने लगे। इसलिए भगवान् के जैसे-जैसे तुम करीब आओगे, जैसे-जैसे तुम भक्त बनोगे...।

भक्त का अर्थ मेरे लिए यही है—जो भगवान् के करीब आने लगा, जिसे विरह की पीड़ा सताने लगी, जिसका रोआँ-रोआँ जलने लगा, जो अभी ज्वरग्रस्त है, जिसे प्रेम का बुखार है, जो अब विक्षिप्त है, जिसे प्रेम की विक्षिप्ता ने पकड़ लिया। इसलिए तो कबीर अपने को कहते हैं, 'कहे कबीर दीवाना।' वह पागल है—सारी दुनिया के लिए पागल। कोई उसकी बात सुनने को राज़ी नहीं। लोग समझते हैं—मतवाला। और लोग उसकी पीड़ा भी नहीं समझ सकते। लोग उसके आँसू भी नहीं समझ सकते। लोग तो दूर, वह खुद ही नहीं समझ पाता कि क्या हो रहा है; अघट घटता है, अनहोना होता है, अनजान से सम्बन्ध बनते हैं। सारा जाना-माना जाल टूट जाता है।

नहीं, इसमें कुछ विरोध नहीं है। भक्त के सामने जब साक्षात् भगवान् होते हैं, तभी विरह पहली दफा जगता है। उस समय चाहिए गुरु—कि रोक ले, हाथ पकड़ ले, सहारा दे, भरोसा दे; कहीं तुम भाग न जाओ मंदिर से। थोड़ी ही देर की बात है और एक बार तुम कूद गए नदी में और नदी को ले लिया तुमने अपने में—यात्रा पूरी हो गई। और तभी मिलन के आनन्द की वर्षा होती है। पहले तो विरह की पीड़ा है। विरह का रेगिस्तान है, फिर मिलन की वर्षा है।

और यह भी तुमसे मैं कह दूँ, जितनी बड़ी होगी तुम्हारी विरह की जलन, उतनी ही गहन होगी तुम्हारी मिलन की शांति और मिलन का आनन्द। इसलिए अगर तुम्हें कोई शॉर्टकट बताता हो—कि कहता हो कि हम ऐसा रास्ता बताते हैं कि बिना विरह के तुम पहुँच जाओगे, कोई तुम्हें कहता हो कि नदी जाने की क्या जरूरत, हम पाइप लाइन बिछाए देते हैं; तुम्हारे घर में ही टोंटी से पानी टपकने लगेगा—परमात्मा का। तुम उसकी मत सुनना, क्योंकि बिना विरह के अगर परमात्मा मिल जाय—मिल नहीं सकता—यह आदमी धोखा दे रहा है। लेकिन इसका धोखा धंधा बन सकता है। पण्डित, पुरोहित, पुजारी—वही कर रहे हैं। वे कहते हैं : हम सस्ता रास्ता बताये देते हैं। तुम क्यों विरह में मरते हो? तुम घर बैठो। हम तुम्हारे लिए पूजा करते हैं। वे कहते हैं, 'तुम्हें' कोई यज्ञ करने की जरूरत नहीं है। हम कर लेंगे; तुम सिर्फ पैसा चुका दो। तुम चिंता मत करो; हम जो कहते हैं, वैसा करो। बाकी सब फिक्र हम कर लेंगे। ये मध्यस्थ जो हैं, वे यह कह रहे हैं कि हम तुम्हें पीड़ा से बचा देंगे—विरह की। हम तुम्हारे लिए रो लेंगे, हम तुम्हारे लिए हँस लेंगे; तुम घर बैठे रहो; तुम अपना धंधा करते रहो।

भूल कर भी इस भ्रांति में मत पड़ना, क्योंकि अगर ऐसा हो भी जाय—वह हो नहीं सकता—मान लें ऐसा हो जाय, तो वह ऐसा ही होगा, जैसे बिना भूख लगे किसी आदमी के पेट में हम भोजन डाल दें। कोई तृप्ति न होगी। तृप्ति तो नहीं—उलटे वमन हो जाएगा, उलटी हो जाएगी। जिसे प्यास न लगी हो, उसके कंठ में हम पानी उंडेल दें, उससे पेट की भले सफाई हो जाय, लेकिन तृप्ति न होगी।

यह तो ऐसे ही है कि जिसने कभी विरह नहीं जाना, उसके द्वार पर अगर प्रेम भी आकर खड़ा हो जाय, तो वह कैसे पहचानेगा? विरह की आँखें चाहिए। जितनी पीड़ा भूख की, उतनी ही तृप्ति, उतना ही स्वाद का रस। अगर तुम्हारी भूख की पीड़ा इतनी गहन हो, कि उससे आगे पीड़ा में जाना सम्भव न हो, तो रूखी रोटी तुम खाओगे, उपनिषद् के वचन तुम्हारे हृदय में गूँज जाएँगे : 'अन्नम् ब्रह्म—अन्न ब्रह्म है।' अगर भूख इतनी गहरी हो, तो भोजन परमात्मा हो जाएगा। प्यास गहरी हो तो जल के कणों में—साधारण से जल में, अमृत की छाया पड़ने लगेगी।

जो साधारण जीवन में घटता है, वही उस असाधारण जीवन में भी घटता है। नियम तो वही है।

परमात्मा के लिए रोओ, ताकि कभी तुम उसके आनन्द से हँस भी सको। उसके लिए आँसुओं को गिरने दो, तभी तुम्हारे पैर घूँघर बाँध कर किसी दिन नाच भी सकेंगे।

विरह का जितना गहन तीर तुम्हारे हृदय में छिदेगा, उतना ही अमृत का झरना फूटेगा। विरह का अनुपात ही मिलन के आनन्द का अनुपात है। इसलिए तुम घाटे में न रहोगे। रोने से डरना मत। आँसुओं को रोकना मत। पीड़ा को झेलना, पीड़ा से बचने के उपाय मत करना। पीड़ा से बचने के बहुत उपाय हैं। लेकिन जो पीड़ा से बच गया, वह फिर परमात्मा से भी बच जाएगा।

अगर तुम इस सूत्र को ठीक से खयाल में रख सकोगे, तो जब विरह आयेगा, तब तुम सौभाग्य समझोगे; तुम समझोगे कि परमात्मा निकट है, इसलिए विरह आया। उसकी छाया कहीं मेरे ऊपर पड़ने लगी। वह कहीं आसपास है अन्यथा यह आँसू कैसे बहते? यह हृदय कैसे रोता? यह मेरा रोआँ-रोआँ कैसे तड़फता? यह आग कैसे जलती?

● दूसरा प्रश्न : अहंकार के पूर्ण विसर्जन के लिए आपने शरणागति को अत्यंत आवश्यक बताया और स्वयं अहंकार इस यात्रा के लिए राजी नहीं हो सकता,

क्योंकि इसमें उसकी मृत्यु निहित है। फिर बताएँ कि शरणागति की यात्रा किसके द्वारा होती है?

शरणागति कोई यात्रा नहीं है। अहंकार नहीं रह जाता—शरणागति फलित होती है। दीया जलाते हो तुम घर में, घर में जो घिरा हुआ अंधकार था, क्या वह द्वार-दरवाजों से बाहर जाता है? उसकी कोई यात्रा होती है! तुमने कभी अँधेरे को बाहर निकलते देखा?—कि घर में दीया जल गया, अँधेरा बाहर जा रहा है! खड़े रहो द्वार पर, अँधेरा बाहर जाता न दिखाई पड़ेगा।

अँधेरा कुछ है थोड़े ही, जो बाहर जाता है। अँधेरा तो अभाव है, दीये के न होने की अवस्था है, अनुपस्थिति है। अँधेरा कुछ है थोड़े ही। अँधेरा है ही नहीं; उसका कोई अस्तित्व नहीं है। अहंकार अँधेरा है। उसे कहीं जाना थोड़े ही है। वह जा नहीं सकता। उसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह कोई तत्त्व थोड़े ही है! इसलिए तो हम उसे झूठ कहते हैं, सपना कहते हैं।

असली सवाल है—दीये का जल जाना।

शरणागति कोई यात्रा नहीं है; क्योंकि यात्रा अगर होगी, तो अहंकार मौजूद रहेगा। शरणागति छलाँग है—यात्रा नहीं; एक क्षण में घटी घटना है। शरणागति—सडन—तत्क्षण घटी घटना है! जैसे दीया जला—प्रकाश हुआ—अँधेरा मिटा। एक क्षण की देरी नहीं होती।

शरणागति की यात्रा कौन करता है? यात्रा तो है नहीं—पहली बात। जैसे ही अहंकार गिरता है, वैसे ही शरणागति हो जाती है—उसी क्षण।

अहंकार के भीतर छिपे तुम जो हो, तुम अहंकार ही अगर होते, तो परमात्मा से मिलने का कोई उपाय न था। परमात्मा से तुम मिल सकते हो, क्योंकि तुम परमात्मा ही हो। समान ही समान से मिल सकता है। तुम परमात्मा से मिल सकते हो, क्योंकि किसी अर्थ में तुम अभी भी परमात्मा हो। पता न हो विपरीत का, तो मिलन कैसे होगा?

अहंकार के गिरते ही तत्क्षण तुम पाते हो : मिल गये। यात्रा नहीं होती, मंजिल आ जाती है।

तो असली सवाल है—अहंकार कैसे गिरे?

तुम्हारी चेष्टा से न गिरेगा, क्योंकि सभी चेष्टाएँ अहंकार की हैं। यही जटिल जाल है। तुम अगर कोशिश करोगे, तो अहंकार ही कोशिश करेगा, गिरेगा नहीं। यह भी हो सकता है कि तुम ठोक-ठाँक कर अपने को विनम्र बना लो, तो भीतर से अहंकार नयी घोषणा करेगा कि मुझसे ज्यादा विनम्र कोई भी नहीं। देखो, मेरी विनम्रता। कैसे फूल लगे हैं— विनम्रता के! दुनिया में हैं और लोग, लेकिन मुझसे ज्यादा विनम्र कोई भी नहीं। बस, मैं आखिरी हूँ—विनम्रता में, चोटी पर हूँ।

यही तो अहंकार है, जो चोटी पर होने की घोषणा करता है। पहले धन के आधार पर करता था, पद के आधार पर करता था, बल के आधार पर करता था, अब त्याग के आधार पर करता है, विनम्रता के आधार पर करता है, साधुता के आधार पर करता है, संतत्व के आधार पर करता है। घोषणा वही है।

चेष्टा से अहंकार न जाएगा। अहंकार जाता है—अहंकार को देखने से; चेष्टा नहीं—सिर्फ जाँचने से, परखने से पहचानने से, साक्षी भाव से।

साक्षी भाव का परिणाम है—शरणागति। तुम सिर्फ देखते रहो अहंकार का खेल, कुछ करो मत। करने की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि भीतर जो तुम्हारे छिपा है, वह कर्ता है ही नहीं, वह साक्षी है। तुम सिर्फ देखो। तुम जरा अहंकार के खेल देखो; लीला देखो। कैसी लीला रचता है! और कैसी सूक्ष्म लीला रचता है!

रास्ते पर तुम जा रहे हो—अकेले—और देखा कि पास के मकान से दो आदमी निकल आये। भीतर कुछ बदल गया। परखो इसे, जाँचो—दूर खड़े—क्या हुआ। जब ये दो आदमी रास्ते पर नहीं थे, तो तुम और ढंग से चल रहे थे। कोई देखने वाला न था, तो तुम्हारा चेहरा और था; तुम एक गीत गुनगुना रहे थे; एक मस्ती थी; सरल थे, छोटे बच्चे की तरह थे। अचानक दो आदमी पास के मकान से निकल आये, कोई चीज भीतर बदल गई। अकड़ गये, बचपना चला गया, सरलता खो गई, चाल बदल गई, अहंकार आ गया।

तुम घर में अकेले बैठे हो, कोई नहीं है, तब तुम और हो। नौकर कमरे से गुजर गया। पता भी नहीं चलता, शरीर हिलता भी नहीं और भीतर सब हिल जाता है। इसे जाँचो, परखो।

कोई आदमी आया, कहने लगा : आप जैसा बुद्धिमान आदमी कभी नहीं देखा। भीतर एक छलाँग लग गई। तुम एक पहाड़ की चोटी पर चढ़ गये। जरा भीतर देखते रहो : क्या हो रहा है! इस आदमी ने चार शब्द कहे। शब्दों में क्या है? हवा में उठे बबूले हैं। इसने कहा कि तुम बड़े सुन्दर, कि तुम बड़े बुद्धिमान, कि आप जैसा त्यागी नहीं देखा, भीतर एक छलाँग लग गई। अभी खड़े थे जमीन पर, अचानक एवेरेस्ट पर पहुँच गए। गौरीशंकर विजय कर लिया!

एक आदमी आया, आलोचना करने लगा, निन्दा करने लगा, कहने लगा, 'तुमसे ज्यादा निम्न और बेईमान कोई भी नहीं है।' भयंकर चोट लग गई, घाव हो गया। अहंकार तड़फने लगा—बदला लेने को। क्रोध में आ गए। इस आदमी को अब तक मित्र समझा था, यह दुश्मन हो गया। कहा कि 'बाहर निकल जाओ अन्यथा उठवा के फिंकवा दूँगा।' धक्का देकर इस आदमी को बाहर कर दिया।

जाँचते रहो : अनेक-अनेक रूपों में, अनेक-अनेक परिस्थितियों में, अनेक-अनेक

घटनाओं में—सिर्फ देखते रहो : क्या हो रहा है खेल? कब अहंकार बनता, कब चोट खाता, कब गिर पड़ता, कब उठकर खड़ा हो जाता; किस-किस ढंग से यह खेल चलता है। तुम सिर्फ देखो। बस, द्रष्टा होना काफी है।

तुम्हारी दृष्टि किसी दिन सध जाएगी और सधते सधते ही सधेगी। कोई अचानक तुम न देख पाओगे। क्योंकि देखना बड़ी से बड़ी कला है। इसलिए तो जिन्होंने जान लिया, उनको हमने द्रष्टा कहा है—देखने वाले कहा है। जिन्होंने जान लिया, उनके वचनों को हमने दर्शन कहा है कि उन्होंने देख लिया, जान लिया। क्या देख लिया? देख लिया—अहंकार का खेल।

जिस दिन देखना पूरा हो जाता है, अहंकार तत्क्षण गिर जाता है। उसी क्षण शरणागति हो जाती है। उसी क्षण तुम बचे ही नहीं। समर्पण करना नहीं होता, होता है। समर्पण करोगे तो झूठा रहेगा। वह करने वाला हमेशा अहंकार रहेगा।

जो समर्पण 'किया' गया, उसे तुम वापस भी ले सकते हो। उसका मूल्य ही क्या है? लेकिन जो समर्पण होता है, उसे तुम वापस न ले सकोगे। लेने वाला नहीं बचा, करनेवाला नहीं बचा, सिर्फ देखने वाला बचा है। तुम सिर्फ देखोगे कि ऐसा हो रहा है। शरणागति देखी जाती है कि हो गई।

अहंकार को देखते—देखते—देखते अचानक एक दिन तुम पाते हो कि उस दर्शन के प्रवाह में उस दर्शन की ज्योति में अहंकार का अंधकार खो गया। तुम अपने को पाते हो : मिट गये, शून्य हो गये; समर्पण हो गया, शरणागति हो गई; उतर गए तुम नदी की धार में, उतर गई नदी की धार तुममें; अब तुममें और परमात्मा में कोई फासला न रहा। उतने ही अहंकार का फासला था। कर्ता है परमात्मा और जान लिया था तुमने अपने को कर्ता, वही दूरी थी। एक मात्र कर्ता है परमात्मा, वही कर रहा है, सब करना उसका है। तुमने अपने को कर्ता मान लिया था—यही भ्रांति थी। वह भ्रांति छूट गई।

जैसे-जैसे तुम जाँचोगे भीतर भ्रांति छूटती जाएगी। तुम पाओगे : तुम कुछ भी तो नहीं कर रहे हो; सब हो रहा है। प्यास लगती है, तो पानी की खोज शुरू हो जाती है। नींद आती है, तो बिस्तर तैयार होने लगता है। जवानी आती है, तो काम-वासना घेर लेती है। बुढ़ापा आता है, काम-वासना धुएँ की तरह दूर निकल जाती है।

छोटे बच्चे थे, तो पता न था काम का। तितलियों के पीछे दौड़ते थे, फूलों को पकड़ते थे; कंकड़-पत्थर बीन लाते थे घर में। घर के लोग कहते थे, 'फेंको।' तुम बड़ा मूल्यवान समझते थे। वह भी हो रहा था। फिर जवानी आयी, नया पागलपन आया। अब तुम साधारण तितलियों के पीछे नहीं भागते; अब भी तितलियों के पीछे भागते हो, लेकिन अब उन तितलियों का नाम स्त्री है—धन है, पद है। अभी भी

कंकड़-पत्थर इकट्ठा करते हो, पुराने नहीं। अब उनका नाम कोहिनूर है, हीरे-जवाहरात हैं, उनको ही इकट्ठे करते हो। खेल जारी है। कोई करवा रहा है। और तुम पूरे वक्त सोच रहे हो कि मैं कर रहा हूँ।

क्रोध होता है। तुमने कभी किया? प्रेम होता है। तुमने कभी किया? तुम पैदा हुए हो या कि तुमने अपने को पैदा कर लिया है? तुम मरोगे या कि तुम अपने को मारोगे? जो आत्म-हत्या करते हैं, वे भी अपने को नहीं मारते; वह भी घटती है। वे भी बच नहीं सकते। वह भी होता है। क्या करोगे? आत्म-हत्या का विचार पकड़ लेता है। वह तुमने थोड़े ही पैदा किया है।

अगर तुम ठीक से विश्लेषण करोगे तो तुम पाओगे कि सब हो रहा है। और अकारण ही तुमने कर्ता को बना लिया—कि मैं कर्ता हूँ। बस, देखने की क्षमता आ जाय, कर्ता भाव खो जाता है। करने वाला एक है।

साक्षी शरणागति है। साक्षी समर्पण है। साक्षी तुम्हारा विसर्जन है। और जहाँ तुम नहीं हो, वहाँ परमात्मा है।

● आखिरी प्रश्न : आपको देखकर बहुत खुशी होती है—आपकी आलोचना सुनकर बहुत दुःख। फिर महीने में चार-पाँच बार आपकी तस्वीर के सामने कहता हूँ : मुझे आनन्द नहीं दे सकता, तो मुझे मार ही डाल। इतना दुःख क्यों देता है? थोड़ी देर में मैं पछताता हूँ! झुसिया भगवान् से लड़ता था। पर उसकी भाव-दशा पवित्र रही होगी। मुझमें तमस् बहुत है। ध्यान कुछ समय चलता है, फिर रुक जाता है, फिर चलता है। मेरी तमस्, मेरी विक्षिप्तता कैसे दूर हो?

अगर मुझे देखकर खुशी होगी, तो मुझे न देख पाओगे, तो दुःख होगा। अगर मेरी कोई स्तुति करेगा और तुम्हें प्रसन्नता होगी, तो फिर जब कोई मेरी निन्दा करेगा, आलोचना करेगा तो दुःख होगा। सुख और दुःख साथ-साथ हैं। अगर एक को चुना, तो दूसरे से बच न सकोगे। अगर दूसरे से बचना हो, तो दोनों को छोड़ देना पड़ेगा।

तो मुझे देखकर खुश मत होओ, शांत होओ। मुझे देखकर खुश होओगे, तो जब मुझे न देख पाओगे, तो दुःख होगा। सुख अपने साथ दुःख ले आता है। इसलिए मुझे देखकर शांत बनो। क्योंकि सुख एक उत्तेजना है। सुख कोई बहुत अच्छी अवस्था नहीं है। एक तनाव है। इसलिए सुख से भी आदमी ऊब जाता है।

तुमने कभी खयाल किया कि ज्यादा देर तुम सुखी नहीं रह सकते। क्योंकि थक जाता है आदमी। ज्यादा देर सुखी रहना मुश्किल है। दुःख विश्राम है। अगर सुखी होओगे—थक जाओगे, तब दुःख में विश्राम लेना पड़ेगा। सुख दिन जैसा है, दुःख रात जैसा है।

अगर दुःख से बचना हो, तो ध्यान रखना, सुख से बचना होगा। सुख की उत्तेजना तुमने पाल ली, तो फिर दुःख की उत्तेजना कौन सहेगा? वह भी तुम्हीं को सहना पड़ेगा। दुःख सुख के विपरीत है। पर उसी का दूसरा अति छोर है।

दुःख से तो हम बचना चाहते हैं; बच कहाँ पाते हैं? सुख हम पाना चाहते हैं, मिल कहाँ पाता है? इस बोध को जो उपलब्ध हो जाता है कि सुख के साथ दुःख जुड़ा है—वे एक ही सिक्के दो पहलू हैं—वह पूरे सिक्के को फेंक देता है। उस सिक्के को फेंकने में शांति है।

तुम जब मेरे पास आओ, तो सुख की भाव-दशा को मत बनाओ। कोई उत्तेजना मत पालो। आओ—शांत बनो। अगर तुम मेरे पास शांत रहोगे, तो तुम मुझसे दूर भी शांत रहोगे।

शांति कोई उत्तेजना नहीं है। शांति एक स्वाभाविक दशा है। शांति में कोई तनाव नहीं है। इसलिए कोई व्यक्ति शांत रह सकता है—अनन्त काल तक। इसलिए बुद्ध ने मोक्ष में सिर्फ शांति को ही जगह दी है, सुख को कोई जगह नहीं दी। आनन्द शब्द का भी प्रयोग नहीं किया। क्योंकि आनन्द में भी तुम्हें सुख की छाया पड़ती है; तुम्हें लगता है : आनन्द महा सुख है—ऐसा सुख जो भी कभी अंत न होगा। लेकिन ऐसा कोई सुख होता ही नहीं, जो कभी अंत न हो।

तो बुद्ध ने निर्वाण को शांति कहा है—इतनी गहन शांति कि उसमें तुम भी नहीं हो, बस शांति है। वह अनन्त काल तक रह सकती है, उसका कोई अंत नहीं आता है।

सुख तो है संगीत जैसा—कि कोई रविशंकर वीणा बजा रहा है; प्रीतिकर है, लेकिन कितनी देर तुम रविशंकर की वीणा सुन सकते हो? घड़ी दो घड़ी बहुत, अगर रात भर रविशंकर तार ठोंकता रहे, तो तुम पुलिस में खबर करोगे कि यह आदमी तो जान ले लेगा। अगर वह माने ही न और तुम्हारे पीछे-पीछे ही सितार बजाता घूमे, तो तुम पगला जाओगे—दो चार दिन में। इससे ज्यादा नहीं लगेगी देर। बड़ा सुख था वीणा में—घड़ी दो घड़ी, फिर पीड़ा हो गई; फिर पागलपन आने लगा!

उत्तेजना है—संगीत भी; चोट है, आघात है। कितना ही मधुर हो, है तो चोट ही। तार पर पड़ी चोट, शब्द की पड़ी चोट, कान पर झनकार है, हृदय पर भी झनकार है। संगीत कितना ही प्रीतिकर हो, चोट करता है। बाजार का शोरगुल कितना ही अप्रीतिकर हो, रेल्वे स्टेशन पर चलती खटर-पटर कितनी ही अप्रीतिकर हो, वह भी चोट करती है। उसे तुम क्षण भर भी नहीं सुनना चाहते। रविशंकर की वीणा को तुम थोड़ी देर सुनना चाहोगे।

लेकिन एक ऐसा संगीत भी है, जो अनाहत है, जो आघात से पैदा नहीं होता।

उस संगीत में कोई स्वर नहीं है। उसी को हमने ओंकार कहा है। इसलिए ओंकार को अनाहत नाद कहा है। न तो अँगुलियाँ हैं, न तार हैं, न कोई चोट है। वह संगीत कैसा है? वह संगीत शून्य का है, मौन का है। उसमें तुम अनन्त काल तक रह सकते हो, तुम कभी न थकोगे।

सुख से आदमी थकता है, दुःख से भी थकता है। और इसलिए बदलाहट चलती रहती है—सुख से दुःख में, दुःख से सुख में—रात से दिन, दिन से रात; श्रम करता है—फिर विश्राम; विश्राम करता है—फिर श्रम। द्वन्द्व जारी रहता है। अशांति जारी रहेगी—द्वन्द्व के साथ। शांति निर्द्वन्द्व हो जाना है।

जब तुम मेरे पास आओ, तो सुख को मत जनमने दो। क्या करोगे? सिर्फ देखते रहो। अगर तुम जागकर मेरे पास रहे, हो सुख जनमेगा ही नहीं। वह नींद में ही जनमता है। तुम शांत रहो। तुम बैठो मेरे पास—ध्यानस्थ। तब तुम पाओगे कि मेरे पास या मुझसे दूर—सब बराबर है।

बुद्ध का मरण दिन आया, तो आनन्द छाती पीट-पीट कर रोने लगा। और भी भिक्षु थे, उसमें एक भिक्षु था— महाकाश्यप, वह एक वृक्ष के नीचे बैठा था। खबर पहुँची; किसी ने कहा कि 'बुद्ध का अंतिम दिन आ गया। उन्होंने कहा है कि आज मैं विसर्जित हो जाऊँगा।' उसने सुना या नहीं सुना—वैसा ही बैठा रहा।

आनन्द रोने लगा; बुद्ध ने कहा, 'आनन्द तू क्यों रोता है? तू महाकाश्यप की तरफ क्यों नहीं देखता? उसको भी खबर मिली है, लेकिन वह चुप बैठा है। जैसे कुछ नहीं हुआ है। जैसे लहर ही नहीं आई। कोई बात नहीं हुई है। जैसे किसी ने कहा ही नहीं है कि बुद्ध मरने को हैं।' आनन्द ने महाकाश्यप की तरफ देखा और कहा, 'बेबूझ है बात। मेरे समझ नहीं पड़ती। आप के रहते इतना सुख था, आपके जाते महादुःख होगा।' बुद्ध ने कहा, 'तू महाकाश्यप को पूछ।' महाकाश्यप से पूछा। महाकाश्यप ने कहा, 'उनके रहते बड़ी शांति थी, उनके न रहते भी बड़ी शांति होगी। क्योंकि शांति भीतर की बात है। उसका उनके रहने न रहने से संबंध नहीं। उनके सहारे भीतर को साध लिया, सध गया। बुद्ध न होंगे तो भी शांति होगी। बुद्ध थे, तो भी शांति थी। आनन्द, तू सुख के पीछे पड़ा है। इसलिए मुश्किल में उलझा है। सुख को छोड़। शांत हो।'

शांत रस को पकड़ने की कोशिश करो, अन्यथा मैं कितने दिन तुम्हारे पास रहूँगा! फिर तुम दुःखी होओगे। तो मैंने तुम्हें जितना सुख दिया, उससे ज्यादा दुःख तुम्हें दे दूँगा, क्योंकि रहना तो थोड़ी देर है, न रहना बहुत लम्बा होगा।

बुद्ध अस्सी साल रहे, फिर अब ढाई हजार साल बीत गये और जिन्होंने बुद्ध के साथ सुख पाया होगा, वे अभी भी दुःख पा रहे होंगे—ढाई हजार साल से। अब

वे जनम-जनम तक दुःख पाएँगे। वह पीड़ा बनी ही रहेगी। जिसने बुद्ध के साथ सुख पाया, अब बिना बुद्ध के कैसे सुख पायेगा!

नहीं, तुम वह भूल करना ही मत। यह जो आनन्द की भूल है, इससे बचना। महाकाश्यप गुणी है। वह राज समझ गया है कि क्या साधना है। जब तक बुद्ध मौजूद हैं, शांति को साध लो।

और अगर तुमने शांति साधी, तुम हैरान होओगे, कोई मेरी स्तुति करे तो, और कोई मेरी निन्दा करे तो, बराबर हो जाएगी।

तुम्हें चोट लगती है, जब कोई मेरी निन्दा करता है? तुम्हें अच्छा क्यों लगता है, जब कोई मेरी स्तुति करता है? तुम्हें समझ नहीं है।

जब कोई मेरी स्तुति करता है, तो तुम्हारे अहंकार को बढ़ावा मिलता है—कि तुम ठीक आदमी के साथ हो। जब मेरी कोई निन्दा करता है, तो तुम्हारे अहंकार को घाव लगता है, चोट लगती है कि तुम गलत आदमी के साथ हो। इससे मेरा कुछ लेना-देना नहीं है।

न तो स्तुति करने वाला मेरी स्तुति कर सकता है, न निन्दा करने वाला निन्दा कर सकता है। वे दोनों ही ना-समझ हैं। दोनों को मेरा कोई पता नहीं है। स्तुति करने वाले को एक हिस्सा पता है, निन्दा करने वाले को दूसरा हिस्सा पता है; पूरे का उन दोनों को पता नहीं है अन्यथा वे चुप हो जाते। क्योंकि जो भी मुझे पूरा समझेगा, वह मेरे सम्बन्ध में चुप हो जाएगा। क्योंकि पूरे को जब भी तुम समझोगे, तब तुम पाओगे : न तो वह स्तुति में समा सकता है और न निन्दा में समा सकता है।

जो नहीं समझते, उनमें से कुछ निन्दा करते हैं; जो नहीं समझते हैं, उनमें से कुछ स्तुति करते हैं। जैसे मित्र स्तुति करता है, क्योंकि वह प्रेम करता है। शत्रु निन्दा करता है, क्योंकि वह घृणा करता है। लेकिन मित्र कल शत्रु हो सकता है, शत्रु कल मित्र हो सकता है। इसमें कुछ अड़चन नहीं है।

तुम्हें चोट लगती है निन्दा से, क्योंकि तुम्हारा अहंकार अड़चन में पड़ जाता है। तुम्हें प्रसन्नता होती है, यदि कोई स्तुति करता है, क्योंकि तुम्हारा अहंकार फूल जाता है। इसे गौर से देखो।

इसे तुम मुझ से बाँधो ही मत। इससे मेरा कुछ लेना-देना नहीं है। अपने भीतर पहचानो।

और अगर तुम मेरे पास शांति को साधोगे, तो तुम्हारी दृष्टि निर्मल होती जाएगी। सिर्फ शांति में ही दृष्टि निर्मल और निर्दोष होती है। तब तुम हँस पाओगे। स्तुति करने वालेको भी देख कर तुम शांत रहोगे; निन्दा करने वाले को भी देख कर तुम शांत रहोगे। और तब मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम इन दोनों को बदलने में भी समर्थ हो जाओगे।

अगर कोई मुझे गालियाँ देता है और तुम चुपचाप सुन लो और तुम वैसे ही बने रहो, जैसे पानी पर किसी ने लकीर खींची; खींच भी न पाया और मिट गई; लौट कर देखें, वहाँ कोई लकीर नहीं है—ऐसे तुम बने रहो, तो शायद निन्दा करने वाले को पुनः सोचना पड़े कि जिसकी वह निन्दा कर रहा है, उस आदमी के पास रहकर अगर इस आदमी को ऐसा कुछ हो गया है, तो एक बार फिर सोच लेना जरूरी है।

लेकिन किसी ने निन्दा की और तुम दुःखी आर परेशान हो गये, बेचैन हो गये, क्रोधित हो गए या तुम मेरी रक्षा करने लगे। कैसे तुम मेरी रक्षा करोगे? या तुम तर्क देने लगे, विवाद में पड़ गये, तो तुम दूसरे आदमी को जो एक मौका दे सकते थे, बदलने का, उसे चूक गये।

कोई किसी को विवाद से थोड़े ही राजी कर पाता है। तर्क ने कभी किसी को बदला है? उस भ्रांति में पड़ो ही मत। तुम लाख तर्क दो, ज्यादा से ज्यादा यह हो सकता है कि तुम्हारे तर्क उस आदमी का मुँह बंद कर दें। लेकिन उसके हृदय को न बदल पाएँगे। वह खोज में रहेगा और मजबूत तर्कों को लाने में, ताकि सिद्ध करके तुम्हें दिखा दे कि तुम गलत हो। क्योंकि तुमने उसे एक चुनौती दे दी, उसके अहंकार को चोट पहुँचा दी। वह बदला लेकर रहेगा।

तर्क में कुछ सार नहीं है। विवाद में कुछ रस नहीं है। तुम्हें देखकर कुछ घटना घट सकती है। कोई मुझे गाली देता आया है और तुम चुपचाच सुन लो—ऐसे कि कुछ भी न हुआ—तो वह आदमी गंभीर होकर लौटेगा। तुम्हारी शांति उसका पीछा करेगी। तुम उसकी नींद में उतरोगे। तुम उसके सपनों में छा जाओगे। वह बेचैन होगा। उसका आने का मन बार-बार होगा कि फिर तुम्हारे पास आये। मामला क्या है? गाली दी थी, उत्तर आना चाहिए था! इस आदमी को कुछ हो गया है! और कौन नहीं चाहता कि ऐसी दशा उसकी भी हो जाए—कि कोई गाली दे और चोट न पड़े? तुमने इस आदमी को जकड़ लिया, पकड़ लिया। यह आदमी भाग न सकेगा। और यह घटना मेरे पास आने से घटी है; तुमने इस आदमी को मेरी तरफ पहुँचने के लिए पहला उपाय बता दिया। इस आदमी के लिए तुमने दरवाजा खोल दिया।

धक्का मत दो, सिर्फ दरवाजा खोलो। धक्का देकर तुम उसे भीतर न ला पाओगे। धक्का देकर कहीं कोई भीतर आया है? सिर्फ चुपचाप द्वार खोल दो कि उसे पता भी न चले। यह आज नहीं कल आयेगा; इसे आना ही पड़ेगा। तुम्हारी शांतमूर्ति इसका पीछा करेगी।

शांत हो जाओ। सुख को मत पकड़ो।

और तुम कहते हो—मेरी तस्वीर के सामने—कि मुझे आनन्द नहीं दे सकता, तो

मुझे मार ही डाल। वह भी सुख की ही तलाश है। तुम मरने को राज़ी हो, लेकिन खुद को छोड़ने को राज़ी नहीं हो सकते। मैं तुमसे कहता हूँ, मरने की कोई जरूरत नहीं, सिर्फ अहंकार को मरने दो। तुम काफी मजे से जियो। तुम्हारे जीने से कहीं कोई अड़चन नहीं है। लेकिन तुम कहते हो, 'मैं मरने को राजी हूँ।' लेकिन वह जो कह रहा है कि मैं मरने को राजी हूँ, वह 'मैं' छूटने को राजी नहीं है।

आत्म-हत्या करते वक्त भी तुम 'मैं' ही बने रहोगे कि मैं आत्म-हत्या कर रहा हूँ, मैं कुरबानी दे रहा हूँ। जैसे तुम शिकायत कर रहे हो, पूरे परमात्मा से, पूरे अस्तित्व से कि लो अगर आनन्द नहीं, तो मैं जीवन छोड़ता हूँ। लेकिन यह छोड़ने वाला अहंकार है।

पकड़ने वाला, छोड़ने वाला—दोनों अहंकार हैं। तुम जागो। पकड़ने-छोड़ने से कुछ न होगा।

आनन्द क्यों माँगते हो? आनन्द को तो तुमने सदा से माँगा है और इसीलिए तुम इतने दुःखी हो। जागो। शांति, शून्य तुम्हारा स्वर बने और तब आनन्द तुम्हें मिलेगा। आनन्द माँगने से नहीं मिलता, शून्य होने से बरसता है। आनन्द कोई भिखारी को नहीं मिलता, सिर्फ सम्राटों को मिलता है। और सम्राट मैं उसे कहता हूँ, जिसकी माँग बंद हो गई। जो माँगता है, वह भिखारी है।

तुमने अगर कहा, आनन्द; तुम्हें कभी न मिलेगा। तुम सिर्फ शांत हो जाओ। और शांत होते ही तुम पाओगे, चारों तरफ से स्रोत आनन्द के बहे आ रहे थे। अपनी अशांति के कारण तुम देख न पाए! खजाना सामने पड़ा था। तुम्हारी आँख अंधी थी। द्वार खुले थे, तुमने आँख उठाकर देखा ही नहीं। तुम चूक रहे थे, अपने कारण। अस्तित्व क्षण भर को भी तुम्हें चुकाने को उत्सुक नहीं है।

पूरा अस्तित्व सहारा दे रहा है कि आ जाओ, द्वार खुले हैं, खजाना तुम्हारा है। लेकिन तुम भिक्षा-पात्र लिए खड़े हो। और भिक्षा-पात्र में यह खज़ाना नहीं समा सकता। यह खज़ाना भिक्षा-पात्रों से बहुत बड़ा है। भिक्षा-पात्र छोड़ना पड़ेगा।

अहंकार भिक्षा-पात्र है। मत माँगो—आनन्द। सिर्फ शांत हो जाओ और आनंद मिलेगा। आनंद सदा मिलता है—उनको जो शांत हो गए।

जो माँगते हैं, दुःख मिलता है। फिर दुःख और पीड़ा में तुम कहते हो—आत्म-हत्या तक कर लूँगा; मार डालो; मर जाऊँ। इससे कुछ हल नहीं है। तुम मर ही जाओगे, तो तुम तुम ही रहोगे। फिर पैदा हो जाओगे। फिर आनंद माँगने लगोगे। यही तो तुम करते रहे हो। यह गोरख-धंधा बहुत पुराना है। तुम कोई नये थोड़े ही हो। तुम बड़े प्राचीन पुरुष हो। कितने ही बार तुमने यही किया : माँगा, नहीं मिला। मरे; फिर माँगा। लेकिन माँग को न मरने दिया।

तुम मत मरो; माँग को मरने दो—तुम जियो। तुम तो शाश्वत हो; तुम मर भी नहीं सकते। तुम मारोगे कैसे? कैसे मिटाओगे अपने को? तुम बनाये नहीं अपने को, मिटाने वाले तुम कैसे हो सकते हो? जिसने बनाया, वही मिटा सकता है। और बनाया किसी ने भी तुम्हें नहीं है। तुम ही हो सार, इस सारे अस्तित्व के। तुम सदा से हो, सदा रहोगे—अनादि अनन्त। ऐसा कभी न था कि तुम न थे और ऐसा कभी न होगा कि तुम न रहोगे।

मिटाने से क्या होगा? मिट-मिट कर तुम होते रहोगे। उस बात को ही छोड़ो।

आनन्द मत माँगो; माँगो शांति। और मजा यह है कि आनन्द माँगना पड़ता है, शांति को माँगने की जरूरत नहीं। शांत तुम ही हो सकते हो। आनंदित तुम कैसे होओगे? मुझे कहो, आनन्दित होने का तुम्हारे हाथ में क्या उपाय है? लेकिन शांत तुम हो सकते हो। जो तुम हो सकते हो। वही करो; शेष अपने से होगा।

जैसे वर्षा होती है; पहाड़ खाली रह जाते हैं, क्योंकि पहले से भरे हैं। गड्ढे झील बन जाते हैं, क्योंकि खाली थे। तुम खाली हो जाओ। शांति यानी खाली हो जाना—गड्ढा हो जाना। आनंद बरस रहा है—भर देगा तुम्हें। तुम झील हो जाओगे आनंद के।

'झुसिया भगवान् से लड़ता था', पूछा है, 'पर उसकी भाव दशा पवित्र रही होगी। मुझसे तमस् बहुत है।'

किस को यह समझ है? कौन कह रहा है कि मुझमें तमस् बहुत है? निश्चित ही सत्त्व बोल रहा होगा। क्योंकि तमस् कभी स्वयं को स्वीकार नहीं करता। तमस् का तो लक्षण है कि वह अस्वीकार करता है कि 'मैं और आलसी?' तो आलसी भी तलवार लेकर लड़ने खड़ा हो जाता है कि 'किसने कहा? मैं और आलसी? मैं और तामसी?' तो तामसी भी तमस् छोड़कर लड़ने को खड़ा हो जाता है।

तुम आलसी को भी आलसी नहीं कह सकते। वह भी लकड़ी उठा लेगा। तमस् तो स्वीकार ही नहीं करता अपने को।

कौन सोच रहा है?—कौन देख रहा है कि 'मैं तामसी हूँ?' यही तो सत्त्व का स्वर है। तुम इस स्वर को ठीक से पहचानो और तुम इस स्वर की तरफ थोड़े ज्यादा झुको। संतुलन भर बदलना है, कुछ बदलना नहीं है। ऊर्जा एक ही है। एक ही ऊर्जा है—जो सत्त्व में, रज में, तम् में प्रवाहित होती है।

जो आदमी सो रहा है, वही आदमी तो जागेगा; जो ऊर्जा सो रही है, वही जाग जाएगी; कोई दूरी ऊर्जा थोड़े ही जागेगी। जो तमस् है, वही तो रजस् बनेगा। जो रजस् है, वही तो सत्त्व बनेगा। धारा तो एक ही है, ऊर्जा तो एक ही है, शक्ति एक ही है—ये तीन तो उसके निष्कासन के उपाय हैं। अभी पूरी की पूरी धारा या

ज्यादा से ज्यादा धारा सत्त्व से नहीं बह रही है, तमस् से बह रही है, रजस से बह रही है। लेकिन थोड़ी-सी बूँदें सत्त्व से भी बह रही हैं, उन बूँदों का मार्ग पकड़ो। शेष धारा को भी उसी तरफ झुकाओ। थोड़ा संतुलन बदलना है। बस, तीनों पाये बराबर हो जायँ—सत्त्व, रज, तम—तीनों में बराबर ऊर्जा बहने लगे—एक तिहाई, एक तिहाई, एक तिहाई, अचानक तुम पाओगे संगीत बजने लगा, अनाहत नाद शुरू हो गया।

जहाँ तीनों बराबर हो जाते हैं, तीनों एक दूसरे को काट देते है और वहीं से गुणातीत आयाम का प्रारम्भ होता है।

यह कृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं—सारा गुणत्रय विभाग, ताकि वह गुणातीत हो जाय।

तुम्हारा स्वभाव गुणातीत है। तुम तीन में बँटे हो, क्योंकि तुम सोये हो, तुम्हें पता नहीं। और सोई दशा में अधिक ऊर्जा तमस् से बहेगी, क्योंकि सोई दशा तमस् की दशा है। जब तुम महत्त्वाकांक्षा से भर कर दाड़ोगे—पद की, धन की तलाश में, तब अधिक ऊर्जा रजस् से बहेगी, क्योंकि गति महत्त्वाकांक्षा, दौड़—रजस् का धर्म है। जब तुम शांत बनोगे, ध्यान और समाधि खोजोगे, मौन, निर्विकल्प, निर्विचार दशा को खोजोगे, तो सत्त्व से बहने लगेगी यही ऊर्जा; क्योंकि ध्यान, निर्विकल्पता, निर्विचार दशा, सत्त्व के गुण हैं।

और जब तीनों किसी दिन, किसी क्षण संयोग में बैठ जाते हैं—तीनों का स्वर लयबद्ध हो जाता है, उसी त्रिवेणी में एक का जन्म होता है। इसलिए तो लोग त्रिवेणी जाते हैं—तीर्थयात्रा करने। तीर्थ तुम्हारे भीतर है, जहाँ इन तीनों का मिलन होगा; वही त्रिवेणी बन जाएगी, वही प्रयागराज बन गया, वही हो गया तीर्थ, वहीं से एक अनुभव होगा।

घबड़ाओ मत, चिंतित मत होओ; सब साज-सामान मौजूद है। थोड़ी-सी व्यवस्था जमानी है। सूफ़ी कहते हैं, 'आटा मौजूद है, पानी मौजूद है, नमक मौजूद है, साक-सब्जी मौजूद है, लकड़ियाँ पड़ी हैं, माचिस तैयार है, मगर भोजन तैयार नहीं है।'

सब तैयार है। जरा-सा इन्तजाम बिठाना है कि लकड़ियों में आग लगा दो, कि चूल्हा तैयार कर लो, कि आटे में थोड़ा पानी मिलाओ, कि थोड़ा नमक; कि आटा गूँथ लो, कि रोटियाँ पका लो, कि भूख मिट जाएगी, तृप्ति हो जाएगी।

परमात्मा मौजूद है, सिर्फ थोड़ा-सा संयोग बिठाना है। वह तुम्हारे तीन गुणों में मौजूद है, उनको थोड़ा-सा संयोजित करना है। धर्म संयोजन की कला है, उससे ज्यादा कुछ भी नहीं। फिर तुम्हारे भीतर एक का जन्म हो जाता है। जहाँ तीन मिलते हैं, वहाँ एक का जन्म हो जाता है। इसलिए त्रिवेणी तीर्थ है।

अब सूत्र :

'और हे अर्जुन, जो मनुष्य शास्त्र-विधि से रहित केवल मनोकल्पित घोर तप को तपते हैं तथा जो दंभ और अहंकार से युक्त हैं, कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं तथा जो शरीर-रूप से स्थित भूत समुदाय को और अंतःकरण में स्थित मुझ अंतर्यामी को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को आसुरी स्वभाव वाला जान।'

कौन है आसुरी स्वभाव वाला? कौन है तामसी? कृष्ण कहते हैं, 'जो मनुष्य शास्त्र-विधि से रहित केवल मनोकल्पित घोर तप करते हैं।'

मैं वर्षों तक लोगों से कहता रहा कि न तो गुरु की कोई जरूरत है, न शास्त्र की कोई जरूरत है। इस बात में जरा भी भूल न थी। लेकिन मुझे लगा, बात में बिलकुल भूल नहीं है, लेकिन सुननेवाले पर परिणाम बड़ी भूल का हो रहा है।

बात बिलकुल सही है। क्योंकि परमात्मा तुम्हारे भीतर बैठा है। शास्त्र क्या समझाएंगे तुम्हें। सिर्फ आँख भीतर खोलनी है। वेद कंठस्थ करके क्या होगा? अपनी तरफ आँख खोलनी है—स्वाध्याय करना है। शास्त्र अध्याय से क्या होगा?

और गुरु की क्या जरूरत है? क्योंकि जिसे खोजना है, वह तुम्हें मिला ही हुआ है। 'जब जरा गरदन झुकाई'—क्या गरदन झुकाने के लिए भी गुरु की जरूरत है? उतनी-सी समझ भी तुममें नहीं है? और अगर उतनी ही समझ नहीं है, तो गुरु भी क्या करेगा? शास्त्र भी क्या करेंगे?

बात बिलकुल सही है। लेकिन धीरे-धीरे मुझे अनुभव होना शुरू हुआ कि यह बात मेरी तरफ से सही है, सुनने वाले की तरफ से बिलकुल गलत है। मैंने पाया कि सौ लोग अगर सुनते हों, तो उसमें से एक को बात सही वैसी ही पहुँचती है, जैसी मैंने कही है। वह सत्त्वगुणी है। और सत्त्वगुणी पर क्या परिणाम होते थे, जब मैं यह कह रहा था? उस पर परिणाम यह नहीं होते थे कि वह शास्त्र को छोड़ देता था। नहीं। या गुरु छोड़ देता था। नहीं। न तो वह शास्त्र छोड़ता था; न वह गुरु छोड़ता था। सिर्फ पकड़ता नहीं था। वह सत्त्वगुणी पर परिणाम होता था कि वह पकड़ता नहीं था, सिर्फ पकड़ छोड़ता था। न तो शास्त्र छोड़ता था; न गुरु छोड़ता था; सिर्फ पकड़ छोड़ता था। वह समझ लेता था कि बात क्या है: 'पकड़ छोड़ देनी है। और जब वह पकड़ छोड़ देता था, तो शास्त्र भी सहयोगी हो जाता था, गुरु भी सहयोगी हो जाता था।

पकड़ के कारण शास्त्र भी बाधा बन जाता है, गुरु भी बाधा बन जाता है। क्योंकि तुम एक आग्रह से भर जाते हो—एक आसक्ति से, एक मोह से। मेरा शास्त्र—वेद हिन्दू का, कुरान मुसलमान का। 'मेरा गुरु—महावीर जैन का, मोहम्मद मुसलमान

का। वह 'मेरा-पन' छोड़ देता था—वह जो एक प्रतिशत सत्त्वगुणी मनुष्य था।

और बड़े मज़े की बात यह है कि जैसे ही वह मेरा-पन छोड़ता था, वह वेद का तो लाभ ले ही लेता था, क़ुरान का भी ले लेता था। वह महावीर के पीछे चलकर शांति का मजा ले ही लेता था; वह बुद्ध के पीछे चलकर भी ले लेता था। जब पकड़ ही न रही, तो सभी गुरु हो जाते थे।

सत्त्वगुणी की व्याख्या यह थी कि जब कोई गुरु नहीं, तो सभी गुरु हो गए। और जब कोई पकड़ ही नहीं, कोई शास्त्र ही नहीं, तो सभी शास्त्र अपने हो गये। बंधन छूट जाता था। वह निर्मुक्त भाव से जीने लगता था। सब से सीखता था।

सत्त्वगुणी यह सुनकर कि न गुरु की जरूरत है, न शास्त्र की, गुरु को नहीं पकड़ता था, शास्त्र को नहीं पकड़ता था, लेकिन शिष्यत्व उसका गहरा हो जाता था। पर वह घटता था—एक प्रतिशत लोगों में।

फिर मैंने देखा कि नौ प्रतिशत रजोगुणी लोग हैं। उन पर क्या परिणाम होता था? वर्षों उनका अध्ययन करके मुझे समझ में आया, कि यह सुन कर कि न शास्त्र को पकड़ना है, न गुरु को पकड़ना है, वे शास्त्र को 'छोड़ने में' लग जाते थे, गुरु को छोड़ने में लग जाते थे। समझ पैदा नहीं होती थी; छोड़ने की दौड़ पैदा होती थी। रजोगुणी का वह लक्षण है कि हर चीज में से दौड़ निकाल लेता है।

एक रजोगुणी मेरे पास आया, उसने मेरी बात समझी; वह घर गया; कुछ छोटी-मोटी मूर्तियाँ घर में थीं, शास्त्र थे, सब बाँध कर कुएँ में फेंक आया। फिर पछताया रात में। फिर डरा कि यह तो बड़ी गड़बड़ हो गई; कहीं नाराज न हो जायँ देवी-देवता! उनकी पूजा करता रहा था। मेरी बात सुनने के पहले तक, पूजा में लगा था वह, और गहन पूजा करने वाला था। घंटों—छह-छह, आठ-आठ घंटे—वर्षों से यह कर रहा था। मेरी बात सुनी; रज़ोगुण ने नयी दौड़ पकड़ी, पुरानी से थक चुका होगा। कुछ परिणाम भी नहीं हो रहा था। बात समझ में आ गई, तो फिर एक क्षण रुका नहीं। अब देवी-देवता क्या बिगाड़ते थे? घर में रहे आते। कोई हरजा न था। और कभी सुबह-साँझ एक फूल बीन कर रख देते, तो भी कोई हरजा न था। सजावट थे, घर की रौनक थे, रहने देते। शास्त्र घर में रखते तो कोई अड़चन न थी। पकड़ना नहीं था, छोड़ने का सवाल नहीं था। मगर रज़ोगुणी छोड़ने को उत्सुक हो जाता है। वह गया; उसने सब बाँध कर देवी-देवताओं का बोरिया-बिस्तर और शास्त्र, सब कुएँ में फेंक आया। अब रात सो न सका।

रज़ोगुणी वैसे ही कठिनाई पाता है रात सोने में। क्योंकि दिनभर जो दौड़ता है, भागता है, चिंता करता है—यह पाना है, वह पाना है—सपने रात भी दौड़ता रहता है।

रात वह घबड़ाया; आधी रात वह मेरे घर आया। अब उनको फेंक चुका वह कुएँ में। वहाँ जा भी नहीं सकता और शास्त्र तो गल गये होंगे और मुहल्ले वालों से कहे कि निकालना है—लोगों को पता चले, तो और बदनामी होगी कि तुम क्या नास्तिक हो गये!

वह आधी रात मेरे पास आया। कँप रहा था। मैंने पूछा, 'क्या हुआ?' उसने कहा, 'मैं बड़ी झंझट में पड़ गया। आपने ही डाला। किस दुर्भाग्य के क्षण में आपको सुनने आ गया! और बात जँच गयी। और मैं तो धुनी आदमी हूँ। जब जँच गई तो क्षण भर रुका नहीं—कि थोड़ा सोच तो लेता। और अब सो नहीं सकता और घबड़ाहट लगती है, कि वर्षों के देवी-देवता थे; कुल-देवता थे! बाप ने पूजे, बाप के बाप ने पूजे। इतनी पुरानी परंपरा थी घर में, और मैंने सब खण्डन कर दिया, पता नहीं वे नाराज हो जायँ!'

रजोगुणी सदा डरता है कि कहीं देवी-देवता नाराज न हो जायँ, नहीं तो महत्त्वाकांक्षा में बाधा डाल देंगे। रजोगुणी पूजा ही इसलिए करता है, कि धन मिल जाय, पद मिल जाय। उसने कहा, 'कहीं नाराज हो गये—और शास्त्र भी फेंक आया, अब मैं क्या करूँ?'

मैंने देखा कि मुल्क में ऐसे बहुत से लोग थे, जो समझे नहीं; जिन्होंने शास्त्र पर पकड़ तो न छोड़ी, शास्त्र को छोड़ने की दौड़ में पड़ गये; शास्त्र को छोड़ने की दौड़ पकड़ ली। पकड़ना जारी रहा, मुट्ठी न खुली; सिर्फ जरा एक कदम पीछे हट गई पकड़—और गहरी हो गयी।

फिर नब्बे प्रतिशत लोग हैं, जो तमोगुणी हैं, जो कि विराट् मनुष्य जाति का समुदाय है। वे वैसे ही किसी गुरु और शास्त्र में उलझे न थे। क्योंकि इतना भी उपद्रव वे लेने को राज़ी नहीं हैं। वे अपने आलस्य में पड़े थे। वे तो शास्त्र से वैसे ही थके थे, क्योंकि शास्त्र कहते हैं, 'उठो! जागो!' शास्त्रों से वैसे ही नाराज थे, कि नींद हराम करते हो! गुरुओं के पीछे वे कभी गये नहीं थे, क्योंकि उतना चलने की कभी उनमें इच्छा नहीं जगी थी; उतना आलस्य भी छोड़ने की हिम्मत न थी। उन्होंने अपनी नींद में ही मुझे सुना। उन्होंने कहा, 'बड़ा धन्यवाद—तो हम बिलकुल ठीक थे—कि हम तो पहले से ही न पकड़े थे। न किसी शास्त्र को पकड़े, न किसी गुरु को पकड़ा, न किसी की झंझट में पड़े। हम तो पहले से विश्राम कर रहे थे। आपने हमें निश्चिंत कर दिया।' उन्होंने करवट ली, वे सो गये।

पंद्रह वर्ष निरंतर मुल्क में लाखों लोगों के साथ ऐसा देख कर मुझे लगा कि कुछ करना पड़ेगा। मैं भला सच कह रहा हूँ, इससे कुछ हल नहीं है। मुझे सोचना पड़ेगा कि सुनने वाले पर क्या हो रहा है।

कृष्णमूर्ति ने अब तक नहीं सोचा कि, सुनने वाले पर क्या हो रहा है। वे कहते ही चले गए हैं, जो ठीक है। इसलिए कृष्णमूर्ति के पास सिर्फ एक प्रतिशत सत्त्वगुणी को तो कुछ लाभ होता है, बाकी निन्यानबे प्रतिशत लोगों को भयंकर हानि होती है। और नब्बेप्रतिशत जो आलसी हैं, उनका तो कहना ही क्या। वे बिलकुल अपनी नींद में ही अपने को मुक्त मान लेते हैं कि 'बात खत्म हो गई। हम तो कुछ पकड़े ही नहीं हैं; पहले से नहीं पकड़ा था। यह कृष्णमूर्ति ने तो बाद में बताया; हम तो पहले से ही इसी ज्ञान में जी रहे हैं। तो हम बिलकुल ठीक हैं; जैसे हैं।' वे अपनी तंद्रा में गहन हो जाते हैं।

तो कृष्णमूर्ति ने नब्बे प्रतिशत लोगों के लिए नींद की सुविधा बना दी। नौ प्रतिशत लोगों के लिए दौड़ की सुविधा बना दी—शास्त्र छोड़ना है, गुरु छोड़ना है; वे उस दौड़ में लगे हैं। वह छूटता नहीं; क्योंकि कहीं छोड़ने से कुछ छूटा है? यह जानने से कि पकड़ व्यर्थ है—छूटना अपने आप हो जाता है।

जब तुम छोड़ने की कोशिश करते हो, तो इसका मतलब है कि तुम पकड़े तो हो ही। अब जब मैंने मुट्ठी बाँध ली, और कोई मुझे समझाये कि मुट्ठी खोलो, तो मुट्ठी खोलने के लिए कुछ करना पड़ेगा? मुट्ठी खोलने के लिए कुछ करना ही नहीं पड़ता; सिर्फ बाधो मत, मुट्ठी अपने आप खुल जाती है। मुट्ठी खुलती है जब तुम नहीं बाँधते। खुला होना मुट्ठी का स्वभाव है। लेकिन ऐसे लोग हैं, जो मुट्ठी को बाँधे हुए हैं और अब खोलने की भयंकर चेष्टा कर रहे हैं। उनकी खोलने की चेष्टा से मुट्ठी और जकड़ती है, क्योंकि खोलने से कोई मुट्ठी नहीं खुलती।

तुमने कभी किसी सम्मोहन करने वाले—हिप्नोटिस्ट को देखा है? वह लोगों को एक छोटा-सा खेल दिखाता है। तुम खुद भी करोगे तो चकित हो जाओगे। वह कह देता है, दोनों मुट्ठियाँ बाँध लो। एक हाथ में दूसरे हाथ की अँगुलियों को गूँथ लो। और वह तुमसे कहता है कि आँख बंद कर लो। और मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम लाख उपाय करो, यह मुट्ठी खुल न सकेगी। और वह कहता है, 'यह मुट्ठी जकड़ती जा रही है।' जैसे वह कहता है: मुट्ठी जकड़ती जा रही है, तुम अपने मन में सोचते हो, यह हो ही कैसे सकता है। मुट्ठी मेरी कैसे जकड़ जाएगी? मैं खोल लूँगा। तुम भीतर खिंचने लगे। तुम खोलने की तैयारी करने लगे। और वह कहता जा रहा है, 'मुट्ठी जकड़ती जा रही है; लाख उपाय करो, खुलेगी नहीं।' पाँच मिनट बाद वह तुमसे कहेगा, 'अब करो उपाय; लगा दो पूरी ताकत।' और तुम चकित हो जाओगे कि तुम्हारी मुट्ठी, तुम्हारे हाथ, जकड़ गये, खुलते नहीं। मनस्विद इसको कहते है, 'लॉ ऑफ रिव्हर्स इफेक्ट', इसको वे कहते हैं, 'विपरीत परिणाम का नियम।' अगर तुम बहुत खोलने में उत्सुक हो गये, तो तुम यह बात ही

भूल गये कि बाँधी तुमने थी, खोलने का सवाल ही न था। जब तुम खोलने में उलझन गये, तो तुमने पहली बात तो स्वीकार ही कर ली कि बँधी है। बस, वहीं भूल हो गई। अब बँधी है, यह स्वीकार हो गया। और तुम्हारे शरीर ने स्वीकार कर लिया कि यह बँधी है, और तुम उससे विपरीत लड़ने लगे। तुम खोल न पाओगे। तुम खोल नहीं सकते।

तुम जिससे बचना चाहोगे, उसी में उलझ जाओगे। जैसे तुमने साइकल चलानी सीखी शुरू-शुरू में; साठ फीट चौड़ा सुपर-हाईवे हो, कोई न हो रास्ते पर। तुम अकेले साइकल चलाने वाले हो, सिखाने वाले ने तुम्हें बिठा दिया। थोड़ी देर साथ चला और फिर तुम्हें छोड़ दिया। दिखाई लाल पत्थर पड़ता है—तुम्हें किनारे पर। साठ फीट चौड़ा रास्ता है। अब वह लाल पत्थर वहाँ गणेश जी जैसा शांत बैठा है; कुछ बीच में आयेगा नहीं। मील का पत्थर है। तुम घबड़ाये कि कहीं पत्थर से न टकरा जायँ, बस शुरुआत हो गई।

अब कहीं पत्थर से न टकरा जायँ—यह कोई सवाल था—साठ फीट चौड़े रास्ते पर। निशाना लगाने वाला भी अगर निशाना लगाकर जाय, तो ही टकरा सकता है; उसके भी चूक जाने का डर है। मगर यह नया सिखखड़ नहीं चूकनेवाला है। जैसे इसको खयाल आया कि कहीं टकरा न जाय, अब इसको रास्ता नहीं दिखाई पड़ता। अब इसकी आँख लाल पत्थर पर जमी है, और इसने बचना शुरू कर दिया; इसका हेन्डल घूमने लगा—कि टकराये—मरे! अब इनसे बचना शुरू किया कि यह गया। यह उस चीज से बच रहा है, जिससे बचने का कोई सवाल न था। यह टकराएगा। वह लाल पत्थर हिप्नोटिक हो जाएगा। वह खींच लेगा। यह जाकर भड़ाम से उस पर गिरेगा। और यह कहेगा, 'हम पहले से ही जानते थे कि यह होगा।'

मगर वह साठ फीट चौड़ा रास्ता खाली पड़ा था। तुम इसमें से निकल न सके! कुछ कारण है भीतर। तुम जब किसी चीज से बचना चाहते हो, तो तुमने स्वीकार कर लिया कि बचना असम्भव है। तुम जब बचना चाहते हो, तो तुमने मान लिया कि फँस गये। तुम्हारी मान्यता में ही सारा सम्मोहन है।

तो कृष्णमूर्ति चालीस साल से वही कहते आ रहे हैं; वे कहते हैं, बचो पत्थर से, लाल पत्थर है। वे सिखखड़ जो साइकल पर सवार हैं, जितना तुम उनसे कहो कि बचो, लाल पत्थर है, लाल पत्थर से बचना, अब वे मुश्किल में पड़े। अब वह लाल पत्थर ही दिखाई पड़ता है—जागते, सोते, सपने में; बच नहीं सकते। वे उसी पत्थर पर गिरेंगे, और जब गिरेंगे, तो कहेंगे कि कृष्णमूर्ति ठीक ही कह रहे थे। पहले से ही बेचारे समझा रहे थे कि इससे बचो, नहीं तो उलझ जाओगे। अब उलझ गये। अब उनकी हिम्मत टूट जाएगी—साइकल पर चढ़ने की। क्योंकि जब भी वे चढ़ेंगे,

सब जगह लाल पत्थर हैं—सरकार की कृपा से। जहाँ जाओ 'लाल पत्थर' हैं। सब जगह मंदिर हैं, मसजिद हैं, शास्त्र हैं, गुरु हैं—सब तरफ 'लाल पत्थर' हैं। कहीं भी गये—फँसे।

और वे जो नब्बे प्रतिशत हैं, वे कहते हैं कि बिलकुल ठीक, तुम्हें बाद में पता चला कृष्णमूर्ति, हमें पहले ही मालूम है। इसलिए हम झंझट में पड़े ही नहीं; हम पहले से ही सो रहे हैं! जो ज्ञानी हैं, वे पहले से ही विश्राम कर रहे हैं।

कृष्ण कहते हैं, 'हे अर्जुन, जो मनुष्य शास्त्र-विधि से रहित...।' शास्त्र क्या है? शास्त्र की परिभाषा क्या है? शास्त्र किसे कहते हैं? शास्त्र कहते हैं : शास्ताओं के वचन को। शास्ता कहते हैं उसे—जिसने शासन दिया, अनुशासन दिया, डिसिप्लिन दी; जिसने चलने का मार्ग—व्यवस्था दी। जो चला, जो पहुँचा और जिसने पहुँचकर खबर दी कि थोड़े से सूचक हैं, तुम्हारे रास्ते पर उपयोगी हो जाएँगे।

बुद्ध को हम शास्ता कहते हैं, महावीर को शास्ता कहते हैं; उनके वचनों को हम शास्त्र कहते हैं और उनके वचनों में जो कहा गया है, उसको हम शासन या अनुशासन कहते हैं।

जिन्होंने जाना उनके वचनों का संग्रह है—शास्त्र। अगर तुम समझदार हो, तो खूब लाभ ले सकते हो; ना-समझ हो, तो तुम किसी भी चीज से लाभ नहीं ले सकते, नुकसान ही लोगे। शास्त्र का कसूर नहीं है। कसूर होगा तो तुम्हारा होगा। शास्त्र कोई सिर पर रखकर ढोने की चीज नहीं है; न चंदन तिलक लगाकर पूजा करने की चीज है। शास्त्र उपयोग करने की चीज है; उसकी उपयोगिता है।

शास्त्र में संग्रहीत हैं वचन—जानने वालों के। तुम जरा होशपूर्वक समझने की कोशिश करोगे, तो शास्त्र से तुम्हें बड़े रहस्य उपलब्ध हो जाएँगे। पकड़ना मत उनको। उनको तरल रहने देना; उनको ठोस नियम मत बना लेना। क्योंकि समय बदलता, परिस्थिति बदलती, चेतना भिन्न होती, तो तुम बिलकुल रूढ़ की तरह मत चलने लगना, लकीर के फकीर मत हो जाना—कि शास्त्र में ऐसा लिखा है, तो ऐसा ही करेंगे।

शास्त्र संकेत देते हैं—उपदेश नहीं। और वह रहस्य ऐसा है कि उसे ठीक-ठीक पूरा का पूरा शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता। सिर्फ इशारे किये जा सकते हैं। इशारे का मतलब होता है : समझने की कोशिश करना इशारे को; उसकाउप योग करने की कोशिश करना। लेकिन उसके लकीर के फकीर होकर अंधे अनुयायी मत हो जाना।

कृष्ण कहते हैं कि 'शास्त्र-विधि से जो रहित हैं...।' और बहुत से लोग शास्त्र का उपयोग न करना चाहेंगे, क्योंकि वे भी उनके अहंकार के विरोध में हैं। उनके रहते कोई दूसरा ज्ञानी कैसे हो गया पहले; उनके रहते वेद लिखे लिये गए? यह हो

ही नहीं सकता। वेद तो वे ही लिख सकते हैं। और अभी वे ज्ञान को उपलब्ध नहीं हुए!

अज्ञानी शास्त्र को मानने को राजी नहीं होता; इशारे भी लेने को राजी नहीं होता। वह यह नहीं मान सकता कि मेरे सिवाय कोई और भी मुझसे पहले ज्ञान को उपलब्ध हो सकता है। वही तो अहंकार की पकड़ है, प्रमाद है। तो वह मनोकल्पित साधनाएँ करता है—शास्त्रों की नहीं सुनता।

शास्त्रों में संकेत हैं, सावधानियाँ हैं, हिफाजतें हैं; जो चले हैं, उन्होंने रास्ते के कंटकों के सम्बन्ध में बताया है। जंगली जानवरों के हमले का डर है; बीहड़ रास्ते हैं, भटक जाने की सम्भावना है; एकांत पगडंडियाँ हैं, जिन पर तुम्हें कोई यात्री भी न मिलेगा, जो तुम्हें बताये कि तुम भूल गये या ठीक हो या गलत हो।

उस अनजान यात्रा के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ शास्त्र में संग्रहीत हैं। वे बहुमूल्य हैं। उनको समझकर—शास्त्र को पकड़ कर नहीं, उनको समझकर—तुम्हें अपनी यात्रा पर जाना है।

बुद्ध ने कहा है, 'हम मार्ग बता सकते हैं, लेकिन तुम्हारे लिये चल तो नहीं सकते। चलना तुम्हें ही होगा; पहुँचना भी तुम्हें होगा। तुम हमारी बात को सुन लेना, पकड़ मत लेना। बात को समझ लेना, फिर अपनी ही बोध और अपनी ही साक्षी चेतना और अपने ही ध्यान से गति करना। अंतिम रूप में तो तुम्हीं निर्णायक रहोगे। लेकिन अगर तुमने हमें सुना है, तो कम से कम तुम उन भूलों से बच जाओगे, जो हमने कीं।' इस बात को ठीक से समझ लो।

शास्त्र तुम्हें सत्य तक नहीं पहुँचा सकते, लेकिन बहुत से असत्यों से बचा सकते हैं। उनका उपयोग नकारात्मक है। वे तुम्हें सत्य तक नहीं पहुँचा सकते, लेकिन सत्य के मार्ग पर बहुत सी भ्रांतियाँ जो हो सकती हैं, उनसे तुम्हें बचा सकते हैं। तुम्हारा बहुत-सा भटकाव बच सकता है, अगर तुम शास्त्रों का उपयोग करना जान लो।

लेकिन तुम्हारी हालत ऐसी है, जैसे मैं देखता हूँ कई लोगों को—कार में रखे हुए हैं नक्शा; लेकिन बस, वह रखा रहता है। उस नक्शे का न तो उन्हें उपयोग पता है कि कैसे? क्योंकि नक्शे की भाषा आनी चाहिए।

नक्शा तो संकेत है, संकेत लिपि है उसकी, कोड है उसका; रास्ता तो मीलों का है, नक्शे पर इंच भर का है। नक्शे को समझना आना चाहिए, नक्शे को सीधा रखकर पढ़ना आना चाहिए, नक्शे की संकेत लिपि मालूम होनी चाहिए। और नक्शा तो केवल सूचक है, वह कोई फोटोग्राफ थोड़े ही है। उसमें कोई सारी चीजें थोड़ी आ गई हैं। सारी आ भी नहीं सकतीं। और सारी चीजें आ जायँ तो तुम कार लेकर चलोगे? वह तो सिर्फ प्रतीक है। छोटे चिह्न हैं।

अगर नक्शे का तुम ठीक उपयोग करो, तो एक बात पक्की है कि तुम कम भटकोगे। कई मार्ग जिन पर तुम जा सकते थे, न जाओगे।

शास्त्र का उपयोग नकारात्मक है; गुरु का उपयोग विधायक है। क्योंकि शास्त्र मुरदा है, वह विधायक नहीं हो सकता, वह नकारात्मक है, पर उसका मूल्य है। इतना ही क्या कम है कि सौ भूलें होती हों, तो निन्यानबे हुईं; उतना समय बचा; उतना जीवन बचा। और कौन जानता है निन्यानब्बे भूलें कर के तुम इतने थक जाते, हताश हो जाते, कि यात्रा ही छोड़ देते।

शास्त्र बचाता है भूल करने से; गुरु संभालता है—सही करने की तरफ। शास्त्र और गुरु का उपयोग ऐसा है, जैसे कभी तुमने कुम्हार को घड़ा बनाते देखा हो। चाक पर चढ़ा देता है घड़े को, एक हाथ भीतर कर लेता है, और एक हाथ घड़े के बाहर कर लेता है। बाहर के हाथ से थपकी देता है, घड़े की दीवाल बनाता है। भीतर के हाथ से सम्हालता है—भीतर के शून्य को। दोनों हाथ घड़े को बनाने में समर्थ हो जाते हैं। बाहर के हाथ से चोटें करता जाता है, भीतर के हाथ से संभालता रहता है।

शास्त्र बाहर से संभालते हैं—गुरु भीतर से। एक दिन तुम्हारा घड़ा पक कर तैयार हो जाता है।

जब तक तुम कच्चे हो, तब तक सम्हालने वाले की जरूरत है। जब तक तुम आग से नहीं गुजर गए, तब तक तुम अपने ही बल से चलने की कोशिश करोगे, तो पहुँचना करीब-करीब असंभव है।

'वे मनोकल्पित तप करते हैं, क्योंकि उनका अहंकार यह नहीं मान सकता कि वे किसी का सहारा लें।' 'दंभ और अहंकार से युक्त हैं, कामना, आसक्ति, बल और अभिमान से युक्त हैं।' अहंकार लक्षण है—तामसी व्यक्ति का। अहंकार लक्षण है—राजसी व्यक्ति का भी। अहंकार शेष रहता है—सात्विक व्यक्ति में भी। लेकिन तीनों में अहंकार की प्रक्रियाएँ अलग हो जाती हैं।

तामसी व्यक्ति में अहंकार होता है—सोया हुआ। राजसी व्यक्ति में अहंकार होता है—दौड़ता हुआ, गतिमान, गत्यात्मक डायनैमिक। सात्विक व्यक्ति में अहंकार होता है—जागा हुआ, लेकिन होता है।

साधु में भी अहंकार होता है—जागा हुआ। अभी मिट नहीं गया; बड़ा विनम्र हो गया है, सूक्ष्म हो गया है, पारदर्शी हो गया है, आरपार देख सकते हो, लेकिन अभी परदा मौजूद है।

अहंकार मिटता तो है, जब तीनों ही शून्य हो जाते हैं। व्यक्ति एक को जब उपलब्ध होता है, तभी अहंकार पूरा जाता है।

तामसी वृत्ति का व्यक्ति अपने ही ढंग से सोचता रहता है; उलटे-सीधे काम करता रहता है। न शास्त्र की सुनता, न गुरु की—सिर्फ अहंकार की सुनता है।

'तथा जो शरीर रूप से स्थिति भूत समुदाय को और अंतःकरण में स्थित मुझ अंतर्यामी को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को आसुरी स्वभाव वाला जान।'

ऐसे लोग कई उलटे-सीधे काम करते हैं। कृष्ण बड़ी अनूठी बात कह रहे हैं। कहते हैं, कि न केवल वे शरीर को सताते हैं, बल्कि अंतःकरण में स्थित मुक्त अंतर्यामी को भी कृश करनेवाले हैं। उपवास करेंगे, भूखे मरेंगे, शरीर को कसेंगे, जलाएँगे, काटेंगे। क्योंकि अहंकार सदा लड़ना चाहता है—या तो दूसरे से लड़े या खुद से लड़े। बिना लड़े अहंकार बच नहीं सकता।

दुनिया में दो तरह के लड़ने वाले लोग हैं। एक, जो बाज़ार में लड़ रहे हैं—दूसरों से; प्रतियोगिता है, प्रतिस्पर्धा है। और एक वे हैं, जो जंगलों में चले गये हैं, आश्रमों में बैठ गये हैं, और लड़ रहे हैं—अपने से। मगर लड़ाई जारी है।

कृष्ण कहते हैं कि न केवल ऐसे अहंकारी तामसी व्यक्ति अपने शरीर से लड़ने लगते हैं, अपने शरीर को काटने और मारने लगते हैं, बल्कि मुझ अंतर्यामी को, जो उनके भीतर छिपा हूँ, मुझको भी कृश करते हैं, मुझे भी सताते हैं।

एक बात ध्यान रखना : सताने से कुछ होगा नहीं, वह हिंसा है। शरीर की सुरक्षा करना और भीतर के अंतर्यामी की भी। सुरक्षा का अर्थ यह नहीं है कि तुम सुख और भोग में डूबे रहना। क्योंकि सुख और भोग में डूबा हुआ व्यक्ति भी शरीर को नष्ट करता है और भीतर के अंतर्यामी को सताता है। भोगी भी सताते हैं—एक ढंग से; त्यागी भी सताते हैं—दूसरे ढंग से। तुम मध्य में रहना—निरअति। तुम संतुलन साधना। न तो बहुत भोजन देना, क्योंकि बहुत भोजन से भी शरीर को कष्ट होता है। न भूखा रखना, क्योंकि भूखा रखने से भी कष्ट होता है। न तो अति श्रम करना, क्योंकि अति श्रम से कष्ट होता है। न बिस्तर पर ही पड़े रहना, क्योंकि अति विश्राम भी शरीर को गलाता है और नष्ट करता है।

तुम सदा मध्य में होना; अति मत करना; तो तुम अपने शरीर और अपने भीतर छिपे अंतर्यामी—दोनों को एक शांत समरसता का मार्ग बता सकोगे।

'मुझ अंतर्यामी को भी कृश करने वाले हैं। उन अज्ञानियों को आसुरी स्वभाव वाला जान।' वे असुर हैं। तमस् से घिरे हैं।

अहंकार तमस् का महनतम रूप है; वह अमावस है—अँधेरी रातों में। रजस् से भरा हुआ व्यक्ति सप्तमी-अष्टमी का चाँद है—आधा अँधेरा—आधा ज्योति। सत्त्व से भरा व्यक्ति पूर्णिमा की रात है—पूरे प्रकाश से भरा। लेकिन रात है। तीनों के जो बाहर आ गया, उसका सूर्योदय होता है; उसके जीवन में सुबह होती है।

अमावस को बदलो धीरे-धीरे—आधी रोशनी, आधी अँधेरी रात में। आधी अँधेरी, आधी रोशनी से भरी रात को धीरे-धीरे बदलो पूर्णिमा की रात में; तब तुम्हें वह मार्ग मिल जाएगा, जो सुबह तक ले आता है।

सुबह बहुत दूर नहीं है, थोड़ी-सी समझ और भीतर का थोड़ा-सा नया समायोजन—बस, इतना ही चाहिए।

आज इतना ही।

संदेह और श्रद्धा • अहंकार की रात • त्रिगुण के अनुसार—भोजन, यज्ञ, तप, दान

चौथा प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, प्रातः, दिनांक २४ मई, १९७५

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७॥

और हे अर्जुन, जैसे श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, वैसे ही भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—ऐसे तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके इस न्यारे-न्यारे भेद को तू मुझसे सुन।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : आप कहते हैं कि पदार्थ की खोज में जो स्थान संदेह का है, धर्म की खोज में वही स्थान श्रद्धा का है। और पदार्थ की खोज में मैंने इतनी लम्बी यात्रा की है कि संदेह ही मेरा दूसरा स्वभाव बन गया है; वह मेरी चमड़ी में ही नहीं, मांस-मज्जा में समाया है। इस हालत में अपने मूल स्वभाव यानी श्रद्धा को उपलब्ध होने के लिये मैं क्या करूँ?

संदेह पर संदेह करें, तभी संदेह पूरा होता है। अभी संदेह की यात्रा पूरी नहीं हुई। एक संदेह करने को बाकी रह गया है—वह है : संदेह पर संदेह। और यह आश्चर्य की बात है कि जो लोग हर चीज पर संदेह करते हैं, वे संदेह पर संदेह क्यों नहीं करते? दीया तले अँधेरा रह जाता है। जिस दिन तुम संदेह पर भी संदेह कर सकोगे, उसी दिन श्रद्धा का सूत्रपात हो जाएगा।

संदेह को दबाने से श्रद्धा नहीं आती; संदेह को पूरा कर लेने से ही आती है। संदेह के विपरीत नहीं है श्रद्धा—संदेह से आगे है, संदेह से ऊपर है। संदेह की यात्रा को भरपूर पूरा कर लो; उसे अधूरा मत छोड़ना। उससे अगर बच कर चले, अधूरा छोड़ा, कुछ बचा रहा, तो वह लौट-लौट कर श्रद्धा को खण्डित करेगा, भग्न करेगा।

जो भी अनुभव अधूरा रह जाएगा, वह अनेक-अनेक रूपों में वापस लौटता है। अनुभव को पूरा किये बिना कोई उपाय नहीं है। डरो मत।

मैं उन आस्तिकों जैसा नहीं हूँ, जो तुमसे कहते हैं, संदेह मत करो। मैं तुमसे कहता हूँ : पूरा संदेह कर लो। क्योंकि मेरी श्रद्धा संदेह से टूटती नहीं है, नष्ट नहीं होती है। श्रद्धा विराट् है। तुम्हारे संदेह से श्रद्धा को कोई भी भय नहीं है। तुम कर ही डालो उसे पूरा। और तुम पाओगे जैसे-जैसे संदेह पूरा होता है, वैसे-वैसे

एक जीवंत प्रकाश—श्रद्धा का—तुम्हारे भीतर आना शुरू हो जाता है।

संदेह कोई बड़ी महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। संदेह है इसलिए, क्योंकि तुम भयभीत हो। संदेह भय का लक्षण है। कैसे भरोसा करें? कहीं दूसरा कोई चालबाजी न करता हो, कहीं कोई षड्यंत्र न चल रहा हो—तुम्हारे चारों तरफ; कोई तुम्हें धोखा देने, डुबाने की, मिटाने की कोशिश में न लगा हो।

संदेह का अर्थ है : भयभीत आदमी की सुरक्षा। जितना भयभीत आदमी होता है, उतना संदेह करता है; जितना कायर आदमी होता है, उतना ज्यादा संदेह करता है। इसलिए संदेह कोई बहुत बलशाली बात नहीं है; वह तो कमजोरी का लक्षण है। पर तुम संदेह कर लो और संदेह करके तुम देख लो ठीक तरह कि संदेह से कोई सुरक्षा नहीं होती।

संदेह से भला तुम दूसरे से बच जाते हो, लेकिन संदेह ही तुम्हें खा जाता है। तुम दूसरे पर संदेह कर लेते हो, तो हो सकता है, दूसरा तुम्हें नुकसान न पहुँचा सके। लेकिन दूसरा नुकसान क्या पहुँचा सकता था? हो सकता था, तुम्हारी जेब काट लेता; जहाँ पाँच पैसे लेने थे—वहाँ दस पैसे ले लेता। हो सकता था, तुम सड़क के भिखारी हो जाते, अगर तुम लोगों पर भरोसा करते। और अभी तुम महल में बैठे हो। लेकिन तुम यह भूले जा रहे हो कि संदेह तुमसे कुछ छीने ले रहा है, जो बहुत मूल्यवान है। रक्षक भक्षक हुआ जा रहा है। वह तुमसे तुम्हारी आत्मा छीने ले रहा है; वह तुमसे तुम्हारी परमात्मा की सम्भावना छीने ले रहा है। बचा रहे हो दो कौड़ी, खो रहे हो सब कुछ।

जब तुम पूरा संदेह करोगे, तब तुम्हें यह भी दिखाई पड़ेगा; तब तुम संदेह से भी सावधान हो जाओगे—कि संदेह भी कुछ छीने ले रहा है, मिटाये डाल रहा है।

जीवन में जो भी मूल्यवान है, संदेह सभी को मिटा देता है। तुम प्रेम नहीं कर सकते—संदेह के साथ। तुम मित्रता नहीं कर सकते—संदेह के साथ। संदेह करने वाले का कहीं कोई मित्र होता है?—कैसे हो सकता है? कहीं संदेह करने वाला किसी को प्रेम कर सकता है?—कैसे कर सकता है? संदेह की दीवाल सदा बीच में खड़ी रहेगी।

संदेह करने वाला डरा हुआ, कंपता हुआ जीएगा; संदेह नरक है; उसमें तुम भयभीत ही रहोगे; उसमें कभी तुम अभयपूर्वक खड़े न हो सकोगे। न तुम्हारे जीवन में मित्रता की गंध आयेगी, न प्रेम का प्रकाश आयेगा। तुम्हारा जीवन कीड़े-मकोड़े की तरह होगा।

संदेह से छिपे हो अपनी खोल में, डरे हो, कंप रहे हो, फैल नहीं सकते। कछुए को देखा है। भयभीत हो जाता है, तो सब हाथ-पैर सिकोड़ कर छिप जाता है। ऐसे

ही तुम सिकुड़ गये हो—अपनी देह में; जैसे कछुआ अपनी देह में छिप जाता है। और देह में जो छिप गया है, वह कैसे परमात्मा को जानेगा? वह कैसे स्वयं को जानेगा?

भयभीत के लिये कोई ज्ञान नहीं है। भयभीत लाख उपाय करे, तो भी ज्ञान को न जान सकेगा। ज्ञानियों ने अभय को ज्ञान का पहला कदम माना है। जो व्यक्ति अभय को उपलब्ध हो जाता, उसके ही जीवन में सुबह होती है, अन्यथा रात घिरी रहेगी।

रात संदेह की है—सुबह श्रद्धा की। रात से पार हो जाओ; रात के अँधेरे को छिपाकर मत बैठे रहो। बहुत-से लोग यही कर रहे हैं। संदेह तो मौजूद है और ऊपर से श्रद्धा कर लिए हैं, इससे बड़ी दुविधा में पड़ गये हैं। ऊपर-ऊपर श्रद्धा है, भीतर-भीतर संदेह है। हाथ जोड़कर मंदिर में खड़े हैं; हाथ झूठे जुड़े हैं, क्योंकि हृदय में संदेह सरक रहा है। प्रार्थना कर रहे हैं, आकाश की तरफ चेहरा उठाया हुआ है। बस, चेहरा ही उठा है, आत्मा नहीं उठी है। क्योंकि भीतर तो संदेह है।

पक्का है नहीं कि परमात्मा है। लोग कहते हैं, पिता कहते हैं, माँ कहती है, पूर्वज कहते हैं, शास्त्र कहते हैं, गुरु कहते हैं; जब इतने लोग कहते हैं, तो होगा। लेकिन तुम्हारी कोई प्रतीति नहीं है, तुम्हारा कोई भरोसा नहीं है। और जब इतने लोग कहते हैं, तो पूजा कर लेनी ठीक ही है। कौन झंझट में पड़े; कहीं हो ही। कहीं बाद में पता चले कि है। तो तुम बड़ी कुशलता कर रहे हो।

तुम परमात्मा के साथ भी गणित से चल रहे हो। तुम्हारा प्रेम भी हिसाब-किताब है। तुम्हारी प्रार्थना भी खाते-बही में लिखी है। तुम कर क्या रहे हो? तुम यह कर रहे हो कि कहीं मरने के बाद पता चला कि परमात्मा है, तो यह तो कह सकूँगा कि मैंने श्रद्धा की थी, मंदिर गया था, मसजिद-गुरुद्वारा गया था—तेरी पूजा-प्रार्थना की थी।

लेकिन परमात्मा न तुम्हारी पूजा-प्रार्थना से राज़ी होता है, न तुम्हारे मंदिर-मसजिद जाने से। जिस दिन श्रद्धा का मंदिर तुम्हारे भीतर उठता है, जिस दिन श्रद्धा का कलश तुम्हारे भीतर उठता है, बस, उसी दिन परमात्मा राज़ी होता है; उसके पहले तो तुम कुछ और कर रहे थे। तुमने न तो प्रेम किया, न तुमने परमात्मा को चाहा, न पुकारा।

झूठी है तुम्हारी श्रद्धा, अगर संदेह के ऊपर उसको तुमने रंग-रोगन की तरह लगा लिया है।

किससे छिपा रहे हो? किससे बचा रहे हो? अगर संदेह है, तो मैं कहता हूँ, उसे तुम मवाद की तरह समझो—उसे तुम निकल जाने दो। उसके निकल जाने से तुम स्वस्थ हो जाओगे।

झूठे आस्तिक मत बनना। सच्चा नास्तिक झूठे आस्तिक से बेहतर है; कम से कम सच्चा तो है, कम से कम यह तो कहता है कि मुझे भरोसा नहीं है, तो मैं कैसे प्रार्थना करूँ? इतनी प्रमाणिकता तो है। कहता है, मैंने किसी परमात्मा को जाना नहीं, तो मैं कैसे हाथ जोड़ूँ? किसके लिए हाथ जोड़ूँ? मुझे कोरे आकाश के अतिरिक्त कोई दिखाई नहीं पड़ता। मंदिर जाता हूँ, तो पत्थर की मूर्तियाँ दिखाई पड़ती हैं।

झुकने की झूठी बात नास्तिक नहीं कर पाता। और मैं तुमसे कहता हूँ, नास्तिक ही कभी ठीक अर्थों में आस्तिक हो पाते हैं। झूठे आस्तिक तो झूठे ही बने रहते हैं। आस्तिक तो होना ही मुश्किल है उनके लिए, अभी वे नास्तिक भी नहीं हुए!

नास्तिकता यानी संदेह, आस्तिकता यानी श्रद्धा। नास्तिक आस्तिक के विपरीत नहीं है, जैसे संदेह श्रद्धा के विपरीत नहीं है। आस्तिक नास्तिक के आगे है, जैसे श्रद्धा संदेह के आगे है। जहाँ संदेह समाप्त होता है, वहाँ श्रद्धा शुरू होती है। जहाँ नास्तिकता समाप्त होती है, वहाँ आस्तिकता शुरू होती है। लेकिन नास्तिकता से गुजरना जरूरी है।

दुनिया में इतना अधर्म है, वह इसीलिए है कि यहाँ झूठे धार्मिक हैं। यहाँ सच्चे नास्तिक भी नहीं हैं; यहाँ प्रार्थना भी पाखण्ड है; यहाँ प्रेम भी ऊपर की बकवास है; यहाँ पूजा भी ढोंग है। यहाँ सारा व्यवहार पाखण्ड है, हिपोक्रेसि है, धोखा है। और तुम जानते हो भलीभाँति। क्योंकि तुम तो जानोगे ही कि तुमने जब हाथ जोड़े थे, तब भीतर तुम्हारी आत्मा नहीं जुड़ी थी। और तुमने जब सिर झुकाया था, तो तुम नहीं झुके थे। और जब तुमने कहा था कि हाँ, भरोसा करता हूँ, तब तुम्हारी बुद्धि तो 'नहीं' कह रही थी; तुम्हारा हृदय अनम्य था, नहीं झुका था, जरा भी पिघला नहीं था। ऊपर-ऊपर तुमने श्रद्धा ओढ़ी थी, वस्त्रों की भाँति थी; आत्मा तो तुम्हारी संदेह से भरी थी।

मैं तुम्हें आस्तिक बनने को नहीं कहता, क्योंकि आस्तिक तो तुम बन कैसे सकोगे? वह तो ऊपर की सीढ़ी है। कम से कम नास्तिक तो बन जाओ। पहली सीढ़ी तो पार कर लो। ऊपर की सीढ़ी तो अपने आप आ जाती है। जिस दिन नीचे की सीढ़ी पूरी होती है, अचानक द्वार खुल जाता है—ऊपर की सीढ़ी आ जाती है।

संदेह करो—परिपूर्ण आत्मा से संदेह करो। संदेह मार्ग है; लेकिन अधूरे में मत रुक जाना; संदेह पूरा कर लेना। जिस दिन तुम संदेह पूरा करोगे, एक नयी विधा खुलती है, वह है—संदेह पर संदेह। और संदेह पर संदेह ही—संदेह को काट देता है, जैसे काँटे को काँटा निकाल लेता है। संदेह ही संदेह को काट देता है। और जिस दिन दोनों काँटे बाहर हो जाते हैं, अचानक तुम पाते हो कि श्रद्धा की बाढ़ आ गई।

और जब श्रद्धा की बाढ़ आती है, तो उसका यह अर्थ नहीं होता कि तुम परमात्मा में भरोसा करते हो; उसका इतना ही अर्थ होता है कि तुम भरोसा करते हो। उसका यह अर्थ नहीं होता कि तुम मंदिर की मूर्ति में भरोसा करते हो; उसका इतना ही अर्थ होता है कि भरोसा पैदा हुआ। अब मसजिद में भी भरोसा है, मंदिर में भी भरोसा है, कुरान में भी, वेद में भी; चोर में भी, साधु में भी।

बड़ी प्रकाण्ड क्रांति है—श्रद्धा की। उससे बड़ी कोई क्रांति नहीं है। तुम श्रद्धा करते हो। अब तुम जानते हो कि संदेह कर करके देख लिया, कुछ पाया नहीं, कुछ बचा नहीं, सिर्फ गँवाया; कौड़ियाँ इकट्ठी कीं, हीरे खो दिये।

अब तुम पूरी तरह बदल जाते हो। अब तुम कहते हो, 'कौड़ियाँ जिनको ले जानी हों, वे ले जायँ। हम कौड़ियों को पकड़ने में अब हीरों को न खोएँगे।' अब तुम कहते हो, 'हम श्रद्धा का हीरा बचाएँगे।'

जिसको मीरा या कबीर कहते हैं, 'ऐरी मैंने राम-रतन धन पायो।' वह श्रद्धा का नाम है—राम-रतन धन। अब सब भ्रम टूट गया, सब संदेह टूटा; राम-रतन धन पाया। मिला है—कोहेनूर मिल गया, अब कौन कंकड़-पत्थर बीनता है।

और जब तुम्हारी आस्तिकता, नास्तिकता का अतिक्रमण होगी, ट्रान्सेन्डेन्स होगी और जब तुम्हारी श्रद्धा संदेह को पूरा जीने से आयेगी, तब तुम्हारी श्रद्धा को कोई भी न तोड़ सकेगा। तोड़ने की सम्भावनाएँ तो तुम पहले ही पार कर चुके। अब तुम्हारी नास्तिकता दोबारा नहीं आ सकती। तुमने उसे जी लिया, तुमने उसे चुका दिया, तुम उसे मरघट तक पहुँचा आये, तुम उसे चिता पर जला आये। अब वह बची ही नहीं, राख हो गयी। अब तुम्हारी आस्तिकता को कोई डाँवाडोल न कर सकेगा। हजार नास्तिक इकट्ठे हों और हजार-हजार तर्क दें, तो भी आस्तिक का रोआँ नहीं कंपता।

लेकिन अभी तो तुम डरे हुए हो; और तुम जिन धर्मों में पले हो, पाले गये हो, वे धर्म तक डरे हुए हैं। वे तुम्हें समझाते हैं कि नास्तिक को सुनना मत, कान बंद कर लेना।

तुमने एक आदमी की कहानी सुनी होगी—घंटाकरण की—कि उसने अपने कानों में घंटे लटका लिए थे। क्योंकि वह राम का भक्त था और गाँव के लड़के शैतानी करते थे—आवारा लड़के। और धीरे-धीरे पूरा गाँव उसका मजा लेने लगा। तो लोग उसके कान के पास आकर कृष्ण का नाम ले देते। पुरानी कहानी है, नहीं तो मुहम्मद का लेते। वह और घबड़ा जाता। कृष्ण से भी घबड़ाता था। क्योंकि वह राम का भक्त था और कृष्ण का नाम पड़ जाय—गलत नाम पड़ गया! श्रद्धा बड़ी कमजोर रही होगी; इतनी छोटी श्रद्धा—कि राम में चुक जाय और कृष्ण तक भी न पहुँचे!

ऐसी छोटी श्रद्धा से कहीं पार होओगे? ऐसी छोटी डोंगी से भवसागर पार करना चाहते हो? महा-यान चाहिए। श्रद्धा ऐसी चाहिए कि सब मंदिर, मसजिद समा जायँ। राम, कृष्ण, बुद्ध—सब उसमें पड़ जायँ और छोटे हो जायँ—और श्रद्धा का आकाश बड़ा हो, सब के लिए खुली जगह हो। हजार-हजार राम उठें—और करोड़-करोड़ कृष्ण—तो भी श्रद्धा के आकाश में कमी न पड़े।

श्रद्धा कोई आँगन थोड़े है तुम्हारा, कि उसके आसपास चार दीवारी है। श्रद्धा खुला आकाश है—नीला आकाश है, जिसकी कोई सीमा नहीं।

घंटाकरण घबड़ा गया कि यह रोज-रोज गाँव मजाक करता है; इनकी तो मजाक है, मेरी जान मुसीबत में है। ऐसा दुश्मन का नाम सुन-सुन कर भ्रष्ट हो जाऊँगा। और कृष्ण का नाम सुनने से श्रद्धा डगमगाती है कि पता नहीं, कृष्ण ठीक हों।

कृष्ण और राम बड़े विपरीत प्रतीक है। सत्य में दोनों समाये हैं, क्योंकि सत्य में सभी विरोधाभास समा जाते हैं। लेकिन अगर तुम राम और कृष्ण को सीधा-सीधा सोचो, तो बड़े विपरीत हैं।

कहाँ राम—मर्यादा; और कहाँ कृष्ण—इनसे ज्यादा अमर्यादा तुम कहीं खोज पाओगे? कहाँ राम—एक पत्नी व्रती; और कहाँ कृष्ण—जिनकी गोपियों की कोई संख्या नहीं; जो दूसरों की स्त्रियाँ भी चुरा लाये। कहाँ राम—जिनके वचन का भरोसा किया जा सकता है; कहाँ कृष्ण—जिनके वचन का कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। कहें कुछ, करें कुछ! कहा था कि युद्ध में भाग न लेंगे। फिर युद्ध के मैदान पर उतर पड़े। धोखा दे दिया; वचन-भंग हो गया। कहाँ राम...!

तुम सोच सकते हो राम को कि स्त्रियों के कपड़े चुराकर झाड़ पर बैठे हैं! असम्भव है। यह बात ही सोच में नहीं आती। लेकिन कृष्ण को कोई अड़चन नहीं है। कृष्ण को कोई अड़चन नहीं है, कोई मर्यादा नहीं है, कोई नियम नहीं है।

कृष्ण पूरे अराजक, राम पूरे अनुशासित। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। और कृष्ण को अगर नाम देना हो, तो वह 'अमर्याद पुरुषोत्तम' है। कोई नियम नहीं मानते, कोई व्रत नहीं मानते, कोई संयम नहीं मानते। वे बाढ़ की तरह हैं। राम तो नहर हैं—सीमा में बँधे, लकीर में चलते हैं। कृष्ण तो गंगा में आई बाढ़ हैं, सब कूल-किनारा तोड़ देते हैं।

तो स्वाभाविक था कि घन्टाकरण घबड़ाता हो, कृष्ण के नाम से ही। यह घबड़ाने वाला है। सभी धार्मिकों को घबड़ाना चाहिए—इस नाम से। नाम खतरनाक है। यह तो अराजक नाम है। इससे बड़ा कोई अनार्किस्ट कभी हुआ? इससे बड़ा कोई अराजकतावादी नहीं हुआ। इससे ज्यादा समाज, तंत्र, व्यवस्था और राज्य का कोई विरोधी नहीं हुआ।

तो इन दोनों का कोई ताल-मेल तो नहीं बैठता। लेकिन खुले आकाश में दोनों साथ-साथ हैं। और जिन्होंने खुला आकाश देखा है, वे कहते हैं, ये दोनों ही एक के ही अवतार हैं : राम हैं आंशिक—सीमा-बद्ध; कृष्ण हैं पूर्ण—सीमा तोड़कर। लेकिन जो राम में सीमा में प्रकट हुआ है, वही कृष्ण की असीमा में प्रकट हुआ है। जो गंगा का जल नहर में बह रहा है, वही बाढ़ में आया है। और स्वभावतः बाढ़ का जल खतरनाक है; सभी के काम का नहीं है। खेतों को उजाड़ देगा, घरों मिटा देगा।

इसलिए कृष्ण के साथ तो खतरे का संबंध है। काम तो नहर से ही होगा; वह सींचेगी, खेतों को भरपूर करेगी, लोगों की प्यास बुझाएगी।

राम की उपयोगिता है। कृष्ण के साथ तो जिनको खतरे का अभियान करना हो, वे जायँ। लेकिन अधिक लोग तो कृष्ण के साथ न जा सकेंगे। अधिक लोगों को तो राम के साथ ही जाना पड़ेगा।

घन्टाकरण घबड़ा गया होगा कि यह तो अराजक तत्त्व लोग चिल्लाने लगे। और इनकी तो मजाक है, मेरी जान मुसीबत में है। इनका खेल है और मैं मर-मिटूँगा। ये मेरी श्रद्धा को डगमगाते हैं। तो उसने दोनों कान में घन्टे बाँध लिए। घन्टे बजते रहते, लोग लाख चिल्लायें—कृष्ण का नाम, आवाज भीतर न पहुँचती।

जैसा मैं देखता हूँ, ऐसा किसी आदमी ने कभी किया हो या न किया हो, लेकिन सौ में से निन्यानबे आस्तिकों के कानों में घन्टे लटके देखता हूँ; तो घन्टाकरण हैं; वे डरे हुए लोग हैं। भीतर भी भय है, बाहर भी भय है। संदेह से पीड़ित हैं। और नास्तिक की बात से डरते हैं। नास्तिक उन्हें कंपा देता है, घबड़ा देता है, क्योंकि उनके भीतर ही संदेह है। नास्तिक उन्हें जगा देता है, उकसा देता है। जैसे किसी ने राख को हिला दिया हो और अंगारा बाहर आ गया है। वे डरते हैं; वे दूसरों का शास्त्र नहीं पढ़ते; वे दूसरे की किताब नहीं सुनते; वे दूसरे का वचन नहीं सुनते। वे अपने गुरु की ही सुनते हैं। और कानों में घन्टे लटकाये हुए हैं।

जैन हिन्दू की सुनने नहीं जाता; हिन्दू जैन की सुनने नहीं जाता; मुसलमान गीता नहीं पढ़ता है, हिन्दू कुरान नहीं पढ़ता है। बड़ा डर है। कैसी आस्तिकता है? नपुंसक आस्तिकता है।

आस्तिक तो विराट् है, वह सब को सुन सकता है; कोई उसको हिला नहीं सकता। लेकिन यह तो तभी होगा, जब तुम नास्तिकता को पार कर चुके होओगे। अगर नास्तिकता भीतर रह गई, तो डर रहेगा।

ऐसा ही समझो कि एक छोटा बचा है; खेल-खिलौनों में इसको रस है। फिर इसका शरीर तो बड़ा हो गया, लेकिन इसकी बुद्धि बचकानी रह गई। अब यह

सम्हल कर चलता है कि कहीं खेल-खिलौने दिखाई न पड़ जायँ, क्योंकि दिखाई पड़ जायँ तो यह लोभ-संवरण न कर सकेगा। और तब बड़ी हँसी होगी कि लोग कहेंगे, 'जवान आदमी और तू गुड़िया लिए फिर रहा है!' तो इसने गुड़ियों को छिपा दिया है घर में। दूसरे भी गुड़िया लिए इसके आसपास घूमें—छोटे बच्चे भी, तो यह घबड़ाता है, क्योंकि इसका रस तो अभी भी गुड़िया में है। अभी भी यह चाहता है कि गुड़िया का विवाह रचा ले। अब भी यह चाहता है कि फिर खेल खेल ले। भीतर यह बचकाना रह गया है; भीतर का बच्चा समाप्त नहीं हुआ है। यह प्रौढ़ हुआ ही नहीं है; सिर्फ शरीर से प्रौढ़ दिखाई पड़ रहा है, ऊपर से दिखाई पड़ रहा है। भीतर?—भीतर बाल-बुद्धि है।

तुम भीतर तो नास्तिक हो, संदेह से भरे हो और ऊपर से तुम आस्तिक हो। तुम्हारी प्रौढ़ता सही नहीं है। तुम डरे हुए हो—कहीं कोई यह न कह दे कि ईश्वर नहीं है; क्योंकि तुम्हें भी शक तो है ही। कहीं कोई यह न कह दे कि पत्थर की मूर्ति को क्या पूज रहे हो? यहाँ क्या है? डरे तो तुम हो ही।

दयानन्द के जीवन में घटना है, उस घटना को इस भाँति तो कभी समझा नहीं गया है। घटना है कि वे पूजा को बैठे हैं। उन्होंने जो मिष्टान्न चढ़ाये हैं— मूर्ति के सामने, उसे एक चूहा ले भागा—एक चूहा। हो सकता है—गणेश जी की मूर्ति रही हो। और चूहा तो उनका वाहन है। या शंकर जी की मूर्ति रही हो; वे गणेश जी के पिता हैं; थोड़ा दूर का सम्बन्ध है चूहे से।

चूहा मिष्टान्न ले भागा। दयानंद के मन में संदेह पैदा हो गया—कि जो भगवान् अपनी रक्षा चूहे से नहीं कर सकता, वह मेरी रक्षा क्या करेगा? उन्होंने मूर्ति फेंक दी। उसी दिन से वे अमूर्तिवादी हो गये।

उस चूहे के द्वारा मिठाई का ले जाना ही आर्य-समाज का जन्म है; उसी से ही आर्य-समाज पैदा हुआ।

लेकिन थोड़ा सोचने से जैसा है कि मूर्ति में दयानंद का भरोसा था क्या? अगर भरोसा था, तो एक चूहा भरोसे को तोड़ सकता है? तो चूहा दयानन्द से ज्यादा बड़ा महर्षि मालूम होता है।

एक चूहे ने दयानंद की श्रद्धा को तोड़ दिया। श्रद्धा थी? अगर श्रद्धा होती, तो कौन तोड़ सकता है? श्रद्धा थी ही नहीं—पहले स्थान पर। ऐसी झूठी पूजा चल रही थी। लेकिन दयानन्द को यह दिखाई नहीं पड़ा कि मेरी श्रद्धा झूठी थी। दयानंद को दिखाई पड़ा—मूर्ति व्यर्थ है। इसे थोड़ा सोचने जैसा है।

अगर दयानन्द निश्चित ही आत्म-खोजी होते, तो उनको यह दिखाई पड़ता कि एक चूहे ने श्रद्धा तोड़ दी। मेरे पास श्रद्धा ही नहीं है। और हो सकता है, शरारत

गणेश जी की रही हो कि चूहा ले जा मिठाई, इसकी झूठी श्रद्धा तोड़।

उस दिन से वे मूर्ति विरोधी हो गये। लेकिन वे मूर्ति के प्रेमी कब थे? उनका मूर्ति-विरोध तो समझ में आता है। लेकिन वे प्रेमी कब थे—यह मेरी समझ में नहीं आता। प्रेमी इतनी जल्दी छोड़ देता है प्रेम? प्रेम इतना कमजोर और कच्चा धागा है? प्रेम कोई कच्चे काँच की चूड़ी है?—कि ऐसे चूहा गिरा दे और तोड़ दे।

अगर दयानन्द की जगह सच में कोई आस्तिक हुआ होता, तो उसने शंकर जी में तो भगवान् देखा ही था, चूहे में भी भगवान् देखा होता। श्रद्धा का आकाश बड़ा है। और उसने कहा होता, 'अरे। चूहा भगवान्! तो तुम मिठाई ले चले। तो जिसको चढ़ाई थी, उसको पहुँच गयी। हम तो सोचते थे : मूर्ति मुरदा है। लेकिन मूर्ति मुरदा नहीं है। मूर्ति ने चूहे की तरफ से हाथ फैलाया और मिठाई ले ली।'

अगर श्रद्धा होती तो ऐसा दिखता। और तब यह मुल्क आर्य-समाज के दुर्भाग्य से बच जाता। लेकिन वह नहीं हो सका। चूहा आर्य-समाज को पैदा करवा गया। संदेह था भीतर।

दयानन्द तर्कवादी हैं—आस्तिक नहीं हैं। और कभी आस्तिक नहीं हो पाये। तर्क ही रहा; श्रद्धा कभी न हो पाई। तर्क का ही सब जाल रहा। मरते दम तक भी श्रद्धा पैदा न हो सकी। वे पहले कदम पर ही चूक गये।

उस दिन उन्हें तय करना था कि मेरी नास्तिकता अभी मरी नहीं है, मेरा संदेह अभी मरा नहीं, अभी मैं पूजा के योग्य नहीं। उन्होंने समझा कि यह शंकर जी, गणेश जी पूजा के योग्य नहीं हैं। जानना था कि मैं अभी पूजा का अधिकारी नहीं। अभी इस मंदिर में प्रवेश के मैं योग्य नहीं हुआ; अभी मुझे श्रद्धा खोजनी पड़ेगी।

अगर ठीक आँख होती तो चूहे ने बता दिया होता कि तुम्हारी श्रद्धा ऊपर-ऊपर है, पतले कागज की तरह चढ़ी है; भीतर संदेह विराजमान है—तुम्हारे मंदिर में। चूहा कुछ पैदा कर सकता है—जो तुम्हारे भीतर नहीं है?

सब संदेह चूहों की तरह तुम्हें कुतर देते हैं, क्योंकि तुम्हारी श्रद्धा कपड़ों जैसी है, वह तुम्हारी आत्मा नहीं है। इसलिए फिर तुम डरते हो कि कहीं कोई ऐसी बात न कह दे, जिससे तुम्हारी श्रद्धा डगमगा जाय।

मैं ग्वालियर की महारानी के घर मेहमान था। उन्होंने पहले मुझे कभी सुना नहीं था। पता नहीं किस भूल-चूक से मुझे बुला लिया। सुन कर वे घबड़ा गईं, बहुत बेचैन हो गईं। साधारण श्रद्धालु जन हैं—जिनकी श्रद्धा में कोई बल नहीं है, कोई बुनियाद नहीं है। शिष्टाचार वश—उनकी आने की भी हिम्मत मेरे पास न रही। उनके ही महल में मैं मेहमान हूँ, लेकिन शिष्टाचार वश...। शिष्टाचार वाली महिला हैं। वे दूसरे दिन मुझे मिलने आईं और कहा कि 'मेरी हिम्मत न रही आने की आपके पास।

जो सुना, उससे मैं तो घबड़ा गई। आप तो हमारी श्रद्धा नष्ट कर देंगे!'

मैंने कहा, 'जो श्रद्धा तुम्हारी मेरे बोलने से नष्ट हो जाय, उसका तुम मूल्य कितना आँकती हो? शब्दों से जो श्रद्धा मिट जाय, वह पानी के बबूलों जैसी कमजोर होगी। शब्द हवा में बने बबूले हैं। मैंने कुछ कहा, तुम्हारी श्रद्धा टूट गयी! श्रद्धा है या मजाक कर रखा है?' उन्होंने कहा, 'जो भी हो, लेकिन अब आप और कुछ मत कहें। मेरा लड़का भी आपसे मिलने आना चाहता था। लेकिन मैंने उसे रोक दिया; क्योंकि वह तो अभी जवान है। हो सकता है, आप उसको बिलकुल डगमगा दें।'

अब यह माँ न तो यह देख पा रही है कि इसकी श्रद्धा दो कौड़ी की है। और न यह देख पा रही है कि जिस दो कौड़ी की श्रद्धा पर वह अपने बेटे को बचा रही है, उसका कितना मूल्य हो सकता है। उससे तुम नाव बनाओगे, उससे तुम भव-सागर पार करोगे?

सोना आग से गुजरता है, तो डरता नहीं; कचरा गुजरता है, तो डरता है। कचरा जलेगा।

मैं तुमसे कहता हूँ कि संदेह से गुजरकर जो बच जाय, वही श्रद्धा है। संदेह में जो मर जाय, तुम उसे कचरा समझना, वह सोना था नहीं। अच्छा हुआ मर गया। संदेह को धन्यवाद देना; क्योंकि संदेह ने तुम्हें कचरे को बचाने से बचाया—कचरे को सम्हालने से बचाया, नहीं तो तुम कचरे को तिजोड़ी में रखे बैठे रहते।

इस आस्तित्व में कुछ भी व्यर्थ नहीं है; श्रद्धा भी सार्थक है, संदेह भी सार्थक है। जो जानता है, वह संदेह को भी स्वीकार करता है। लेकिन संदेह पर ही अटक नहीं जाता, आगे जाता है।

संदेह महत्त्वपूर्ण है—सब-कुछ नहीं है। एक अंग और है जीवन का, जो श्रद्धा है। जैसे दो पंखों से पक्षी उड़ता है, जैसे दो पैरों से तुम चलते हो, जैसे दो आँखों से तुम देखते हो, ऐसी संदेह और श्रद्धा दोनों आँखें हैं, दोनों से देखा जाता है। और संदेह की आँख से जब तुम सब देख लेते हो, सबका मतलब है—जब संदेह ही देख लेते हो, तब दूसरी आँख खुलती है। अब तुम श्रद्धा के योग्य हुए, पात्र बने।

संदेह तुम्हें निखारता है, संदेह तुम्हें जलाता है, शुद्ध करता है, संदेह सहयोगी है, मित्र है।

नास्तिकता मेरे लिए आस्तिक की दुश्मन नहीं है। नास्तिकता मेरे लिए आस्तिक की तैयारी है; वह आस्तिक का विद्यापीठ है। वहाँ आस्तिक निर्मित होता है। और जब कोई धर्म संदेह से डरने लगता है, तब समझ लेना की वह धर्म मुरदा है।

जब महावीर जिंदा होते हैं, तो वे संदेह से भयभीत नहीं करते—अपने शिष्यों को। वे कहते हैं, 'लाओ तुम्हारे संदेह; पूछो प्रश्न, उठाओ—जो भी तुम्हारे भीतर

छिपा है प्रकट करो; क्योंकि मैं मौजूद हूँ, जला दूँगा।'

बुद्ध जब जिंदा होते हैं, तो वे किसी की ओंठ को बंद नहीं करते, ओंठ को सीते नहीं। वे कहते हैं, 'पूछो, जिज्ञासा करो, संदेह करो; अन्यथा कैसे तुम आगे बढ़ोगे!'

मैं मौजूद हूँ, मैं तुम्हें तुम्हारे संदेह के पार ले चलूँगा। यही मैं भी तुमसे कहता हूँ। तुम्हारे पास जितने संदेह हों, सब ले आओ।

तुम्हारा कोई संदेह श्रद्धा का दुश्मन न है, न हो सकता है। संदेह जैसी चीज कहीं श्रद्धा की दुश्मन हो सकती है! संदेह तो अँधेरे जैसा है। तुमने देखा : अँधेरा कितना ही घना हो, एक छोटे-से दीये को भी बुझा नहीं सकता है। अँधेरे की ताकत क्या?

तुमने कभी सोचा यह कि अँधेरा गिर पड़े पहाड़ की तरह और छोटे-से दीये को बुझा दे। असम्भव। सारी पृथ्वी पर अंधकार भरा हो और तुम्हारे घर में एक छोटा दीया जलता हो, तो अंधकार उसे बुझा नहीं सकता। अँधेरे की, अंधकार की ताकत क्या? लेकिन अगर झूठा दीया जला हो—जला ही न हो—आँख बंद करके तुम सोच रहे हो कि दीया जला है, तो फिर दीया बुझाया जा सकता है। जो जला ही नहीं है, वह बुझ जाएगा; वह बुझा ही हुआ था। आँख बंद करके तुम सपना देख रहे थे।

दयानंद को उस दिन चूहे ने डगमगा दिया, खाक दयानन्द रहे होंगे। उस दिन वे किसी अँधेरे में दीये के होने की कल्पना कर रहे थे। उस चूहे ने फूँक मार दी, दीया बुझा दिया।

और फिर उनकी चूहे पर ऐसी श्रद्धा हो गई, कि वह कभी न मिटी। फिर दोबारा उन्हें कभी संदेह चूहे पर न आया, न अपने पर आया। जिंदगी भर फिर उसी भरोसे में रहे, वह जो उस दिन उद्‌घाटन हो गया; जैसे वह कोई बुद्धत्व था। और आर्य समाजी सोचते हैं कि उस दिन बड़े ज्ञान की घटना घट गई जगत् में।

दयानन्द पण्डित थे, पण्डित ही रहे। और चूहे से जिस श्रद्धा का भ्रम टूट गया था, उस संदेह को मिटाने के लिए उन्होंने कभी फिर कुछ न किया। फिर वे तर्कनिष्ठ ही बने रहे। कितना ही विचार उन्होंने वेदों का किया, उपनिषदों का किया, लेकिन उस सब विचार में तर्क ही आधार रहा। इसलिए तुम आर्य समाजिओं को पाओगे—बड़े कुतर्की हैं, उनसे बकवास करोगे तो मुश्किल में पड़ेगे।—बकवासी हैं; पूरा ही आंदोलन बकवासियों का है। उसका धर्म से कोई लेना-देना न रहा।

धर्म का तर्क से कोई संबंध नहीं है। धर्म का सम्बन्ध श्रद्धा से है। और अगर तुम संदेह से भरे हो, तो तुम धर्म से भी जो सम्बन्ध बनाओगे, वह भी तर्क का होगा। तब तुम सिद्ध करोगे तर्क से—कि वेद सही हैं। और तब ऐसे-ऐसे तर्क उठाओगे...। लेकिन वेद सही है—यह तुम्हारे हृदय की श्रद्धा का आविर्भाव न होगा; यह तर्क ही होगा। और तर्क से ही तुम अपने को समझाते रहोगे।

तर्क का अर्थ ही यह है कि संदेह भीतर मौजूद है, जिसे तुम तर्क से झुठला रहे हो। श्रद्धा का कोई तर्क नहीं है। श्रद्धा स्वयं-सिद्ध है। यह उसका स्वभाव है। इसके लिए किसी प्रमाण की कोई जरूरत नहीं है। वह स्वतः प्रमाण है—सेल्फ-एविडेन्ट है, वह कोई गवाह नहीं माँगती। इसलिए तुम आस्तिक को गलत कर ही नहीं सकते, क्योंकि जिस ढंग से तुम उसे गलत कर सकते हो, उस ढंग से सही होने का वह दावा ही नहीं करता।

आस्तिक के सही होने का दावा ही और है। वह यह नहीं कहता कि मैंने किन्हीं प्रमाणों से जान लिया कि परमात्मा है। वह कहता है कि मैंने देख लिया। वह कहता है कि मैं हो गया। वह कहता है, मैंने चख लिया। अब तुम लाख कहो कि परमात्मा नहीं है, मैं कैसे मानूँ! मेरी प्यास बुझ गयी और तुम कहते हो —पानी है नहीं; और मैं देखता हूँ कि तुम प्यास में तड़फ रहे हो, और तुम कहते हो, पानी है नहीं। और मेरी प्यास बुझ गयी। मैं कैसे मानूँ कि परमात्मा नहीं है। तुम्हें मैं दुःख में देखता हूँ और तर्क में देखता हूँ, संदेह में देखता हूँ, मेरा दुःख मिट गया, मेरे भीतर आनन्द बरस गया। मैं कैसे मानूँ कि आनन्द नहीं है!

तुम किसी और को डिगा सकते हो, जिसके भीतर आनन्द न बरसा हो, तुम उसमें संदेह पैदा कर सकते हो। मुझमें तुम संदेह पैदा नहीं कर सकते। कोई उपाय ही न रहा। एक ही उपाय है कि किसी भाँति अगर तुम मेरा आनन्द छीन लो, तो शायद संदेह पैदा हो सके।

लेकिन कोई किसी का आनन्द कहीं छीन सकता है? तुम मेरा शरीर मुझसे छीन सकते हो, मेरी आत्मा तो नहीं छीन सकते! तुम मुझे मार डाल सकते हो, लेकिन भीतर तो कोई है—जहाँ शस्त्र छेदते नहीं, जहाँ आग जाती नहीं, उसे तुम छू भी न पाओगे।

तो शरीर को काट देने से कुछ प्रमाणित न होगा, बल्कि मैं जो कहता था, वही प्रमाणित होगा कि मैं फिर भी हूँ। तुम मेरे शरीर को काट कर भी इतना ही सिद्ध कर पाओगे—जो मेरी श्रद्धा थी, उसी को सिद्ध कर पाओगे।

श्रद्धा को खण्डित करने का उपाय नहीं है, क्योंकि वह अनुभव है। इसलिए मैं कहूँगा, संदेह को पूरा करो; इतना पूरा करो कि संदेह पर संदेह आ जाय। फिर संदेह लड़खड़ाकर खुद ही गिर पड़ता है। उसके गिर जाने पर—उसके गिर जाने पर ही पहली दफा श्रद्धा का उन्मेष होता है, तुम्हारे भीतर तरंग उठती है।

श्रद्धा एक अनुभव है—बुद्धि की मान्यता नहीं। श्रद्धा कोई मान्यता, धारणा नहीं है—एक अनुभव है; जैसे प्रेम—ऐसी ही श्रद्धा है।

तुम्हारा लड़का है, वह एक लड़की के प्रेम में पड़ गया है। तुम लाख समझाते हो कि 'ना-समझ, पहले गौर से तो देख, इसका बाप चरित्रवान नहीं।' वह लड़का कहता है, 'बाप से लेना-देना क्या है?' तुम कहते हो, 'उसके घर में पैसा नहीं है।' वह कहता है, 'पैसे के थोड़े ही मैं प्रेम में पड़ा हूँ।' तुम कहते हो, 'इसके कुल का तो विचार कर।' वह लड़का कहता है, 'कुल से थोड़े ही विवाह करके आना है।' बाप कहता है, 'यह लड़की काली-कलूटी है, दुबली है, बीमार है। हजार तर्क खोजता है, लेकिन वह लड़का कहता है, 'मेरी आँख से जरा देखने की कोशिश करें। मुझे इससे सुंदर कोई दिखाई ही नहीं पड़ता।'

प्रेम को तुम किसी भी तर्क से खण्डित नहीं कर सकते। और अगर कर लो तो समझना प्रेम था नहीं। अगर लड़का मान जाय कि बात तो ठीक है : घर में धन नहीं है, दहेज क्या खाक मिलेगा? तो लड़का प्रेम में था ही नहीं। असल में वह लड़का लड़का ही नहीं है। वह लड़का होने के पहले बाप हो गया। यह जिंदगी से चूकेगा। यह बूढ़ा हो चुका ह।

सिर्फ बूढ़ा आदमी सोचता है पैसे की। जवान आदमी पैसे की सोचे, तो उसकी जवानी संदिग्ध है। जवान को भरोसा होना चाहिए—दहेज पर थोड़े ही—अपने पर कि कमा लेंगे, पैदा कर लेंगे। लेकिन जवान आदमी भी सोचता है—दहेज कितना? वह जवान न रहा। वह गणित में पड़ गया; वह हिसाब लगा रहा है; वह तर्क की दुनिया में उलझ गया; उसे प्रेम का कोई पता ही नहीं है। और श्रद्धा तो महा प्रेम है; वह तो प्रेम है—आस्तित्व के साथ; वह तो बड़ा पागलपन है और पागलों को कहीं तुम तर्क से समझा सकते हो?

दयानन्द जैसे लोग पागल कभी हुए नहीं। कभी नाचे नहीं—मस्ती से। बस बैठकर तर्क जुटाते रहे, टीकाएँ लिखते रहे—वेद की और सिद्ध करते रहे कि वेद भगवान् है। और भगवान् को सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं है। न वेद को सिद्ध करने का कोई उपाय है।

सिद्ध करने की बात ही संदेह की दुनिया की बात है। भगवान् सिद्ध है; श्रद्धा का आविर्भाव होते ही दिखाई पड़ता है; आँख खुलते ही उसका सूरज उगा हुआ मिलता है।

बस, आँख खोलने की बात है। अंधे को कोई तर्क देने की जरूरत नहीं कि प्रकाश है; उससे इतनी ही प्रार्थना करनी है कि आँख खोल ले। और वह कहता है, 'अभी आँख कैसे खोलूँ, भीतर बहुत सपने देख रहा हूँ; बड़ा मजेदार सपना चल रहा है।' तो हम उससे कहते हैं कि खूब देख ले। जितना बन सके सपना देख ले—इतनी गौर से सपने को देख कि तुझे खुद ही दिखाई पड़ जाय कि यह सपना

है। तो धीमा-धीमा मत देख; पूरी प्रगाढ़ता से देख, आँख गढ़ाकर देख, क्योंकि जब तेरा सपना भीतर टूटेगा, आँख तू खोलेगा, तभी तुझे सूरज का प्रकाश अनुभव हो सकता है।

● दूसरा प्रश्न : सुबह बहुत दूर नहीं है ऐसा सभी गुरु सदा से कहते आये हैं, पर अपनी ओर देखकर तो सुबह सदा दूर ही दिखाई देती है। क्या अब अपनी ओर देखना बंद करने से सुबह जल्दी आ जाएगी?

अपनी ओर तुम देखोगे तो सुबह दूर दिखाई देगी ही। कारण यह नहीं है कि तुमने अपनी ओर देखा, कारण यह है कि तुम अभी जानते ही नहीं हो कि अपनी ओर कैसे देखें? और जिसको तुम समझ रहे हो—अपनी ओर देखना, वह अहंकार की ओर देखना है, वह अपनी ओर देखना नहीं है। और अहंकार तो अंधकार है।

अगर अपनी ही ओर देख लो, तो वहीं तो सुबह हो जाती है। पर जिसको तुम समझ रहे हो—अपना होना, वह तुम्हारी भ्रांति है। तुम समझ रहे हो कि किसी का बेटा हूँ, कि किसी का बाप हूँ, कि किसी का पति हूँ, कि किसी की पत्नी हूँ, कि गरीब हूँ, कि अमीर हूँ, कि सुंदर हूँ, कि कुरूप हूँ, कि रुग्ण हूँ, स्वस्थ हूँ, जवान हूँ, बूढ़ा हूँ —यह सब अहंकार की ही परिभाषाएँ हैं। तुम नहीं हो यह। इन सब से जो गुजरता है, वह हो तुम—जो कभी बच्चा होता है, कभी जवान हो जाता है, कभी बूढ़ा हो जाता है।

न तुम बचपन हो, न तुम जवानी ही हो, न तुम बुढ़ापा हो। वह जो इन तीनों से गुजरता है—वह हो तुम।

जो कभी गरीब और कभी अमीर, और कभी सुखी और कभी दुःखी, और कभी दीन और कभी दानी, कभी भिखारी और कभी सम्राट—दोनों के बीच जो है, वह हो तुम।

कभी जन्मते हो, कभी मरते हो; लेकिन जो न कभी जन्मता है और न कभी मरता है, या जो जन्म में जन्मता भी है, मरने में मरता भी है, फिर भी न तो जन्मता और न मरता है, वह हो तुम। लेकिन उस तरफ तुम नहीं देख रहे हो। तुम देख रहे हो—अहंकार की तरफ। तुम देख रहे हो, अपने परिचय की तरफ—जो लोग तुमसे कहते हैं, तुम हो।

कोई तुमसे कहता है कि तुम बड़े सुंदर हो और तुमने मान लिया। कोई तुमसे कहता है कि सुंदर नहीं हो और तुम पीड़ित हो गये।

तुम लोगों के मन्तव्य इकट्ठे कर रहे हो अपने सम्बन्ध में। तुमने सीधा अपने को देखा ही नहीं। सब मन्तव्य हटा दो, क्योंकि दूसरे तुम्हें बाहर से देखते हैं। तुम तो स्वयं को भीतर से देख सकते हो। दूसरों के देखने को क्या इकट्ठा कर रहे हो।

यह तो ऐसा ही पागलपन हुआ कि मैं घर के भीतर बैठा हूँ और पड़ोसियों से पूछने जाता हूँ अपने घर के संबंध में। तो उनमें से कोई कहता है कि 'तुम्हारा मकान बहुत सुंदर है।' उन्होंने बाहर से ही मकान देखा—रंग-रोगन अच्छा है। उन्होंने बाहर से ही मकान देखा। या कोई पसंद नहीं करता बाहर की दीवालों को और कहता है, 'चूना झड़ने लगा है; मकान गंदा हुआ जा रहा है।' उनमें से भीतर के कक्षों को तो किसी ने भी नहीं देखा। वहाँ तो केवल मैं ही देखता हूँ।

तुम्हारे भीतर तुम्हारे अतिरिक्त कोई भी नहीं जा सकता। भीतर का अर्थ ही है, जहाँ तुम ही जा सको और कोई न जा सके। जहाँ तक दूसरा जा सकते है, वहाँ तक बाहर की सीमा है। बाहर का मतलब ही इतना है : जहाँ दूसरे जा सकते हैं। भीतर यानी जहाँ केवल तुम जा सकते हो। वहाँ तुम्हारी प्रेयसी भी नहीं जा सकती। तुम्हारा निकट का मित्र भी नहीं जा सकता। जिस मित्र के लिए तुम मरने को तैयार हो, वह भी वहाँ नहीं जा सकता; वहाँ तुम ही जा सकते हो।

और जरा गौर से देखो, तो तुम्हारा शरीर भी जहाँ नहीं जा सकता, क्योंकि वह भी बाहर है। तुम्हारे विचार भी जहाँ नहीं जा सकते, क्योंकि वे भी सतह पर हैं। सिर्फ तुम, तुम्हारी शुद्धि में जहाँ जा सकते हो, उस निर्विचार शुद्धि को जिस दिन तुम देखोगे, उस खुले आकाश को जहाँ कोई विचार का बादल भी नहीं है, उस दिन तुमने अपनी तरफ देखा।

उस दिन सभी गुरु तुम्हें सही मालूम पड़ेंगे। उनकी बात सुनोगे तो लगेगा : सुबह करीब है। परमात्मा मिला ही हुआ है, जरा एक कदम उठाना है। जरा-सी बात है। आँख में छोटी-सी किरकिरी पड़ी है, उसको निकाल देना है। कोई बहुत बड़ा मामला नहीं है।

गुरुओं की बात सुनोगे तो लगेगा कि अब पहुँचे, अब पहुँचे; किनारे पर ही हैं, जरा-सा हाथ फैलाना है, जरा-सा मुड़ना है।

लेकिन जब तुम अपनी तरफ देखोगे, तो अंधकार भयंकर मालूम होगा, रात घनी मालूम होगी—अमावस—जिसका कोई अंत नहीं मालूम होता। सुबह आयेगी कैसे? भरोसा नहीं बैठता।

तुमने अपने गलत होने की तरफ देखा। तुमने अपने स्वभाव की तरफ न देखा, तुमने अपने संग्रह की तरफ देखा, तुमने स्मृतियों की तरफ देखा; तुमने अपने बोध की तरफ न देखा। साक्षी-भाव को न देखा, द्रष्टा को न देखा—दृश्य को देखते रहे और दृश्य के संग्रह का नाम अहंकार है। तो स्वभावतः ऐसा होगा। तो क्या करो तुम?

एक काम तो यह है कि पहचानने की कोशिश करो कि तुम कौन हो? और उस सब को काटते जाओ, जो तुम नहीं हो। जो अप्रासंगिक है, उसे काटो। उपनिषद् इस

प्रक्रिया को नेति-नेति कहते हैं—द मेथड ऑफ इलिमिनेशन। जो भी तुम्हें लगता है : गौण है—जिसके बिना तुम हो सकते हो, उसे काटो; वह तुम नहीं हो।

तुम्हारे पास धन है, तो तुम अकड़ कर चलते हो; उस अकड़ को छोड़ो; क्योंकि धन के बिना भी तुम हो सकते हो; धन अनिवार्य नहीं है। कल सरकार बदल जाय, या इसी सरकार की बुद्धि बदल जाय, कल कम्युनिस्ट आ जायँ, तो धन चला जाएगा, तुम रहोगे।

जिसके बिना तुम रह सकते हो, वह तुम नहीं हो अन्यथा तुम बचते कैसे? रूप है, सौंदर्य है—आज है, कल नहीं हो सकता है। चेचक निकल आये, बीमार हो जाओ, शरीर रुग्ण हो जाय, चमड़ी पर कोढ़ फैल जाय, तो वह रूप तुम नहीं हो। क्योंकि फिर भी तुम रहोगे। शरीर जब कृश हो जाएगा, चेचक के दाग चेहरे पर पड़ जाएँगे, कोई तुम्हारी तरफ न देखेगा, कोई देखेगा भी तो ऐसे देखेगा जैसे दया कर रहा हो, कोई तुम्हारे सौंदर्य का गुण-गान न करेगा, फिर भी तुम तो तुम ही रहोगे।

जिसके बिना तुम हो सकते हो, उसको अपने हिसाब में मत लो। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम जाकर और चेचक की बीमारी मोल ले लो। मैं यह भी नहीं कह रहा हूँ कि जाकर अस्पताल में बीमार पड़ जाओ। मैं यह भी नहीं कह रहा हूँ कि अपने धन को सरकार को दे दो कि दान कर दो—मैं यह कुछ नहीं कह रहा हूँ। मैं सिर्फ इतना कह रहा हूँ कि जिसके बिना तुम हो सकते हो, उसको तुम अपने होने के हिसाब में मत लो; वह तुम्हारा होना नहीं है। वह तुमसे बाहर-बाहर है। है तो ठीक, नहीं है तो ठीक। तुम उस पर निर्भर नहीं हो। वह तुम्हारी बुनियाद नहीं है।

धीरे-धीरे ऐसा इलिमिनेट करो—नेति-नेति। कहो : यह भी नहीं, यह भी नहीं। हटते जाओ, हटते जाओ। एक घड़ी ऐसी आती है— चैतन्य की, जहाँ तुम पाओगे, अब और हटाना संभव नहीं है। यह मैं हूँ। क्योंकि अगर यह भी हट गया, तो मैं नहीं बचता।

प्याज के छिलके की तरह छीलते जाओ—अपने तादात्म्य को। एक-एक छिलके को अलग करते जाओ। जिस दिन वही बच जाय...। क्या बचेगा—आखिर में क्या बचेगा? उसी को हमने आत्मा कहा है, चैतन्य कहा है, होश कहा है—भान, बोध, बुद्धत्व—हजार नाम हैं।

क्या बचेगा भीतर? आखिर जब सारे प्याज के छिलके छीलकर तुम फेंक दोगे—नेति-नेति—सारी प्याज नेति-नेति हो जाएगी, तब तुम पाओगे, बस, एक बची : कान्शसनेस—होश बचा, भान बचा, चैतन्य बचा। इसको तुम न काट पाओगे, क्योंकि इसको काट कर फिर तुम नहीं बच सकते; इसको छोड़कर फिर तुम नहीं बच सकते; फिर तुम गए।

जिसके न होने से तुम न हो जाओगे, वही है—तुम्हारा होना। उसको खोजते रहो। यही ध्यान की प्रक्रिया है। सतत खोजते रहो।

और गलत से, व्यर्थ से, असार से—जो तुम्हारा स्वभाव नहीं, जो पर-भाव है—उससे अपने को तोड़ते चले जाओ। जैसे-जैसे यह पर-भाव छूटेगा, स्वभाव उभरेगा, जैसे-जैसे पर-भाव से सम्बन्ध शिथिल होंगे, वैसे-वैसे स्वभाव पंख फैलाएगा। तुम पाओगे—एक मुक्ति फलित होने लगी।

आखिर में बच रहता है—सच्चिदानन्द। तुम होते हो परम चैतन्य; तुम होते हो परम सत्य; तुम होते हो परम आनन्द—यह स्वभाव है।

सारे धर्म की प्रक्रिया बस, नेति-नेति में समाई है। इन दो शब्दों से ज्यादा कुछ भी नहीं चाहिए—न यह, न वह—काटते जाओ। 'कैंची' लेकर अपने पीछे पड़ जाओ।

अगर तुमने हिम्मत से खोज की, तो धीरे-धीरे तुम पाओगे कि अब तुम्हारी दृष्टि अपनी तरफ हुई। इसके पहले तुम किसी और की तरफ देख रहे थे और सोचते थे : अपनी तरफ देख रहा हूँ।

ठीक से समझो : अपनी तरफ तुम देखोगे कैसे? जिसकी तरफ भी तुम देखोगे, वह दूसरा होगा। अपनी तरफ तुम देखोगे कैसे? कौन देखेगा? किसको देखेगा? वहाँ तो देखने वाला और दृश्य एक ही हो जाता है। इसलिए अभी तुम जिसकी भी तरफ देख रहे हो—तुम कहते हो कि मैं पुरुष हूँ, धनवान् हूँ, जवान हूँ, पण्डित हूँ: ज्ञानी हूँ, इतनी डिग्रियाँ हैं—जिसको भी तुम देख रहे हो, यह तुम नहीं हो। काटते जाओ।

एक दिन तुम अचानक पाओगे : ऐसी घड़ी आ गई, जिसको योगी कहते हैं , संगम। ऐसी घड़ी आ गई, जहाँ द्रष्टा—देखने वाला ही बचा। अब तुम बाँट नहीं सकते। तुम यह नहीं कह सकते कि मैं देख रहा हूँ। तुम यही कह सकते कि मैं ही देख रहा हूँ, मैं ही देखने वाला हूँ, मैं ही दिखाई पड़ रहा हूँ। त्रिपुटी आ गई; तीन मिल गये। सत्त्व, रज, तम—तीनों समतुल हो गये। और तीनों के पार गुणातीत जीवन का सूरज उग गया।

सुबह करीब है। जब मैं तुम्हारी तरफ देखता हूँ तो तुमसे कहता हूँ : सुबह करीब है। अपनी तरफ ही देख कर नहीं कह रहा हूँ कि सुबह करीब है; तुम्हारी तरफ भी देखकर कह रहा हूँ कि सुबह करीब है। लेकिन जब मैं तुम्हें गौर से देखतता हूँ तो पाता हूँ : तुम अपनी तरफ नहीं देख रहे हो। तुम कहीं और देख रहे हो। वहाँ अँधेरी रात है। वहाँ अनन्त अमावस है—जिसका न कोई आदि है और न अन्त। वहाँ तुम अँधेरे में भटकते ही रहोगे। आँख को लौटाना है—अपनी तरफ। बस, जरा-सी बात है। बहुत बड़ी मालूम पड़ती है। कितना जाल धर्मों का खड़ा है, उतनी

सी छोटी-सी बात पर। वह तुम्हारी वजह से बड़ी मालूम पड़ती; क्योंकि तुम अँधेरे में ही रहे हो। और तुम्हारा अँधेरे पर इतना भरोसा हो गया है कि तुम मान ही नहीं सकते कि सुबह हो सकती है।

मेरे पास लोग आते हैं। कल ही रात कोई मुझसे कह रहा था कि बड़ा आनन्द अनुभव हो रहा है। कहीं यह कल्पना तो नहीं ! तुम दुःख में इतने रहे हो कि अगर ध्यान की थोड़ी-सी किरण भी टूटती है और आनन्द का थोड़ा-सा सुर बजता है, तो तुम्हें भरोसा नहीं आता। तुम्हें शक होता है।

जिस सज्जन ने मुझे यह कहा; मैंने उनसे पूछा, 'तुम जब दुःख में थे, तब तुमने कभी सोचा कि यह कहीं कल्पना तो नहीं !' उन्होंने कहा, 'यह तो खयाल कभी नहीं आया।' जब दुःख में थे, तब यथार्थ; तब शक भी पैदा न हुआ कि कहीं यह दुःख कल्पना तो नहीं है। लेकिन अब थोड़ी-सी ध्यान में गति बढ़ी है, थोड़ी नाव किनारे से हटी है, थोड़ी पतवार उठी है, तो संदेह पैदा हो रहा है—कि कहीं यह आनन्द कल्पना तो नहीं है !

वह मन कह रहा है, लौट आओ किनारे पर। कहाँ जा रहे हो ! यह सागर सब कल्पना है। अपनी पुरानी जगह ठीक; वह पुराना तादात्म्य ठीक। किसकी खोज में निकले हो ! यह आत्मा—परमात्मा—सब कल्पना है। लौट आओ। दुःख सच है, नरक सच है, स्वर्ग कल्पना है; शैतान सच है, परमात्मा कल्पना है।

संदेह का अर्थ है : गलत श्रद्धा; संदेह का अर्थ है : गलत पर श्रद्धा। और जब तुम गलत पर श्रद्धा रखते हो, तो संदेह मिटेगा कैसे ! इसलिए संदेह तुम्हें गलत से नहीं छूटने देना चाहता, क्योंकि वहाँ तो संदेह बचा रह सकता है। सही का आविर्भाव होगा, तो संदेह की मृत्यु हो जाएगी। तो संदेह उठता है मन में कि कहीं यह कल्पना तो नहीं है।

मैं तुमसे कहता हूँ, सच्चिदानन्द कसौटी है। तुम उस पर कस लेना। अगर कोई भी चीज आनन्द दे तो वह परमात्मा के करीब है, तभी आनन्द देगी। अगर किसी चीज में यथार्थ का बोध हो, किसी चीज में भीतरी गरिमा हो—सत्य होने की—ऐसी गहरी प्रतीति होती है कि इस पर संदेह भी करना मुश्किल हो जाय, तो जानना कि वह परमात्मा के करीब है। और जिससे भी चैतन्य बढ़ता हुआ मालूम पड़े भीतर, तो समझना कि वह परमात्मा के करीब है।

सच्चिदानन्द निकस है। तुम उस पर कसते रहना। और जो-जो इससे विपरीत मालूम पड़े, समझना कि उतनी ही दूर है। इस कसौटी को लेकर अगर तुम चले तो एक दिन मंजिल पर पहुँच जाओगे।

और फिर मैं कहता हूँ : मंजिल दूर नहीं; एक कदम का फासला है। इसलिए

तुमसे कहता हूँ, चलने का सवाल नहीं है, छलाँग भी ले सकते हो। एक एक कदम चलने में क्या सार है ? छलाँग से भी हो सकती है। इसलिए दुनिया में एक अनूठी घटना भी घटती है—छलाँग भी घटती है।

कुछ लोग छलाँग से परमात्मा को उपलब्ध हो जाते हैं। जिनको समझ आ जाती है, दिखाई पड़ जाती है बात, खयाल में पकड़ जाता है, जिनका संदेह मर चुका होता है, जो भरोसे को उपलब्ध हो जाते हैं, एक छलाँग में, एक इशारे में, एक आवाज में—और तुम बाहर आ जाते हो। हजारों-हजारों जन्मों की रात टूट जाती है।

सुबह करीब है। अपने तरफ भी देखकर कहता हूँ; तुम्हारी तरफ भी देखकर कहता हूँ: सुबह करीब है। लेकिन तुम अपनी तरफ नहीं देख रहे हो; यह भी मुझे दिखाई पड़ता है।

सारे ध्यानों का आयोजन है कि तुम अपनी तरफ देखने में समर्थ हो जाओ। समर्थ तुम हो सकते हो। कितना ही कठिन मालूम पड़े यह बात—असम्भव नहीं है। और जिस दिन हो जाएगी, उस दिन तुम हँसोगे और तुम कहोगे, कठिन भी नहीं थी। तुम हँसोगे भी और रोओगे भी। तुम रोओगे कि इतने दिन कैसे यह सम्भव रहा कि मैं भटकता रहा ! और तुम हँसोगे कि वह इतने करीब था कि हाथ भर बढ़ाने की बात थी।

'दिल के आइने में है तस्वीरे यार—जब जरा गरदन झुकाई देख ली।' उतनी ही। मगर गरदन सख्त हो गई है; लकवा लग गया है। हजारों साल से झुकी नहीं है, तो तुम भूल ही गये हो : कैसे झुकाएँ। थोड़ी मालिश करो। ध्यान वही मालिश है। उसे सामायिक कहो, पूजा कहो, प्रार्थना—अर्चना—नमाज—सब थोड़ी-सी मालिश है गरदन पर। थोड़ी गरदन झुक जाय, लोचपूर्ण हो जाय, बस, और तुम देख लोगे : 'तस्वीरे यार' सदा भीतर है।

तुम्हारा प्रेमी तुम्हारे भीतर है। तुम्हारी खोज तुम्हारे भीतर है। खोजने वाले में छिपी है—मंजिल। कहीं परमात्मा बाहर होता, तो मुश्किल होता, कठिन होता; वह तुम्हारे भीतर ही है।

थोड़ा रुको, बैठो, काटो—नेति-नेति से—अपने गलत तादात्म्य को। और अचानक तुम पाओगे : सूरज उग आया। उगा ही था। कभी डूबा ही न था; रात कभी हुई न थी। बस, तुमने आँखें बंद कर रखी थीं।

अब सूत्र :

'और, हे अर्जुन, जैसे श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, वैसे ही भोजन भी सब को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप

और दान भी सात्विक, राजस् और तामस्—ऐसे तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके इन न्यारे-न्यारे भेद को तू मुझसे सुन।'

श्रद्धा के शास्त्र को कृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं। वह शास्त्र सभी अर्जुनों को सर्व कालों में उपयोगी है, क्योंकि वह शास्त्र तुम्हारी ही व्याख्या और विश्लेषण है। और जब तक तुम अपनी ठीक से व्याख्या को न समझ पाओगे—और ठीक से विश्लेषण को, तब तक तुम उस विज्ञान को न समझ पाओगे, जो तुम्हें त्रिगुणातीत बना दे, गुणातीत बना दे। इसलिए तुम्हें पहले इन तीनों गुणों की अलग-अलग व्यवस्था और तुम्हारे जीवन में इनके ढंग और ढाँचे और इनकी शैली को समझ लेना जरूरी है। वह तुम्हारा सारा अस्तित्व है अभी।

तो कृष्ण कहते हैं कि श्रद्धा न केवल तुम्हारी परमात्मा की तरफ यात्रा में भिन्न-भिन्न मार्ग पकड़ा देती है तुम्हें, श्रद्धा न केवल तुम्हारे आचरण को भिन्न-भिन्न कर देती है, महत्त्वपूर्ण बातों में ही नहीं, जीवन की क्षुद्रतम बातों में भी तुम्हारी श्रद्धा तुम्हें रंगती है। छोटी सी छोटी बात भी तुम्हारी श्रद्धा की सूचना देती है।

तो कृष्ण कहते हैं: भोजन भी इन तीन श्रद्धाओं के अनुसार तीन प्रकार का होता है। और लोग अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार भोजन की रुचि रखते हैं।

तामसी वृत्ति का व्यक्ति है, तुम उसके भोजन का अध्ययन करके भी समझ सकते हो कि वह तामसी है। तामसी वृत्ति के व्यक्ति को बासा भोजन प्रिय होता है, सड़ा-गला उसे स्वाद देता है; घर का भोजन उसे पसंद नहीं आता। बाजार का सड़ा-गला भोजन—जिसका कोई भरोसा नहीं कि वह कितना पुराना है और कितना प्राचीन है, होटलों में दो-चार दिन पहले की सब्जी से बने हुए पकोड़े और समोसे उसे प्रिय होते हैं। सात्विक व्यक्ति को जो कूड़ा-करकट जैसा मालूम पड़े, जिसे वह अपने मुँह में न ले सके, उसी पर तामसी की लार टपकती है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक होटल में गया। जा कर बैठ गया टेबल पर। और उसने कहा कि 'भोजन ले आओ।' पहली ही दफा इस होटल में आया था। जब बैरा भोजन लेने जाने लगा तो उसने कहा कि 'यहाँ सब ठीक-ठीक है न?' बैरे ने उसे तृप्त करने को कहा कि 'महानुभाव, ठीक-ठीक पूछते हैं; बिलकुल आपके घर जैसा भोजन है।'

नसरुद्दीन उठकर खड़ा हो गया। उसने कहा, 'क्षमा करें, घर के भोजन से बचने को तो यहाँ आए थे। तो फिर कोई और होटल जाना पड़ेगा।'

तामसी व्यक्ति का भोजन हमेशा अतिशय होगा, वह ज्यादा खाएगा। वह इतना खाएगा कि नींद के अतिरिक्त और कुछ करने को शेष न बचे। इसलिए तामसी व्यक्ति भोजन करते ही सुस्त होने लगेगा। उसका भोजन एक तरह का नशा है।

भोजन का एक नशा है, अगर तुम ज़रूरत से ज्यादा भोजन कर लो, तो भोजन अलकोहलिक है, वह मादक हो जाता है, उसमें शराब पैदा हो जाती है। उसमें शराब पैदा होने का कारण है। जैसे ही तुम ज्यादा भोजन कर लेते हो, तुम्हारे पूरे शरीर की शक्ति निचुड़ कर पेट में आ जाती है। क्योंकि इसको पचाना जरूरी है। तुमने शरीर के लिए एक उपद्रव कर दिया, एक अस्वाभाविक स्थिति पैदा कर दी। तुमने शरीर में विजातीय तत्त्व डाल दिये। अब शरीर की सारी शक्ति इसको किसी तरह पचाकर और बाहर फेंकने में लगेगी। तो तुम कुछ और न कर पाओगे; सिर्फ सो सकते हो।

मस्तिष्क तभी काम करता है, जब पेट हलका हो। इसलिए भोजन के बाद तुम्हें नींद मालूम पड़ती है। और अगर कभी तुम्हें मस्तिष्क का कोई गहरा काम करना हो, तो तुम्हें भूख भूल जाती है।

जिन लोगों ने मस्तिष्क के गहरे काम किये हैं, वे हमेशा अल्पभोजी लोग हैं। और धीरे-धीरे उन्हीं अल्प-भोजियों को यह पता चला कि अगर मस्तिष्क बिना भोजन के इतना सक्रिय हो जाता है—तेजस्वी हो जाता है, तो शायद उपवास में तो और ही बड़ी घटना घट जाएगी। इसलिए उन्होंने उपवास के भी प्रयोग किये। और उन्होंने पाया कि उपवास की एक ऐसी घड़ी आती है, जब शरीर के पास पचाने को कुछ भी नहीं बचता, तो सारी ऊर्जा मस्तिष्क को उपलब्ध हो जाती है। उस ऊर्जा के द्वारा ध्यान में प्रवेश आसान हो जाता है।

भोजन अतिशय हो, तो नींद में प्रवेश आसान हो जाता है। नींद ध्यान की दुश्मन है; नींद मूर्च्छा है। भोजन बिलकुल न हो शरीर में, तो शरीर को पचाने को कुछ न बचने से सारी ऊर्जा मुक्त हो जाती है पेट से, सिर को उपलब्ध हो जाती है; ध्यान के लिये उपयोगी हो जाती है।

लेकिन उपवास की सीमा है, दो चार दिन का उपवास सहयोगी हो सकता है। लेकिन कोई व्यक्ति उपवास की अतिशय में पड़ जाय, तो फिर मस्तिष्क को ऊर्जा नहीं मिलती। क्योंकि ऊर्जा बचती ही नहीं। इसलिए उपवास तो किसी ऐसे व्यक्ति के पास ही करने चाहिए, जिसे उपवास की पूरी कला मालूम हो। क्योंकि उपवास पूरा शास्त्र है। हर कोई, हर कैसे उपवास कर ले तो नुकसान में पड़ेगा।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए गुरु ठीक से खोजेगा कि कितने दिन के उपवास में संतुलन होगा। किसी व्यक्ति को सकता है, पंद्रह दिन, इक्कीस दिन का उपवास उपयोगी हो। और अगर शरीर ने बहुत चर्बी इकठी कर ली है, तो इक्कीस दिन के उपवास में भी उस व्यक्ति के मस्तिष्क को ऊर्जा का प्रवाह मिलता रहेगा। रोज-रोज बढ़ता जाएगा।

जैसे-जैसे चर्बी कम होगी शरीर पर, वैसे-वैसे शरीर हलका होगा, तेजस्वी होगा,

ऊर्जावान होगा। क्योंकि बढ़ी हुई चर्बी भी शरीर के ऊपर बोझ है, और मूर्च्छा लाती है। लेकिन अगर कोई दुबला-पतला व्यक्ति इक्कीस दिन का उपवास कर ले, तो ऊर्जा क्षीण हो जाएगी। उसके पास रिजर्वायर ही नहीं; उसके पास संरक्षित कुछ था ही नहीं। उनकी जेब खाली थी।

दुबला-पतला आदमी बहुत से बहुत तीन-चार दिन के उपवास से फायदा ले सकता है। बहुत चर्बी वाला आदमी इक्कीस दिन, बयालीस दिन के उपवास से भी फायदा ले सकता है। और अगर अतिशय चर्बी हो तो तीन महीने का उपवास भी फायदे का हो सकता है—बहुत फायदे का हो सकता है। लेकिन उपवास के शास्त्र को समझना जरूरी है।

तुम तो अभी ठीक विपरीत जीते हो—दूसरे छोर पर—जहाँ खूब भोजन कर लिया, सो गये। जैसे जिंदगी सोने के लिए है, तो मरने में क्या बुराई है! मरने का मतलब —सदा के लिये सो गये।

तो तामसी व्यक्ति जीता नहीं है; बस, मरता है। तामसी व्यक्ति जीने के नाम पर सिर्फ घिसटता है। जैसे सारा काम इतना ही है कि किसी तरह खा-पीकर सो गये। वह दिन को रात बनाने में लगा है; जीवन को मौत बनाने में लगा है। और उसको एक ही सुख मालूम पड़ता है कि कुछ न करना पड़े। कुल सुख इतना है कि जीने से बच जाय, जीना न पड़े। जीने में अड़चन मालूम पड़ती है। जीने में उपद्रव मालूम पड़ता है। वह तो अपना चादर ओढ़कर सो जाना चाहता है।

ऐसा तामसी व्यक्ति अतिशय भोजन करेगा। अतिशय भोजन का अर्थ है, वह पेट को इतना भर लेगा कि मस्तिष्क को ध्यान की तो बात दूर, विचार करने तक के लिये ऊर्जा नहीं मिलती। और धीरे-धीरे उसका मस्तिष्क छोटा होता जाएगा; सिकुड़ जाएगा। उसके मस्तिष्क का तंतु-जाल निम्न तल का हो जाएगा।

अभी कुछ दिन पहले बंगला देश में ढाका में एक आदमी पकड़ा गया, जो मरे हुए मुरदों की लाश ही खा कर जी रहा था— वर्षों से। उनकी लाश को फाड़ लेता और उनके कलेजे को खा जाता और सोया रहता। और मरघट पर ही नौकर था—कब्रस्तान पर, इसलिए किसी को संदेह भी न हुआ। और मुसलमान तो मुरदे को जलाते नहीं। तो वे दबाकर गये—घर के लोग घर नहीं पहुँच पाये कि वह कब्र से खोद लेता लाश को, फाड़ देता—हाथ से, नाखूनों से और कच्चा कलेजे को चबा जाता। मरे हुए आदमी का कलेजा!

कृष्ण को अगर इस आदमी की खबर होती, तो वे कहते, यह तमस का आखिरी लक्षण है। इससे पार और जाना मुश्किल है। मरा हुआ आदमी...! बासा भोजन ही नहीं—बासा आदमी—जिसमें सड़ने की प्रक्रिया शुरू हो गई।

और वह कोई भोजन न करता। जरूरत न थी। कभी-कभी लाश न आती तो जरूर वह गाँव में आता। और वह भी इस तलाश में आता कि कोई भिखमंगा मर गया हो, कोई आवारा मर गया हो, जिसकी लाश को कोई मरघट लाने वाला न हो, तो वह बड़ी सेवा भाव दिखलाता—मुरदों को ले जाने में—आवारा मुरदों को। अस्पतालों में चला जाता, कि किसी की लाश का कोई लेने वाला न हो तो...।

सब लोग समझते थे, बड़ा सेवाभावी आदमी है। लेकिन धीरे-धीरे लोगों को संदेह हुआ कि वह भोजन वगैरह कब करता है? कहाँ करता है? तो किसी ने छिपकर देखने की कोशिश की तो पाया कि वह तो बड़ा खतरनाक आदमी है।

वह आदमी पकड़ा गया। उसकी जाँच-पड़ताल हुई, तो पाया गया कि उसका मस्तिष्क बिलकुल सिकुड़ गया है; उसका बुद्धिमाप बिलकुल नीचे गिर गया है। जिसको आई. क्यू. कहते हैं मनोवैज्ञानिक—इन्टेलिजेन्श कोसियंट—बुद्धि अंक—वह बिलकुल नीचे गिर गया है। उसके नीचे बुद्धि-अंक का आदमी खोजना मुश्किल है।

तो ध्यान के लिए तो शक्ति मिलना मुश्किल ही है, विचार तक के लिए नहीं मिलती। शांत होना तो दूर है, अभी अशांत होने लायक तक शक्ति मस्तिष्क में नहीं जाती। मस्तिष्क खो ही जाता है। वह आदमी शरीर की तरह जी रहा है।

तामसी आदमी शरीर की तरह जीता है। इसे सूत्र समझ लें। उसकी श्रद्धा शरीर में है, मुरदे में, मृत्यु में है—जीवन में नहीं। तुम उसके चेहरे पर मौत को लिखा हुआ पाओगे। तुम उसके चेहरे पर एक कालिमा पाओगे। तुम उसके व्यक्तित्व के आसपास मृत्यु की पद-चाप सुनोगे।

वैसा आदमी अगर तुम्हारे पास बैठेगा, तो तुम्हें जम्हाई आने लगेगी। वैसा आदमी तुम्हारे पास बैठेगा तो तुम भी शिथिलगात होने लगोगे। तुम्हें भी ऐसा लगेगा कि नींद मालूम पड़ती है। वैसा आदमी अपने चारों तरफ तरंगें पैदा करता है—तमस् की।

जहाँ भी तुम्हें कहीं ऐसा लगे कि कोई आदमी ऐसा कर रहा है, हट जाना तत्क्षण; क्योंकि वह आदमी तुम्हें चूसता है। वह तुम्हारी ऊर्जा के लिए गड्ढे का काम करता है। वह खुद तो गड्ढा हो ही गया है। उसका शिखर तो खो गया है! वह तुम्हारे शिखर को भी चूस लेता है।

तामसी व्यक्ति ज्यादा भोजन करेगा और गलत तरह का भोजन करेगा, जिससे बोझ बढ़े, जिसे पचाना मुश्किल हो, जो अपाच्य हो, जो ज्यादा देर पेट में रहे, जल्दी पच न जाय। शाक-सब्जी उसे पसन्द न आयेगी। फल उसे पसन्द न आयेंगे। शाकाहारी होने में उसे मजा न मालूम होगा।

एक डॉक्टर थे; मैं वर्षों जबलपुर था, वे मेरे सामने ही रहते थे। ऐसे भले

आदमी थे, बंगाली थे। बस, मछलियाँ ही उनका एक राग-रंग थीं। कभी मेरी तबियत को कुछ गड़बड़ होती तो वे मुझे देखते थे।

एक बार मुझे बुखार आया, वे देखने आये, तो मैंने उनसे पूछा कि 'मेरे भोजन में कोई तबदीली तो नहीं करनी है?' तो वे हँसने लगे, कि 'आप का भोजन? यह भी कोई भोजन है?—घास-पात! इसमें बदलाहट की अब क्या जरूरत है और! आप तो पहले से ही मरीज़ का भोजन कर रहे हैं—बीमार आदमी का। भोजन हम करते हैं।'

उनके चेहरे पर भी मछलियों की गंध थी। उनके घर जाना बहुत मुश्किल मालूम पड़ता था। मगर मेरा भोजन उनके लिये घास-पात मालूम होगा—स्वभावतः। फल, शाक, सब्जी—यह कोई भोजन है? यह इतनी सुपाच्य है कि निद्रा पैदा नहीं करता। और भोजन की परिभाषा यही है—तामसी व्यक्ति को—कि उससे तमस् बढ़े, मूर्च्छा बढ़े, नींद आ जाय, खो जाय वह, शरीर में खो जाय, आत्मा का बिलकुल पता न चले, बुद्धि में कोई प्रखरता न रहे, शरीर में डूब जाय—शरीर की अंधकारपूर्ण रात्रि में डूब जाय।

तमस् शब्द का अर्थ होता है : अंधकार। तो अंधकार में डूबने की प्रवृत्ति होगी उसकी। उसे दिन पसंद न आयेगा। उसे रात पसंद आयेगी। वह निशाचर होगा, तमस् से भरा हुआ व्यक्ति निशाचर होगा। दिन में सोयेगा—रात जागेगा।

रात तुम उसको क्लब में देखोगे, ताश खेलते देखोगे, जुआ खेलते देखोगे, शराब पीते देखोगे। दिन तुम उसे घर्राटे लेते देखोगे। जब सारी दुनिया जागेगी, तब वह सोयेगा।

कृष्ण ने योगी की परिभाषा की है कि जब सारी दुनिया सोती है, तब भी योगी जागता है। 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'—जब सब सोये हैं, तब भी योगी जागता है।

भोगी—? उसकी परिभाषा उन्होंने नहीं की। वह मैं कर देता हूँ कि 'जब सब जागते हैं, तब वह सोता है।' तमस उसका लक्षण है। अंधकार उसका प्रतीक है। रात जरा उनमें जीवन मालूम पड़ता है।

जैसे-जैसे तमस् बढ़ता है—किसी संस्कृति में—उसकी रात घटने लगती है। बारह-दो बजे रात तक राग-रंग चलता है। पश्चिम में तमस् बढ़ा, तो लोग रात को दो बजे तक जग रहे हैं। वहीं जीवन मालूम पड़ता है। पश्चिम से यहाँ लोग मेरे पास आते हैं। वे कहते हैं कि 'भारत में रात्रि का जीवन, नाइट-लाइफ बिलकुल नहीं है।' थोड़ी-बहुत बम्बई में है।

भारत के अगर गाँव में जाएँगे, तो रात्रि-जीवन जैसी कोई चीज ही नहीं है। न

कोई नाइट-क्लब है, न कोई रात का उपद्रव है, न बिजली है, लोग साँझ हुई कि विश्राम को चले गये।

भारत की उलटी संस्कृति थी। यहाँ लोग सुबह जल्दी उठते थे—तीन बजे। अब पश्चम में लोग तीन बजे तक जग रहे हैं। यहाँ तीन बजे उठते थे। तीन बजा कि उठने का वक्त आ गया। प्रकृति के साथ एक तल्लीनता थी। जब सूरज जाग रहा है, तब तुम जागो। जब सूरज डूब गया, तब तुम डूब जाओ। एक लयबद्धता थी।

तामसी-वृत्ति का व्यक्ति प्रकृति से लयबद्धता छोड़ देता है। वह अपने में बंद हो जाता है। वह अपना अलग ही ढाँचा बना लेता है। वह टूट जाता है—इस विस्तार से। तो जब पक्षी गीत गाते हैं, तब वह गा नहीं सकता। जब सूरज उगता है, तब वह जाग नहीं सकता।

विन्सटन चर्चिल ने लिखा है—वे निश्चित ही तामसी रहे होंगे, उनकी शकल-सूरत से भी तामसी मालूम पड़ते हैं। जीवन का सारा ढंग ही तामसी है। वे दस बजे सुबह के पहले कभी सो कर नहीं उठे। सिर्फ एक बार उठे। लेकिन एक बार उठकर उन्हें जो दुःख अनुभव हुआ, फिर उन्होंने दोबारा ऐसी भूल नहीं की।

लिखा है विन्सटन चर्चिल ने कि बस, एक दफा—! बहुत सुनी थी बकवास कि सुबह बड़ी सुंदर होती है; एक दफा उठकर देख लिया। दिन भर उदासी बनी रही। और दिन भर सब चीजें अस्त-व्यस्त हो गईं और गड़बड़ हो गई। और साँझ जल्दी नींद आने लगी। दिन भर ही नींद आती रही। बस, फिर दोबारा उन्होंने भूल नहीं की!

वे दस बजे तक सोये रहते। रात कितनी ही देर तक जग जायँ। अब ऐसे व्यक्ति में तमस् तो हो ही जाएगा।

लॉर्ड वेवल ने वाइसराय के संस्मरण में लिखा है कि जब मैं भारत आया और यहाँ से रिपोर्ट भेजी गांधी और उनके आन्दोलन के संबंध में तो चर्चिल ने एक तार किया। तार बड़ा अजीब है। वेवल को तार किया—'व्हाय दिस गांधी इज स्टिल अलाइव? व्हाय नॉट ही इज डैड येट?—यह गांधी अभी तक जिंदा क्यों है? यह अभी तक मर क्यों नहीं गया?' बस, इतना ही तार किया। यह तामसी व्यक्ति का लक्षण है।

चर्चिल का चले तो गांधी को मरवा दें। मगर भाव तो है ही भीतर—मारने का, मिटाने का, नष्ट करने का। यह किस तरह का तार है कि यह गांधी अब तक जिंदा क्यों है? वेवल ने लिखा है अपने संस्मरणों में—जैसे कि मैं जिम्मेवार हूँ : गांधी के जिंदा रहने के लिए—या इसमें मेरा कोई कसूर है। गांधी क्यों जिंदा है, इसके लिए मैं क्या करूँ? जब तक जिंदा हैं, जिंदा हैं।

लेकिन तुम इससे बहुत प्रसन्न मत होना; क्योंकि जो काम चर्चिल जैसा तामसी न कर सका, वह एक हिन्दू ने कर दिया। तो हिन्दू भी बड़ी गहरी अँधेरी रात

में मालूम होते हैं। चर्चिल ने तो सिर्फ सोचा; गोडसे ने कर दिया—एक हिन्दू ब्राह्मण ने। हिन्दू भी अब कोई सत्त्व-प्रधान जाति नहीं मालूम पड़ती। मुसलमान न कर सके, अंगरेज न कर सके—जिसको करना खेल था; हिन्दू ने किया। बड़ी मजे की बात है।

ताक़त अंगरेजों के हाथ में थी, गांधी को मारने में क्या अड़चन थी। कोई अड़चन न थी। किसी को पता भी न चलता। जेल में, बीमारी में, दवा देकर मार सकते थे। लेकिन जैसे गांधी बीमार पड़ते थे, अंगरेज तत्क्षण उनको जेल के बाहर कर देते थे कि कहीं यह मर जाय बुड्ढा, तो कोई न कोई संदेह करेगा कि हमने मारा डाला—कि हम पर यह जिम्मा न आये। कोई यह कहने को न हो कि हमने इसको मारा।

मुसलमान न मार सके, जिन्हें मारना हाथ का खल है। फिर हिन्दुओं ने मारा और अपने ही राज्य में मारा। गांधी के ही शिष्य हुकूमत में थे और न बचा सके। और जो लोग खोज-बीन करते हैं, उनको भी शक है कि उनका भी हाथ था—शिष्यों का भी हाथ था। मारने में साथ न दिया हो, लेकिन बचाने में जरा हिचक की। वह भी साथ है। कोई जरूरी थोड़े है कि गोली से ही मारो, तब तुम किसी को मारते हो। उतनी देर को पुलिस वाले को हटा लो या उतनी देर को बिजली की लाईट बंद करवा दो, तो भी मारते हो।

तमस का भरोसा मृत्यु में है। वह खुद भी मरता है, दूसरे को भी मारता है।

तामसी वृत्ति का व्यक्ति इस तरह जीता है, इस तरह भोजन करता है, जैसे भोजन से कोई जीवन के सोपान नहीं चढ़ने हैं—कि भोजन से कोई सात्त्विक ऊर्जा लेनी हैं; बस, किसी तरह ढो लेना है, जीवन एक बोझ है।

तामसी वृत्ति का व्यक्ति आत्मघाती होता है। ज्यादा भोजन करेगा, गलत भोजन करेगा, व्यर्थ की चीज़ें खायेगा। और खाने में उसका केंद्र होगा। भोजन उसका केंद्र होगा—जीवन का। उसके वर्तुल में वह घूमेगा। जैसे वही सब कुछ है।

राजस प्रकृति का व्यक्ति भिन्न तरह के भोजन में रस लेता है। ऐसे भोजन में जिससे ऊर्जा मिले, गति मिले, दौड़ मिले, क्योंकि राजस प्रकृति का व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी है, उसे दौड़ना है। वह मांसाहारी होगा। इसलिए सारे क्षत्रिय मांसाहारी हैं। और तुम सोचते हो कि शूद्र को लोग चूँकि बासा भोजन देते हैं, इसलिए वे शूद्र हैं, इससे उलटी बात कहीं ज्यादा सच है : वे बासा भोजन चाहते हैं, इसलिए शूद्र हैं। हजारों साल में उनकी आत्माएँ छन-छन कर शूद्र की योनि में पहुँच गयी है। उनको बासा, फेंका, व्यर्थ हो गया, उच्छिष्ट भोजन प्रिय है। उन आत्माओं ने रास्ता खोज लिया है।

हिन्दुओं ने जो वर्ण की व्यवस्था की है, वह बड़ी वैज्ञानिक है। वह कितनी ही विकृत हो गयी हो, पर उसके पीछे बड़ा गहरा विज्ञान है। उन्होंने तीन खण्ड कर दिये हैं। और ध्यान रखना मौलिक खण्ड तीन ही होंगे, क्योंकि अगर तीन ही गुण हैं, तो चार वर्ण नहीं हो सकते। तो चौथा जो वर्ण है—वैश्य का, वह वर्ण नहीं है, खिचड़ी है। मेरे देखे वह वर्ण नहीं है।

शूद्र का अर्थ है : तमस् प्रधान व्यक्ति। शूद्र का अर्थ है : जो भोजन के लिये जी रहा है। जो जीने के लिए भोजन नहीं करता, जो जीता ही भोजन करने के लिए है—तमस् से घिरा हुआ। वह थोड़ा बहुत कर लेगा, जितने से भोजन मिल जाय। शूद्र आलसी होगा, वह ज्यादा काम नहीं करेगा। क्योंकि करना क्या है काम से। बस, आज का भोजन मिल गया, काफी है। इसलिए शूद्र दरिद्र रहेगा।

और ऐसा नहीं कि हिन्दुस्तान में ही शूद्र दरिद्र है, वह जहाँ भी होगा, दरिद्र ही होगा। क्योंकि शूद्र तो भीतर का गुण है, जाति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। सारी दुनिया में शूद्र हैं, वे उतना कमाते हैं, जितना खा लें। बस, इससे ज्यादा वे फिर हाथ नहीं हिलाते। भोजन मिल गया, शराब मिल गई, वे सो गये; बात खतम हो गई। कल का कल देखेंगे। वे दरिद्र रहेंगे, दीन रहेंगे और भोजन के आसपास उनकी सारी वृत्ति घूमती रहेगी।

क्षत्रिय है राजस्। सैनिक, महत्त्वाकांक्षी लोग, दौड़ है जिनके जीवन में, कुछ पाना है, बड़ी महत्त्वाकांक्षा का उन्मेष हुआ है, वे दूसरे तरह का भोजन पसंद करेंगे, जो ऊर्जा दे—और बोझिलता न दे; ऊर्जा दे और सुस्ती न दे; शक्ति दे और नींद न दे। क्योंकि नींद आ जाएगी तो महत्त्वाकांक्षा कैसे पूरा करेगा? कौन पूरी करेगा?

राजस् व्यक्ति सोने में अड़चन अनुभव करता है। तामस व्यक्ति गहरी नींद सोता है, जोर से घर्राटे लेता है। राजस् व्यक्ति को अकसर नींद की तकलीफ हो जाएगी; वह सो न पाएगा। उसको अकसर अनिद्रा की बीमारी सताएगी। वह दौड़ कोई भी हो—चाहे वह दौड़ धन की कर रहा हो, चाहे पद की कर रहा हो, राजनीति में लगा हो या किसी और उपद्रव में लगा हो, लेकिन उसे दुनिया को कुछ करके दिखलाना है, उसको अहंकार प्रकट करना है—कि मैं कुछ हूँ; मैं कोई साधारण व्यक्ति नहीं हूँ—असाधारण हूँ। उसे हस्ताक्षर करने हैं, इतिहास पर उसे लकीर छोड़नी है—अपने पीछे कि लोग हजारों साल तक याद रखें कि कोई था, कोई मूल्यवान् था। ऐसा व्यक्ति तामसी भोजन नहीं करेगा।

अगर तुम हिटलर के भोजन के संबंध में जान लो, तो तुम बहुत हैरान होओगे। हिटलर न तो शराब पीता था, न सिगरेट पीता था, न अति भोजन करता था। शाकाहारी था। और इतना दुष्ट सिद्ध हुआ! महत्त्वाकांक्षी था। यह सब तो

व्यवस्था महत्त्वाकांक्षा के लिए थी, ताकि ऊर्जा तो उपलब्ध हो, लेकिन सुस्ती न आये।

तो दुनिया में सारे क्षत्रिय अल्प-भोजी होंगे। इसलिए क्षत्रियों की देहयष्टि देखने में सुंदर होगी। जापान के समुराई, या भारत के क्षत्रिय—जिनको लड़ना है युद्ध के मैदान पर, वे कोई बड़े-बड़े पेट लेकर युद्ध के मैदान पर नहीं जा सकते। उनके पास सिंह जैसे पेट होंगे, सिंह जैसी छाती होगी। अल्प-भोजी होंगे, तभी सिंह जैसा पेट हो सकता है। मांसाहारी होंगे। लेकिन अल्प-भोजी होंगे।

और यह जानकर तुम हैरान होओगे जिन्हें अल्प भोजन करना हो, उनके लिये मांसाहार जमता है, क्योंकि मांस पचा-पचाया भोजन है। थोड़ा-सा ले लिया, काफी शक्ति देता है। अगर शाक-सब्जी खानी हो तो थोड़ी-सी शाक-सब्जी खाने से काफी शक्ति नहीं मिल सकती। काफी शाक-सब्जी खानी पड़ेगी, तब मिलेगी। इसलिए तो शाकाहारी जानवर दिन भर चरते रहते हैं।

गाय बैठी है, चर रही है। घास चरती है। इससे ज्यादा शुद्ध अहिंसक और शाकाहारी खोजना मुश्किल है। महावीर भी इसको नमस्कार करेंगे। इसलिए तो हिंदुओं ने इसको गौ माता मान लिया; शुद्ध-शाकाहारी है। इसकी आँखें देखो, कैसी हल्की और शांत है। मगर चरती है दिन भर।

बंदर बैठे है, चर रहे हैं—अपने-अपने झाड़ पर। दिन भर चलता है यह क्रम। क्योंकि सब्जी से या पत्तियों से या फलों से बहुत थोड़ी ऊर्जा मिलती है, मात्रा उसकी बहुत कम है।

तुम देखोगे कि दिगम्बर जैन मुनि हैं, उनके बड़े-बड़े पेट हैं। यह होना नहीं चाहिए। क्योंकि ये तो उपवासी लोग हैं। इनके बड़े-बड़े पेट क्यों हैं? ये एक ही बार भोजन करते हैं; इनके बड़े-बड़े पेट क्यों हैं? इनको एक ही बार में इतना करना पड़ता है कि चौबीस घंटे के लायक ऊर्जा मिल जाय। इसलिए काफी कर लेते हैं। पेट बड़े हो जाते हैं।

हिन्दू संन्यासी का पेट बड़ा है, वह समझ में आता है...कि वह खीर-पकवान पर जीता है। लेकिन जैन संन्यासियों का पेट क्यों बड़ा है? शाकाहारी शरीर है; अति भर लेता है।

अगर दुनिया में ठीक शाकाहार कभी प्रचलित हुआ तो लोग कम से कम तीन या चार या पाँच बार भोजन करेंगे—थोड़ा-थोड़ा, लेकिन फैलाकर करेंगे। क्योंकि शाकाहार ऊर्जा की थोड़ी-सी मात्रा देता है। बड़ी शुद्ध मात्रा देता है। लेकिन वह मात्रा थोड़ी है। और थोड़ी मात्रा का काम पूरा हो जाय—जब चार घंटे बाद, तब फिर थोड़ी मात्रा। एक फल ले लिया, चार घंटे बाद दूसरा फल ले लिया। एक ग्लास

दूध ले लिया, चार घंटे के बाद फिर थोड़ी सब्जी ले ली। मात्रा थोड़ी, लेकिन लम्बे फैलाव पर होनी चाहिए। नहीं तो पेट बड़ा हो जाएगा।

राजसी व्यक्ति अकसर मांसाहारी होंगे। लेकिन अल्पाहारी होंगे। तामसी व्यक्ति अत्यधिक भोजन करेगा। राजसी व्यक्ति उतना भोजन नहीं करेगा। उसे बहुत काम करना है—दौड़ना है, लड़ना है। क्षत्रिय उसका वर्ग है।

फिर ब्राह्मण का वर्ग है—सत्त्वप्रधान। ध्यान रखना तामसी व्यक्ति अति भोजन करेगा; राजसी व्यक्ति जरूरत से कम भोजन करेगा। सत्त्व को उपलब्ध व्यक्ति सम्यक् भोजन करेगा। न तो तामसी की भाँति ज्यादा और न राजसी की भाँति कम। उसका भोजन संतुलित होगा, संगीतपूर्ण होगा। वह उतना ही करेगा, जितना जरूरी है। वह वही करेगा, जितना आवश्यक है। उससे न रत्ती भर ज्यादा, न रत्ती भर कम। इसलिए बुद्ध और महावीर दोनों ने सम्यक् आहार पर जोर दिया है। वह सत्त्व का लक्षण है। सात्त्विक व्यक्ति जब बीमार होगा, उपवास कर लेगा। क्योंकि बीमारी में भोजन घातक है। जब स्वस्थ होगा, थोड़ा ज्यादा लेगा : जब उतना स्वस्थ न होगा, थोड़ा कम लेगा; उसका माप-दण्ड रोज बदलता रहेगा। उसका प्राण हमेशा दिशा सूचक-यंत्र की तरह बताता रहेगा उसे कि कब कितना...। कभी वह थोड़ा ज्यादा लेगा, कभी कम लेगा।

सत्त्व को उपलब्ध व्यक्ति अनुशासन से नहीं जीते। तामसी व्यक्ति सदा ज्यादा लेगा, राजसी व्यक्ति सदा कम लेगा। सात्त्विक व्यक्ति संतुलित लेगा। लेकिन उनका संतुलन रोज बदलेगा। थोड़ा इसे समझ लेना चाहिए।

संतुलन रोज बदलता है, क्योंकि जिंदगी रोज बदल जाती है। तुम पैंतीस साल के हो; अभी तुम भोजन करते हो, चालीस साल में उतना करोगे तो नुकसान होगा। पचास साल में उतना करोगे, भयंकर बीमारी हो जाएगी। पैंतीस साल पर जीवन ऊर्जा उतरनी शुरू हो जाती है। अब मौत की तरफ यात्रा शुरू हो गई। आखिरी शिखर छू लिया। सत्तर साल में मरना है, तो पैंतीस साल में शिखर आ गया। अब उतार शुरू हुआ।

जैसे-जैसे उतार शुरू हुआ, सात्त्विक व्यक्ति का भोजन कम होता जाएगा। उसकी नींद भी कम होती जाएगी, भोजन भी कम होता जाएगा। सात्त्विक व्यक्ति मरते समय नींद से भी मुक्त हो जाएगा, भोजन से भी मुक्त हो जाएगा। सात्त्विक व्यक्ति की मृत्यु उपवास में होगी, अनिद्रा में होगी।

तामसी व्यक्ति अकसर नींद में मरेंगे, राजसी व्यक्ति संघर्ष में मरेंगे। सात्त्विक व्यक्ति उपवास में, शांति में, संगीत में मृत्यु को लीन होगा।

ब्राह्मण सात्त्विक का वर्ग है। सात्त्विक व्यक्ति जीने के लिए भोजन करता है, भोजन करने के लिए नहीं जीता। और सात्त्विक व्यक्ति के जीवन में कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं

है, एम्बीशन नहीं है। इसलिए वह किसी दौड़ के लिए ऊर्जा इकट्ठी नहीं करता। वह उतनी ही ऊर्जा चाहता है, जो आज जीवन के फूल के खिलने में सहयोगी हो जाय। कल की उसकी कोई दौड़ नहीं है, उसका कोई भविष्य नहीं है।

सात्त्विक व्यक्ति का भोजन सम्यक् मात्रा में होगा, शुद्धतम होगा, मौलिक रूप से शाकाहारी होगा। कभी उसके शरीर पर इतना बोझ न होगा भोजन का कि मस्तिष्क को नुकसान पहुँचे। हाँ, बहुत बार वह भोजन लेगा ही नहीं, ताकि ऊर्जा शुद्ध हो जाय, शांत जाय और ध्यान में लीन हो जाय।

संसार में जितने लोगों ने भी परम समाधि पाई है, वे सभी लोग उपवास के प्रेमी थे। महावीर, बुद्ध, जीसस, मुहम्मद—सभी ने उपवास किया है। और सभी ने उपवास की ऊर्जा का लाभ लिया हैं।

परम समाधि का क्षण उपवास के क्षण में ही आता है। तब विचार भी बंद हो जाते हैं; शरीर से भी सम्बन्ध बहुत दूर का हो जाता है, और ऊर्जा इतनी शुद्ध होती है, इतनी पवित्र होती होती है, इतनी कुँवारी होती है, कि उस पर सवार होकर कोई भी समाधि की उत्तुंग अवस्था को उपलब्ध हो जाता है।

भोजन करते हुए सविकल्प समाधि सम्भव है। भोजन करते हुए निर्विकल्प समाधि सम्भव नहीं है। अगर निर्विकल्प समाधि कभी भी सम्भव होती है, तो वह ऐसे ही क्षणों में सम्भव होती है, जब तुम्हारी स्थिति उपवास की है। यह भी हो सकता है, तुम उपवास न कर रहे हो।

जिस रात बुद्ध को ज्ञान हुआ है, उस रात उन्होंने भोजन लिया था, उपवासे वे नहीं थे। रात उन्होंने भोजन लिया था, सुबह वे ज्ञान को उपलब्ध हुए। लेकिन सुबह आते-आते शरीर की अवस्था उपवास की हो जाती है। अंगरेजी का शब्द अच्छा है—नाश्ते के लिए—ब्रेक-फास्ट; उसका मतलब होता है—उपवास तोड़ना। शरीर की अवस्था उपवास की हो जाती है। छह घंटे में जो तुमने खाया है, वह लीन होने लगता है। आठ घंटे में करीब-करीब लीन हो जाता है। आठ घंटे और बारह घंटे के बीच उपवास की अवस्था आ जाती है, तब भोजन किया, नहीं किया बराबर होता है।

जिनको भी, जब भी कभी ज्ञान उपलब्ध हुआ है, ऐसी ही घड़ी में हुआ है, जब शरीर उस अवस्था में था, जिसको हम उपवास कहें—भोजन नहीं—शरीर भोजन नहीं पचा रहा था। भोजन जो किया था, वह पच गया था या किया ही नहीं था। शरीर बिलकुल सम्यक् हालत में था। कोई काम नहीं चल रहा था। शरीर का कारखाना बिलकुल बंद पड़ा था। तभी तो सारी ऊर्जा मिल पाती है—ध्यान को और ध्यान गति कर पाता है।

ये तीन वर्ण शूद्र का, क्षत्रिय का, ब्राह्मण का—तमस् रजस् और सत्त्व के वर्ण है।

वैश्य का वर्ण तीनों का जोड़ है। तो वैश्य में तीनों तरह के लोग तुम पाओगे। शूद्र भी पाओगे, क्षत्रिय भी पाओगे, ब्राह्मण भी पाओगे। वैश्य मिश्रित वर्ग है। और तुमसे मैं यह बता दूँ कि वैश्य दुनिया का सब से बड़ा वर्ग है।

ब्राह्मण तो कभी कभी तुम्हें एक-दो मिलेगा। जितने लोग ब्राह्मण की तरह जाने जाते हैं, उनको ब्राह्मण मत समझ लेना। वे ब्राह्मण घर में जन्मे हैं, जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता। ब्राह्मण तो ब्रह्म को जानने से कोई होता है। जिनके जीवन के तीनों गुण संयुक्त हो गये, सम-स्वर हो गये, संवेत हो गये और जिन्होंने तीनों के पार एक को जान लिया, वे ही ब्राह्मण हैं। या उस जानने के मार्ग पर गतिमान हैं, वे ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण के घर में पैदा होने से कोई ब्राह्मण नहीं होता।

दुनिया में सब से बड़ा वर्ग वैश्य का है; सौ में से पन्चानबे प्रतिशत लोग वैश्य हैं। शूद्र भी धंधा कर रहा हैं। वह भी धन इकट्ठा करने में लगा है। क्षत्रिय भी धन इकट्ठा कर रहा है। हो सकता है, सैनिक का धंधा कर रहा है क्षत्रिय। लेकिन धन ही इकट्ठा कर रहा है। ब्राह्मण भी हो सकता है पुजारी का धंधा कर रहा है, पुरोहित का धंधा कर रहा है, पण्डित का धंधा कर रहा है, लेकिन धंधा ही कर रहा है। नब्बे प्रतिशत लोग वैश्य हैं दुनिया में। पाँच प्रतिशत लोग क्षत्रिय हैं। चार प्रतिशत लोग शूद्र हैं दुनिया में, वे गहन तमस में पड़े हैं। और एक प्रतिशत, मुश्किल से, लोग ब्राह्मण है।

अगर तुम इन तीनों गुणों को ठीक से अपने भीतर समझोगे...अपने आचरण में, व्यवहार में, वस्त्र में, भोजन में, उठने-बैठने में—सब तरफ से तुम धीरे-धीरे तमस् को कम करोगे, रजस् को कम करोगे, ताकि उन दोनों की ऊर्जा सत्त्व को मिल जाय, वे बराबर संतुल हो जायँ, तराजू एक-सा हो जायँ, पलड़े एक तल पर आ जायँ, तो तुम्हारे भीतर ब्राह्मण का जन्म होगा।

कोई ब्राह्मण के घर में पैदा नहीं होता; ब्राह्मण तुम्हारे भीतर पैदा होता है। तुम ब्राह्मण में पैदा नहीं होते। ब्रह्म का बोध ब्राह्मण का लक्षण है।

और जैसा भोजन के सम्बध में सच है, वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन ही तरह के होंगे। सभी कुछ तीन तरह का होगा।

तामसी व्यक्ति यज्ञ करेगा, तो इसलिए करेगा कि जो उसके पास है, वह खो न जाय। इसे ठीक से समझ लो।

तामसी व्यक्ति हमेशा इस चिंता में रहेगा कि जो उसके पास है, वह खो न जाय; उसे वह पकड़ कर रखता है। वह अगर यज्ञ करेगा, तो इसलिए कि जो उसके पास है वह बचा रहे।

राजसी को, जो उसके पास है—उसकी चिंता नहीं है। उसको चिंता है कि जो उसके

पास नहीं है, वह उसे मिल जाय। इसलिए अगर राजसी यज्ञ करेगा, तो इसलिए, ताकि जो नहीं है, वह मिल जाय। वह कुछ पाने के लिए यज्ञ करेगा। तामसी बचाने के लिए यज्ञ करेगा।

और सात्त्विक व्यक्ति अगर यज्ञ करेगा तो सिर्फ उत्सव के लिए; न कुछ बचाने के लिए, न कुछ पाने के लिए; जो मिला हुआ है, जो सदा मिल ही रहा है, उसके अहोभाव, उसके आनन्द के लिए, उसके उत्सव के लिए। उसका यज्ञ एक नृत्य है; उसका यज्ञ एक गीत है—परमात्मा के तरफ गाया गया। उसका यज्ञ एक धन्यवाद है।

तामसी जाएगा मंदिर में तो कहेगा कि 'जो मेरे पास है, छीन मत लेना।' राजसी जाएगा तो कहेगा कि 'जो मेरे पास नहीं है, उसे मेरे लिए जुटा।' सात्त्विक जाएगा मंदिर में तो धन्यवाद देने कि 'जो है, वह जरूरत से ज्यादा है। जो चाहिए, उससे बहुत ज्यादा है। मैं धन्यवाद देने आया हूँ।'

प्रार्थना तीनों की अलग-अलग होगी। ऐसे ही तीनों का तप अलग-अलग होगा। ऐसे ही तीनों का दान अलग-अलग होगा।

तामसी अगर दान देगा, तो वह इसलिए देगा कि वह जो उसने लूट-खसोट की है, वह बचे। लाखों रुपये चोरी करेगा, दस रुपये दान करेगा। लाख रुपया बचा लेगा सरकार से टैक्स में, तो हजार रुपये का ट्रस्ट खड़ा कर देगा। वह यह दिखाना चाहता है कि दानी आदमी कहीं टैक्स बचाने वाला हो सकता है? कभी नहीं। वह चाहेगा कि समाज में खबर फैले कि वह बड़ा दानी है। अखबार में फोटो छपवाएगा कि अस्पताल बना दिया।

अभी तो मैं देखकर चकित हुआ। किसी ने यहाँ पूना में दस लाख रुपया दान दिया—किसी अस्पताल को। चकित हुआ देखकर मैं यह—कि अखबारों ने शायद यह खबर छापी न होगी, तो इसका विज्ञापन छपा अखबर में—विज्ञापन, एडव्हर्टाइजमेंट—कि इतना-इतना दान फलाँ-फलाँ परिवार ने अस्पताल को दिया है। यह भी उसी परिवार की तरफ से छपा हुआ है।

तामसी दान का विज्ञापन करेगा। क्योंकि, उससे उसको कुछ छिपाना है, कुछ बचाना है; कुछ ढाँकना है। जो है, वह खो न जाय, इसलिए वह थोड़ा दान भी देगा, ताकि परमात्मा ध्यान रखे, समाज भी ध्यान रखे, लोग भी खयाल रखें। चोर अकसर दानी होते हैं, मगर उनका दान तामसी होता है। वे देते हैं इसलिए, ताकि किसी को खयाल न आये कि इन्होंने इतना छीना होगा।

राजसी भी दान देगा, वह दान देगा इसलिए, ताकि जो नहीं मिला है, वह मिले। उसका दान ऐसा है, जैसे मछली को पकड़ने वाला काँटे पर आटा लगाते हैं। वह कोई मछली को आटा देने के लिए नहीं, मछली को पकड़ने के लिए है। वह दान

देता है, ताकि उसकी महत्त्वाकांक्षा के लिए रास्ता बने।

अब किसी को कल्पना भी नहीं थी...! महात्मा गांधी का पूरा आन्दोलन भारत के धनपतियों के दान से चला। गांधी ने कभी सोचा भी न होगा कि धनपति यों ही नहीं देता। वे सारे धनपति हावी हो गये काँग्रेस पर। दान उन्होंने दिया था, फिर उन्होंने खूब उसका भोग भी लिया। अब भी वे देते हैं।

अब यह मजे की बात है कि चाहे इंदिरा को इलैक्शन लड़ना हो, तो उन्हीं से पैसा मिलना है। चाहे मोरारजी को लड़ना हो, तो उन्हीं से पैसा मिलना है। और चाहे जयप्रकाश को पूर्ण-क्रांति करनी हो, उनको भी उन्हीं से पैसा मिलना है।

पूंजिपति बड़ा कुशल है। वह सबको पैसे देता है, जो भी आयेगा, उससे ही वसूल कर लेगा। वह कोई फिक्र नहीं करता। उसका कोई पक्ष नहीं है। महत्त्वाकांक्षी का क्या पक्ष? उसको मतलब नहीं कि तुम जनसंघी हो, कि तुम कम्युनिस्ट हो, कि तुम कांग्रेसी हो—कोई मतलब नहीं है। तुम कोई भी हो, लो रुपया। ध्यान रखना : अगर कभी ताकत में आओ, तो भूल मत जाना। और भूलोगे कैसे? क्योंकि ताकत में आना ही थोड़े-ही काफी है। फिर ताकत में बने रहने की जरूरत है। तब फिर पैसा चाहिए।

बहुत कठिन है—धनपति से बच जाना। क्योंकि हर एक को वही देगा। सब को वही दे रहा है। इसलिए मजे का खेल यह है कि राजनीतिज्ञ करीब-करीब शतरंज के मोहरे हैं। खेलने वाले कोई और ही हैं। उनके चेहरे भी दिखाई नहीं पड़ते कि कौन खेल रहा है।

बिड़ला के पास, हिन्दुस्तान आजाद हुआ तो केवल तीस करोड़ रुपये थे। अब तीन सौ तीस करोड़ रुपये हैं। यह कैसे हुआ? बिड़ला ने गांधी को अपने घरों में ठहराया सब जगह। जिंदगी भर गांधी बिड़ला के घरों में ठहरे। मरे भी बिड़ला के घर में। सारे राजनीतिज्ञ बिड़ला से पलते-पुसते रहे। तीस करोड़ की संपत्ति तीन सौ तीस करोड़ हो गई। और बढ़ती चली जाती है। और दान की कोई कमी नहीं है। कितने मंदिर बिड़ला बनाते हैं! हर जगह मंदिर बनता है, सब तरह का दान करते हैं। उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। असल में वह दान तो आटा है, जो काँटे पर लगाया जाता है।

तो राजसी भी दान देता है, वह उसको पाने के लिए देता है, जो उसके हाथ में नहीं है। तामसी देता है, उसको बचाने के लिए, जो उसके पास है।

सात्त्विक व्यक्ति दान देता है—अहोभाव से, प्रेम से; न कुछ बचाने को है, न कुछ पाने को है। जो है, वह बाँटने को है। जो है, उसमें दूसरे को भी साझीदार बनाना है। वह इतना आनन्दित है कि तुम्हें अपने आनन्द में भी मित्र बनाना चाहता है, कि तुम आओ। जो भी है, उसके पास, रूखा-सूखा है तो, बहुत बहुमूल्य है तो, झोपड़ा है तो, महल है तो; वह तुम्हें बुलाता है कि निकट आओ, जो मेरे पास है, हम बाँटें,

हम साक्षीदार बनें। वह भी दान देता है, लेकिन उसका दान बेशर्त है।

तीनों पर ध्यान रखना। अपने भीतर धीरे-धीरे खोज करना। यह विश्लेषण का सूत्र है कि तुम तामसी हो, कि राजसी हो, कि सात्त्विक हो। और किसी को धोखा देना नहीं है, इसलिए ठीक-ठीक जाँच-परख करना।

विश्लेषण ठीक कर लोगे, तो उससे तुम्हारा रास्ता साफ होगा। और तब धीरे-धीरे तुम ऊर्जा को रूपांतरित कर सकते हो। जो ऊर्जा तमस् में जा रही है, उसे रजस् में ला सकते हो। जो ऊर्जा रजस् में जा रही है, उसे सत्त्व में ला सकते हो।

शास्त्र की परिणति है कि जब तीनों गुणों की ऊर्जाएँ समतुल हो जाएँगी, तो वे तीनों एक दूसरे को काट देते हैं और चेतना गुणातीत हो जाती है। गुणातीत हो जाते ही तुम भी कह सकोगे—मैं ब्रह्म हूँ।

आज इतना ही।

सरोवर है भीतर • प्रौढ आस्तिकता • नाम-रूप से मुक्ति भोजन की कीमिया

पाँचवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, प्रातः, दिनांक २५ मई, १९७५

आयुःसत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय—ऐसे आहार सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

और कडुवे, खट्टे, लवणयुक्त और अति गरम तथा तीक्ष्ण, रूखे और दुःख, चिंता और रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

और जो भोजन अध-पका, रसरहित और दुर्गंधयुक्त, बासा और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह तामस पुरुष को प्रिय होता है।
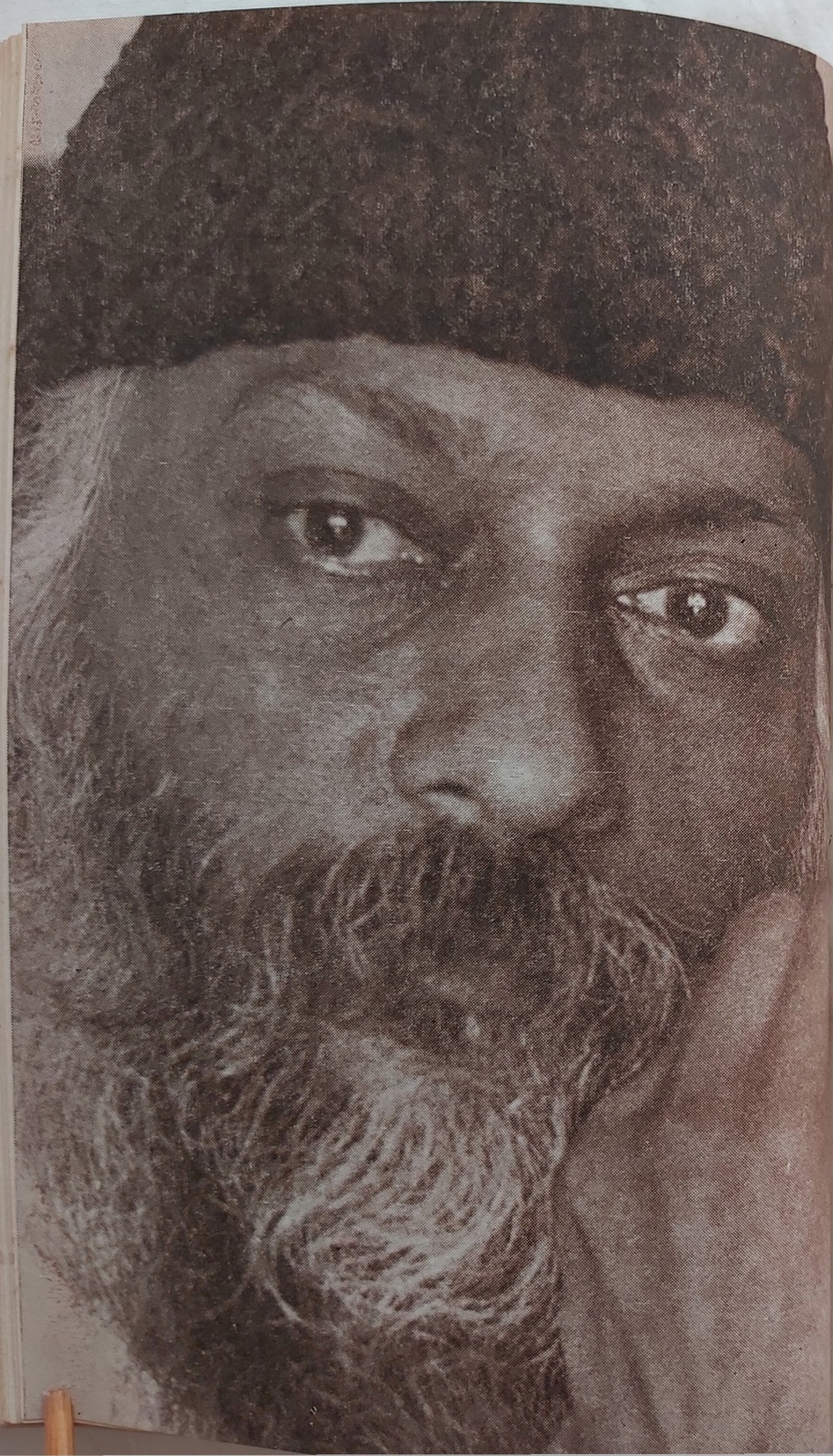
पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : सुना है, नारद को कृष्ण से मिलने की बहुत प्यास थी। और उन्हें जहाँ भी कृष्ण के होने का समाचार मिलता, वहाँ पहुँचते; लेकिन कृष्ण वहाँ से गुजर गये होते। ऐसा मृत्यु तक वे कृष्ण से न मिल पाये। एक है अनन्त प्यास से भरे नारद की स्थिति और एक मैं हूँ, जिसकी अभी प्यास ही नहीं जगी। तो क्या परमात्मा को पाने की मेरी चेष्टा निरर्थक ही नहीं है?

परमात्मा से वंचित रह जाने वाले दो तरह के लोग हैं। एक—जिनकी प्यास तो है ठीक, लेकिन खोज की दिशा गलत है। दूसरे—जिनकी प्यास ही नहीं है; इसलिए दिशा का सवाल ही नहीं उठता।

नारद की प्यास तो थी, लेकिन यात्रा वे गलत दिशा में कर रहे थे। जो भी कृष्ण को खोजने बाहर जाएगा, वह भटकेगा। कृष्ण को खोजना हो तो भीतर जाना पड़ेगा। कृष्ण कोई बाहर की सत्ता नहीं है, कृष्ण तो भीतर की अवस्था है।

नारद चूके, क्योंकि कृष्ण को बाहर समझा। जिसने भी परमात्मा को बाहर समझा, वह चूकता चला जाएगा। तुम जब पहुँचोगे, पाओगे, वहाँ से परमात्मा हट चुका। हर बार यही होगा। क्योंकि परमात्मा वहाँ था ही नहीं। वह दूर से दिखाई पड़ता था; पास से जाकर पता चलता है—हट गया। मृग-मरीचिका थी। मरुस्थल में दूर से दिखाई पड़ता था कि सरोवर है।

मरुस्थल में जब सरोवर दिखाई पड़ता है, तो पक्का भरोसा आ जाता है। भरोसे के दो कारण होते हैं : एक तो कारण होता है—भीतर की प्यास। प्यासा आदमी पानी पर भरोसा करना चाहता है। प्यासा आदमी पानी पर संदेह नहीं करना चाहता। क्योंकि संदेह तो मौत बनेगी। तो प्यासा तो श्रद्धालु होता है। जितनी बड़ी प्यास

होती है, उतनी ही बड़ी श्रद्धा हो जाती है।

तो प्यासा यह मानना नहीं चाहता कि वह जो दूर दिखाई पड़ रहा सरोवर है, वह है नहीं। क्योंकि उसके न होने का मतलब तो मौत होगी। यहाँ प्यास से कंठ जल रहा है, तो बुद्धि सारे संदेह छोड़ देती है, बुद्धि अपनी बुद्धिमानी छोड़ देती है।

प्यासा भरोसा करता है। भरोसे के सहारे ही जी सकता है। प्यासा आशा से भरा होता है। क्योंकि आशा के बिना तो जीवन ही नष्ट हो जाएगा। तो जो नहीं है, उसे भी मानने की तत्परता होती है।

भयभीत आदमी भय के कारण बुद्धि को खो देता है। जो नहीं है, वह दिखाई पड़ने लगता है। तुम कभी भयभीत हालत में अँधेरी रात से गुजरे हो? न मालूम कितने भूत-प्रेत सब तरफ मौजूद हो जाते हैं—चोर, हत्यारे सब तरफ सरकने लगते हैं। पत्ता सरकता है और लगता है कि कोई आ गया। हवा का झोंका टकराता है वृक्षों से और लगता है कि कोई आ गया। खुद के ही पदचाप सुनाई पड़ते हैं—सुनसान रात में और लगता है कि कोई पीछा कर रहा है। खुद के ही हृदय की धड़कन तेज मालूम पड़ने लगती है। भीतर उत्तेजना होती है, तुम बाहर उत्तेजना का कारण खोज लेते हो। भयभीत आदमी भूत-प्रेत पैदा कर लेता है। जैसा भयभीत आदमी भूत-प्रेत पैदा कर लेता है, वैसा ही प्यासा आदमी जल को पैदा कर लेता है।

मरुस्थल में प्यास लगी हो और सरोवर दिखाई पड़े तो इतनी हिम्मत तुम न जुटा सकोगे कि सोच सको: यह मृग-मरीचिका है, सपना है। कठिन है। घर में बैठे होते—छाया में, जल पीये बैठे होते तो शायद तुम भी दो बार सोचते कि यह जो दिखाई पड़ रहा है, यह कहीं मृग-मरीचिका तो नहीं है! कहीं मरुस्थल का धोखा तो नहीं है।

मरुस्थल में धोखा पैदा होता है—प्रकाश के एक नियम के अनुसार। जब प्रकाश की किरणें तप्त रेत पर पड़ती हैं तो तप्त रेत से वापस लौटती हैं। ये जो वापस लौटती किरणें हैं, ये कंपती हुई गरम होकर वापस लौटती हैं। इनके कंपन के कारण तुम्हें कभी-कभी यहाँ भी—मरुस्थल में जाने की जरूरत भी नहीं—भरी दुपहरी में किसी के छप्पर पर गौर से देखना तो तुम्हें किरणों की लहरें कंपित होती मालूम होंगी। ये कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि मरुस्थल तो भयंकर अग्नि है; रेत ही रेत है, लहरें कंपती हुई मालूम होती हैं—किरणों की, लेकिन वह कंपन इतना साफ मालूम पड़ता है कि लगता है—पानी में लहरें उठ रही हैं। और भरोसा और भी गहरा आ जाता है, क्योंकि आस-पास खड़े हुए वृक्षों की छाया बनने लगती है—किरणों की कंपती हुई लहरों में। अब तो पक्का हो गया कि जल है, नहीं तो छाया कैसे बनेगी! जल के बिना कहीं छाया बन सकती है? रेत में कहीं वृक्ष की छाया बन सकती है! लेकिन कंपती लहरों में वृक्ष की छाया बन जाती है—किरणों में।

भीतर की प्यास और बाहर प्रकाश का जाल—भरोसा आ जाता है। लेकिन जैसे ही तुम पास पहुँचते हो, जैसे-जैसे पास पहुँचते हो, तुम बड़े चकित होते हो। जैसे-जैसे पास पहुँचते हो ऐसे-ऐसे सरोवर पीछे हटने लगता है। तुम्हारी और सरोवर की दूरी उतनी ही रहती है, चाहे तुम कितने ही पास आ जाओ। क्योंकि अब तुम्हें दूर किरणों के जाल पर पानी दिखाई पड़ता है। प्यासा आदमी फिर भी भरोसा करता है। प्यासा तो अंधा हो जाता है।

तो जहाँ-जहाँ नारद गये होंगे, वहीं-वहीं से कृष्ण हट गये; यह कहानी बड़ी प्रीतिकर है। ऐसा हुआ हो, न हुआ हो, लेकिन खोजी के जीवन में यह घटना आती है।

तुम अपनी प्यास के कारण परमात्मा को बाहर देखते हो, क्योंकि तुमने जितनी चीजों की प्यास की है, सभी को बाहर पाया है। जल की प्यास लगी, जल बाहर पाया। भूख लगी, क्षुधा लगी, भोजन बाहर पाया। प्रेम उठा, भीतर तो प्रेमी नहीं मिला—बाहर पाया। महत्त्वाकांक्षा उठी, बाहर पद पाये, धन पाया।

जो भी भीतर जगा, उसको तृप्त करने वाला सदा तुमने बाहर पाया। तो जब परमात्मा की प्यास जगेगी, तब भी तुम्हारे पूरे जीवन का अनुभव कहेगा: बाहर होना चाहिए। जब भी उठी प्यास, बाहर ही तृप्ति पाई। जब भी उठी अतृप्ति, बाहर ही संतोष पाया।

सारे जन्मों का सार निचोड़ है, गणित है कि भीतर होती है प्यास, जल बाहर होता है। जब परमात्मा की प्यास उठेगी, तब भी तुम बाहर खोजोगे—मंदिरों में, मसजिदों में, गुरुद्वारों में—बाहर खोजोगे—आकाश में, पाताल में—सब जगह खोजोगे। वहाँ न खोजोगे, जहाँ तुम्हारी प्यास है।

संसार में प्यास तो भीतर होती है, जल बाहर होता है। परमात्मा की खोज में जहाँ प्यास है, वहीं सरोवर है। वे भिन्न आयाम हैं; तुम्हारे अनुभव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

तो जहाँ-जहाँ नारद को खबर मिली, जहाँ-जहाँ मृग-मरीचिका बनी, जहाँ-जहाँ धोखा खड़ा हुआ, वहाँ-वहाँ नारद भागे। पता लगा, कृष्ण पूना में हैं, नारद पूना आये। पता लगा, कृष्ण कलकत्ते में हैं, नारद कलकत्ता गये। लेकिन जब तक कलकत्ता पहुँचे तब तक कृष्ण कहीं और जा चुके थे। ऐसे वे भटकते रहे।

यह थोड़ा विचारने जैसी बात है कि नारद जैसा बुद्धिमान आदमी जीवन भर भटकता रहा और न खोज पाया! सबको मिल गये कृष्ण, नारद को क्यों न मिले?

नारद प्यासा है, गहरी प्यास है। प्यास अंधा कर देती है। और बाहर खोज रहा है। बाहर की खोज में जहाँ-जहाँ पाया, जहाँ-जहाँ खबर मिली—गये; लेकिन कृष्ण वहाँ से हट गये। पूरा जीवन ऐसे ही गया।

ऐसे ही तो तुम्हारे बहुत से जीवन गये। न नारद को समझ आई, न तुम्हें अभी समझ आई है कि परमात्मा की प्यास और परमात्मा दो चीजें नहीं हैं। वहाँ द्वैत है ही नहीं। वहाँ प्यास ही सरोवर है। वहाँ भूख ही भोजन है। वहाँ अद्वैत है। वहाँ खोजी और खोजा जाने वाला दो नहीं है। वहाँ खोजने वाला और जिसको खोज रहा है, वे दोनों एक है।

वहाँ तुम और तुम्हारे भगवान् दो नहीं हैं। वहाँ भक्त और भगवान् अन्य अन्य नहीं हैं; अनन्य हैं, अभिन्न हैं। वहाँ एक है। वहाँ तुम्ही हो। चाहो तो भक्त बन जाओ और चाहो तो भगवान् बन जाओ। अगर तुम भक्त बने, तो तुम भगवान् को बाहर खोजते रहोगे। वही तो नारद की मुसीबत है। नारद भक्त है।

भक्त बाहर खोजता रहेगा—और भटकता रहेगा। जिन्होंने जाना है, उन्होंने कहा है, तुम भगवान् बन जाओ।

भगवान् बनने का क्या मतलब होता है? इतना ही मतलब होता है कि प्यास और सरोवर एक है। जिसे मैं खोज रहा हूँ, वही मैं हूँ। जो खोज रहा है, वही मंजिल है। मार्ग और मंजिल अलग नहीं। साधन और साध्य दो नहीं हैं। एक ही है। और जो एक की तलाश करेगा, उसे तो भीतर ही खोजना पड़ेगा।

काश! नारद आँख बंद कर लेते और भीतर देखते। तो जिस कृष्ण को बाहर चूकते रहे थे, उसे भीतर हँसता हुआ पाते। वह वहाँ विराजमान है, भीतर प्रतीक्षा कर रहा है। बुला भी रहा है कि 'नारद, बाहर क्यों भटकता है? मैं तेरे भीतर हूँ।' लेकिन जो बाहर भटकता है, वह भीतर की आवाज नहीं सुनता।

नारद प्यासे थे। लेकिन प्यास ने उन्हें मृग-मरीचिका सुझा दी।

तो एक तो वह आदमी है, जो प्यासा भी होता है, फिर भी चूकता ह। एक वह आदमी है, जो प्यासा ही नहीं होता, इसलिए मिलने का सवाल ही नहीं है। नारद तो कभी न कभी कृष्ण से मिल जाएँगे, एक जन्म में न मिल पायें, दूसरे जन्म में मिल जाएँगे, तीसरे जन्म में मिल जाएँगे। ऐसी कोई जल्दी भी नहीं है। अनन्त काल है। शेष बहुत समय है। कथा चलती ही रही है। इसलिए कुछ अंत नहीं होता—एक जीवन पर। एक जीवन तो एक कण है। समय का तो विस्तीर्ण सागर है। कोई जल्दी नहीं है। नारद कहीं न कहीं मिल ही जाएँगे। लेकिन जिसको प्यास ही नहीं जगी, वह कैसे मिलेगा?

प्यास जगने का पहला कदम है—बाहर खोजना और बाहर खोज कर जब असफल होते हैं, बार-बार असफल होते हैं; तब सुरति आती है, स्मृति आती है कि अब भीतर और खोज लें।

इसलिए नारद बनो। खाली बैठे रहने से कुछ भी न होगा। बाहर खोजना ही

पड़ेगा, तभी तो भीतर खोजने का भान आयेगा। बाहर हारोगे, तो भीतर जाओगे। बाहर गिरोगे—बार-बार, तो भीतर उठोगे। बाहर टकरा-टकरा कर असफलता—असफलता—असफलता हाथ लगेगी, तो एक दिन तुम्हें भी याद आ जाएगी कि बहुत खोजा बाहर, अब थोड़ा भीतर भी नजर कर लें; पता नहीं, थोड़ा भीतर भी देख लें। पता नहीं, कहीं भीतर छिपा हो।

जब बाहर चूक ही जाता है हर बार, मिलते-मिलते चूक जाता है, पहुँचते-पहुँचते चूक जाता है, तो कितनी देर तुम बाहर खोजते रहोगे! मूढ़ से मूढ़ आदमी को भी एक दिन समझ आ जाएगी कि दो ही तो दिशाएँ हैं : बाहर और भीतर। बाहर खोज लिया, अब जरा भीतर और देख लें।

तो खोज का पहला पड़ाव नारद है। अगर प्यास ही न लगी तो यह तो पक्का है कि मृग-मरीचिका पैदा न होगी। कृष्ण तुम्हारे पास से भी गुजरते होंगे, तो तुम आँख उठा कर न देखोगे। देख भी लोगे, तो भी दिखाई न पड़ेंगे। देख भी लोगे, तो कुछ और समझोगे।

कृष्ण मौजूद हैं, बहुत कम लोग ही तो देख पाते हैं। अर्जुन को भी बड़ी देर लगती है देख पाने में। अर्जुन भी पूछता चला जाता है। वह कृष्ण को टटोलने की कोशिश कर रहा है; जाँचने की कोशिश कर रहा है। उसे भी पक्का भरोसा नहीं है। इसलिये तो इतनी लम्बी गीता चलती है। नहीं तो कृष्ण कह देते, 'लड़।' भरोसा पूरा होता, तो अर्जुन लड़ता।

अर्जुन को भी संदेह था, शक था। और शक बिलकुल स्वाभाविक मालूम होता है। क्योंकि कृष्ण मित्र थे। मित्र में भगवान् देखना बहुत मुश्किल है। जो बहुत दूर है, उसमें भगवान् देखना आसान है। जो बहुत पास है, उसमें देखना बहुत मुश्किल है। क्योंकि वह तुम्हीं जैसा है। तुम्हें उसकी भूल-चूकें भी पता हैं। तुम उसे परम पुरुष कैसे मान सकते हो! तुमने उसे प्यासा देखा है, भूखा देखा है, थका-माँदा देखा है; सोते देखा है, उठते देखा है; गरमी में पसीना बहते देखा है। सर्दी में कंपते देखा है। ठीक तुम जैसा है। किसी ने गाली दी है, तो नाराज होते देखा है। किसी ने प्रेम किया है, तो प्रसन्न होते देखा है। ठीक तुम जैसा है। कैसे तुम मान सकोगे कि वह भगवान् है?

कृष्ण को अर्जुन कैसे माने कि वे भगवान् हैं? दुर्योधन भी नहीं मानता, पर उसका न मानना पक्का है। उसकी अश्रद्धा पूर्ण है। हाँ, अर्जुन की श्रद्धा पूरी नहीं है। अश्रद्धा भी पूरी नहीं है; डाँवाडोल है।

अर्जुन शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वह बनता है—ऋजु से। ऋजु का अर्थ होता है : सीधा। जैसे ज्योति जलती हो दीये की, कंपती न हो। अऋजु का अर्थ होता है : कंपता हुआ, डाँवाडोल, चंचल; क्षण भर श्रद्धा, क्षण भर अश्रद्धा।

देखता है मित्र को, तो मित्र दिखाई पड़ता है। जरा गौर से देखता है तो मित्र खो जाता है, भगवान् की झलक मिलती है। भरोसा आता भी है, नहीं भी आता। इसलिए इतनी लम्बी गीता चलती है। यह भरोसे की खोज है, श्रद्धा की खोज है।

अर्जुन टटोल रहा है। वह यह कह रहा है कि सच में ही—सच में ही तुम विराट् पुरुष हो? सच में ही तुम वह हो, जिसका तुम दावा करते हो? सच में तुम ही हो, जिसने सब बनाया! तुम्ही हो, जो सब में छिपे हो? भरोसा नहीं आता। मेरे सारथी होकर बैठे हो! मेरा रथ चला रहे हो! मेरे घोड़ों को पानी पिलाते हो, उन्हें खुजलाते हो!

शरीर तो तुम्हारा मुझ जैसा ही मालूम पड़ता है। शब्द भी तुम्हारे मुझ जैसे मालूम पड़ते हैं। लेकिन थोड़ा-सा कुछ पार भी झलकता हुआ आता है, कुछ अतिक्रमण भी करता है। कुछ विराट् भी है; छोटे से आँगन में ही सही—आकाश भी है। उसकी भी झलक मिलती है।

दुर्योधन पक्का है, दृढ़ निश्चय है। उसकी अश्रद्धा पूरी है। उसने कभी भूल कर भी नहीं सोचा कि इस आदमी में कोई परमात्मा है। अर्जुन की श्रद्धा अश्रद्धा के बीच दौड़ है।

जिसकी प्यास ही नहीं है, वह तो खोजता हीन हीं। उसे तो दूर भी नहीं दिखाई पड़ता परमात्मा, बाहर भी नहीं दिखाई पड़ता। उसके लिए परमात्मा शब्द व्यर्थ है। उसमें कोई अर्थ नहीं है। वह काम-चलाऊ है।

अगर वह कभी परमात्मा शब्द का उपयोग भी करता है, तो तुम यह मत सोचना कि उसकी कोई सार्थकता है। उसकी कोई सार्थकता नहीं है। ऐसा आदमी कभी-कभी 'परमात्मा' शब्द का उपयोग करता है। कोई बात उसे मालूम नहीं, तुम उससे पूछो, वह कहता है, 'परमात्मा जाने'। तुम यह मत समझना कि वह यह कह रहा है कि परमात्मा जानता है। जब वह कहता है, 'परमात्मा जाने', तो वह यह कहता है कि कोई भी नहीं जानता। उसका मतलब यह होता है कि कोई भी नहीं जानता। परमात्मा यानी कोई भी नहीं—ऐसा वह उपयोग करता है।

मुल्ला नसरुद्दीन नास्तिक है। ईश्वर को मानता नहीं; पूजा-प्रार्थना को मानता नहीं। कभी मसजिद नहीं गया; कभी कुरान उठा कर नहीं पढ़ी।

एक यात्रा में एक मौलवी का साथ हो गया। सर्द ठंडे दिन थे और मौलवी पाँच बजे सुबह प्रार्थना करने को उठा—कंपकंपाता हुआ; दांत कंप रहे, हाथ कंप रहे। बड़ी सर्द रात। मुल्ला अपने बिस्तर में दबा है। मौलवी को उठता देख कर उसने भी जरा-सा रजाई से झाँक कर देखा और कहा कि 'धन्यवाद भगवान् का कि हम आस्तिक नहीं हैं।

इसके 'भगवान्' शब्द का क्या अर्थ होगा? 'धन्यवाद भगवान् का कि हम आस्तिक नहीं हैं, नहीं तो पाँच बजे रात, इस सर्द सुबह में उठकर प्रार्थना करनी पड़ती।'

यह भी भगवान् शब्द का उपयोग करता है, लेकिन इसका कोई प्रयोजन नहीं है। यह अर्थहीन शब्द है।

भगवान् जैसे शब्द में अर्थ तो तभी आता है, जब तुम्हें थोड़ी-सी झलक हो, जब थोड़ा झरोखा खुलना शुरू हुआ हो। भगवान् शब्द का अर्थ शब्दकोशों में नहीं लिखा है। वह जीवन की अनुभूति में है।

जिसकी प्यास ही नहीं है, उसे बाहर की दौड़ तो नहीं होगी, वह नारद जैसा भटकेगा नहीं। लेकिन इससे प्रसन्न मत होना कि हम भटक नहीं रहे हैं। क्योंकि जो भटकता है, वह कभी ठीक राह पर भी आ जाता है। जो भटकता ही नहीं, वह कभी ठीक राह पर नहीं आता। जो भूल करता है, वह कभी सुधार भी लेता है। जो भूल करता ही नहीं, वह सुधारेगा कैसे? इसलिए भूल करने से मत डरना और भटकने से भयभीत मत होना।

जो पहुँचे हैं, सभी भटक कर पहुँचे हैं। और जिन्होंने पाया है, बहुत भूलें करके पाया है। इसलिए भूल करने से मत डरना। वह कायर का लक्षण है। और भटकने से मत डरना, वह कमजोर की परिभाषा है। हिम्मतवर आदमी भूल करने को राजी होता है—हजार भूलें करने को राजी होता है। एक बात के लिए भर राजी नहीं होता; एक ही भूल को दुबारा करने को राजी नहीं होता। नई-नई भूल करता है। क्योंकि भूल न करोगे, तो जानोगे कैसे? पहचानोगे कैसे? टटोलोगे न, तो द्वार कैसे मिलेगा?

दीवार को टटोलने से बचना मत। क्योंकि जहाँ हम खड़े हैं—अंधकार में, वहाँ टटोला जा सकता है। और कुछ किया नहीं जा सकता। लेकिन टटोलने वालों ने धीरे-धीरे द्वार पा लिया है। तुम इससे मत डरना कि टटोलने में हँसी होगी, लोग मखौल करेंगे कि क्या दीवार टटोल रहे हो! अंधे हो?

तो अकड़े हुए मत रहना—अँधेरे में—कि टटोलने से अंधेपन का पता चलता है। 'ये देखो नारद, कितना टटोल रहा है। जहाँ पाता है, वहीं जाता है। लेकिन द्वार नहीं मिलता, दीवार ही मिलती है। खोजता है कृष्ण को; जहाँ खबर मिलती है, वहीं जाता है। पाता है, वे आगे चले गये, कहीं और चले गये। मिलन नहीं हो पाता। हम ही भले हैं; अपनी जगह तो बैठे हैं! न कहीं जाते, न भटकते। कम से कम इतना तो साफ है कि हमें कोई अज्ञानी नहीं कहेगा।' भूल की ही नहीं, तो अज्ञानी कोई कैसे कहेगा!

यह कमजोर का लक्षण है। ऐसे लोग बैठे-बैठे सड़ते हैं।

दुनिया में एक ही भूल है—मेरे लेखे—और वह भूल यह है कि तुम उठो ही न, चलो ही न। वही एक भूल है, बस। क्योंकि टटोलोगे तो किसी न किसी दिन द्वार मिल जाएगा।

द्वार है। टटोलना कितना ही लम्बा चले, लेकिन द्वार है। नारद ने कहीं न कहीं पा लिया होगा।

प्यास को जगाओ, प्यास को उभाड़ो। मेरे पास इतना ही हो सकता है कि मैं तुम्हें प्यास दे दूँ। परमात्मा को तो कोई भी नहीं दे सकता। प्यास दी जा सकती है, प्यास उकसाई जा सकती है।

एक दफा प्यास तुम्हें पकड़ ले, प्यास का ज्वर तुम्हें पकड़ ले, एक बेचैनी तुममें आ जाय, एक असंतोष तुम्हें घेर ले, तुम चल पड़ो, टटोलने लगो, भटकने लगो। कोई हर्जा नहीं : कृष्ण कोप हले बाहर ही खोज लेना। मंदिर-मसजिदों में जाना, द्वार-द्वार ठकठकाना। यह करना ही पड़ता है।

इजित में फकीरों का पुराना वचन है कि जिसे अपने घर आना हो, उसे बहुत दूसरों के घरों पर दस्तक देनी पड़ती है। अपने ही घर लौटने के लिए न मालूम कितने-कितने मार्गों पर भटकना पड़ता है।

आस्कर वाइल्ड—पश्चिम के एक बहुत विचारशील लेखक ने लिखा है कि जब मैं सारी दुनिया में भटका, तभी अपने देश को पहचान पाया। तब मैं अपने गाँव आया, तब मेरा गाँव और ही हो गया। क्योंकि अब मैं और था—सारी दुनिया देख कर लौटा था। गाँव के वृक्ष शानदार मालूम होने लगे और गाँव के पक्षी—पहली दफा मैंने उनके गीत सुने। क्योंकि दुनिया ने मेरी आँखें खोल दीं। अपने ही गाँव में था, तो सोया-सोया था। पता ही न था।

जब तक तुम बहुत न भटक लो, तब तक तुम्हें पहचान ही न आ सकेगी कि मंदिर तुम्हारे भीतर था। वह बहुत भटकने के बाद मिला हुआ अनुभव है। वह कीमत चुकानी ही पड़ती है। उस कीमत चुकाने से मत डरना।

मैं तुम्हें परमात्मा नहीं दे सकता; कोई नहीं दे सकता; किसी ने कभी दिया नहीं। क्या दिया है—बुद्ध पुरुषों ने? महावीर ने क्या दिया है लोगों को? एक पागलपन दिया, एक प्यास दी। जगा दी सोई हुई प्यास। उसे भी देना कहना ठीक नहीं। वह है तुम्हारे भीतर, दबी पड़ी है।

तुम उस प्यास की गलत व्याख्या कर रहे हो। कोई धन खोज रहा है; लेकिन वस्तुतः परमात्मा खोजना चाहता है। कोई पत्नी खोज रहा है, पति खोज रहा है; लेकिन वस्तुतः परमात्मा खोजना चाहता है। और इसलिए तो तुम्हारे जीवन में इतनी पीड़ा है। धन न मिलेगा, तो पीड़ा रहेगी। धन मिल जाएगा, तो पीड़ा रहेगी।

क्योंकि धन मिलकर भी तो वह न मिलेगा, जो तुम खोज रहे थे। तुम परमात्मा खोज रहे हो।

मेरे देखे हर आदमी परमात्मा खोज रहा है। नाम उसने अलग-अलग रखे हैं। कोई कहता है : पद खोज रहा हूँ, राष्ट्रपति होना है! तो राष्ट्रपति होकर अचानक तुमको पता चलेगा, 'यह तो कुछ भी न मिला।' मरोगे अब भी। इस पद का मूल्य क्या? यह कल छीन लिया जा सकता है। जो छीनी जा सकती है, वह कोई प्रतिष्ठा है? प्रतिष्ठा का तो अर्थ ही यह है कि जो छीनी न जा सके—जो मिली, तो मिली; जो शाश्वत है, सनातन है। पद भी क्या—जिस पर चढ़ाये जाओगे और उतारे जाओगे। वह तो अपमान है। राष्ट्रपति बने, फिर 'भूतपूर्व राष्ट्रपति' होना पड़ेगा। फिर जिंदा-जिंदा भूत हो जाओगे; जीते-जी मरे हो जाओगे।

जो छिन जाएगा, उसका मूल्य क्या? समझदार उसे खोजता ही नहीं। समझदार उसी को खोजता है : जो मिला, तो मिला; जिसको छीनने की फिर कोई जगह नहीं। लेकिन वह तो परमात्मा है—जो मिलता है, तो फिर छीना नहीं जा सकता। तुम उसी को खोज रहे हो।

तुम भी ऐसा धन खोजते हो, जो छीना न जा सके। इसलिए कितना इन्तजाम करते हो! तिजोरियों में बंद करते हो, बैंक लॉकर्स में रखते हो, स्विटजरलैण्ड के बैंकों में जमा करते हो। बचाते हो—सब तरफ से कि किसी तरह से कोई उपद्रव न आ जाय।

यहाँ तिजोरी चोरी जा सकती है। यहाँ सरकार का कोई भरोसा नहीं है। कुछ पक्का नहीं। क्योंकि इन्दिरा गांधी के गुरु रूस में रहते हैं। कब गुरु आदेश देंगे और कब यह मुल्क कम्युनिस्ट हो जाएगा, कुछ नहीं कहा जा सकता। तिजोरियाँ उठ जाएँगी, खुल जाएँगी, बैंक के लॉकर्स काम न आयेंगे। तो स्विटजरलैण्ड में बचाते हो, मगर कहीं भी बचाओ—धन बाहर का—बच नहीं सकता—जाएगा। और धन बच भी जाये, तो तुम चले जाओगे। तो धन का क्या करोगे! उसे तुम ले जा न सकोगे।

खोज तुम ऐसे ही धन की कर रहे हो, जो छीना न जा सके, जो सदा-सदा हो, जिसमें शाश्वतता छिपी हो। तुम परमधन को खोज रहे हो—परमात्मा को खोज रहे हो।

तुम्हारी सारी खोज में भनक उसी खोज की है। मैं इतना ही कर सकता हूँ कि तुम्हें जगाऊँ और तुम्हें बताऊँ कि तुम्हारी प्यास क्या है। तुम दौड़ तो रहे हो, लेकिन तुम कहाँ दौड़ रहे हो? किसलिए दौड़ रहे हो? तुम मंजिल क्या चाहते हो?

कोई भी व्यक्ति अगर शांत होकर थोड़ा-सा सोचेगा, तो वह पायेगा कि परमात्मा के बिना तृप्ति हो नहीं सकती। कितना ही स्त्री पति में परमात्मा देखे, कुछ फर्क नहीं पड़ता। वह आदमी तो दिखाई पड़ता ही रहता है। कहती ही रहती है कि तुम मेरे परमात्मा हो; वक्त-बेवक्त पैर भी छू लेती है; लेकिन परमात्मा दिखाई तो पड़ता

नहीं। जब तक परमात्मा ही तुम्हारा प्रेमी न होगा, तब तक तृप्ति हो नहीं सकती।

पति कितना ही प्रेम करे पत्नी को, प्रेम कभी पूरा नहीं हो पाता। क्योंकि पूरा तो प्रेम उसी के साथ हो सकता है, जो पूरा हो। अधूरे के साथ पूरा प्रेम कैसे हो सकता है? अधूरे को तुम पूरा कैसे चाह सकते हो? और यहाँ तो सभी अधूरे हैं।

अधूरे की चाह अधूरी ही बनी रहेगी। पूरी कभी न होगी। एक अतृप्ति जलती रहेगी। इसलिए तो एक स्त्री से चूक जाते हो, तो दूसरी में खोजते हो, तीसरी में खोजते हो। सोचते हो कि शायद कहीं पूरा मिल जाय। वह पूरा सिर्फ परमात्मा में मिलता है।

परमात्मा से कम में मनुष्य की प्यास बुझने वाली नहीं है। और यह तुम्हारा धन्यभाग है कि नहीं बुझती। अगर बुझ जाती तो तुम न मालूम किस कूड़े के ढेर पर बैठे होते। वहीं बुझ गई होती, तो खत्म यात्रा हो जाती। धन पर बैठे रहते। नहीं बुझती। परमात्मा तुम्हें यह मौका नहीं देगा कि तुम्हारी प्यास और कहीं बुझ जाय। वह तुम्हें बुला ही लेगा अपनी तरफ।

दौड़ो; प्यासे बनो; और अपनी हर प्यास में खोजो उस एक प्यास को। धीरे-धीरे तुम्हारी प्यास घनी होने लगेगी।

पहले तो तुम नारद ही बनोगे। नारद परम भक्त हैं। भक्त पहले भगवान् को बाहर खोजता है। और बाहर खोज-खोज कर भी नहीं पाता। रोता है, चीखता है, गाता है, नाचता है, लेकिन कमी बनी रहती है, फासला बना रहता है, दूरी बनी रहती है। और जैसे-जैसे करीब आता है, वैसे-वैसे लगता है कि इतनी-सी दूरी भी खलती है। इतनी दूरी भी बरदाश्त नहीं, लेकिन दूरी मिटती नहीं। चूक-चूक जाता है। तब भक्त एक दिन भीतर आँख ले जाता है।

भक्त पहले तो प्रार्थना करता है, प्रार्थना यानी परमात्मा बाहर है। फिर भक्त ध्यान में उतरता है। ध्यान यानी परमात्मा भीतर है। प्रार्थना पहली अवस्था है—प्यास की; और ध्यान दूसरी अवस्था है प्यास की।

ध्यान का अर्थ है : अब हम भीतर जाते हैं। ध्यान का अर्थ है : अब हम शब्द भी न बोलेंगे; अब हम पूजा भी न करेंगे। अब हम आरती उठा कर आरती भी न फिरायेंगे। कोई बाहर नहीं है। अब हम भीतर की यात्रा पर जाते हैं। अन्तर्यात्रा ध्यान है।

नारद ने जरूर पा लिया होगा।

प्यास को जगाओ। नारद बनो। फिर दूसरा कदम अपने से उठ जाता है। अगर प्यास प्रगाढ़ हुई तो तुम कितनी देर मृग-मरीचिकाओं में भटकोगे? एक न एक दिन समझ जगेगी, दीया जलेगा। एक न एक दिन आँख खुलेगी, नींद टूटेगी, तुम जागोगे और पाओगे कि परमात्मा भीतर बैठा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।

● दूसरा प्रश्न : क्या नास्तिक आस्तिक हुए बिना प्रबुद्ध हो सकता है?

आस्तिकता के अर्थ पर निर्भर करेगा। आस्तिकता से तुम्हारा क्या अर्थ है? क्या तुम्हारा आस्तिकता से अर्थ है कि जो किसी ईश्वर में भरोसा करता है, विश्वास करता है? या तुम्हारी आस्तिकता से अर्थ है कि जो स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाता है, जो स्वयं भगवान् हो जाता है?

दो तरह की आस्तिकताएँ हैं। एक आस्तिकता है—भक्त की, नारद की, जो बाहर खोज रहा है परमात्मा को। वह आस्तिकता बड़ी लचर है। वह कोई आखिरी आस्तिकता नहीं है। एक आस्तिकता है—महावीर की, बुद्ध की, जिन्होंने परमात्मा को भीतर पा लिया। तो बुद्ध ने तो कह दिया कि कोई भगवान् है ही नहीं। जब बुद्ध ने कहा, 'कोई भगवान् नहीं है', तो वे यही कह रहे हैं कि सभी कुछ भगवान् है, इसलिए 'कोई' भगवान् हो, इसका उपाय नहीं।

तभी तक सार्थक है यह बात कहनी कि राम भगवान् हैं, जब तक कि लक्ष्मण भगवान् न हों। कम से कम रावण भगवान् न हो, तभी तक इस बात की कोई सार्थकता है कहने की कि राम भगवान् हैं। लेकिन अगर लक्ष्मण भी भगवान् हैं और रावण भी भगवान् हैं, तो राम को भगवान् कहने का क्या अर्थ रह जाता है? कोई अर्थ नहीं रह जाता।

महावीर और बुद्ध परम आस्तिक हैं; उनकी आस्तिकता साधारण आस्तिकता से बहुत गहरी है। वे कहते हैं : सभी कुछ भगवत्ता है। यहाँ पेड़-पौधे भी भगवान् हैं। उनकी नींद थोड़ी गहरी लगी होगी तुमसे। यहाँ चट्टान पहाड़ भी भगवान् हैं। वे शायद और भी ज्यादा मूर्च्छा में पड़े हों, कोमा में सो रहे हैं; लेकिन हैं भगवान् ही—कितनी ही गहरी नींद हो।

चट्टान खूब गहरी सो रही है। आधी रात की नींद है। पौधे उतने गहरे नहीं हैं, ब्रह्म-मुहूर्त करीब आने लगा। पशु-पक्षी—भोर हो गई; आदमी—सुबह हो गई। बुद्ध महावीर भरी दुपहरी में जी रहे हैं, सूरज आकाश के मध्य में आ गया।

लेकिन ये सब सोने की और जागने की ही तारतम्यताएँ हैं, ग्रेडेशन्स हैं।

महावीर में, बुद्ध में और हिमालय की चट्टानों में जो अंतर है, वह गुण का नहीं है, मात्रा का है—होश की मात्रा का है। इसलिए महावीर ने पहाड़ों को भी एकेन्द्रिय जीव कहा है। उनकी एक ही इन्द्रिय है, सिर्फ शरीर है। न आँख है, न हाथ है, न पैर है। न वे चल सकते, न उठ सकते, न देख सकते, न सुन सकते, लेकिन शरीर है। वे स्पर्श अनुभव कर सकते हैं। बहुत गहरे सोये हैं।

महावीर ने बड़ी गहरी व्याख्या की है; पहाड़ों को कहा, 'एकेन्द्रिय'। फिर इसी मात्रा से वे उठाते आते हैं। फिर दो इन्द्रिय वाले पौधे हैं, फिर तीन इन्द्रिय जीव हैं;

जिनकी तीन इन्द्रियाँ जगी हैं, ऐसे पशु-पक्षी हैं। चार इन्द्रिय वाले पशु-पक्षी हैं। मनुष्य पंचेन्द्रिय है। और जो मनुष्य से ऊपर उठना शुरू होता है, उसकी छठवीं इन्द्रिय जगनी शुरू होती है। और जो मनुष्य के बिलकुल पार चला जाता है, वह अतीन्द्रिय में जाग जाता है। लेकिन सारा भेद मात्रा का है।

भगवान् से तुम्हारा क्या प्रयोजन है? आस्तिकता से क्या अर्थ है? क्या आस्तिकता का अर्थ है कि कोई व्यक्ति आकाश में बैठा हुआ सारे संसार को चला रहा है? तो तुम्हारी आस्तिकता बचकानी है, बच्चों की है, कहानी है। समझाने के लिए ठीक है। तुम्हारी आस्तिकता ऐसी है, जैसे 'ग' गणेश का। गणेश से कुछ लेना देना नहीं है 'ग' का। ग गधे का भी उतना ही है।

बच्चे को समझाते हैं : ग—गणेश का। अब नहीं समझाते ऐसा, अब नई किताबों में लिखा है : ग—गधे का। क्योंकि राज्य अब सिकुलर है। उसमें धार्मिक शब्दों का उपयोग नहीं हो सकता। मैं जब पढ़ता था, तब ग गणेश का था। अभी मैंने एक दिन देखा बच्चों की किताब—ग गधे का हो गया है! इसको लोग विकास कह रहे हैं। गणेश पर संदेह उठ गया, गधे पर भरोसा आ गया।

लेकिन जब हम कहते हैं : परमात्मा सारे संसार को चला रहा है, तो हम बच्चे को समझा रहे हैं, एक कहानी गढ़ रहे हैं। जिन्होंने जाना है, उन्होंने तो जाना कि परमात्मा ही संसार है; चलाने वाला और चलाये जाने वाले दो नहीं हैं, एक ही है।

इसलिए तो हिन्दुओं ने परमात्मा को नटराज कहा। नटराज का अर्थ होता है : नाचने वाला। नाचने वाले की बड़ी खूबी है एक। वह खूबी यह है कि तुम नाचने वाले से है नाच को अलग नहीं कर सकते।

कोई चित्रकार है, तो चित्र अलग हो जाता है, बनाने वाला अलग हो जाता है। कोई मूर्तिकार है, मूर्ति अलग हो जाती है, मूर्तिकार अलग हो जाता है। मूर्तिकार मर जाय, तो भी मूर्ति बनी रहेगी—हजारों साल तक। चित्रकार के चित्र को जला दो, तो चित्रकार न जलेगा। इसलिए हिन्दुओं ने परमात्मा को चित्रकार नहीं कहा, मूर्तिकार नहीं कहा। उन्होंने कहा—नटराज।

नटराज का मतलब यह है कि तुम उसकी प्रकृति को और उसे अलग-अलग नहीं कर सकते, जैसे नर्तक के नृत्य को अलग नहीं कर सकते। नर्तक मर गया, नृत्य मर गया। और अगर तुम नृत्य बंद कर दो, तो उस आदमी को नर्तक कहने का अब क्या अर्थ है। वह तो नर्तक तभी तक था, जब तक नाचता था।

सृष्टि और स्रष्टा के बीच नाचनेवाले और नाच का सम्बन्ध है। उन्हें तुम अलग नहीं कर सकते। इसलिए कोई परमात्मा चला रहा है, ऐसा नहीं। जब कोई नर्तक नाचता है—सिक्खड़ की छोड़ दो, क्योंकि उसको तो नर्तक कहना ठीक नहीं—जब कोई

कुशल नर्तक नाचता है, तो नाचने वाला और नाच दो नहीं होते।

पश्चिम में एक बहुत बड़ा नर्तक हुआ, इस सदी के प्रारंभ में, उसका नाम था—निझिन्स्की। मनुष्य जाति के इतिहास में थोड़े से लोग ऐसे नर्तक हुए हैं, जैसा निझिन्स्की था। निझिन्स्की के साथ बड़ी मुश्किल थी। नाच शुरू तो वह करता था, लेकिन फिर उस पर कोई नियंत्रण नहीं रखा जा सकता था—कि थियेटर का मैनेजर कहे कि अब घंटी बजे तो बंद। क्योंकि वह कहेगा, बंद करने वाला कौन? एक दफे शुरू हो गया, फिर जब होगा बंद, तब होगा। तो कभी तीन घंटे नाचता, चार घंटे नाचता; कभी पंद्रह मिनट में पूरा हो जाता। मैनेजर्स बहुत परेशान थे—थियेटर के—कि किस तरह लोगों को टिकिट बेचें; क्योंकि कभी वह खड़ा ही रह जाता और नाचता ही नहीं और कभी नाचता, तो पूरी रात नाचता।

उस जैसा नाचने वाला नहीं हुआ है। वैज्ञानिक भी चकित थे—उसकी नाच से; क्योंकि नाचते-नाचते ऐसी घड़ी आती थी कि वैज्ञानिकों ने भी यह निर्णय लिया कि ग्रेविटेशन का असर उस पर खत्म हो जाता है। जमीन में जो कशिश है, जिससे हम जमीन से बंधे हैं, जिसके कारण पत्थर को फेंकें, वह नीचे आ जाता है। निझिन्स्की नाचते-नाचते एक ऐसी घड़ी में पहुँच जाता था, जहाँ योगी पहुँचते हैं। उस घड़ी में वह इतनी ऊँची छलाँगें भरने लगता था, जो कोई मनुष्य कभी भर ही नहीं सकता, क्योंकि जमीन में इतनी कशिश है। और वह ऐसा हलका हो जाता था, जैसे पंख लग गये।

अनेक अध्ययन किये गये हैं निझिन्स्की के कि घटना क्या घटती थी? जिसको योग में लेव्हिटेशन कहते हैं—कि कभी-कभी योगी जमीन से ऊपर उठ जाता है। तुमने ऐसी कहानियाँ सुनी होंगी। कभी-कभी यह घटता है।

अभी पश्चिम में एक महिला है चेकोस्लोवाकिया में, वह चार फीट ऊपर उठ जाती है—ध्यान की अवस्था में। उसके बहुत अध्ययन किए गये हैं, चित्र लिए गये हैं, फिल्म ली गई है। नीचे से लकड़ियाँ निकाली गईं, नीचे से आदमी सरक के निकले—कि पता नहीं कोई धोखा तो नहीं है! लेकिन वह चार फीट ऊपर उठ जाती है। जैसे ही वह ध्यान करती है, पंद्रह मिनट के बाद चार फीट ऊपर उठ जाती है। अब यह एक वैज्ञानिक रूप से प्रमाणिक तथ्य है।

निझिन्स्की के साथ भी यही होता था। कोई पंद्रह मिनट के बाद एक ट्रान्सफॉमेंशन हो जाता था, एक रूपांतरण हो जाता। निझिन्स्की फिर था ही नहीं वहाँ, उसके चेहरे पर कोई आविर्भाव हो जाता था, वह एक ऊर्जा हो जाता—एक शक्ति मात्र—जो नाचती। और नाचते-नाचते इतनी ऊँची छलाँग लेने लगता और हवा में तिरने लगता कि जैसे थोड़ी देर को रुक गया है; न ऊपर जा रहा है, न नीचे गिर रहा है—इतना हलका हो जाता।

निझिन्स्की से जब पूछा जाता कि तुम यह कैसे करते हो, तो वह कहता, 'करने वाला तो कोई होता ही नहीं। बस, यह होता है।' कृत्य और कर्ता में फर्क नहीं रह जाता, तभी यह होता है।

हमने परमात्मा को नटराज कहा है, क्योंकि सारा संसार उसका नाच है। पक्षियों के कंठ में उसी का गीत है, जो तुम सुन रहे हो। वृक्षों से निकलती हवाओं में वही निकलता है। और वृक्षों के फूलों में भी वही खिला है। झरनों में उसी का कल-कल नाद है। मुझसे वही बोल रहा है, तुमसे वही सुन रहा है। वही कहीं चोर है, वही कहीं साधु है। वही कहीं बेईमान है, कहीं परम संत है। वही कहीं रावण है, कहीं राम है। सारी लीला एक की है और वह एक जो भी कर रहा है, सब उसके भीतर है, बाहर नहीं है।

इसलिए आस्तिक का क्या अर्थ होगा? दो अर्थ होंगे। एक तो बच्चों को सिखायी जाने वाली आस्तिकता, जिसमें हम कहते हैं; परमात्मा ऊपर है। ऐसा लगता है, कोई बड़ा इंजीनियर है, जो सब चीजों को सम्हाल रहा है। या कोई बड़ा न्यायाधीश है और वहाँ से कानून चला रहा है। लोगों को दंड दे रहा है; अच्छों को बचा रहा है, बुरों का मार रहा है। या लगता है कि कोई तानाशाह है, कोई स्टैलिन, हिटलर की महाप्रतिमा—कि जो उसकी मौज में आ रहा है, कर रहा है। जब पत्तों को हिलाना है, हिला देता है। जब नहीं हिलाना है, नहीं हिलाता। नियम उसके हाथ में है; चाहे बचाये, चाहे मारे। सब उसके हाथ में है। तुम स्तुति करो, इसके अतिरिक्त तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। यह बच्चों का भगवान् है।

और यह मत सोचना कि सिर्फ छोटे-छोटे बच्चे बच्चे होते हैं। सौ में से नब्बे प्रतिशत लोग तो मरते समय तक बचकाने होते हैं, उनकी बुद्धि में कोई प्रौढ़ता नहीं आ पाती।

फिर एक प्रौढ़ आस्तिकता है, उस आस्तिकता का कोई सम्बन्ध ही इस तरह की धारणा से नहीं है। ध्यान रखना, बच्चों की आस्तिकता में भगवान् एक व्यक्ति की तरह है। वह एक पर्सनल व्यक्तित्ववाची शब्द है। प्रौढ़ व्यक्तियों की भाषा में भगवान है ही नहीं। भगवत्ता है—एक गुण, एक क्वालिटि—एक चैतन्य का विस्तार। कोई व्यक्ति नहीं है भगवान कि जिसे तुम मिलोगे। वह तुम्हारे ही होने की आत्यंतिक अवस्था है। आस्तित्व है भगवान्। इसलिए बुद्ध और महावीर जैसे परम आस्तिकों ने भगवान् शब्द का उपयोग ही नहीं किया। बच्चों की आस्तिकता वाले लोगों ने उनको नास्तिक कहा है—कि ये नास्तिक हैं, क्योंकि ये भगवान को नहीं मानते हैं।

अब इस प्रश्न को समझा जा सकता हैं।

क्या नास्तिक आस्तिक हुए बिना प्रबुद्ध हो सकता है? अगर बचकानी आस्तिकता तुम्हारी धारणा में हो, तो नास्तिक उस तरह का आस्तिक हुए बिना प्रबुद्ध हो सकता है; उस तरह की आस्तिकता का कोई मूल्य नहीं है। लेकिन अगर बुद्ध जैसी आस्तिकता का खयाल हो—मैं जिस अस्तिकता की बात करता हूँ, अगर उसका तुम्हें खयाल हो, तो कैसे कोई नास्तिक, बिना आस्तिक हुए प्रबुद्ध हो सकेगा?

प्रबुद्ध होना और आस्तिकता एक घटना के दो नाम हैं। बुद्ध होना और भगवान होना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

नहीं, आस्तिक हुए बिना कोई उपाय नहीं है। आस्तिक होना ही पड़ेगा। आस्तिकता एक क्रांति है, वह इस जगत् की सबसे बड़ी क्रांति है। वह ऐसा क्षण है समाधि का, जहाँ तुम्हें अपने अमृत होने का पता चलता है; शाश्वत होने का पता चलता है। जहाँ तुम्हें पता चलता है कि तुम अलग नहीं हो अस्तित्व से, तुम उसी की तरंग हो। तुम विराट् हो।

बहुत बार तुम मरे—और मरे नहीं। और बहुत बार तुम जन्मे—और जन्मे नहीं। तुम सदा थे और सदा रहोगे।

लहर की तरह तुम्हारी धारणा मिट जाती है और सागर की तरह तुम्हें अपना अनुभव होता है। ऐसी आस्तिकता को पाये बिना कोई नास्तिक कैसे प्रबुद्ध हो सकता है!

● आखिरी प्रश्न : शास्त्र संकेत देते हैं, उपदेश नहीं। आप संकेत भी दे रहे हैं, उपदेश भी। पर मैं अपने को कहीं पहुँचता हुआ नहीं देख पा रहा हूँ। मुझसे रोज-रोज क्या भूल हो रही है? क्या छूट जाता है?

भूल बिलकुल साफ है। कहीं पहुँचने की आकांक्षा में भूल है। महत्त्वाकांक्षा कि तुम्हें कहीं पहुँचना है—तुम्हें—मैं को—अहंकार को कुछ पाना है, वहीं भूल हो रही है। अहंकार को मिटना है, पाना नहीं है। अहंकार को जाना है, होना नहीं है। अहंकार को खोना है। और वहीं भूल हो रही है।

तुम मुझे सुनते हो और तुम मुझे सुन कर अपने अहंकार में चार चाँद लगा लेना चाहते हो। तुम चाहते हो, समाधि उपलब्ध हो जाय। तुम समाधि की संपत्ति को भी अपने अहंकार के साथ जोड़ लेना चाहते हो! तुम चाहते हो, भगवान् तुम्हारी मुट्ठी में आ जाय। तुम चाहते हो, तुम जैसे हो वैसे ही रहते कुछ उपलब्ध हो जाय। वहीं भूल हो रही है।

तुम्हें एक बात तो करनी ही पड़ेगी, तुम्हें मिटना होगा। तुम्हारे रहते कोई उपलब्धि होने वाली नहीं है। तुम ही बाधा हो। जिस क्षण तुम मिट जाओगे, सब उपलब्ध है। उसे कभी खोया ही नहीं था। उसे खोने का उपाय नहीं है।

तुम जब तक अपने को पकड़े हो, तब तक तुम उससे चूक रहे हो। फिर तुम लाख ध्यान करो, पूजा-प्रार्थना करो, समाधि लगाओ, आँख बंद करो—खोलो, आसन लगाओ, शीर्षासन करो—कुछ न होगा। तुम वहाँ मौजूद हो। तुम्हारे रहते परमात्म नहीं हो सकता, क्योंकि तुम एक भ्रांति हो।

तुम हो नहीं, और लगता है कि तुम हो और जो तुम्हारे भीतर है, वह तुम्हारी इस भ्रांति के कारण प्रकट नहीं हो पाता।

कौन हो तुम? तुम्हारा नाम तुम हो? पैदा हुए थे, कोई नाम लेकर न आये थे? आज उस नाम को कोई गाली दे दे, तो तलवारें निकल आती हैं। वह नाम तुम्हारा है नहीं। दिया हुआ—उधार है। दूसरों ने लेबॅल लगा दिया। और तुम भी अद्भुत हो कि तुम उस लेबॅल से इतने जोर से चिपक गये हो। लेबॅल तुमसे चिपका है—ऐसा नहीं मालूम पड़ता अब, अब तुम लेबॅल से चिपके हो। तुम कहते हो, 'यह मेरा नाम है। तुमने गाली दे दी!'

बुद्ध का एक शिष्य हुआ, उसका नाम था : पूर्ण काश्यप। वह एक गाँव से गुजरता था। लोगों ने गालियाँ दीं, अपमान किया। वह वैसे ही चलता रहा—जैसे चल रहा था। जैसे कुछ भी न हुआ, जैसे हवा का एक झोंका भी न आया, जिसमें उसका बाल भी हिल जाता।

उसके साथ के एक भिक्षु को क्रोध आ गया कि हद्द हो गई। लोग गाली दिए जा रहे हैं। उसने पूर्ण को कहा कि 'आप सुन रहे हैं। और ये गाली दे रहे हैं! मेरी बरदाश्त के बाहर हुआ जा रहा है। हालाँकि मुझे ये कोई गाली नहीं दे रहे हैं।'

पूर्ण ने कहा, 'इस पर सोचो। तुम्हें गाली नहीं दे रहे हैं, और तुम्हारे बरदाश्त के बाहर हुआ जा रहा है! तुम क्यों बीच में आ रहे हो? जिस तरह तुम्हें ये गाली नहीं दे रहे हैं, उसी तरह मुझे भी नहीं दे रहे हैं। ये तो पूर्ण काश्यप को गाली दे रहे हैं। इसमें मेरा क्या लेना-देना! मेरा नाम पूर्ण रख दिया माँ-बाप ने, तो पूर्ण हो गया; अपूर्ण रख देते, तो अपूर्ण हो जाता। कुछ इसमें लेना-देना है नहीं।'

हिन्दू घर में पैदा होते हैं, हिन्दू नाम; मुसलमान घर में पैदा हो जाओ तो मुसलमान नाम। हिन्दू घर में राम हो जाते हैं, मुसलमान घर में रहीम हो जाते हैं। दोनों नाम का मतलब भी एक ही है। मगर राम और रहीम तलवार खींच के लड़ जाते हैं, क्योंकि हिन्दू मुसलिम दंगा हो गया। उसमें राम रहीम को मारता है, रहीम राम को मारते हैं, और दोनों नाम हैं। नाम का झगड़ा है।

तुम नाम हो? या तुम रूप हो?

दो शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं भारत के—नाम-रूप। नाम वह सब है, जो दूसरों ने

समझा दिया कि तुम हो। नाम का अर्थ सिर्फ तुम्हारा नाम ही नहीं है। दूसरों ने जो समझा दिया कि तुम हो, तुम्हारा नाम राम—रहीम; तुम हिन्दू, तुम मुसलमान; तुम जैन; तुम शूद्र, तुम ब्राह्मण—जो दूसरों ने तुम्हें समझा दिया—वह सब नाम के अंतर्गत आ जाता है। अगर दूसरे तुम्हें न समझाते तो जिसका तुम्हें कभी पता न चलता, वह सब नाम के अंतर्गत आ जाता है।

थोड़ी देर को सोचो; अगर तुम हिंदू घर में पैदा न होते या हिंदू घर में पैदा होते ही तुम्हें मुसलमान घर में छोड़ दिया जाता, तो क्या तुम किसी तरह से खोज सकते थे, अपने आप, कि तुम हिंदू हो? और कौन जाने, यही हुआ हो—तुम्हारे साथ। तुम्हें अपने पिता का पक्का भरोसा है? कि तुम उन्हीं से पैदा हुए हो? सिर्फ खयाल है। कोई पक्का तो है नहीं।

तुम हिंदू हो कि मुसलमान हो? तुम्हें अगर छोड़ दिया जाय तुम्हीं पर, तुम्हें कोई न बताये कि तुम हिंदू हो या मुसलमान हो, तो क्या अपने आप जान लोगे कभी कि तुम कौन हो? कैसे जानोगे?

वह सब नाम है, जो दूसरों ने सिखाया है। दूसरों ने पट्टी पढ़ाई है, वह सब कंडीशनिंग है, संस्कार है।

तो नाम के अंतर्गत दूसरों ने जो सिखाया है, सब आ जाता है। और रूप के अंतर्गत तुम्हारी अपनी जो प्राकृतिक भ्रांतियाँ हैं, वे सब आ जाती हैं। जैसे कि तुम समझते हो, मैं पुरुष हूँ। निश्चित यह किसी दूसरे ने तुम्हें नहीं समझाया है कि तुम पुरुष हो। तुम पुरुष हो। क्योंकि तुम्हारे शरीर का रूप-रंग पुरुष का है। अंग पुरुष के हैं। तुम स्त्री हो, क्योंकि अंग स्त्री के हैं। यह किसी ने तुम्हें समझाया नहीं। अगर तुम्हें कोई भी न बताये कि तुम पुरुष हो, तो भी तुम एक दिन खोज लोगे कि तुम पुरुष हो। यह रूप है। इसकी तुम खुद खोजकर सकते हो।

लेकिन तुमने कभी आँख बंद करके भीतर खोज कर देखा कि चेतना क्या पुरुष हो सकती है या स्त्री? तुम्हारा बोध स्त्री है या पुरुष? तुम्हारी कांशसनेस स्त्री है या पुरुष?

कभी तुम बच्चे हो, कभी जवान, कभी बूढ़े, कभी तुमने भीतर गौर किया कि तुम्हारी चेतना जवान से बूढ़ी होती है? कब होती है? बच्चे से जवान होती है? कब होती है? शरीर पर तो सीमा बनाई जा सकती है—कि यह बच्चा, यह जवान, यह बूढ़ा; चेतना पर तो कोई सीमा नहीं बनती।

अगर बूढ़े आदमी को पता न चलने दिया जाय कि वह बूढ़ा है, उसे अँधेरे में रखा जाय और कोई उसे बताये न कि कब वह जवान से बूढ़ा हो गया; कोई ऐसा उपाय न करने दिया जाय, जिससे उसे पता चल सके, कोई काम न हो उसके ऊपर, बिस्तर

पर आराम करता रहे, भोजन वक्त पर मिल जाय, शांति से पड़ा रहे, जवान से बूढ़ा हो जाय—अँधेरे में। क्या उसकी चेतना को कभी भी पता चलेगा कि मैं जवान से बूढ़ी हो गई?

सच तो यह है कि तुम जब भी आँख बंद करते हो, तभी तुम संदिग्ध हो जाते हो कि तुम जवान हो, बूढ़े हो, बच्चे हो—क्या हो? हाँ, ऊपर दर्पण में जब देखते हो—रूप अपना, तो लगता है, बूढ़े हो गये। बाल सफेद हो गये, हाथ-पैर कमजोर हो गये।

नाम है समाज के द्वारा दी गई भ्रांति और रूप है प्रकृति के द्वारा दी गई भ्रांति। तुम दोनों के पार हो। न तुम नाम हो, न तुम रूप हो।

जब तक नाम-रूप का संगठन कुछ पाने की कोशिश करता रहेगा, तब तक तुम चूकते चले जाओगे। इन दो से छूट जाओ—नाम से, रूप से और भीतर खोजो उसे, जो न तो नाम है और न रूप है, तत्क्षण जिसकी तुम तलाश कर रहे हो, सदा-सदा से, तुम पाओगे वह मिला ही हुआ है।

चैतन्य तुम्हारा स्वभाव है—न तो नाम, न रूप। वह चैतन्य ही परमात्मा है।

तो भूल इतनी ही हो रही है कि मुझे सुन कर तुम महत्त्वाकांक्षा से भर रहे हो। तुमने एक दौड़ बना ली है कि समाधि को पाकर रहेंगे। समाधि कोई पाने जैसी चीज थोड़े ही है। समाधि कोई वस्तु थोड़े ही है कि तुम कहीं से खरीद लाओगे, कि झपट्टा मार दोगे, कि आक्रमण कर दोगे, कि हमला करके उठा लाओगे!

समाधि तो ऐसी चित्तदशा का नाम है, जहाँ नाम-रूप खो जाते हैं। और नाम-रूप ही समाधि खोज रहा है, तो फिर भूल हो जाएगी। इसलिए नाम को छोड़ो, रूप को छोड़ो।

पहचानो कि न तो तुम शरीर हो और न तुम मन हो। शरीर प्रकृति का दिया हुआ है, मन समाज का दिया हुआ है। मन है नाम, शरीर है रूप—और तुम दोनों के पार हो। तुम सदा ही पार हो। वह जो पीछे खड़ा साक्षी है, जो दोनों को देख रहा है, वही तुम हो—तत्त्वमसि श्वेतकेतु।

वह जो साक्षी है, उसमें तुम जितने गहरे जाग जाओगे, उतनी ही मंजिल पास आ जाएगी। तुम्हें चल कर जाना नहीं है, मंजिल खुद पास आती है। तुम जागे कि मंजिल पास आने लगती है। तुम जैसे-जैसे जागते हो, मंजिल पास आने लगती है। एक दिन तुम परिपूर्ण होश से भर जाते हो, पात हो कि मंजिल तुम ही हो।

तुम ही हो गन्तव्य, तुम्हीं हो गति, तुम्हीं हो यात्री, तुम्हीं हो पड़ाव, तुम्हीं हो यात्रा और तुम्हीं हो तीर्थ। तुमसे अन्य कुछ भी नहीं है।

लेकिन नाम-रूप बाधा हैं और तुमने उन्हें जकड़ कर पकड़ा है। तुम उन्हें छोड़ते नहीं और उनके कारण तुम सपने में जीते हो। एक सूत्र रूप से सारी बात कही जा सकती है : नाम-रूप अर्थात माया। नाम रूप से मुक्ति अर्थात ब्रह्म।

अब हम सूत्र को लें।

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय—ऐसे आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं। कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, अति गरम तथा तीक्ष्ण, रूखे, दाह-कारक एवं दुःख, चिंता और रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजस् पुरुष को प्रिय होते हैं। और जो भोजन अध-पका, रसरहित, दुर्गंधयुक्त, बासा और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह तामस पुरुष को प्रिय होता है।'

कृष्ण जीवन को तीन गुण के अनुसार सभी दिशाओं में बाँट रहे हैं। उस विभाजन का बोध साधक के लिए बड़ा उपयोगी है। उससे अपनी परीक्षा करने में और अपने को कसौटी पर कसने में सुविधा होगी, एक मापदण्ड मिल जाएगा।

कैसा भोजन तुम्हें प्रिय है? क्योंकि जो भी तुम्हें प्रिय है, वह अकारण प्रिय नहीं हो सकता; वह तुम्हें प्रिय है; तुम्हारे संबंध में खबर देता है। तुम जो भोजन करते हो, वह खबर देता है कि तुम कौन हो। तुम कैसे उठते हो, कैसे बैठते हो, कैसे चलते हो—उससे तुम्हारे भीतर की चेतना की खबर मिलती है। तुम कैसा व्यवहार करते हो, कैसे सोते हो—उस सबसे तुम्हारे सम्बन्ध में संकेत मिलते रहते हैं।

एक सूक्ष्म शास्त्र विकसित हुआ है पश्चिम में—मनुष्य के व्यवहार को ठीक से जाँच लेकर मनुष्य के भीतरी अन्तःकरण के सम्बन्ध में सभी कुछ पता चल जाता है। और अनजाने भी बहुत बार तुम ऐसे काम करते हो, जिनका तुम्हें भी खयाल नहीं है।

समझो : दो आदमी खड़े बात कर रहे हैं। अगर तुम दूर से खड़े होकर चुपचाप गौर से देखो, तो कई बातें, जो उन दो को पता न होंगी, तुम्हें पता चल सकती हैं। जो आदमी ऊब गया है और बातचीत को आगे नहीं बढ़ाना चाहता, तुम उसके चेहरे पर ऊब के लक्षण देखोगे। भला वह ऊपर से बता रहा हो कि मैं बड़े रस से तुम्हारी बातें सुन रहा हूँ; क्योंकि हो सकता है, सुनाने वाला मालिक हो, पैसे वाला हो, राजनेता हो, ताकत हाथ में हो—कुछ नुकसान कर सकता हो।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दफ्तर में काम करता है। दफ्तर का जो मालिक है, वह कभी-कभी लोगों को इकट्ठा करके पिटी-पिटाई मजाकें सुनाता है, जिनको वह कई दफे सुना चुका है। और लोग खिलखिला कर हँसते हैं। हँसना पड़ता है। जब मालिक 'जोक' सुनाये, तो हँसना पड़ेगा। मालिक मालिक है, न हँसे तो मुश्किल में पड़ोगे। हालाँकि वह दस-पचास दफे सुना चुका है—वही कहानी। फिर भी लोग हँसते हैं। मुल्ला नसरुद्दीन भी हँसता था—सदा, सबसे ज्यादा हँसता था, ऐसा खिलखिला के—कि जैसे कभी यह बात सुनी ही न हो।

लेकिन एक दिन मालिक ने एक मजाक सुनया, जो वह कई दफा सुना चुका है।

सब तो हँसे, मुल्ला नसरुद्दीन चुप बैठा रहा। मालिक चौंका। उसने कहा, 'तुमने सुनी नहीं कहानी।' मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, 'सुनी और बहुत दफे सुन ली।' तो उन्होंने कहा, 'तुम हँसे नहीं? मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, 'कल हम नौकरी छोड़ रहे हैं। हँसना क्या खाक? हँसते थे, जब तक नौकरी थी। अब नौकरी ही छोड़ रहे हैं, तो हँसना किसलिए।'

अगर दो आदमी बात कर रहे हैं, तो तुम गौर से देख सकते हो कि कौन आदमी सिर्फ दिखला रहा है कि हम बड़े रस से सुन रहे हैं, लेकिन उसके चेहरे पर उबासी आ रही है। दो आदमी खड़े हैं, उनमें जो आदमी जाना चाहता है, तुम पाओगे, उसका शरीर जाने को तैयार है। भला वह उत्सुकता दिखला रहा हो। लेकिन शरीर खबर दे रहा है कि जैसे ही छूटे कि वह तीर की तरह निकल जाय। उसका तीर प्रत्यंचा पर चढ़ा हुआ है। जो आदमी उत्सुक नहीं है—बात करने में, उसकी गरदन पीछे को खिंची रहेगी। जो आदमी उत्सुक है, वह आगे को झुका रहेगा।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जिस स्त्री से तुम बात कर रहे हो, अगर वह तुमसे प्रेम में पड़ने को राजी है, तो वह आगे की तरफ झुकी होकर तुमसे बात करेगी। अगर वह तुमसे राजी नहीं है, तो तुम्हें समझ जाना चाहिए वह हमेशा पीछे की तरफ झुकी होगी। वह दीवाल खोजेगी; दीवाल से टिक कर खड़ी हो जाएगी। वह यह कह रही है कि यहाँ दीवाल है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जो स्त्री तुमसे संभोग करने को उत्सुक होगी, वह हमेशा पैर खुले रखकर बैठेगी—तुमसे बात करते वक्त। वह स्त्री को भी पता नहीं होगा। अगर वह संभोग करने को उत्सुक नहीं है, तो वह पैरों को एक दूसरे के ऊपर रखकर बैठेगी। वह खबर दे रही है कि वह बंद है, तुम्हारे लिए खुली नहीं है। इस पर हजारों प्रयोग हुए हैं और यह हर बार सही बात साबित हुई है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि तुम एक होटल में प्रवेश करते हो। एक स्त्री बैठी है, वह तुम्हें देखती है। अगर वह एक बार देखती है, तो तुममें उत्सुक नहीं है। एक बार तो आदमी औपचारिक रूप से देखते हैं, कोई भी घुसा तो आदमी देखते हैं। लेकिन अगर स्त्री तुम्हें दुबारा देखे, तो वह उत्सुक है।

और धीरे-धीरे जो डॉन जुआन तरह के लोग होते हैं—जो स्त्रियों के पीछे दौड़ते रहते हैं—वे कुशल हो जाते हैं—इस भाषा को समझने में। वह स्त्री को पता ही नहीं कि उसने खुद उनको निमंत्रण दे दिया। दुबारा अगर स्त्री देखे, तो वह तभी देखती है, जब वह उत्सुक हो। पुरुष तो पचीस दफे देख सकता है स्त्री को। उसके देखने का कोई बहुत मूल्य नहीं है। वह तो ऐसे ही देख सकता है—कोई कारण भी न हो तो भी; खाली बैठा हो तो भी। लेकिन स्त्री बहुत सुनियोजित है, वह तभी दुबारा

देखती है, जब उसका रस हो। अन्यथा वह नहीं देखती। क्योंकि स्त्री को देखने में बहुत रस ही नहीं है।

स्त्रियाँ पुरुषों के शरीर को देखने में उत्सुक नहीं होती हैं। वह स्त्रियों का गुण नहीं है। स्त्रियों का रस अपने को दिखाने में है—देखने में नहीं है। पुरुषों का रस देखने में है—दिखाने में नहीं है। यह बिलकुल ठीक है, तभी तो दोनों का मेल बैठ जाता है। आधी आधी बीमारियाँ हैं, उनके पास। दोनों मिल कर पूर्ण बीमारी बन जाते हैं।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि स्त्रियाँ एक्जिबिशनिस्ट हैं, प्रदर्शनवादी हैं। पुरुष वोयूर हैं, वे देखने में रस लेते हैं। इसलिए तो स्त्री दुबारा जब देखती है, तो इसका मतलब है कि वह इंगित कर रही है, संकेत दे रही है कि वह तैयार है, वह उत्सुक है, वह आगे बढ़ने को राजी है।

तुम अगर तीन सैकेन्ड तक—मनोवैज्ञानिक कहते हैं—किसी स्त्री की तरफ देखो तो वह नाराज नहीं होगी। तीन सैकेन्ड—इससे ज्यादा देखा तो बस, वह नाराज हो जाएगी। तीन सैकेन्ड तक सीमा है, उस समय तक औपचारिक देखना चलता है। लेकिन तीन सैकेन्ड से ज्यादा देखा कि तुमने उन्हें घूरना शुरू कर दिया; लुच्चापन शुरू हो गया।

'लुच्चे' का मतलब होता है : घूर कर देखने वाला। लुच्चा शब्द बनता है—लोचन से, आँख से। जो आँख गड़ा कर देखता है, वह लुच्चा। लुच्चे का और कोई बुरा मतलब नहीं होता। जरा आँख उनकी संयम में नहीं है, बस, इतनी—और कुछ नहीं।

लुच्चे शब्द का तो वही मतलब होता है, जो आलोचक का होता है। आलोचक भी घूर कर देखता है चीजों को। कवि कविता लिखता है, आलोचक कविता को घूर कर देखता है। वह लुच्चापन कर रहा है—कविता के साथ।

छोटी-छोटी बातें तुम्हारे भीतर की खबर देती हैं। कृष्ण कहते हैं, भोजन तो छोटी बात नहीं, बहुत बड़ी बात है। तुम कैसा भोजन पसन्द करते हो?

जो राजस व्यक्ति है, वह ऐसा भोजन पसन्द करेगा, जिससे जीवन में उत्तेजना आये, त्वरा पैदा हो, दौड़ पैदा हो, धक्का लगे। इसलिए उसका भोजन उत्तेजक आहार होगा। जो तामसी वृत्ति का व्यक्ति है, वह ऐसा भोजन करेगा, जिससे नींद आये, उत्तेजना न पैदा हो—बासा, उच्छिष्ट, ठण्डा—जिससे कोई उत्तेजना पैदा न हो, सिर्फ बोझ पैदा हो और वह सो जाय।

तमस्पूर्ण व्यक्ति हमेशा नींद को खोज रहा है। उसे अगर लेटने का मौका मिले, तो वह बैठेगा नहीं। अगर उसे बैठने का मौका मिले, तो वह खड़ा न होगा। अगर खड़े होने का मौका मिले, तो वह चलेगा नहीं। अगर चलने का मौका मिले, तो वह दौड़ेगा नहीं। वह हमेशा उसको चुनेगा, जिसमें ज्यादा नींद की सुविधा हो, तंद्रा की सुविधा हो। और तंद्रा के लिए बासा भोजन बहुत उपयोगी है।

क्यों बासा भोजन तंद्रा के लिए उपयोगी है? क्योंकि जितना गरम भोजन होता है, उतने जल्दी पच जाता है। जितना बासा भोजन होता है, उतना पचने में देर लेता है। क्योंकि पचने के लिए अग्नि चाहिए। अगर भोजन गरम हो, तत्क्षण तैयार किया गया हो, तो भोजन की गरमी और पेट की गरमी मिल कर उसे जल्दी पचा देती है। तो जठराग्नि कहते हैं इसलिए—हम पेट की अग्नि को।

लेकिन अगर भोजन बासा हो, ठंडा हो, बहुत देर का रखा हुआ हो, तो पेट की अकेली गरमी के आधार पर ही उसे पचना होता है। तो जो भोजन छः घंटे में पच जाता है, वह बारह घंटे में पचेगा। और पचने में जितनी देर लगती है, उतनी ज्यादा देर तक नींद आयेगी। क्योंकि जब तक भोजन न पच जाय, तब तक मस्तिष्क को ऊर्जा नहीं मिलती, क्योंकि मस्तिष्क जो है, वह लक्जरी है। इसे थोड़ा समझ लो।

जीवन में एक इकानॉमिक्स है—शरीर की—एक अर्थशास्त्र है। वहाँ बुनियादी जरूरतें हैं, वे पहले पूरी की जाती हैं। फिर उनके ऊपर कम बुनियादी जरूरतें हैं, वे पूरी की जाती हैं। फिर उसके बाद सबसे गैर-बुनियादी जरूरतें हैं, वे पूरी की जाती हैं।

जैसे घर में पहले तो तुम भोजन की फिक्र करोगे। भूखे रहकर तुम रेडियो नहीं खरीद लाओगे—कि भूखे तो मर रहे हैं और टेलीविजन खरीद लाये! कौन देखेगा टेलीविजन? भूखे भजन न होई गुपाला—भजन भी नहीं होता भूखे को, तो टेलीविजन कौन देखेगा! टेलीविजन बिलकुल नहीं दिखाई पड़ेगा। रोटियाँ तैरती हुई दिखाई पड़ेंगी टेलीविजन पर। कुछ नहीं दिखाई पड़ेगा। भूखा आदमी पहले रोटी चाहता है।

जब जरूरतें पूरी हो जाती हैं—शरीर की, तब मन की जरूरतें शुरू होती हैं। तब वह उपन्यास भी पढ़ता है, तब वह गीता भी पढ़ता है। तब वह भजन भी सुनता है, फिल्म भी देखता है। फिर जैसे-जैसे जरूरतें उसकी ये भी पूरी हो जाती हैं—मन की, तब आत्मा की जरूरतें पैदा होती हैं। तब वह ध्यान की सोचता है, तब वह समाधि का विचार करता है।

तो तीन तल है : शरीर, मन और आत्मा। शरीर पहले है, क्योंकि उसके बिना न तो मन हो सकता, न आत्मा टिक सकती यहाँ। वह आधार है, वह जड़ है। अगर किसी वृक्ष को ऐसा खतरा आ जाय कि फूल मरें या जड़ें मरें, तो फूलों को वृक्ष पहले छोड़ देगा, क्योंकि वे तो विलास हैं, उनके बिना जीया जा सकता है। और अगर जीना रहा तो वे फिर कभी आ सकते हैं। लेकिन जड़ें नहीं छोड़ी जा सकतीं। क्योंकि जड़ें तो जीवन हैं। जड़ें गईं, तो फूल कभी न आ सकेंगे। जड़ें रहीं, तो फूल कभी फिर आ सकते हैं।

अगर वृक्ष से पूछा जाय कि पीड को काट दें या जड़ों को, तो वृक्ष कहेगा पीड काट दो—अगर यही विकल्प है। क्योंकि पीड फिर पैदा हो सकती हैं; शाखाएँ फिर निकल आयेंगी, जड़ें होनी चाहिए।

ऐसा ही अर्थशास्त्र शरीर के भीतर है। जब तुम भोजन करते हो, तो सारी शक्ति भोजन को पचाने में लगती है। इसलिए भोजन के बाद नींद मालूम होती है, क्योंकि मस्तिष्क को जो शक्ति का कोटा मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता।

मस्तिष्क लक्जरी है, उसके बिना जीया जा सकता है; पशु पक्षी जी रहे हैं, पौधे जी रहे हैं; लाखों-करोड़ों जीव हैं, जो बिना बुद्धि के जी रहे हैं। मनुष्य हैं, वे भी बिना बुद्धि के जी रहे हैं। बुद्धि कोई अनिवार्य चीज नहीं है। हाँ, जब शरीर की जरूरतें पूरी हो जायँ और ऊर्जा बचे, तो फिर बुद्धि को मिलती है। और जब बुद्धि भी भर जाय और ऊर्जा बचे, तब आत्मा को मिलती है।

तो जो आदमी तामसी है, वह इस तरह का भोजन करता है कि मस्तिष्क तक ऊर्जा कभी पहुँचती ही नहीं। इसलिए तामसी व्यक्ति बुद्धिहीन हो जाता है। जिसको बुद्धिमान होना हो, उसे तमस् छोड़ना पड़ेगा।

तामसी बस, शरीर में ही जीने लगता है। तामसी व्यक्ति यानी सिर्फ शरीर। उसमें नाम मात्र को बुद्धि है। इतनी ही बुद्धि है, जिससे वह भोजन जुटा ले और शरीर का काम चला दे, बस। और आत्मा की तो उसे कोई खबर ही नहीं है। आत्मा का उसे सपना भी नहीं आता। आत्मा की बातें लोगों को करते देख कर वह हैरान होता है कि इन दिमाग-फिरों को क्या हो गया है! इनका दिमाग ठीक है कि पगला गये? कैसा परमात्मा, कैसी आत्मा?

वह एक ही चीज जानता है, एक ही रस जानता है, वह पेट का है। वह पेट ही है। अगर उसका तुम्हें ठीक चित्र बनाना हो तो पेट ही बनाना चाहिए और पेट में उसका चेहरा बना देना चाहिए। वह बड़ा पेट है। और बाकी सब चीजें छोटी-छोटी उसमें जुड़ी हैं। तामसी व्यक्ति एक असंतुलन है, अपंग है वह, उसमें और कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं है।

राजसी व्यक्ति का भोजन कडुवा, खट्टा, नमक युक्त, अति गरम, तीक्ष्ण, रूखा दाहकारक होगा। महत्त्वाकांक्षियों का भोजन इस तरह का होगा। उनको दौड़ना है, नींद नहीं चाहिए। नींद जिसको चाहिए, वह ठण्डा भोजन करता है, बासा करता है। जिसको दौड़ना है, वह अतिगरम भोजन करता है। वह भी खतरनाक है। क्योंकि अति गरम भोजन दूसरी अति पर ले जाता है, वह तुम्हें दौड़ाता है, भगाता है। धन पाना है, पद पाना है, कोई महत्त्वाकांक्षा पूरी करनी है। सिकन्दर बनना है। वह तुम्हें दौड़ाता है। तुम ज्वरग्रस्त हो जाते हो।

अब यह बड़े मजे की बात है, तामसी व्यक्ति गहरी नींद सोते हैं। उन्हें कभी

ट्रॅक्विलाइजर की जरूरत नहीं पड़ती। और राजसी व्यक्तियों को हमेशा ट्रैंक्विलाइजर की जरूरत पड़ेगी। क्योंकि वे इतना दौड़ते हैं कि रात जब सोने का वक्त आता है, तब भी भीतर की दौड़ बंद नहीं होती; वह चलती ही चली जाती है।

राजसी व्यक्ति कुर्सी पर भी बैठेगा, तो पैर चलाता रहेगा। अब यह पैर चलाने की कोई जरूरत नहीं। वह पैर ही हिलाता रहेगा। शरीर रुक गया है, लेकिन भीतर एक बेचैनी सरक रही है, दौड़ रही है।

राजसी व्यक्ति रात भी सोयेगा तो करवटें बदलता रहेगा। हाथ पैर तड़फड़ाएगा, फेंकेगा; तामसी व्यक्ति मिट्टी के लोंदे की तरह पड़ा रहता है। वह हिलता-डुलता नहीं। तामसी व्यक्ति भयंकर रूप से घुर्राता है।

एक बार एक यात्रा में मैं एक बड़ी मुसीबत में पड़ गया। आज भी नहीं भरोसा होता कि यह हुआ कैसे! जिस कम्पार्टमेन्ट में मैं था, उसमें तीन सज्जन और थे। रात जैसे ही हम चारों सोने गये—अपने-अपने बिस्तर पर, एक ने घुर्राना शुरू किया। कोई विशेष बात न थी। लेकिन हैरान तो तब मैं हुआ कि जब उसकी थोड़ी देर बाद दूसरे ने उससे ज्यादा जोर से घुर्राना शुरू किया। यह भी संयोग मैंने समझा—कि होगा। मगर जब तीसरे ने दोनों को हरा दिया, तब मैं थोड़ा मुश्किल में पड़ा कि यह हो कैसे रहा है। और एक के बाद एक!

तीनों को मैं बहुत देर तक सुनता रहा, कोई उपाय न था। कुछ ऐसा लगा कि नींद अपनी रक्षा कर रही है। वे तीनों ही भयंकर सोने वाले हैं। और पहले का घुर्राना दूसरे की नींद में थोड़ी बाधा डाल रहा है। इसलिए दूसरे की नींद और जोर से घुर्रा रही है, ताकि उसको दबा दे। और तब तीसरा...! और थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि पहले ने भी गति बढ़ानी शुरू कर दी।

यह संगीत पूरी रात चला। और वे एक दूसरे को हराने की कोशिश करते रहे—नींद में भी। शायद वे अपने घरों में इतने जोर से न घुर्राते हों। लेकिन प्रतियोगी को पाकर...! क्योंकि प्रतियोगी बाधा डाल रहा है। और शरीर अपनी रक्षा करता है—बहुत रूपों में।

तामसी वृत्ति का व्यक्ति घुर्रायेगा। उसको अगर बीमारी होगी तो निद्रा की होगी, वह ज्यादा निद्रा के लिए बीमार होगा।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि दिन भर उबासी आती रहती है। दिन भर सोते भी हैं ठीक से, फिर भी ऐसा लगता है: नींद कम, नींद कम।

आठ घंटे से ज्यादा नींद की आकांक्षा पैदा हो—जवान आदमी को, तो समझना चाहिए तमस् ज्यादा है। बूढ़े आदमी को तीन-चार घंटे से ज्यादा नींद की आकांक्षा पैदा हो तो समझना चाहिए—तमस्।

ध्यान रखना, उम्र के साथ नींद का अनुपात घटता जाएगा। बच्चा पैदा होता है, तो बाईस घंटे सोता है। वह उसकी जरूरत है। अगर चौबीस घंटे सोये तो तमस है; बाईस घंटे उसकी जरूरत है। फिर जैसे-जैसे बड़ा होगा: बीस घंटे, अठारह घंटे—कम होता जाएगा। सात साल का होते-होते उसकी नींद आठ घंटे पर आ जानी चाहिए, तो संतुलित है। फिर यह आठ घंटे पर टिकेगी—जीवन के बड़े हिस्से पर। लेकिन मरने के सात वर्ष पहले फिर घटना शुरू होगी। छः घंटे रह जाएगी, पाँच घंटे रह जाएगी, चार घंटे रह जाएगी।

जिस दिन नींद आठ घंटे से नीचे कम होनी शुरू हो, उस दिन समझना चाहिए, अब मौत के पहले चरण सुनाई पड़ने लगे। क्योंकि नींद आती है—शरीर के निर्माण के लिए।

माँ के पेट में बच्चा चौबीस घंटे सोता है। सिर्फ थोड़े से राजसी बच्चों को छोड़ कर जो माँ के पेट में पैर वगैरह चलाते हैं। नहीं तो बच्चा चौबीस घंटे सोता है। जरूरत है, शरीर बन रहा है, बड़ा काम चल रहा है—शरीर में। नींद से सहयोग मिलता है; नींद टूटने से बाधा पड़ती है।

फिर जवान आदमी को आठ घंटा नींद काफी है। उतनी देर में शरीर अपना पुनर्निर्माण कर लेता है। मरे हुए सेल फिर से बन जाते हैं। रक्त शुद्ध हो जाता है। शक्ति पुनरुज्जीवित हो जाती है। सुबह तुम फिर ताजे हो जाते हो।

लेकिन बूढ़े आदमी के शरीर में बनने का काम बंद हो गया। अब मरे सेल मर जाते हैं, बनते नहीं। अब बिदाई का क्षण आने लगा; नींद कम होने लगी।

मेरे पास बूढ़े आदमी आ जाते हैं। कभी सत्तर साल का आदमी, वह कहता है: कुछ नींद का उपाय बताएँ। बस, दो-तीन घंटे आती है।' 'क्या चाहते हो तुम? नींद की अब कोई जरूरत ही न रही। नींद तुम्हारी जरूरत थोड़े ही है! वह प्रकृति की व्यवस्था है।'

बूढ़ा आदमी तीन घंटे सो लेता है, बहुत है, पर्याप्त है। इससे ज्यादा की जरूरत नहीं है। मरने के एक दिन पहले नींद बिलकुल ही खो जाएगी। क्योंकि अब मौत करीब आ गई। सब टूटने का दिन आ गया। अब बनना कुछ भी नहीं है। तो अब नींद कैसे आ सकती है। नींद तो बनाने के लिए आती है। इसलिए तामसी वृत्ति का व्यक्ति भयंकर वजन इकट्ठा करने लगेगा शरीर पर; क्योंकि वह सोये जाएगा, सोये जाएगा, और शरीर चर्बी बनाता जाएगा। और शरीर का उपयोग वह कभी न करेगा। तो शरीर पर वजन बढ़ने लगेगा, चर्बी इकट्ठी होने लगेगी। वह सिर्फ बोझ की तरह हो जाएगा।

रजस् की आकांक्षा से भरा हुआ व्यक्ति हमेशा जो भी करेगा, उसमें दौड़ खोजना

चाहेगा—उत्तेजना। क्योंकि उत्तेजना के बल पर ही वह जी सकता है। यह जो उत्तेजित व्यक्ति है, यह रात सो भी न सकेगा। उत्तेजना इतनी है कि बिस्तर पर भी पड़ जाता है, लेकिन मस्तिष्क में उत्तेजना चलती रहती है।

तमस् से भरा हुआ व्यक्ति शरीर में जीता है, वह शरीर ही है। बाकी चीजें नाम मात्र की हैं। रजस् से भरा व्यक्ति मन में जीता है, मन ही वह है। वह शरीर की कुरबानी दे देता है—मन की आकांक्षा के लिए। वह आत्मा की भी कुरबानी दे देता है—मन की आकांक्षा के लिए। वह मन में ही जीता है। वह मन का सिकन्दर है। सारा साम्राज्य फैलाना है दुनिया पर।

जो व्यक्ति सत्त्व से भरा है, वह इन दोनों से भिन्न है। वह संतुलित है। न तो वह अति ठण्डा भोजन करता है, न वह अति गरम भोजन करता है। वह उतना ही गरम भोजन करता है, जितना शरीर की जठराग्नि से मेल खाता है। उतना ही ताप वाला भोजन करता है, जितना पेट का ताप है। वह थोड़ा-सा उष्ण—एकदम गरम नहीं, एकदम ठण्डा नहीं—वैसा भोजन करता है, जिससे उसका शरीर तालमेल पाता है। वह शरीर के ताप के अनुसार भोजन करता है। उसकी आयु स्वभावतः ज्यादा होगी, क्योंकि वह प्रकृति के अनुसार जीता है। प्रकृति से समस्वरता में जीता है। उसकी बुद्धि स्वभावतः शुद्ध होगी, तीक्ष्ण होगी, स्वच्छ होगी, निर्मल दर्पण की तरह होगी, क्योंकि वह शुद्ध आहार कर रहा है; शाकाहारी होगा—आमतौर से। इस तरह का भोजन लेगा, जो लेते समय उत्तेजना नहीं देता, शांति देता है, एक स्निग्धता देता है। और प्रीति को बढ़ाता है।

रजस् व्यक्ति का भोजन क्रोध को बढ़ाता है। तमस् व्यक्ति का भोजन आलस्य को बढ़ाता है। सत्त्व व्यक्ति का भोजन प्रीति को बढ़ाता है। तुम उसके पास प्रीति की गंध पाओगे। तुम उसके पास हमेशा मधुमास पाओगे। उसके पास एक मधुरिमा होगी, एक मिठास होगी। उसके बोलने में, उसके उठने-बैठने में एक संगीत होगा, एक लयबद्धता होगी। क्योंकि उसका शरीर भीतर भोजन के साथ लयबद्ध है।

शरीर भोजन से ही बना है। इसलिए बहुत कुछ भोजन पर निर्भर है। भोजन न करोगे, तो तीन महीने में शरीर विदा हो जाएगा। शरीर भोजन है। शरीर भोजन का ही रूपांतरण है। इसलिए कैसा तुम भोजन करते हो, उससे शरीर निर्मित होगा।

सात्त्विक व्यक्ति के जीवन में प्रीति होगी। आलसी व्यक्ति प्रेम नहीं कर सकता। आलसी व्यक्ति प्रेम माँगता है। उस फर्क को ठीक से समझ लेना।

आलसी व्यक्ति प्रेम माँगता है—'मुझे प्रेम करो।' वह सारी दुनिया के सामने इश्तहार लगाये बैठा है—'सब मुझे प्रेम करो।' चारों खाने बिस्तर पर पड़ा है, और सारी दुनिया उसको प्रेम करे। और शिकायत उसकी है कि कोई प्रेम नहीं करता।

राजसी व्यक्ति न तो प्रेम करता है और न माँगता है। उसे फ़ुरसत नहीं—इस धंधे में पड़ने की। उसके लिए प्रेम के सिवाय और भी बहुत काम हैं। प्रेम सब कुछ नहीं है, प्रेम गौण है।

सिकन्दर को प्रेम करने की फ़ुरसत नहीं मिल पाती। कैसे मिले? अभी बड़े युद्ध जीतने हैं। सारी पृथ्वी पर राज्य निर्मित करना है।

नेपोलियन यद्यपि रोज युद्ध के मैदान से अपनी पत्नी को पत्र लिखता है, लेकिन लिखता युद्ध के मैदान से ही है। घर कभी नहीं आता। रोज लिखता है पत्र। ऐसा एक दिन नहीं छोड़ता। वह भी मुझे लगता है कि किसी अपराध-भाव के कारण करता होगा। धीरे-धीरे पत्नी किसी और के प्रेम में पड़ जाती है। नेपोलियन अपना पत्र ही लिखते रहते हैं। वह उनके पत्र पढ़ती भी नहीं फिर। जोसेफाइन के संबंध में कहा जाता है कि वह धीरे-धीरे नेपोलियन का पत्र खोलती भी नहीं, कचरे में डाल देती है। क्योंकि स्त्री कब तक प्रतीक्षा करे! वह किसी और सैनिक को प्रेम करने लगी।

नेपोलियन सदा युद्धों में है; वहाँ से पत्र लिखता है रोज कि आज एक नगर और जीता; तेरे चरणों में समर्पित—जोसेफाइन। मगर नगरों को समर्पित करने से जोसेफाइन को कोई ख़ुशी नहीं होती। वह चाहती है, नेपोलियन आये। नगरों का क्या करेगी? नक्शा बड़ा होता जाता है, इससे क्या होगा? उसके हृदय में कहीं तृप्ति इससे नहीं होती।

आकांक्षी लोग न तो प्रेम चाहते हैं, न देते हैं। उन्हें फ़ुरसत नहीं। अभी बड़े काम करने हैं—इलैक्शन लड़ना है, करीब आ रहा है इलैक्शन। उनको लड़ना है इलैक्शन, पद पर पहुँचना है, दिल्ली जाना है। पत्नी वगैरह गौण है, बच्चे गौण हैं। इसलिए राजनीतिज्ञों के—बड़े से बड़े राजनीतिज्ञों के बच्चे भी आवारा और बरबाद हो जाते हैं। हो ही जाएँगे।

धनपतियों के बच्चे सत्त्व की तरफ नहीं बढ़ पाते; बाप को फ़ुरसत नहीं है। वह धन इकट्ठा कर रहा है। हालाँकि वह कहता यही है कि इन्हीं के लिए इकट्ठा कर रहा हूँ! लेकिन इनसे कभी मिलना ही नहीं होता। जब वह आता है घर वापस, तब तक बच्चे तो सो गये होते हैं। जब सुबह वह भागता है बाजार की तरफ, तब तक बच्चे उठे नहीं होते हैं। वह भागदौड़ में है। कभी रास्ते पर सीढ़ियाँ चलते मिल जाते हैं, तो जरा पीठ थपथपा देता है। वह भी उसे ऐसा लगता है कि बेकार का काम है। इतनी शक्ति बचती, तो और धन कमा लेते! इतना ही किसी और को थपथपाते बाजार में, तिजोरी भर जाती। यह नाहक बीच में आ गया।

धनियों के बच्चों का बाप से मिलना ही नहीं होता। और बहुत धनियों के बच्चों को उनकी माँ से भी मिलना नहीं होता। क्योंकि माँ को भी कहाँ फ़ुरसत है! क्लब

है, सोसाइटी है। पच्चीस जाल हैं। पति के साथ जाना है—भोजनों में। क्योंकि उस पर पति का धंधा निर्भर करता है। पति के साथ जा कर हँसना है, बात करना है—लोगों से। क्योंकि यह धंधे के लिए जरूरी है।

जब कभी कोई मुल्क किसी को एम्बेसेडर, राजदूत बना कर भेजता है, तो पहले उसकी पत्नी को गौर से देखता है—कि पत्नी कुछ खूबसूरत ढंग की है ? क्योंकि राजदूत का सारा काम पत्नी की खूबसूरती पर निर्भर करता है। पत्नी के सहारे राजदूत काम कर पाता है।

पत्नियों के सहारे लोग राष्ट्रपति हो जाते हैं। पत्नियों के सहारे लोग बड़े धनी हो जाते हैं। पत्नी पर यात्रा करते हैं। यह कोई प्रेम हो सकता है! पत्नी भी साधन है!

बहुत धनी के घर में न तो पत्नी का पता चलता है, न पति का पता चलता है। बच्चा आवारा होते हैं। नौकरों के द्वारा पाले जाते हैं। फिर जो परिणाम होता है, वह जाहिर है।

बड़े से बड़े लोगों के—महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति के बच्चे भी सब व्यर्थ हो जाते हैं। एक बच्चा काम का साबित नहीं होता। इसलिए महात्मा गांधी को मैं दूसरी कोटि से ऊपर नहीं ले जा सकता।

वे सत्त्व के व्यक्ति नहीं हैं। वे बात कितनी ही सत्त्व की करते हों, लेकिन वे व्यक्ति रजस् के हैं। महत्त्वाकांक्षा भारी है। वह चाहे अपने से न जुड़ी हो। इसे ध्यान रखना।

राष्ट्र को स्वतंत्र करना है, तो सीधा नहीं लगता कि मेरी कोई महत्त्वाकांक्षा है। कि गरीबों का उद्धार करना है, कि हरिजनों का उद्धार करना है, मेरी कोई आकांक्षा पता नहीं चलती। लेकिन यह भी आकांक्षा है। इससे भी मुझे तृप्ति मिलेगी। जब राष्ट्र का उद्धार होगा, तब मैं कहूँगा, देखो, कर दिया उद्धार! हरिजनों को जगा दिया, स्वतंत्रता ला दी। लेकिन यह भी महत्त्वाकांक्षा है। इस महत्त्वाकांक्षा के कारण कहाँ फुरसत।

गांधी को फुरसत बिलकुल नहीं है। नहाने की फुरसत नहीं है। टब में बैठकर नहाते हैं और सेक्रेटरी बाहर से अखबार पढ़कर सुनाता है। वे अंदर जाकर शौच क्रिया कर रहे हैं और बाहर दरवाजे पर खड़ा सेक्रेटरी अखबार से खबरें पढ़कर सुना रहा है। क्योंकि फुरसत नहीं है! पत्र पढ़कर सुना रहा है। वे भीतर से जबाब दे रहे हैं कि ये-ये जवाब लिख देना।

ऐसी भागदौड़ की जिंदगी में प्रेम की कहाँ सुविधा है! कस्तूरबा दुःखी मरी। कोई कहता नहीं इसको, लेकिन कस्तूरबा दुःखी मरी। कस्तूरबा सुखी नहीं थी। हो नहीं सकती। क्योंकि गांधी को फुरसत ही नहीं है। कस्तूरबा की तरफ देखने की फुरसत नहीं है। बड़ा जाल है—काम का।

महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति मन की दौड़ में जीता है। न वह प्रेम करता है, न वह माँगता है।

सत्त्व को उपलब्ध व्यक्ति के जीवन में प्रेम का दान है। वह माँगता नहीं, वह सिर्फ देता है।

तमस् माँगता है, सत्त्व देता है। रजस् को फुरसत नहीं है। सत्त्व इतने प्रेम से भर देता है तुम्हारी जीवन ऊर्जा को—ऐसे पारितोष से, ऐसे संतोष से, ऐसी गहन तृप्ति से कि तुम बाँटने में उत्सुक हो जाते हो। तुम बाँटते हो, क्योंकि तुम्हारे पास इतना है, तुम करोगे क्या। और जितना तुम बाँटते हो, उतना बढ़ता है।

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय आहार सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।' जो स्वभाव से ही प्रिय हैं...। सात्विक गुणों का व्यक्ति स्वाद के कारण भोजन नहीं करता, यद्यपि बहुत स्वाद भोजन में लेता है, जैसा कोई भी नहीं लेता। लेकिन स्वाद निर्धारक नहीं है। निर्धारक तत्त्व तो है—शरीर की प्रकृति, स्वभाव की अनुकूलता, तारतम्य, संगीत। यद्यपि सात्विक व्यक्ति परम स्वाद को उपलब्ध होता है।

सात्विक व्यक्ति के आहार को अगर तुम तामसी को दो, तो वह कहेगा : क्या घास-पात! इसमें कुछ भी नहीं है; यह क्या खाना है? अगर राजसी को दो, वह कहेगा, कोई इसमें स्वाद नहीं है, तेजी नहीं है, उत्तेजना नहीं है। मिर्च नहीं है, नमक नहीं है ज्यादा।

ध्यान रखना, जो लोग मिर्च, मसाले पर जीते हैं, वे यह न समझें कि वे स्वाद ले रहे हैं। मिर्च-मसाले की जरूरत ही इसलिए है कि उनका स्वाद मर गया है। उनकी जीभ इतनी मुरदा हो गई है कि जब तक वे जहर न रखें उस पर, तब तक उन्हें कुछ पता ही नहीं चलता, इसलिए मिर्च रखनी पड़ती है। मिर्च रखने से थोड़ी-सी तड़फन जीभ में होती है। वह मरी-मराई जीभ थोड़ी कंपती है। उसे लगता है, स्वाद आया!

लेकिन जिसकी जीभ जीवित है, उसे मिर्च की जरूरत नहीं है। वह मिर्च को बरदाश्त न कर सकेगा। जिसका स्वाद जीवित है, वह तो साधारण फलों से, सब्जियों से इतने अनूठे स्वाद को ले सकेगा कि वह सोच ही नहीं सकता कि तुम क्यों मिर्च डाल कर सब्जियों के स्वाद को नष्ट कर रहे हो। यह स्वाद को नष्ट करना है—मुसाला नष्ट करने का उपाय है। स्वाद बढ़ता नहीं मसाले से।

लेकिन तुम्हें तकलीफ होगी, अगर आज तुम अचानक मसाला छोड़ दो तो। सब बेस्वाद मालूम पड़ेगा। क्योंकि स्वाद का अभ्यास करना होगा।

यह तो ऐसे ही है : मेरे एक मित्र हैं, वे ट्रेव्हलिंग एजेन्ट का काम करते हैं, तो महीने में कोई बीस-चौबीस दिन बाहर; सप्ताह के लिए, पाँच-सात दिन के लिए कभी

घर लौटते हैं। वे मेरे पास आ कर कहने लगे कि बड़ी मुसीबत है। ट्रेन में तो नींद आती है, घर नींद नहीं आती।

अब जिंदगी हो गई उनको, ट्रेव्हलिंग एजेन्ट का काम करते; ट्रेन में उनको नींद आती है। उपद्रव, शोरगुल, आवाज, स्टेशनों का आना-जाना, भीड़-भड़क्का—उसमें उन्हें नींद आती है। घर वे कहते हैं, ऐसा सन्नाटा मालूम पड़ता है कि नींद ही नहीं लगती! आदत हो गई, अभ्यास हो गया। अब इनको फिर से अभ्यास करना पड़ेगा सन्नाटे का।

तुम्हें अगर बाजार की आदत हो जाय, तो हिमालय तुम्हें सूना मालूम पड़ेगा। अगर तुम्हें झगड़े और उपद्रव की आदत हो जाय, तो किसी दिन तुम मौन से बैठो तो ऐसा लगेगा कि समय कटता ही नहीं है।

तुम्हारी जीभ अगर मसालों से मर गई हो, तो तुमने स्वाद खो दिया है। जीभ बड़ा कोमल तत्त्व है। और स्वाद के जो छोटे से हिस्से हैं जीभ पर, उनसे ज्यादा कोमल कोई चीज नहीं है तुम्हारे पास। उनको अगर तुमने बहुत तेज चीजें दी हैं, तो वे मर गये, उनकी अनुभव करने की शक्ति चली गई। अब और तेज चाहिए, और तेज चाहिए, तभी थोड़ी बहुत तड़फन होती है, तो मालूम पड़ता है : कुछ स्वाद आ रहा है।

सात्त्विक व्यक्ति स्वाद के लिए भोजन नहीं करता, लेकिन जितना स्वाद वह लेता है, दुनिया में कोई भी नहीं लेता। इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि सात्त्विक व्यक्ति को तुम अस्वाद लेने वाला मत समझ लेना। वही परम स्वाद लेता है। न तो वैसा स्वाद तमस् वाले को मिलता, न वैसा स्वाद रजस् वाले को मिलता। स्वाद मिलता ही उसे है, जो प्रकृति के अनुकूल चलता है। उसे पूरे जीवन का स्वाद मिलता है।

सभी दिशाओं में सात्त्विक व्यक्ति की संवेदना खुल जाती है। वह ज्यादा सुनता है, ज्यादा देखता है, ज्यादा छूता है, ज्यादा स्वाद लेता है, ज्यादा गंध पाता है।

सात्त्विक व्यक्ति गुलाब के फूल के पास से निकलता है, तो उसे गंध आती है। राजसी निकलेगा, तो उसने बाजार के कचरा इत्र लगा रखे हैं, उन इत्रों के गंध की तेजी में गुलाब के फूल से गंध ही नहीं आती। उसे सस्ते बाजार में बिकने वाले इत्र चाहिए—दो कौड़ी के। लेकिन उनसे ही उसको गंध आती है। उसके नासापुट मर गये। अगर कहीं कोई शास्त्रीय संगीत हो रहा हो, तो उसे मजा नहीं आता। वह कहता है, 'यह क्या हो रहा है!'

मुल्ला नसरुद्दीन गया था एक शास्त्रीय संगीत की सभा में। और जब संगीतज्ञ आलाप भरने लगा, तो उसकी आँख से आँसू गिरने लगे। पड़ोसी ने पूछा, 'नसरुद्दीन! हमने कभी सोचा भी नहीं था कि तुम शास्त्रीय संगीत के इतने प्रेमी हो! तुम्हारी आँख से आँसू टपक रहे हैं!' उसने कहा, 'हाँ, टपक रहे हैं; क्योंकि यह आदमी खतरे में है। यही हालत मेरे बकरे की हो गई थी—जब वह मरा। ऐसे ही भरता था आलाप। यह मरेगा। इसको बचाने का उपाय करो। ऐसे ही चिल्ला चिल्ला कर मेरा बकरा मरा।'

शास्त्रीय संगीत के लिए तुम्हें एक भीतरी सौमनस्य चाहिए। तुम्हें तो कोई फिल्मी हुड़दंग, जिसमें प्रेमनाथ बन्दरों की तरह उछल-कूद रहा हो, उसमें तुम्हें रस आयेगा। तुम्हारी रीढ़ सीधी हो जाएगी; ध्यान तन्मय हो जाएगा। तुम कहोगे, 'कुछ हो रहा है।'

तुम्हारे जीवन की सभी संवेदनाएँ क्षीण हो गई हैं—या तो तमस् में सो गई हैं, या रजस् में उत्तेजना के कारण मर गई हैं।

सत्त्व को उपलब्ध व्यक्ति परम संवेदनाशील है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ, बुद्ध पुरुष जितना जीते हैं, तुम नहीं जी सकते। तुम तो जीने का सिर्फ बहाना कर रहे हो। बुद्ध पुरुष प्रगाढ़ता से जीते हैं। फूल उनके लिए ज्यादा गंध देते हैं, हवाएँ उन्हें ज्यादा शीतलता देती हैं। नदी का कल-कल नाद उन्हें ओंकार के नाद से भर देता है। वे सन्नाटे को सुनने में समर्थ हो जाते हैं। साधारण भोजन भी उन्हें परम स्वाद देता है। और साधारण मनुष्य भी उन्हें परम सुंदर की प्रतिमाएँ मालूम होने लगते हैं। उन्हें सारा जगत् सुंदर हो जाता है। वे सत्यम्, शिवम्, और सुंदरम् को उपलब्ध हो जाते हैं।

आज इतना ही।

कृष्ण की मौजूदगी • श्वास का मनोविज्ञान • मांसाहार और समाधि तीन प्रकार के यज्ञ

छठवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, प्रातः, दिनांक २६ मई, १९७५

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥११॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

और हे अर्जुन, जो यज्ञ शास्त्रविधि से नियत किया हुआ है तथा करना कर्तव्य है —ऐसे मन को समाधान करके फल को न चाहने वाले पुरुषों द्वारा किया जाता है, यह यज्ञ सात्त्विक है।

और हे अर्जुन, जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के ही लिए अथवा फल को भी उद्देश्य रखकर किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान।

तथा शास्त्रविधि से हीन और अन्न-दान से रहित एवं बिना मंत्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किये हुए यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।
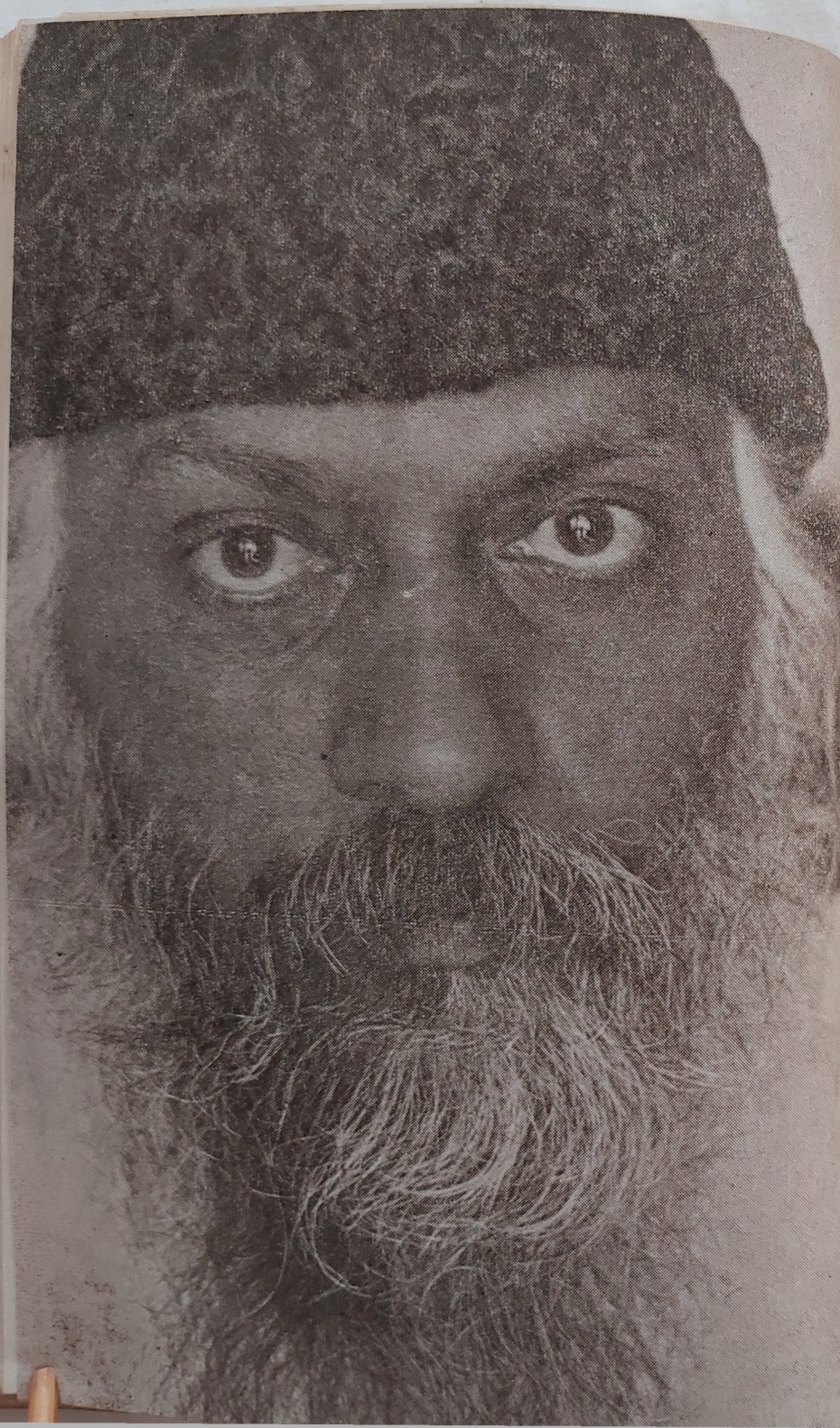
किसी छोटे बच्चे को गौर से देखा। अगर तुम बच्चे को कोई चीज समझाना चाहते हो और वह नहीं समझना चाहता है, तो वह दो काम करेगा। वह एक तो अपनी पीठ पीछे की तरफ अकड़ा लेगा और श्वास धीमी कर लेगा—अगर वह नहीं मानना चाहता तो। तुम उसकी श्वास और उसके शरीर के खड़े होने का ढंग देख कर समझ सकते हो कि वह मानने को राजी नहीं है। हो सकता है, वह तुम्हारे डर से सुन रहा है, लेकिन मानने को राजी नहीं है।

जब भी तुम किसी चीज को भीतर नहीं जाने देना चाहते, तब तुम श्वास को धीमा कर देते हो; क्योंकि श्वास से चीजें भीतर जाती हैं। जब तुम किसी चीज को भीतर ले जाना चाहते हो, तब तुम गहरी श्वास लेते हो। क्योंकि श्वास से चीजें भीतर जाती हैं। जब तुम किसी चीज को भीतर ले जाना चाहते हो, तब तुम्हारी रीढ़ सीधी हो जाती है। जब तुम किसी चीज को भीतर नहीं ले जाना चाहते, तब तुम्हारी रीढ़ पीछे की तरफ झुक जाती है। जब तुम किसी चीज को बहुत ही आग्रहपूर्वक भीतर ले जाना चाहते हो, तुम आगे झुक जाते हो।

श्वास की प्रक्रियाएँ तुम्हारे मनोभाव पर निर्भर होती हैं।

अगर तुम अपने प्रेमी के पास बैठे हो, तो तुम गहरी श्वासें लोगे। अगर तुम दुश्मन के पास बैठे हो तो तुम श्वास सधी हुई लोगे, धीमी लोगे। क्योंकि दुश्मन तुम्हारे चारों तरफ जो तरंगें फेंक रहा है, वह तुम्हारी श्वास से भीतर जा सकती है।

जब तुम बगीचे में आते हो, तो तुम गहरी श्वास लेते हो। जब तुम किसी दुर्गंध से भरी गली में से निकलते हो, तो तुम श्वास रोक लेते हो; तुम नाक पर हाथ रख लेते हो। क्योंकि श्वास के साथ दुर्गंध भीतर जाती है, सुगंध भीतर जाती है।

श्वास के साथ तमस् भी भीतर जाता है, सत्त्व भी भीतर जाता है। श्वास के साथ साधु भी भीतर जाता है, असाधु भी भीतर जाता है। श्वास सेतु है, चीजों को तुम्हारे भीतर लाने ले जाने का। इसलिए जब तुम किसी दुश्मन के पास खड़े हो, तो तुम्हारी श्वास अकड़ जाती है। जब तुम कोई ऐसी बात सुन रहे हो, जो तुम्हारी समझ में नहीं आती या तुम सुनना नहीं चाहते या जबरदस्ती आ गये हो, तब तुम्हारी श्वास धीमी हो जाती है और कार्बन डाय ऑक्साइड इकट्ठा होने लगता है। जब बहुत कार्बन डाय ऑक्साइड इकट्ठा हो जाता है, तब शरीर को उसे बाहर फेंकना पड़ता है। क्योंकि उसे शरीर अगर न उलीचे, तो तुम यहीं सो जाओगे। वह घबड़ाहट है। तो शरीर उसे उलीच देता है।

इसलिए सभाओं में या किसी उबाने वाले आदमी की बातचीत सुन सुन कर तुम जम्हाई लेने लगते हो। या पत्नी कुछ सुना रही है, अपना राग रो रही है, तो पति जम्हाई लेता है। वह यह कह रहा है : 'कृपा करो।' उसका पूरा शरीर कहता है

कि नहीं सुनना है। लेकिन वह यह कह भी नहीं सकता। लेकिन शरीर से प्रकट कर रहा है। या कोई मित्र आ गया; बकवासी है, तुम्हारा सिर खा रहा है। शरीर जम्हाई लेने लगता है। शरीर उसे खबर दे रहा है कि अब जाओ भी।

मैंने सुना है : अल्बर्ट आइन्स्टीन एक मित्र के घर भोजन के लिए गया था। वह भुलक्कड़ था, जैसा कि बहुत बड़े विचारक अकसर हो जाते हैं। जितना बड़ा विचारक हो, उतना भुलक्कड़ हो जाता है। और जितना बड़ा ध्यानी हो, उतनी ही उसकी स्मृति सध जाती है।

विचारक भुलक्कड़ हो जाता है; क्योंकि इतना कूड़ा-करकट सम्हालना पड़ता है उसको; ध्यानी की स्मृति सम्यक् हो जाती है, वह भूलता ही नहीं। वह याद नहीं रखता किसी को फिर भी भूलता नहीं। और विचारक याद रखने की कोशिश करता है, तो भी भूल-भूल जाता है; क्योंकि इतनी चीजें सम्हालता है। ध्यानी कुछ सम्हालता ही नहीं; वह खाली ही रहता है। सब अपने से सम्हला रहता है।

आइन्स्टीन ने मित्र के घर बैठ कर खाना खाया, पीना चला, गपशप हुई; आइन्स्टीन बार-बार अपनी घड़ी देखता है। और परेशान है और जम्हाई ले रहा है। और मित्र भी अपनी घड़ी बार-बार देखता है और जम्हाई ले रहा है। बारह बज गये रात के। अब मित्र घबड़ा भी गया कि अब ये जाएँ तो हम सोएँ। पत्नी भी बेचैन है; बार-बार बाहर-भीतर जाती है कि अब क्या करना। और आइन्स्टीन जैसे बड़े आदमी को यह कहा भी नहीं जा सकता कि अब आप जाइए। यह तो सौभाग्य है कि वह आया, अब उसे जाने को कैसे कहें!

आखिर आइन्स्टीन ने ही मित्र से कहा कि 'जम्हाई देख कर ऐसा लगता है : आपको नींद आ रही है। अब जाइए भी, सोइए भी।' तो उसने कहा, 'अब जाएँ कैसे! आप जाएँ, सोएँ, तो मैं सोऊँ। मेहमान जाए तो मेजबान...!' आइन्स्टीन घबड़ा कर खड़ा हो गया। उसने कहा, 'हद हो गई, मैं समझ रहा था : अपने घर में हूँ और तुम कब जाओ कि मैं सो जाऊँ। और मैं बड़ा सोच रहा हूँ कि घड़ी देखता हूँ, फिर भी तुम्हारी समझ में नहीं आता; जम्हाई लेता हूँ, फिर भी तुम्हारी समझ में नहीं आता। और इसे देख कर और भी चकित हूँ कि तुम भी घड़ी देखते हो और तुम भी जम्हाई लेते हो, फिर भी उठते क्यों नहीं? क्या कहते नहीं बनता कि अब जाऊँ।'

जम्हाई भाषा है, वह यह कह रही है कि या तो यह बात तुम्हारे लिए नहीं है, बहुत कठिन है। या बहुत उबाने वाली है, रसपूर्ण नहीं है। या तुम इस बात को जानते ही हो पहले से, फिर दुबारा सुन रहे हो, इसमें कुछ सार नहीं है।

जम्हाई भाषा है। लेकिन कारण एक ही है; चाहे नींद की वजह से आये, चाहे

ऊब की वजह से आये, दोनों ही हालत में फेफड़ों में कार्बन डाय ऑक्साइड की मात्रा जरूरत से ज्यादा हो जाती है, जो घातक है। अगर सो जाओ, तब तो ठीक है। अगर न सोओ, तो शरीर को उसे बाहर फेंक देना पड़ता है। इसलिए जम्हाई आती है।

जम्हाई का कोई सम्बन्ध तमस् से नहीं है। हालाँकि तामसी आदमी को ज्यादा आएगी। राजसी आदमी को कम आएगी। सात्त्विक को शून्यवत् हो जाएगी। बहुत मुश्किल से कभी आएगी। जब कि कोई असम्यक स्थिति हो जाय; क्योंकि कभी सात्त्विक को भी जागना पड़ सकता है। कितने ही सात्त्विक तुम हो, घर में आग लग गई, तो भी तुम्हें जागना पड़ेगा। तुम सात्त्विक हो और पत्नी मर रही है, तो उसके बिस्तर के पास बैठना पड़ेगा। ऐसी स्थितियों में ही उसे जम्हाई आती है। अन्यथा सात्त्विक को साधारणतया जम्हाई नहीं आती।

तमस् में बहुत ज्यादा आएगी, क्योंकि वह आदमी चौबीस घंटे सोई हालत में ही है। उसको जागना कष्टपूर्ण है। राजस् को बहुत बार आएगी, क्योंकि वह सोने को तैयार नहीं है; बहुत काम करने हैं; नींद का दुश्मन है; जितना कम कर सके, उतना अच्छा है। क्योंकि उतने समय को बचाना हो जाएगा, उतने समय में कुछ महत्त्वाकांक्षा पूरी कर लेगा।

सात्त्विक की कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है—जिसके पीछे दौड़ना है, इसलिए जब नींद आती है, वह सो जाता है; जब भूख लगती है, वह खाना खा लेता है।

रिंझाई से किसी ने पूछा कि 'क्या है तुम्हारी साधना?' उसने कहा, 'जब भूख लगती है, तब खाना खा लेते; जब नींद आती, तब सो जाते। बस, यही।'

सत्त्व को उपलब्ध व्यक्ति ऐसा ही जीता है। दुर्घटना स्वरूप कभी जम्हाई आ सकती है अन्यथा कोई कारण नहीं है।

● आखिरी प्रश्न : गीता में साधकों के लिए सात्त्विक भोजन पर बल अवश्य दिया गया है, लेकिन उसमें कहीं मांसाहार का स्पष्ट निषेध नहीं है। और आपने मांसाहार को सुपच बताया और यही डॉक्टरों का मत भी है। फिर मांसाहार से क्या बाधा आती है? धर्म-साधना के लिए आपने निरामिष भोजन की उपादेयता पर बहुत बल दिया। लेकिन पुस्तकों से पता चलता है कि प्रायः ही सूफी, झेन और तंत्रमार्ग से सिद्ध हुए संतों का भोजन निरामिष नहीं रहा। और अपने ही देश में परमहंस रामकृष्ण सदा आमिष भोजन लेते रहे। इस विरोध का क्या कारण है?

पहली बात : मांसाहार में अपने आप में कोई भी बुराई नहीं है। ध्यान रखना कह रहा हूँ—'अपने आप में'। मेरा मतलब है, अगर वैज्ञानिक सिंथेटिक मांस बना सकें—जो कि जल्दी ही बन सकेगा—कृत्रिम मांस बना सकें, तो वह शाकाहार

से भी ज्यादा शाकाहारी होगा। क्योंकि जब तुम फल को वृक्ष से तोड़ते हो, तब भी चोट पहुँचती है। तुम सब्जी काटते हो, तब भी चोट पहुँचती है। कम पहुँचती है।

वृक्षों और सब्जियों के पास उतना ज्यादा विकसित स्नायु-संस्थान नहीं है, जितना पशुओं के पास है। पशुओं के पास उतना विकसित संस्थान नहीं है, जितना मनुष्यों के पास है, इसलिए जो व्यक्ति नर-मांस का आहार करे, उसको तो दुनिया में कोई भी धार्मिक व्यक्ति स्वीकार करने को राजी न होगा—कि यह आदमी का मांस खाता रहे। क्योंकि मनुष्य को मारना बहुत पीड़ादायी है।

जितनी पीड़ा मनुष्य अनुभव करता है मृत्यु में, उतने पशु नहीं अनुभव करते, क्योंकि मनुष्य के पास सोच-विचार है, मृत्यु का बोध है, मर रहा हूँ—इसकी समझ है; मारा जा रहा हूँ—इसकी समझ है। और चेतना बहुत प्रगाढ़ है। इसलिए मनुष्य का मांस खाने को तो कोई धर्म राजी नहीं होगा।

ऐसा लगता है कि हिन्दू अतीत में यज्ञ में मनुष्य की बलि चढ़ाते रहे; नरमेध यज्ञ होते रहे। लेकिन धीरे-धीरे उन यज्ञों को करने वालों को भी पता चला कि यह तो अतिशय है। और इस तरह का धर्म तो ज्यादा दिन तक धर्म नहीं समझा जा सकता। इसलिए उन्होंने भी व्याख्या बदल दी। तो उन्होंने भी कहा कि नरमेध सिर्फ नाम के लिए है। मनुष्य का पुतला बना लिया, उसका वध कर दिया।

नरमेध के लिए तो कोई राजी नहीं है। क्यों?

मनुष्य से स्वादिष्ट मांस तो और कहीं मिल नहीं सकता। अगर स्वाद ही सवाल है, तो छोटे बच्चों का जैसा मांस स्वादिष्ट होता है, वैसा किसी का भी नहीं होता; और जितना सुपाच्य होता है, वैसा दूसरा मांस नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्य से तालमेल है। तुम्हारे जैसा ही है; जल्दी पच जाता है; समान धर्मा है। आदमी वह भी करता है; बच्चे चुराये जाते हैं; होटलों में काटे भी जाते हैं। सारी दुनिया में पता है कि बच्चों का मांस बड़ी होटलों में बिकता है; और, लोग बड़े स्वाद से उसका भोजन लेते हैं।

लेकिन इसके लिए तो कोई भी राजी न होगा। क्यों राजी नहीं होते? क्योंकि मनुष्य बहुत ज्यादा संवेदनशील है। उसको मारने में सवाल है। मारना भयंकर हिंसा है। और उस हिंसा को करने को जो राजी है, वह व्यक्ति बहुत तामसी है।

भोजन के लिए दूसरे का जीवन छीनने को जो राजी है, उसके तमस् का क्या कहना! नहीं, वह तो कोई नहीं करता या कभी लोग करते थे, तो बंद हो चुका है।

पशुओं का मांस चलता है। लेकिन वे भी काफी संवेदनशील हैं। इसलिए जिनकी धार्मिक संवेदना और भी गहरी है—बुद्ध, महावीर—उन्होंने सिर्फ शाकाहार के लिए कहा। उन्होंने कहा, 'पशुओं को भी छोड़ दो। क्योंकि तुम मारते हो, काटते

हो। भला तुम नहीं काटो, कोई और तुम्हारे लिए काटे और मारे; लेकिन किया तो तुम्हारे लिए जा रहा है; तुम जानते तो हो।'

भोजन के साधारण से स्वाद के लिए तुम जीवन की इतनी हिंसा कर रहे हो, तो तुम्हारे भीतर तमस् बहुत गहरा है, तुम अंधे हो; तुम्हारी संवेदना समुचित नहीं है। तुम मनुष्य होने के योग्य नहीं हो। इसलिये महावीर ने तो बिलकुल वर्जित किया। बुद्ध ने थोड़ी-सी शर्त रखी। वह भी बहुत कीमती है। बुद्ध ने कहा कि 'मरे हुए जानवर का मांस खा लेने में कोई हर्ज नहीं है।' बात तर्कयुक्त है, क्योंकि अगर मारने के कारण ही आदमी तामसी हो जाता है, तो मरे-मराये जानवर का मांस खाने में तो कोई हर्ज नहीं है। इसलिये बौद्ध मरे हुए जानवर का मांस खाने में तो मांसाहार नहीं मानते। गाय मर ही गई—अपने से; हमने मारी ही नहीं, तब इसके मांस को खा लेने में क्या हर्ज है?

लेकिन कृष्ण इससे राजी नहीं हैं। यह मांसाहार बासा है, और बासा भोजन तामसी का है। और मरे हुए जानवर से जादा बासी चीज तो तुम पा ही नहीं सकते—दुनिया में। और बासी चीज क्या हो सकती है? जैसे ही जानवर मरता है; उसके सारे मांस और खून का गुण-धर्म बदल जाता है। खून तो विलीन ही हो जाता है तत्क्षण। और मांस में सड़ने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। क्योंकि मांस तभी तक जीवित था, जब तक प्राण थे। प्राण के हटते ही मांस सड़ने लगा; उसमें से दुर्गंध अभी आयेगी जल्दी ही। तो वह तो बिलकुल ही बासा भोजन है।

इसलिए सिर्फ शूद्रों ने उसे स्वीकार कर लिया—भारत में—चमार ही खाते हैं मरे हुए जानवर का मांस। इसी वजह से जब डॉक्टर आम्बेदकर ने शूद्रों को आह्वान दिया बौद्ध होने का, तो उन्होंने इसको भी एक दलील बना लिया, कि चमार बौद्ध होने ही चाहिए; क्योंकि बुद्ध भगवान् ने आज्ञा दी है—मरे हुए जानवर का मांस खाने की और सिर्फ चमार खाते हैं, इससे सिद्ध होता है कि हो न हो, चमार प्राचीन समय में बौद्ध रहे होंगे। वे भूल गये हैं—अपना बौद्ध होना।

तर्क बहुत दूर का मालूम पड़ता है। लेकिन सार उसमें हो सकता है। इसकी सम्भावना हो सकती है कि मांसाहार—मरे हुए जानवर का, करने के कारण हिंदुओं ने उस पूरे वर्ग को, जिसने ऐसा मांसाहार किया, शूद्र मान लिया हो; क्यों की शूद्र की और तमस् की कृष्ण की व्याख्या यही है।

बुद्ध ने एक कारण से आज्ञा दी, दूसरे कारण उन्हें खयाल नहीं है। एक कारण से आज्ञा दी कि मरे हुए को—मारा नहीं जाता—इसलिए कोई हिंसा नहीं है। लेकिन मरे हुए जानवर का मांस अति बासा हो गया—मुरदा हो गया, उसको खाने से गहन तमस् पैदा होगा। उस तरफ बुद्ध की नजर चूक गई।

इसलिए मैं कहता हूँ कि मांसाहार खुद में तो कोई पाप नहीं है, न बुरा है, न तमस् है। सुपाच्य है; क्योंकि पचा-पचाया भोजन है। इसलिए तो सिंह एक बार भोजन करता है और फिर चौबीस घंटे की चिंता छोड़ देता है; उतना काफी है। काफी कन्सेन्ट्रेटेड भोजन है। थोड़ा-सा कर लिया, बहुत है।

किसी दिन वैज्ञानिक अगर सिंथेटिक मांस बना लेंगे—जो कि उन्हें बना लेना चाहिए जल्दी से जल्दी—जैसे शाकाहारी अण्डा उपलब्ध है, ऐसे शाकाहारी मांस जल्दी ही उपलब्ध हो जाएगा। तब, मांसाहार—मैं तुम्हें कहता हूँ—शाकाहार से भी ज्यादा शाकाहारी होगा; क्योंकि न तो उसमें हिंसा होगी, न वह बासा होगा। इतनी भी हिंसा न होगी, जितनी फल को तोड़ने से होती है।

महावीर ने तो अपने लिए यही नियम बना रखा था कि जो फल पक कर गिर जाय, वही खाना है। या जो गेहूँ पक कर गिर जाय बाल से, वही खाना है।

एक बहुत बड़ा प्राचीन ऋषि हुआ—कणाद। उसका नाम ही कणाद इसलिए पड़ गया कि वह खेतों मे जो कण अपने आप गिर जायँ पक कर और वह भी जब खेत की फसल काट ली जाय और किसान सब चीजें हटा ले, तो जो कण पीछे पड़े रह जायँ थोड़े से ही गेहूँ के, उन्हीं को बीन कर खाता था।

परम अहिंसक रहा होगा कणाद। पका हुआ गेहूँ, जो अपने से गिर जाय और वह भी किसान से माँग कर नहीं; क्योंकि किसान पर भी क्यों बोझ बनना। जब पक्षी दाने बीन के जी लेते हैं, तो आदमी भी ऐसे ही जी ले। तो कणाद का असली नाम क्या था, यही लोग भूल गये हैं। उसका नाम ही कणाद हो गया—कण बीन कर जीने वाला।

अगर कृत्रिम मांस बने, तो वह शाकाहार से भी शुद्ध शाकाहार होगा। लेकिन अभी जैसी स्थिति है, दो ही उपाय हैं—या तो जिन्दा जानवर को मार कर खाया जाय; उस हालत में कृष्ण के साथ वह आहार राजसी होगा। कम से कम ताजा होगा। बुद्ध और महावीर के अनुसार हिंसात्मक होगा और तमस् में ले जाएगा। और दोनों ठीक हैं। आधे-आधे ठीक हैं। दोनों एक-एक पहलू से ठीक हैं।

अगर मरे हुए जानवर को खाया जाय तो कृष्ण के हिसाब से तामसी होगा, क्योंकि बासा और मुरदा हो गया। तंद्रा बढ़ाएगा, निद्रा लाएगा। मूर्च्छा बढ़ाएगा, शूद्रता पैदा करेगा—जीवन में। उससे ब्राह्मणत्व का सत्त्व पैदा नहीं हो सकेगा। लेकिन बुद्ध के हिसाब से—कम से कम—हिंसा नहीं होगी। तुम किसी को मारोगे नहीं, इतनी सद्वृत्ति रहेगी। इतना तो कम से कम सत् की तरफ आगमन होगा, सत्त्व की तरफ ऊर्ध्वगमन होगा।

मेरे हिसाब से, मांसाहार चाहे मुरदे का हो, चाहे मारे गये जानवर का हो, तमस् में गिराएगा—नब्बे प्रतिशत मौकों पर। दस प्रतिशत या नौ प्रतिशत मौकों पर रजस् में दौड़ाएगा। एक ही प्रतिशत मौका है कि उससे कोई सत्त्व में उठ सके। इसे थोड़ा समझना होगा।

यह साफ है कि रामकृष्ण मांसाहारी थे; विवेकानन्द भी। और फिर भी रामकृष्ण परम ज्ञान को उपलब्ध हुए।

जैनों के लिए, या सभी साम्प्रदायिक लोगों के लिए तो बड़ी सुविधा है, इन चीजों का उत्तर देने में। असुविधा मुझे है। जैन कह देंगे कि यह हो ही नहीं सकता कि वे ज्ञान को उपलब्ध हुए, बात खत्म हो गई। रामकृष्ण ज्ञान को उपलब्ध हो ही नहीं सकते। क्योंकि मछली खा रहे हैं; मांस खा रहे हैं; और ज्ञान को उपलब्ध हो जायँ? यह बात ही खत्म हो गई। इसलिए जैनों के लिए कोई उत्तर देने का सवाल नहीं है। इसलिए जहाँ-जहाँ मांसाहार है, वहाँ-वहाँ ज्ञान की सम्भावना समाप्त हो गई।

हिन्दुओं को भी कोई कष्ट नहीं है, क्योंकि वे कहते हैं, आत्मा मरती थोड़े ही है, काटने से भी थोड़े ही मरती है। तुमने मछली को मार दिया, सिर्फ आत्मा को देह से मुक्त कर दिया। वह दूसरा शरीर धारण कर लेगी। इसलिए कोई अड़चन नहीं है। रामकृष्ण ज्ञान को उपलब्ध हो सकते हैं।

अड़चन मुझे है; क्योंकि मैं मानता हूँ कि रामकृष्ण ज्ञान को उपलब्ध हुए और वे मांसाहारी हैं। होना नहीं चाहिए—वह हुआ। साधारण नियम के हिसाब से जो नहीं होना था, वह हुआ है। वे मांसाहार करते हुए परम ज्ञान को उपलब्ध हुए। इसलिए अड़चन मेरी है, तुम्हें समझ में नहीं आएगी।

मेरी अड़चनें बहुत गहरी हैं। सीधे उत्तर मेरे पास नहीं हैं, क्योंकि उत्तर मैं किसी सिद्धांत को देख कर नहीं देता। मैं स्थिति को देखता हूँ। देखता हूँ : रामकृष्ण ज्ञान को उपलब्ध हुए और यह होना तो नहीं चाहिए; लेकिन हुआ है। इसलिए जाल थोड़ा जटिल है।

मेरी जो दृष्टि है, वह यह है कि रामकृष्ण अत्यंत शुद्ध पुरुष हैं। इसलिए इतनी थोड़ी-सी अशुद्धि उन्हें बाधा न डाल पाई। यह तुम्हारे खयाल में न आ सकेगा। अत्यंत शुद्ध पुरुष हैं; अगर तुम मुझे आज्ञा दो, तो मैं कहना चाहूँगा : महावीर से ज्यादा शुद्ध पुरुष हैं। महावीर अगर मांसाहार करते या मछली खाते—परम ज्ञान को उपलब्ध नहीं हो सकते थे। लेकिन रामकृष्ण हुए हैं।

इसका अर्थ केवल इतना ही है कि यह व्यक्ति इतना शुद्ध है कि इतनी-सी अशुद्धि इस पर कुछ बाधा नहीं डाल पाई। यह उस अशुद्धि के बावजूद भी पार हो गया।

ऐसा ही समझो कि पहाड़ पर तुम चढ़ते हो, तो पहाड़ पर चढ़ने का नियम तो यही है कि जितना कम बोझ हो, उतना ठीक। और अगर तुम मनो बोझ सिर पर ले

कर चढ़ रहे हो, तो चढ़ना मुश्किल हो जाएगा। शायद तुम चढ़ने का खयाल ही छोड़ दोगे। या बीच के किसी पड़ाव पर रुक जाओगे। लेकिन फिर एक बहुत शक्तिशाली मनुष्य—कोई हरकुलिस—भारी वजन लेकर पहाड़ पर चढ़ रहा है और चढ़ जाता है। यह नियम नहीं है—यह आदमी। यह हरकुलिस नियम नहीं है। यह इतना ही बता रहा है कि यह इतना शक्तिशाली पुरुष है कि उतना-सा वजन इसे चढ़ने में बाधा नहीं डालता। यह उस वजन के साथ चढ़ जाता है।

तुम कमजोर हो; तुम उस वजन के साथ न चढ़ सकोगे।

निन्यानबे आदमियों को मांसाहार छोड़ कर ही जाना पड़ेगा। महावीर, बुद्ध को जाना पड़ा है—मांसाहार छोड़ कर, तो तुम अपनी तो फिक्र ही छोड़ देना। तुम अपना तो हिसाब ही मत लगाना। अपनी तो गणना ही मत करना।

तुम महावीर और बुद्ध से ज्यादा पवित्र आदमियों की कल्पना भी कैसे कर सकते हो! उनको भी मांसाहार छोड़ देना पड़ा। उनको भी लगा कि यह बोझ है। और यह बोझ अटकाएगा, यात्रा पूरी न होने देगा। यह गौरीशंकर तक नहीं पहुँचने देगा; बीच में कहीं पड़ाव बनाना पड़ेगा; थककर बैठ जाना पड़ेगा।

गौरीशंकर तक चढ़ते-चढ़ते, तो सभी बोझ छोड़ देना होता है। सत्त्व की आखिरी ऊँचाई पर तो सब चला जाना चाहिए। यह नियम है। लेकिन कभी कोई जीसस, कभी कोई मुहम्मद और कभी कोई रामकृष्ण मांसाहार करते हुए भी वहाँ पहुँचे हैं। वे हरकुलिस हैं। उनका तुम ज्यादा विचार मत करो। उनसे तुम्हें कोई लाभ न होगा। तुम उनको अपवाद समझो।

और अपवाद सिर्फ नियम को सिद्ध करते है। अपवाद से अपवाद सिद्ध नहीं होता, सिर्फ नियम सिद्ध होता है। उससे केवल इतना ही पता चलता है कि यह भी संभव है—अपवाद क्षणों में—कि कोई व्यक्ति इतना परम शुद्ध हो जाय कि मांसाहार कोई अशुद्धि पैदा न करता हो। ऐसे शुद्ध पुरुष हुए हैं।

जैसे कृष्ण हैं; कृष्ण ने ब्रह्मचर्य साधा, इसकी कोई खबर नहीं है। नहीं साधा—ऐसा लगता है। हजारों स्त्रियों के साथ राग-रंग चलता रहा और कृष्ण फिर भी खण्डित न हुए, नीचे न गिरे। उनके ऊर्ध्वगमन में कोई बाधा न आई। वे गौरीशंकर के शिखर पर पहुँच गये। लेकिन इससे तुम मत सोचना कि यह नियम है। यह अपवाद है।

तुम्हारे लिए तो ब्रह्मचर्य उपयोगी होगा। तुम्हारे पास तो शक्ति इतनी कम है कि तुम उसे ब्रह्मचर्य में न बचाओगे, तो तुम्हारे पास ऊर्ध्वगमन के लिए ऊर्जा न बचेगी।

कृष्ण के पास रही होगी बहुत ऊर्जा। कोई अड़चन न आई। सोलह हजार

रानियों के साथ नाचते रहे। हजार-हजार प्रेम चलते रहे; कोई अड़चन न आई। यह सिर्फ अपवाद है।

और मेरी अड़चन तुम खयाल में रखो। क्योंकि मैं इन सब विपरीत लोगों में देखता हूँ कि ये सब पहुँच गये। इसलिए मैं कहता हूँ कि सिद्धांत आदमियों से बड़ा नहीं है। और सिद्धांत से आदमी को कभी मत कसना। पहले आदमी को सीधा-सीधा देखना और फिर सिद्धांत को उस पर कसना।

महावीर जो कहते हैं, वह निन्यानबे के लिए सही है। और निन्यानबे प्रतिशत लोग ही असली लोग हैं।

रामकृष्ण अनुकरणीय नहीं हैं। उनका अनुकरण करोगे तो तुम भटकोगे। अनुकरणीय तो बुद्ध और महावीर है। वे तुम्हें ज्यादा निकट तक गौरीशंकर के पहुँचा देंगे।

रामकृष्ण को मान कर तुम चलोगे, तो तुम मछली तो खाते रहोगे, मांसाहार तो करते रहोगे, रामकृष्ण कभी न हो पाओगे। और रामकृष्ण के मानने वाले वहीं भटक रहे हैं।

रामकृष्ण के बाद एक भी रामकृष्ण की स्थिति में उपलब्ध नहीं हुआ—विवेकानन्द भी नहीं। और सैकड़ों संन्यासी हैं रामकृष्ण के—कचरा, कूड़ा-करकट। क्योंकि रामकृष्ण अपवाद हैं। वह झंझट की बात है।

रामकृष्ण जैसे लोगों का धर्म नहीं बन सकता—बनना नहीं चाहिए। ये धर्म के बाहर हैं। ये सीमा के बाहर हैं। ये ट्रैसपासर्स हैं। ये ऐसे लोग हैं, जो पीछे के दरवाजे से बागुड़ तोड़के न मालूम कहाँ-कहाँ से घुसते हैं; सीधे दरवाजे से नहीं। तुम्हें तो सीधे दरवाजे से ही जाना पड़ेगा।

इसलिए रामकृष्ण जैसे लोगों का कोई धर्म नहीं बनना चाहिए, कोई संघ नहीं बनना चाहिए। इनके पीछे 'रामकृष्ण मिशन' जैसा कोई प्रचार नहीं होना चाहिए। क्योंकि ये आदमी अपवाद हैं, इनको अनूठा रहने दो। ये कोहेनूर हीरे जैसे हैं। इनकी भीड़ मत लगाओ।

धर्म तो बनना चाहिए बुद्ध और महावीर जैसे लोगों का। उनका महासंघ होना चाहिए। करोड़-करोड़ उनके अनुयायी हों—जितने हों, उतने कम। क्योंकि उनसे निन्यानबे प्रतिशत को मार्ग मिलेगा।

जीसस से लाभ नहीं हुआ ईसाइयों को। हो नहीं सकता। क्योंकि जीसस सभी कुछ स्वीकार करके जीते हैं। शराब भी पीते हैं; न केवल पीते हैं; बल्कि उसे उत्सव मानते हैं—धार्मिक उत्सव मानते हैं। जीसस जिस घर में मेहमान होते हैं, वहाँ बोतलें खुलती हैं, खाना-पीना चलता है। क्योंकि यह महोत्सव है—जीवन का।

तो जीसस ने रास्ता खोल दिया जैसे—सबको शराब पीने का। तो पश्चिम में

किसी को समझाओ कि शराब गलत है, लोग हँसेंगे कि पागल हो गये हैं। जीसस को गलत नहीं, तो हमें कैसे गलत है? और कुछ न मानें—जीसस में, कम से कम इतना तो मानते ही हैं। और बातें कठिन हों, मगर यह तो सरल है। इसका तो हम अनुगमन कर लेते हैं।

जीसस जैसे लोगों के पीछे धर्म नहीं होना चाहिए। लेकिन दुर्भाग्य—कि जीसस के पीछे दुनिया का सबसे बड़ा धर्म है। दुनिया में सबसे ज्यादा संख्या ईसाइयों की है और सबसे कम संख्या जैनियों की है—महावीर के पीछे। कारण है इसमें भी; क्योंकि महावीर तुम्हारी कमजोरियों को जरा भी मौका नहीं देते। उनके साथ तुम्हें यात्रा ऊपर की करनी ही पड़ेगी। करनी हो तो ही साथ चल सकते हो; न करनी हो, तो बहाना नहीं खोज सकते—महावीर में।

लेकिन जीसस से साथ न भी यात्रा करनी हो, तो भी तुम ईसाई रह सकते हो। मांसाहार करो, शराब पीओ—सब कर सकते हो और ईसाई भी हो सकते हो। सुविधा है। इसलिए ईसाइयत फैल कर बड़ा वृक्ष बन गई। महावीर तो खजूर के वृक्ष हैं; उनके नीचे छाया भी मुश्किल है।

मेरी कठिनाई यह है कि मैं पाता हूँ—इन सभी लोगों ने पा लिया। इसलिए बड़ा सोच समझकर चलना। तुम अपने को ध्यान रखना। इसकी फिक्र छोड़ देना कि 'रामकृष्ण ने मछली खा कर पा लिया, तो हम भी पा लेंगे; मछली क्यों त्यागें? मछली और मोक्ष अगर साथ साथ सधता हो, तो साथ ही साथ साध लें।' मछली ही सधेगी, मोक्ष न सधेगा।

कभी-कभी अपवाद घटित होते हैं। वे इसलिए घटित होते ह कि व्यक्ति की क्षमता पर निर्भर होते हैं कि कैसी उसकी क्षमता है।

कोई वेश्याघर में रह कर भी परम ज्ञान को उपलब्ध हो सकता है। तुम्हें तो मंदिर में रह कर भी उपलब्ध होगा, यह भी संदिग्ध है।

तुम अपना ही सोचना और अपने को ही देख कर विचार करना। और ध्यान रखना; क्योंकि मन बहुत चालाक है। वह रास्ते खोजता है—गलत को करने के। और सही को करने से बचने के उपाय—तर्क खोजता है।

उसी मन के कारण तो तुम भटक रहे हो—जन्मों-जन्मों से; खूब भटक लिए; अब वक्त है और जाग जाना चाहिए।

अब सूत्र।

'और हे अर्जुन, जो यज्ञ शास्त्र विधि से नियत किया हुआ है तथा करना कर्तव्य है। ऐसे मन को समाधान करके फल को न चाहने वाले पुरुषों द्वारा किया जाता है, वह सात्विक है। और हे अर्जुन, जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के लिए ही अथवा फल को

भी उद्देश रखकर किया जाता है, उसे तू राजस् जान। तथा शास्त्र-विधि से हीन, अन्नदान से रहित, बिना मंत्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किये यज्ञ को तामस् कहते हैं।'

यज्ञ का अर्थ है: धर्म की समस्त प्रक्रियाएँ। यह तो प्रतीक है। धर्म की समस्त प्रक्रियाएँ तीन ढंग से की जा सकती है। एक ढंग है—सात्विक का। वह किसी फल की आकांक्षा से नहीं करता; उसकी कोई माँग नहीं है। वह यज्ञ करता है, तो कुछ माँगने के लिए नहीं, कुछ पाने के लिए नहीं। उसकी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है। उसका रजस शांत हो गया है। वह इसलिए भी यज्ञ नहीं करता कि—जो मेरे पास है, वह बचा रहे, उसकी सुरक्षा रहे, उसे चोर चुरा न ले जायँ, उसे राज्य न छीन ले, वह मुझसे खो न जाय। नहीं, उसका तमस भी शांत हो गया है। फिर यज्ञ वह करता क्यों है? सात्विक व्यक्ति क्यों यज्ञ करता है?

तामसी मंदिर जाता है, समझ में आता है। राजसी भी जाता है, समझ में आता है। सात्विक क्यों जाता है? और वस्तुतः केवल सात्विक ही जाता है। बाकी कोई नहीं जाते। सात्विक सिर्फ अहोभाव प्रकट करने जाता है, आनन्द भाव प्रकट करने जाता है, धन्यवाद देने जाता है, अनुग्रह के कारण जाता है।

वह यज्ञ करता है, क्योंकि शास्त्र कहते हैं। शास्त्र का अर्थ है: शास्ताओं के वचन, जिन्होंने जाना है, उन्होंने कहा है। वह अपनी बुद्धि को नहीं लगाता। निरअहंकार भाव से करता है। जानने वालों ने कहा है, ठीक कहा होगा। जानने वाले कहते हैं: ऐसा करने से लाभ है, ऐसा करना आनन्द है, ऐसा करना कर्तव्य है, वह करता है। उसकी अपनी कोई माँग नहीं है। वह समर्पण भाव से करता है।

सद्गुरु कहते हैं इसलिए करता है। श्रद्धा से करता है। उसका अपना कुछ लेना-देना नहीं है। लेकिन जब जानने वाले कहते हैं, तो जरूर कोई राज होगा। जब जानने वाले कहते हैं, तो जरूर कोई रहस्य होगा। जो मुझे दिखाई नहीं पड़ता, उन्हें दिखाई पड़ता है, वे दूर तक देख सकते हैं, उनके पास दूरगामी दृष्टि है। वे ऊँचाई पर खड़े हैं, वहाँ से उन्हें सब दिखाई पड़ता है। मैं जमीन पर खड़ा हूँ, वहाँ से मुझे इतने दूर की चीजें दिखाई पड़ती हैं। उनकी दृष्टि विहंगम है। वे पक्षी की तरह हैं। वे ऊपर से उड़कर देखते हैं। मैं तो जमीन पर खड़ा हूँ, मुझे विस्तार दिखाई नहीं पड़ता। थोड़ा-सा अपने आस-पास दिखाई पड़ता है। वे कहते हैं, ठीक कहते होंगे। वे कहते हैं, तो जरूर करने योग्य है—ऐसी श्रद्धा से करता है—वासना से नहीं—कामना से नहीं।

'जो यज्ञ शास्त्रविधि से नियत किया हुआ है...।' वह बिलकुल शास्त्र के अनुसार करता है। वह कोई जबरदस्ती नहीं कर लेता कि किसी तरह निपटा दो।

तुम भी प्रार्थना करते हो, जल्दी निपटा देते हो। अगर अदालत जाना है, तो पाँच मिनट में पूरी हो जाती है। ट्रेन पकड़ना है, तो एक ही मिनट में पूरी हो जाती है। और कोई काम नहीं है, रविवार का दिन है, तो एक घंटा चलती है; घंटी हिलाते रहते हो, बैठ कर।

तुम्हारी प्रार्थना तुम्हारी श्रद्धा और शास्त्र से नहीं निकलती। तुम्हारी प्रार्थना तुम्हारे हिसाब से निकलती है। जब जैसी जरूरत पड़ी, कभी जरूरत पड़ी तो एक दिन में तुम दो दिन की भी कर लेते हो।

मैंने सुना है कि एक इफीसियेन्सि एक्सपर्ट, जो लोगों को कैसे कम समय में ज्यादा काम करना, रोज अपने प्रार्थना के कमरे में जाकर कहता : डिट्टो—जस्ट लाइक दि अदर डे—वही, जैसा कल। और बाहर निकल आता। परमात्मा इतना समझता ही है कि—डिट्टो। अब इसमें रोज-रोज क्या दोहराना?—घंटी बजाना, प्रार्थना, पूजा चंदनतिलक—घंटा खराब करना? भगवान् क्या कोई नासमझ है?

'शास्त्र-विधि से नियत किया हुआ, शास्त्रोक्त, शास्ताओं द्वारा कहा हुआ, कर्तव्य है—करने जैसा है...' इसे समझ लो।

तुम्हें बहुत बातें पता नहीं हैं, अगर तुम जिद करो कि जब हमें पता होंगी, तभी हम करेंगे तो तुम कर ही न पाओगे।

मैं तुम्हें कहता हूँ, 'ध्यान करो।' तुम कहते हो, 'क्यों करें; इससे क्या लाभ? हमें कभी लाभ नहीं हुआ। तुमने कभी किया नहीं; लाभ कैसे होगा? तुम कहते हो, बिना लाभ का पक्का हुए, हम करें क्यों? होगा, इसका आश्वासन क्या है? अगर न हुआ तो? अगर समय खराब गया तो? गारन्टी है कोई।

तुम कैसे ध्यान कर सकते हो? तुम भरोसे से ध्यान करते हो। एक छोटा बेटा चलना शुरू करता है। अगर वह भरोसा न करे बाप पर...। बाप उससे कहता है, 'तू भी मेरे जैसा चल सकेगा।' मान तो नहीं सकता। क्योंकि बाप है छः फीट का और वह इतना-सा। कैसे बाप जैसा हो सकता है? बाप को देखता है, तो टोपी गिर जाती है उसकी। 'बाप जैसा मैं कैसे हो सकता हूँ? इतने शक्तिशाली लोग तुमसे डरते हैं। घर में आते हो, तो नौकर-चाकर घबड़ा जाते हैं। मुझसे कोई डरता ही नहीं। बल्कि जहाँ भी मैं जाता हूँ, नौकर-चाकर डरवाते हैं। यह हो नहीं सकता कि मैं तुम्हारे जैसा हूँ। तुम चल सकते हो। मैं तो चार हाथ-पैर घुटनों पर ही घिसटूँगा।' नहीं, लेकिन बाप कहता है, 'भरोसा कर, तेरे पास मेरे जैसे पैर हैं।' वह खड़ा भी होता है, गिर भी जाता है। चोट भी खाता है। फिर भी भरोसा नहीं छोड़ता।

अगर बच्चे जरा ज्यादा कुशल हों, चालाक हों, तर्क कर सकें, तो वे कहेंगे, 'गिर गये, बस, हो गया, घुटने छिल गये। क्षमा करो, देख लिया। एक दफे देख लिया,

जाँच लिया। अब, अब ये बहाने मत बनाओ, घुटने मत तुड़वा दो। हम ठीक चल रहे हैं। सुविधापूर्ण है—सब।' तो बच्चे सदा ही घिसटते रहें।

धर्म के जीवन में फिर एक नया बचपन है तुम्हारा। तुम्हें पता नहीं, तुम जब देखते हो, बुद्ध, महावीर की तरफ तो वे आकाश छूते मालूम पड़ते हैं, टोपी गिरती है। तुम्हें भरोसा नहीं आता कि तुम भी उन जैसे हो। वे लाख कहें तुमसे, कैसे भरोसा आये?

अंडे में छिपा हुआ है—मुर्गी का चूजा और मुर्गा अकड़ कर खड़ा है बाहर। उसकी शान देखो, उसकी बांग देखो। उसकी कलगी की रौनक देखो सूरज की रोशनी में। और वह चिल्ला कर कह रहा है, 'घबड़ा मत, निकल आ बाहर अंडे के। तू भी मेरे जैसा है।' चूजा और घबड़ा कर सरक जाता है भीतर। इस तरह मैं कैसे हो सकता हूँ—इतना-सा चूजा, अंडे में छिपा, अंडा तक तोड़ना मुश्किल है। न ऐसी बाँग दे सकता हूँ।'

बुद्ध के वचनों को बुद्ध के भिक्षुओं ने सिंहनाद कहा है। कि उनकी गर्जना सुन कर सोये हुए सिंह जाग आते हैं। लेकिन तुम्हें पहले तो यही लगेगा कि चारों घुटने पैर से ही चलने दो। मत झंझट में डालो। यह हमसे न हो सकेगा। लेकिन भरोसा तुम करते हो, तो आगे उठते हो।

सत्त्व को मानने वाला व्यक्ति श्रद्धापूर्ण होता है। और ऐसा नहीं है कि एक बार श्रद्धा टूट जाती है, तो श्रद्धा खो देता है। कई बार बच्चे को गिरना पड़ता है, कई बार तुम्हारा ध्यान चूकेगा, नहीं लगेगा, कई बार समाधि लगते-लगते चूक जाएगी, खड़े होते-होते गिर जाओगे। लेकिन फिर भी श्रद्धावान् श्रद्धा को कायम रखता है। कोई चीज उसकी श्रद्धा को नहीं तोड़ पाती—विपरीत अनुभव भी नहीं तोड़ पाते। उसकी श्रद्धा सबसे बड़ी है। विपरीत अनुभवों से बड़ी है। वह भरोसा किए जाता है।

'शास्त्र विधि से नियत किया हुआ, कर्तव्य है—ऐसे मन को समाधान करके...।' क्योंकि अभी समाधि तो उपलब्ध नहीं हुई, अभी तो समाधान करना पड़ेगा, अभी तो मन को समझाना पड़ेगा कि मन, थोड़ा चल, देख, शायद कुछ हो; निर्णय मत ले; विरोध में पहले कुछ मत सोच; निषेध को पक्का मत कर। शायद कुछ हो। द्वार खुला रख। निष्कर्ष मत बना। चल के देख। शायद कुछ अनुभव में आये, तो आगे की यात्रा सुगम हो जाय।

अभी समाधि तो मिली नहीं। जिसको समाधि मिली, उसे समाधान की कोई जरूरत नहीं। साधक को तो समाधान करके चलना पड़ता है। 'ऐसा मन को समाधान करके, फल की आकांक्षा न करते हुए, वह यज्ञ करता है।' वह धार्मिक पूजा, प्रार्थना, अर्चना, यज्ञ, साधना करता है। ऐसा व्यक्ति सात्त्विक है।

इसको जरा अपने भीतर खोजना। तुम्हारा ध्यान भी ऐसा ही हो—सत्त्व से अनुप्राणित हो, तब तुम्हें बहुत मिलेगा। यही तो अड़चन है: माँगते हो, मिलता नहीं; न माँगोगे, मिलेगा। वर्षा होगी—तुम्हारे ऊपर रत्नों की। लेकिन तुम माँगोगे, तो कंकड़-पत्थर भी न मिलेंगे।

'और हे अर्जुन, जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के लिए है...।' सिर्फ अहंकार के लिए है कि लोगों को दिखा दूँ कि मैंने अश्वमेध यज्ञ किया, दम्भाचरण के लिए कि देखो मैंने कितना बड़ा यज्ञ किया—हजारों ब्राह्मणों ने पूजा-पाठ की, लाखों ने भोजन किया। सिर्फ दम्भ के लिए।

सम्राट किया करते थे अश्वमेध यज्ञ, वह दम्भाचरण था। भेजते थे घोड़े को, वह सारे राज्य में घूमता था। कोई उस घोड़े को छेड़ दे तो युद्ध छिड़ जाता। वह घोड़ा इस बात की खबर थी, जैसे कि पहलवान लंगोट घुमाते हैं—अखाड़े में कि अगर कोई बीच में बोल दे कि ठहरो, रुक जाओ, मैं लड़ने को तैयार हूँ। ऐसा घोड़ा छुआ न जाय, रोका न जाय। अगर कहीं भी रोका गया, तो तुम झगड़ा मोल ले रहे हो सम्राट से। वह चक्रवर्ती होने की घोषणा थी। जब घोड़ा वापस लौट आता, कोई रोकनेवाला न होता, तो वह सम्राट चक्रवर्ती हो जाता।

वह यज्ञ राजस् है, वह महत्त्वाकांक्षा का है। उसमें कुछ पाने की कामना है। 'दम्भाचरण के लिए अथवा फल को उद्देश में रखकर किया जाता है'—कि कुछ फल मिल जाय, राज्य और बड़ा हो, धन और बढ़े; यश, पद, प्रतिष्ठा हो।

और फिर तामसी का यज्ञ भी है, तामसी की धर्म-साधना भी है—शास्त्र-विधि से हीन—वह मन-गढ़ंत होती है। वह खुद ही बना लेता है अपनी; क्योंकि अगर वह शास्त्र को मान कर चले तो चलना पड़ेगा, उठना पड़ेगा। वह अपनी विधि खुद ही बना लेता है; अपने तमस् के हिसाब से बना लेता है। तमस् निर्धारक होता है। तमस् से भरा हुआ चित्त अपना ही शास्त्र बन जाता है, अपना ही गुरु हो जाता है।

मेरे पास लोग आते हैं; वे कहते हैं, 'क्यों समर्पण किया जाय? क्या हम खुद ही नहीं पा सकते?' मैं कहता हूँ, 'तुम खुद ही पा सकते हो, तो तुम मेरे पास इतना बताने भी किस लिए आये? खुद ही पा सकते हो, तो मजे से पा लो। इसके लिए भी मेरे पास आने की क्या जरूरत है?' 'नहीं', वे कहते हैं, 'आपसे जरा सलाह लें।' 'सलाह का क्या काम? सलाह भी मेरी होगी, उसको भी छोड़ो। तुम अपना ही कर डालो।'

तमस् अपना ही कर लेना चाहता है। क्योंकि तब वह अपने लिए सुविधा बना कर करता है। अगर शास्त्र में विधि है कि पद्मासन लगा के बैठो, अब तामसी को पद्मासन लगाना मुश्किल होता है। तो वह कहता है, 'क्या हरजा है, अगर लेट कर करें?' हरजा तो कुछ भी नहीं है। लेटने का जो लाभ होगा, वही लाभ होगा।

तामसी अपनी व्यवस्था बना लेना चाहता है, ताकि तमस् न टूटे। इसलिए 'शास्त्र-विधि से हीन, दान से रहित...।' तामसी माँगता है, दे नहीं सकता। राजसी देता है, ताकि पा सके। तामसी तो दे ही नहीं सकता। इतने के लिए भी नहीं दे सकता—कि पाने के लिए भी दे सके। वह बिना दिए माँगता है। तामसी भिखारी है। वह सिर्फ भिक्षापात्र सामने करता है। वह कुछ देना नहीं चाहता।

'दान से रहित, बिना मंत्रों के...' क्योंकि मंत्र तो जिन्होंने तय किये हैं, वे बड़ी मेहनत से तय किये गये हैं। उनमें सत्त्व को पैदा करने की क्षमता है—मंत्रों में। उनके अनुच्चार में, उनकी गूँज में, उनसे पैदा होने वाले वातावरण में सत्त्व फलित होता है।

तुमने कभी ख्याल किया होगा: पश्चिमी संगीत को सुनकर तुममें काम-वासना जगेगी। पूर्वीय शास्त्रीय संगीत को सुनकर तुम थोड़ी देर को काम-वासना को बिलकुल भूल जाओगे। खयाल ही न आएगा। पश्चिमी संगीत को सुनकर तुम्हारे भीतर कुछ करने का भाव जगेगा। वह राजस् से भरा है। पूरब के संगीत को सुन कर तुम ध्यानस्थ हो जाओगे।

वीणा बजती रहेगी, तुम्हारे भीतर के शब्द, विचार खो जाएँगे। तुम पाओगे एक धुन बँध गई।

एक वेश्या को नाचते देख कर तुम्हारे भीतर काम-वासना जगेगी। लेकिन कृष्ण को नाचते देख कर तुम्हारे भीतर वह जो पारलौकिक है, उसका आविर्भाव होगा। शरीर एक ही है। अंग वही है। उनका कम्पन भी वही है। लेकिन फिर भी रूपांतर हो जाता है। शब्द वही है, ध्वनि वही है, संगीत के वाद्य वही हैं, अंगुलियाँ वही हैं, लेकिन सब बदल जाता है।

मंत्र बड़ी लम्बी यात्रा में खोजे गये हैं। उन्हें बड़ी मिहनत से निर्णीत किया गया है। अगर तुम ओंकार की ध्वनि ही करते रहो बैठ कर, तो तुम पाओगे, तुम्हारे भीतर रूपांतरण शुरू हो गया। क्योंकि मंत्रों को मात्र ध्वनि मत समझना; क्योंकि ध्वनि तो तुम्हारे प्राणों का सार है। तुम जो भी ध्वनि अपने भीतर करोगे, उस जैसे ही होने लगोगे। इसलिए मंत्र का बड़ा मूल्य है।

मंत्र जीवन को बदलने की एक कीमिया है। वह ध्वनि-शास्त्र है। उसके भीतर बड़ा विज्ञान छिपा है।

तुमने कभी सोचा: एक नग्न स्त्री का चित्र देख कर तुम्हारे भीतर सारे शरीर में काम-वासना दौड़ जाती है। कुछ भी नहीं है कागज में, सिर्फ लकीरें खिंची हैं। हो सकता है सिर्फ एक स्केच हो—नग्न स्त्री का। लेकिन बस, तुम्हारे भीतर सपना जग जाता है, वासना उठ आती है; विचार वासना के दौड़ने लगते हैं।

बुद्ध का भी चित्र क्या है? एक कागज पर बुद्ध का चित्र बना है। लकीरें खिंची हैं। उसको भी तुम गौर से देखो। कुछ और पैदा होता है। लकीरें वही, कागज वही, स्याही वहीं, खींचने वाला भी हो—वही। लेकिन जरा-सा फर्क लकीरों का, कागज का, स्याही का और तुम्हारे भीतर बुद्धत्व की थोड़ी-सी प्रतिमा निर्मित होती है,

ऐसे ही ध्वनि के द्वारा हमने ऐसे मंत्रों को चुना है, जिन मंत्रों का उपयोग तुम्हारे भीतर एक वातावरण पैदा करता है, एक परिवेश पैदा करता है। और वह परिवेश तुम्हें बचाता है, बदलता है, नया करता है, पुनरुज्जीवित करता है।

'तामसी बिना मंत्रों के, बिना दक्षिणा के...।' दक्षिणा बड़ी अनूठी चीज है; भारत ने खोजा है इसे। दुनिया में कहीं दक्षिणा जैसी कोई चीज नहीं है। दक्षिणा का अनुवाद करना हो, तो दुनिया की भाषाओं में शब्द नहीं है। इसका अनुवाद कैसे करोगे? दक्षिणा का मतलब बड़ा अजीब है।

एक आदमी को तुम दान देते हो, तो स्वभावतः तुम्हारी आकांक्षा होती है कि वह तुम्हें धन्यवाद दे। तुमने दान दिया और वह आदमी चल पड़े और धन्यवाद भी न दे। तो तुम कहोगे, गलत आदमी को दे दिया, अपात्र को दे दिया। इसको कम से कम धन्यवाद तो देना चाहिए।

दक्षिणा का अर्थ है, जिसने दान दिया, वह लेने वाले को धन्यवाद भी दे। क्योंकि उसने लेने की कृपा की। न लेता तो? दान दो—और फिर उसने लिया, इसके लिए जो धन्यवाद दिया जाता है, वह दक्षिणा—कि आपने दान स्वीकार किया, राजी हुए, मुझे दानी होने का मौका दिया, मुझ ना-कुछ को दान देने की सुविधा दी, इसके लिए दक्षिणा। इतना और लो। यह धन्यवाद।

तो शूद्र तो कैसे धन्यवाद दे सकता है! शूद्र पहले तो दान ही नहीं दे सकता। राजस् दान दे सकता है। सात्त्विक दक्षिणा भी दे सकता है। यह फर्क है।

शूद्र दान नहीं दे सकता, सिर्फ ले सकता है। राजस् व्यक्ति लेने में जरा कठिनाई पाता है, वह उसके अहंकार के विपरीत है। वह दे सकता है। लेकिन वह चाहेगा कि जिसको दिया है, वह धन्यवाद दे। उतना सौदा कायम है।

सात्त्विक व्यक्ति देता भी है और देने के पीछे दक्षिणा भी देता है—कि धन्यवाद, आपने स्वीकार किया। ऐसा दान पूर्ण हो जाता है—जो दक्षिणा से संयुक्त है। अन्यथा दान अधूरा रह जाता है।

यह बात भारत की अनूठी है कि दान दो और दक्षिणा दो। यह दुनिया में कोई न समझ पाएगा। यह तो व्यवसाय के बिलकुल बाहर मामला हो गया, यह तो बाजार को बिलकुल तोड़ ही दिया। बाजार के नियम और अर्थशास्त्र को, इकॉनॉमिक्स को किनारे रख दिया। दान भी और दक्षिणा भी? लेकिन सात्त्विक पुरुष धन्यभागी मानता

है कि किसी ने स्वीकार किया, कोई राजी हुआ, किसी ने मौका दिया, तो दक्षिणा देनी जरूरी है।

दान तभी पूरा है, जब दक्षिणा से संयुक्त हो अन्यथा अधूरा है। बिना दक्षिणा के दान राजस् का रह जाता है, सात्त्विक का नहीं।

'बिना दक्षिणा के, बिना श्रद्धा के किए हुए यज्ञ को तामस् कहते हैं।' वह करता भी है, लेकिन उसकी श्रद्धा बिलकुल नहीं है। वह करता है कि शायद कोई फल मिल जाय, करता है कि शायद कोई सुरक्षा मिल जाय। लेकिन श्रद्धा नहीं है। भीतर अश्रद्धा है।

तामस् व्यक्ति अश्रद्धा से करता है। राजस व्यक्ति अधूरी श्रद्धा से करता है। सात्त्विक व्यक्ति पूर्ण श्रद्धा से करता है। लेकिन श्रद्धा पूर्ण तभी होती है, जब तुम बिलकुल मिट गये, जब तुम हो ही नहीं। सात्त्विक व्यक्ति—गुरु कहता है, इसलिए करता है। उसका अपना कोई होना न रहा। शास्त्र कहते हैं, इसलिए करता है; अपना कोई होना न रहा। आदर्श है, इसलिए पूरा करता है। अपनी कोई आकांक्षा नहीं, अपनी कोई वासना नहीं, ऐसे सत्त्व में ही परमात्मा का अविर्भाव होता है।

सत्त्व के मंदिर में ही परमात्मा का सिंहासन है। वहीं उसकी प्रतिमा विराजमान है। आज इतना ही।

अर्जुनों से ही बोल रहा हूँ • भक्ति और ज्ञान • शरीर, वाणी और मन के तप

सातवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, प्रातः, दिनांक २७ मई, १९७५

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

तथा हे अर्जुन, देवता, द्विज अर्थात् ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन एवं पवित्रता, सरलता ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर संबंधी तप कहा जाता है।

तथा जो उद्वेग को न करने वाला प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है और जो स्वाध्याय का अभ्यास है—वह निस्संदेह वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है।

तथा मन की प्रसन्नता, शांत भाव, मौन, मन का निग्रह और भाव की पवित्रता—ऐसे यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : अर्जुन सामने था, कृष्ण की गीता ने जन्म लिया; जनक के कारण अष्टावक्र की महागीता साकार हुई और आप हैं कि किसी अर्जुन या जनक के बिना ही परम गीता कहे जा रहे हैं। कैसे?

अर्जुन को तुम पहचान न पाते—कृष्ण की गीता के पूर्व; और न ही तुम जनक को पहचान पाते। अर्जुन अर्जुन हुआ—कृष्ण से गुजर कर; वह था नहीं। था तो वह तुम्हारे जैसा ही। जनक जनक हुए—अष्टावक्र की महागीता से गुजर कर; अन्यथा वे तुम जैसे ही थे।

आज तुम्हें अर्जुन की जो महिमा दिखाई पड़ती है, वह महिमा कृष्ण की अग्नि से गुजरने के कारण है। जब कृष्ण ने गीता कही थी, तो वह महिमा कहीं भी न थी। तब अर्जुन एक बीज था। कृष्ण ने उस बीज को सम्हाला, उस बीज में छिपी हुई सम्भावना को पुकारा। उस बीज में छिपी सम्भावनाओं को समझाया, फुसलाया, राजी किया—कि तू डर मत। अंकुर को तोड़; फूट; घबड़ा मत; युद्ध में उतर; भाग मत; पलायन मत कर—भूमि संवारी, बीज को बोया।

आज तुम जो फूल लगे देखते हो अर्जुन में, वे सदा नहीं थे। कृष्ण की गीता के पहले तो बिलकुल नहीं थे। मात्र एक सम्भावना थी, जो पूरी हो भी सकती थी, खो भी जा सकती थी।

आज तुम्हें जो दिखाई पड़ता है विराट् रूप—अर्जुन की भव्यता का, वह कृष्ण के सान्निध्य का परिणाम है। कृष्ण तो बीज से ही बोले थे, लेकिन बोलने से बीज वृक्ष हुआ।

इसलिए तुम्हें यह खयाल उठ सकता है कि मैं किस अर्जुन से बोल रहा हूँ। आज

तुम्हें अर्जुन दिखाई न पड़ेंगे। अर्जुनों से ही बोल रहा हूँ, क्योंकि किसी और से बोलने का उपाय भी नहीं है। लेकिन अभी बीज है, बीज में तुम वृक्ष को न पहचान सकोगे।

अभी यह बगिया बोने की बिलकुल शुरुआत है। इसमें तुम्हारे भीतर जो छिपा है, उसे पुकार रहा हूँ। तुम्हें राजी कर रहा हूँ कि 'डरो मत, छोड़ दो खोल, छोड़ दो सुरक्षा, ले लो छलाँग।' तुम हिचकते हो, डरते हो; स्वाभाविक है। अर्जुन भी डरा था, तभी तो इतनी बड़ी गीता चली। वह डरता रहा और मानने को राजी न हुआ और कृष्ण अनेक-अनेक मार्गों से उसे समझाने लगे। वह सब तरफ से बचने का उपाय करने लगा, लेकिन बच न सका। तुम भी बच न सकोगे। उपाय तुम भी कर रहे हो।

और कृष्ण न तो एक अर्जुन से कही थी, मैं बहुत अर्जुनों के साथ एक साथ मेहनत कर रहा हूँ। उसके पीछे कारण हैं।

मनुष्य का इतिहास प्रतिपल सघन होता जाता है, वह किसी महाघटना की ओर गतिमान है। इसलिए जैसे-जैसे वह महाघटना करीब आती है, वैसे-वैसे और भी अधिक अर्जुनों के जागने की सम्भावना प्रगाढ़ होती जाती है।

एक बहुत बड़ा रूपांतरण करीब है, जब बहुत से बीज एक साथ टूटेंगे। और जब बहुत से वृक्ष एक साथ फूलों से लद जाएँगे। वसंत आने को है। और जैसे सुबह आने के पहले अंधकार बहुत गहन हो जाता है, ऐसे ही वसंत आने के पहले भी ऐसा लगता है कि सब खो गया। बड़ी अराजकता हो जाती है।

मनुष्यता एक खास घड़ी के करीब पहुँच गई है। जैसा मैंने पहले तुम्हें कहा कि हर पच्चीस सौ वर्ष में मनुष्यता एक बड़ी घड़ी के करीब आती है। कृष्ण के समय में आई। फिर पच्चीस सौ साल बाद बुद्ध और महावीर के समय में आई। अब फिर पच्चीस सौ साल पूरे हो रहे हैं, अब फिर वह घड़ी करीब आ रही है।

आने वाले पच्चीस वर्ष मनुष्यता के जीवन में बड़े चिरस्मरणीय रहेंगे। इन पच्चीस वर्षों में हजारों बीज फूटेंगे और हजारों व्यक्ति जो साधारण थे, अचानक अर्जुन और जनक हो जाएँगे। तुम अगर चूके तो अपने ही कारण चूकोगे। फिर तुम पच्चीस सौ वर्ष तक पछताओगे। क्योंकि वैसी घड़ी फिर तब आती है, जब पच्चीस सौ वर्ष में एक वर्तुल पूरा होता है।

जैसे पृथ्वी एक वर्ष में चक्कर लगाती है सूर्य का, ऐसे सूर्य पच्चीस सौ वर्षों में किसी महासूर्य का एक चक्कर पूरा करता है, उसका एक वर्ष पूरा होता है। वह एक वर्ष जब पूरा होता है, तो सारे जीवन में बड़ी उथल-पुथल होती है, सब अतीत व्यर्थ हो जाता है। सब मूल्य टूट जाते हैं। वैसी ही घड़ी कृष्ण के समय में थी।

सब मूल्य टूट गये थे, अधर्मी जीतता मालूम पड़ रहा था; युधिष्ठिर भीख माँगते फिर रहे थे। धर्म भीख माँग रहा था, अधर्म सिंहासन पर था।

कृष्ण के वचन बड़े महत्त्वपूर्ण हैं कि 'जब-जब अधर्म बढ़ जाता है और धर्म की हानि होती है, मैं लौट आता हूँ। असाधु को विनष्ट करने, साधु को बचाने।' कोई कृष्ण लौट आते हैं—ऐसा नहीं है। तब तुम भूल गये, तुम समझे न बात।

हर पच्चीस सौ वर्ष में वैसी अराजक घड़ी आती है और कृष्णचेतना का जन्म होता है। कृष्ण नहीं लौटते, कृष्ण चेतना—कभी क्राइस्ट के रूप में, कभी बुद्ध के रूप में—वही चेतना लौटती है। क्योंकि चेतना में तो कोई गुण-भेद नहीं है। वही सागर फिर से बूँदों को पुकारता है, नदियों, तालाबों को पुकारता है कि आ जाओ।

तो आज तो तुम्हें आसान दिखाई पड़ता है कि महाखोजी था अर्जुन, जिज्ञासु था, तो कृष्ण बोले। ठीक हजार साल बाद जब मेरे अर्जुन पक जाएँगे, तब लोग यही फिर भी कहेंगे—कि मैं जिनसे बोला, वे कैसे महापुरुष थे। अभी तुम्हें वे महापुरुष दिखाई नहीं पड़ सकते।

जब कृष्ण अर्जुन से बोल रहे थे, तब भी किसी को नहीं दिखाई पड़ रहा था कि अर्जुन कुछ खास है। ऐसे कई योद्धा थे वहाँ। अर्जुन जैसी सामर्थ्य के बहुत लोग थे।

अर्जुन की खूबी यह है कि वह कृष्ण से राजी हो गया। उस राजी होने में क्रांति घटी, रूपांतरण हुआ। पुराना गया, नये का जन्म हुआ। मृत्यु घटी अर्जुन की। अर्जुन कृष्ण में मरा और कृष्ण से पुनरुज्जीवित हुआ। कृष्ण गर्भ बन गये—अर्जुन के लिए। पुराना तो खो गया, एक नये व्यक्तित्व का जन्म हुआ।

पुराना तो डरा हुआ व्यक्ति था; कितना ही बहादुर हो, लेकिन भय था भीतर। पुराना तो मोहग्रस्त था, अपने-पराये का भेद करता था। यह जो नया अर्जुन जनमा, इसके लिए अपना-पराया कोई न रहा। या सभी अपने हो गये या सभी पराये हो गये। एक वीतराग दशा का जन्म हुआ।

कृष्ण में मरा अर्जुन और कृष्ण से पुनरुज्जीवन पाया। कृष्ण गर्भ बने। कृष्ण अर्जुन के इस नये जन्म की माता हैं। ऐसे ही अष्टावक्र से जनक गुजरा; शरीर से ऊपर उठ गया—उसी गुजरने में।

मैं भी अर्जुनों से, जनकों से ही बोल रहा हूँ। आज तुम्हें वे दिखाई नहीं पड़ते। आज वे दिखाई नहीं पड़ सकते। वे 'कल' दिखाई पड़ेंगे। लेकिन तब तुम देखने वाले न रहोगे, दूसरे देखने वाले रहेंगे।

अभी तुम इस ऊहापोह में समय व्यर्थ मत करो कि मैं किससे बोल रहा हूँ। मैं तुमसे बोल रहा हूँ; तुम्हारी सम्भावना से बोल रहा हूँ; तुम्हारे भविष्य से बोल रहा हूँ; तुम्हारी नियति से बोल रहा हूँ। तुम जो हो सकते हो, उससे बोल रहा हूँ।

तुम जो हो, वह कुछ खास नहीं है। उस पर ध्यान ही मत दो। तुम जो हो सकते हो, वह महिमापूर्ण है। उस पर ध्यान दो।

तुम जो हो, अभी तो बीज हो—खोल में बंद। मैं तुम्हारे कल से बोल रहा हूँ; जब ऋतुराज आ जाएगा, और तुम्हारे फूल लग जाएँगे और पक्षी तुम पर गीत गाएँगे और राहगीर तुम्हारे नीचे छाया को उपलब्ध होंगे और तुम अपनी महिमा में नाचोगे।

वह सबकी सम्भावना है। यहाँ हर व्यक्ति 'अर्जुन' होने को पैदा हुआ है। उससे कम परमात्मा पैदा ही नहीं करता। जानो, न जानो; पहचानो, न पहचानो; देर-अबेर कितनी ही करो, मगर परमात्मा अर्जुन से कम आदमी पैदा करता ही नहीं।

इसका मतलब केवल इतना है कि परमात्मा परमात्मा को ही पैदा करता है। कितना ही छिपा के रहो तुम अपने हीरे को मिट्टी में, लेकिन हीरा मिट्टी नहीं हो जाता। अभी ऊपर से तुम बिलकुल मिट्टी मालूम पड़ते हो। मैं तुम्हारे हीरे से बोल रहा हूँ।

कबीर ने कहा है, 'हीरा हेराएल कीचड़ में—जो हीरा है, कीचड़ में खो गया है।' सद्गुरु उसे पुकारता है—कि तू कितना ही कीचड़ में खो गया हो, तू कीचड़ नहीं हो सकता। हीरा हीरा ही रहेगा। कीचड़ की पर्त पर्त जम जाय, सारी पृथ्वी हीरे को दबा ले, तो भी हीरा हीरा रहेगा।

मैं तुम्हारे हीरे से बोल रहा हूँ। अभी तुम्हें भी अपने हीरे का पता नहीं है, इसलिए तुम मुझसे पूछते हो कि मैं किससे बोल रहा हूँ। जिससे मैं बोल रहा हूँ, वही मुझसे पूछता है कि मैं किससे बोल रहा हूँ!

अर्जुन को भी लगा होगा कि ये कृष्ण किससे बोल रहे हैं? अर्जुन की तो कुछ समझ में आता नहीं—जो ये बोल रहे हैं। यह तो उसके सिर पर से निकल जाता है। इसलिए तो बार-बार फिर वह संदेह करता है, बार-बार प्रश्न उठाता है। पकड़ बैठती नहीं, हाथ कुछ आता नहीं, छूट-छूट जाता है। इसलिए तो बार-बार पूछता है। फिर जिज्ञासा खड़ी करता है। क्योंकि कृष्ण ने जो उत्तर दिया, उसने चोट नहीं की, वह खाली निकल गया।

अर्जुन का बार-बार पूछना यही तो कह रहा है कि 'तुम किससे बोल रहे हो? मुझसे बोलो।' लेकिन कृष्ण उस अर्जुन से नहीं बोल सकते—जो है। कृष्ण तो उसी अर्जुन से बोल सकते हैं, जो हो सकता है। कृष्ण तो 'भविष्य' से ही बोल सकते हैं। क्योंकि कृष्ण का वह भविष्य अब वर्तमान हो गया है। इसे तुम ठीक से समझ लो।

जो अर्जुन के लिए भविष्य है, वह कृष्ण का वर्तमान है। जो अर्जुन का भविष्य है, वह कृष्ण का वर्तमान है। और जो कृष्ण का अतीत है, वह अर्जुन का वर्तमान है।

कभी कृष्ण भी अर्जुन थे, वे भी बीज थे। हर एक को बीज से गुजरना पड़ेगा; हर वृक्ष को बीज से गुजरना पड़ेगा। तो हर वृक्ष बीज रहा है, यह तो पक्का है। और हर बीज से वृक्ष हो सकता है, यह भी पक्का है। लेकिन बीज बहुत दिन तक प्रतीक्षा भी कर सकता है—हजारों लाखों साल तक। किसी पत्थर की आड़ में दबा पड़ा रहे, भूमि न मिले, तो लाखों वर्ष पड़ा रह सकता है।

मगर फिर भी जैसे हर वृक्ष बीज से हुआ है, यह पूर्णरूपेण सत्य है—वैसे ही हर बीज से वृक्ष हो सकता है, यह भी पूर्णरूपेण सत्य है। देर हो सकती है; समय व्यतीत हो सकता है; अनेक अवसर चूक सकते हैं; लेकिन नियति पूरी होकर रहती है।

कृष्ण तो निमित्त मात्र हैं। गुरु तो निमित्त मात्र है। वह तुम्हें बनाता थोड़े ही है। तुम जो बनने को थे, वही तुम्हें बता देता है। तुम जो बन ही रहे थे, उसके प्रति तुम्हें जगा देता है। तुम जहाँ जा ही रहे थे—अंधे की तरह, वहीं तुम्हें वह आँख खोल कर चला देता है। अंधे की तरह चलते, तो बहुत गिरते, भटकते, टटोलते; देरी लगती पहुँचने में। आँख खोल कर जल्दी पहुँच जाते हो। अगर आँख ठीक से खोल लो, तो क्षण भर में पहुँच जाते हो। क्षण भर की देर नहीं होती। इसी क्षण पहुँच सकते हो।

लेकिन मनुष्य की आदत है—अतीत को पकड़ना, ज्ञात को पकड़ना, अज्ञात से डरना। और इतना ही काम है कृष्ण का कि वे तुम्हें ज्ञात को छोड़ने की क्षमता दें और अज्ञात में उतरने का अभियान—साहस—दुस्साहस।

मैं भी अर्जुनों से ही बोल रहा हूँ। अर्जुन के अतिरिक्त मुझे और कोई सुनने ही क्यों आएगा? कोई कारण ही नहीं है। भूल-चूक से एक दफा आ जाएगा तो दुबारा नहीं आएगा। मुझे वही सुन सकता है, जिसको धीरे-धीरे अपने भीतर के अंकुर के फूटने का एहसास होने लगा। पहली पगध्वनियाँ जिसे सुनाई पड़ने लगीं। जिसके भीतर सरसराहट शुरू हो गई। जिसके भीतर खोज ने पहला कदम ले लिया है। वही सुनने को राजी हो सकता है। वही समझ भी सकता है।

समझ आज पूरी नहीं हो सकती है। लेकिन समझ की झलकें भी आ जायँ, सिर्फ झरोखा भी खुल जाय, तो भी काफी है।

एक सूफी फकीर के जीवन में उल्लेख है; सूफी फकीर का दरबार था और सूफी फकीर की बैठक का नाम दरबार है; क्योंकि सूफी फकीर सम्राट हैं। सभी फकीर सम्राट हैं। वहाँ लोग बैठे हैं, वह दरबार है।

तो फकीर का दरबार लगा था। दस-पंद्रह लोग बैठे थे। और दरबारी भी क्या सम्राट का आदर करेंगे, जैसा शिष्य सूफी फकीर का आदर करते हैं—जिस श्रद्धा से बैठते हैं।

फकीर घड़ी दो घड़ी शांत रहा, तब उसने एक शिष्य को इशारा किया; उसे लेकर

खिड़की पर गया। और कहा कि 'देख, बाहर देख।' उस युवक ने बाहर खिड़की के झाँका: नाचने लगा। बाकी लोगों ने पूछा, 'ऐसा क्या देखा तुमने, जो नाच रहे हो?' उस शिष्य ने कहा, 'मैंने तो नहीं देखा; क्योंकि मैं तो उस खिड़की पर कई बार खड़ा हुआ। गुरु ने दिखाया। क्योंकि मैं तो जो देखता था, वह बिलकुल साधारण था। लेकिन गुरु ने जो दिखाया, वह असाधारण है। गुरु की आँख से देखा।

'मालूम है मुझे कि सैकड़ों जन्म लग जाएँगे, शायद वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते—जो मैंने देखा है। लेकिन झलक मिल गई। अब मेरी श्रद्धा को कोई तोड़ न सकेगा। अब इतना मैं जानता हूँ कि है—मंजिल है। स्वर्ण शिखर बहुत दूर से दिखाई पड़े हैं। यात्रा दूभर होगी; शायद पहुँचूँ, न पहुँचूँ। राह में कहीं खो जाऊँ, भटक जाऊँ; ऐसी घड़ियाँ आएँ, जब स्वर्ण शिखर दिखाई पड़ने बंद हो जायँ। आज जो गुरु की आँख से देखा है, अपनी आँख से शायद दुबारा देख भी न पाऊँ। लेकिन एक बात पक्की है कि—वह है। और उसके होने का भरोसा राहगीर के कदमों की सामर्थ्य है।'

कृष्ण से श्रद्धा मिली अर्जुन को, भरोसा मिला, अपने होने का विश्वास मिला। संदेह मिटा। अर्जुन अंत में कहता है, 'मेरे सब संशय गिर गये। मैं श्रद्धा को उपलब्ध हुआ हूँ।'

जिस दिन तुम भी कह सकोगे कि तुम्हारे सब संशय गिर गये और तुम श्रद्धा को उपलब्ध हुए हो, उसी दिन तुम्हारे भीतर का अर्जुन सक्रिय हो जाएगा।

लेकिन इसे तो हजारों वर्ष लगेंगे, जब लोग पहचान पायेंगे कि मैं किन अर्जुनों से बोल रहा था। उसमें तुम्हारी भी गिनती रहे, इसका खयाल रखना।

● दूसरा प्रश्न : भक्त भक्त ही बना रहेगा, भगवान् कभी नहीं हो सकता। जैसा कि इसलाम, ईसाइयत और हिन्दुओं में भी माधवाचार्य आदि मानते रहे हैं। इस मत-प्रणाली की आधार-भूमि क्या है? क्या इसका भी एक विधि, टेकनीक की तरह उपयोग किया जा सकता है?

निश्चय ही यह एक विधि है—सिद्धांत नहीं। सिद्धांत तो कहे नहीं जा सकते। सिद्धांत तो शब्दों में बँधते नहीं, अँटते नहीं। सिद्धांत तो सदा भाषा के पार रह जाते हैं।

जो भी कहा जाता है, वे विधियाँ हैं। और विधियों को अगर तुमने सत्य समझ लिया, तो तुम बड़े भटक जाओगे।

यह एक विधि है कि भक्त कभी भगवान् नहीं हो सकता। इस विधि का राज क्या है? यह कोई सिद्धांत नहीं है; यह कोई अंतिम दशा नहीं है। भक्त निश्चित भगवान् होता है। 'हो सकता है' का सवाल ही नहीं; भक्त भगवान् है। सिर्फ उसे पता नहीं है।

लेकिन वह भी एक विधि है कि भक्त भगवान् है, और उसे उसका पता नहीं। और यह भी एक विधि है कि भक्त भगवान् नहीं हो सकता। दोनों के लाभ हैं, दोनों की हानियाँ हैं। इन्हें ठीक से समझ लो, फिर जो तुम्हें जँच जाय।

इसलाम, ईसाइयत और हिन्दुओं के भी बहुत से सम्प्रदाय हैं, (भक्ति सम्प्रदाय हैं) जो मानते हैं कि भक्त कभी भगवान् नहीं हो सकता। क्यों? क्योंकि अभी तुम अज्ञानी हो। अभी तुम भक्त नहीं हो, भगवान् होना तो दूर। इस अज्ञान में अगर तुम्हें यह भ्रांति पकड़ जाय कि तुम भगवान् हो सकते हो और यह भ्रांति पकड़ सकती है, क्योंकि जो विधि यह कह सकती है कि तुम भगवान् हो सकते हो, वह यह भी कहती है कि तुम भगवान् हो सकते हो, क्योंकि तुम भगवान् हो। अन्यथा तुम जो नहीं हो, वह कैसे हो सकोगे। 'नहीं' से तो कुछ पैदा नहीं होता, शून्य से तो कुछ जनमता नहीं।

बीज वृक्ष हो सकता है, क्योंकि मूलतः बीज वृक्ष है। कंकड़ को बो दो, खूब साज-संभाल करो, तो भी तो कंकड़ वृक्ष नहीं होगा। कंकड़ में है ही नहीं वृक्ष, तो कैसे होगा? आम का बीज बोओ तो आम होता है, नीम का बीज बोओ, तो नीम होती है। नीम के बीज से आम पैदा तो नहीं होता। तो बात जाहिर है कि बीज में वृक्ष छिपा हुआ है; उसका ब्लू प्रिंट मौजूद है।

तो जो लोग कहते हैं : 'भक्त भगवान् हो सकता है', वे यह भी कहेंगे कि 'भक्त भगवान् है, तभी तो हो सकता है।' जो तुम हो, वही हो सकते हो। अन्यथा तुम कैसे होओगे? छिपे हो, प्रकट हो जाओगे। बस, इतना ही फर्क होगा। अभी अव्यक्त हो, तब व्यक्त हो जाओगे। अभी भूमि के नीचे थे, तब भूमि के ऊपर आ जाओगे। बस इतना ही। अभी खोल में दबे थे, खोल टूट जाएगी। बस, इतना ही। अभी सोये थे, तब जग जाओगे; बस, इतना ही। अभी स्मरण न था, तब स्मरण आ जाएगा। लेकिन भगवान् तुम हो।

इस विधि को मानने वाला एक खतरनाक मार्ग सुझा रहा है।

दूसरे विधि को मानने वाले कहते हैं कि भक्त भगवान् नहीं हो सकता। क्योंकि अज्ञानियों को यह खयाल भी दे देना कि तुम भगवान् हो सकते हो या तुम भगवान् हो—खतरे से खाली नहीं है। क्योंकि अज्ञानी अगर इस बात को पकड़ ले तो इससे केवल अहंकार निर्मित होगा। इससे न तो वह भक्त बनेगा और न भगवान् बनेगा। यह डर है।

ज्ञान के खतरे हैं। ऐसे जैसे छोटे बच्चे को हम, हाथ में तलवार दे दें। माना कि रक्षा के लिए दी है कि तू इससे अपनी रक्षा करना... कि कोई तुझ पर हमला करे, तो तू अपनी रक्षा कर लेना। लेकिन जिसको तुमने दी है, उसे अभी इतनी अक्ल भी नहीं

है कि रक्षा क्या है। किससे करनी है? और नंगी तलवार खतरनाक है। डर तो यही है कि इसके पहले कि कोई उस पर हमला करे, वह अपनी ही तलवार से खुद को नुकसान पहुँचा लेगा; हाथ-पैर काट लेगा। या हो सकता है किसी पागलपन के क्षण में गरदन पर रख कर देखे कि कैसे गरदन कटती है। कटती भी है या नहीं, जरा जाँच कर लें! बच्चे के हाथ में तलवार देना खतरनाक है।

तो भक्ति संप्रदाय कहते हैं कि यह बात कहना लोगों से कि तुम परमात्मा हो, खतरनाक है। वैसे ही तो वे अकड़े हुए हैं! वैसे ही तो अकड़ उनका प्राण ले रही है। कुछ नहीं है उनके पास, तब तो देखो उनकी अकड़ कितनी है! आकाश छू रही है। और तुम उनको कह रहे हो कि तुम भगवान् हो। दो कौड़ी पास होती है तो उनके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। जरा तिजोरी में वजन आ जाता है, तो उनकी चाल बदल जाती है। जरा कपड़े-लत्ते धुले पहन लिए तो सड़क पर उनको देखो, कैसे चलने लगते हैं! जरा खीसे में पैसे बजने लगे, आवाज होने लगी, तो वे सुनते हैं—परम नाद—ओंकार सुनाई पड़ रहा है।

ऐसे मूढ़ों से यह कहना कि तुम परमात्मा हो, खतरे से खाली नहीं है। शायद बच्चा तो तलवार से बच जाय, ये मूढ़ न बच सकेंगे। और यह डर है। यह डर बिलकुल निश्चित है।

इसलिए इस मुल्क को जहाँ वेदांत ने बड़ी ऊँचाइयाँ दीं...। वेदांत का सार ही यही है कि तुम ब्रह्म हो।—अहं ब्रह्मास्मि। तुम परम हो। तुमसे पार कुछ भी नहीं। परणाम क्या हुआ?

ये अहं ब्रह्मास्मि को कहने वाले लोग रूपांतरित तो नहीं हुए, पतित हुए। भयंकर पतन हुआ। जो संन्यासी कहते हैं: 'अहम् ब्रह्मास्मि,' तुम उनकी अकड़ देखो। विनम्रता तो नहीं दिखाई पड़ती। ब्रह्म की विनम्रता तो नहीं दिखाई पड़ती, अहंकार की अकड़ दिखाई पड़ती है।

ब्रह्म भी अहंकार का आभूषण हो गया है। वह 'मैं' ही कह रहा है कि—'मैं ब्रह्म हूँ'। और ब्रह्म होने की शर्त ही यही है कि जब मैं मिट जाय, तभी कोई ब्रह्म होता है।

भक्त भगवान् नहीं होता है। जब भक्त मिट जाता है, तब भगवान् होता है। जब मैं खो जाता है, तभी सम्भावना उठती है इस नाद की—'अहं ब्रह्मास्मि'। इसके पहले नहीं। लेकिन मुश्किल है।

अहं ब्रह्मास्मि की अकड़ तो आ जाती है, अहंकार तो जाता नहीं। उलटा अहंकार और सुरक्षित हो जाता है।

इस विधि के खतरे हैं, इस विधि के लाभ भी हैं। खतरा तो यह है कि अहंकार

पकड़ ले। और लाभ यह है कि अगर यह भाव तुम्हें पूरी तरह से पकड़ ले कि मैं ब्रह्म हूँ, तो अहंकार इतनी छोटी चीज़ है और ब्रह्म इतना विराट् भाग है, तो वैसी ही घड़ी आ जाएगी अहंकार के लिए, जैसे छोटा बच्चा रबर के गुब्बारे में हवा भरता जाता है, भरता जाता है, भरता जाता है। तुम पूरा आकाश थोड़े ही गुब्बारे में भर सकते हो। गुब्बारा फूट जाएगा। जब ब्रह्म का भाव तुममें भरेगा तो अहंकार का पतला-सा, छोटा-सा रबर का गुब्बारा, उस की ताकत कितनी, सीमा कितनी...। आँगन भी तो उसमें समा नहीं सकता, इतना बड़ा आकाश। तुम भरते गये और कहते गये: अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि—एक घड़ी आयेगी कि यह फुग्गा फूट जाएगा, यह फुग्गा ऐसे फूट जाएगा जैसे कि पानी का बबूला फूट जाता है।

वह तो प्रक्रिया है। वह विधि है। अगर ठीक चले तो यह होगा। अगर जरा ही चूक गये, तो तुम अपने पानी के बबूले को ही ब्रह्म-भाव समझ लोगे। वह खतरा है।

इसलिए भक्त कहते हैं: ज्ञान की चर्चा में मत पड़ो। वे कहते हैं, भक्त कभी भगवान् नहीं होगा। यह अहंकार से बचाने की विधि है—कि भक्त भक्त ही रहेगा। परमात्मा के चरण तक पहुँच जाय, काफी है।

क्यों चरण तक काफी है? क्योंकि चरण तक तुम रहोगे तो अहंकार के उठने का उपाय न रहेगा। इसलिए तो हम भारत में चरण छूते हैं। गुरु का चरण छूते हैं, पिता का, माँ का चरण छूते है। वृद्ध जनों का चरण छूते हैं, ताकि तुम्हें झुकने का अभ्यास हो। ये सब अभ्यास हैं—परमात्मा के चरण छूने का।

जो तुमसे उम्र में ज्यादा है, वह तुमसे थोड़ा सीनियर परमात्मा है। ज्यादा रह चुका है, अनुभवी है; पैर छूओ। जो तुमसे थोड़ा ज्यादा जानता है, उसके पैर छूओ। जिसने तुम्हें जन्म दिया है, उस पिता के पैर छूओ, माँ के पैर छूओ। बड़े भाई के पैर छूओ, ज्ञानी के पैर छूओ, गुरुजनों के पैर छूओ—यह सब अभ्यास है, ताकि तुम पैर छूने में कुशल हो जाओ, ताकि तुम झुकने में निष्णात हो जाओ, ताकि अहंकार को हटाने में तुम्हारी योग्यता बढ़ जाय, तभी तो एक दिन तुम परमात्मा के चरण छूओगे और अपने को बिलकुल चरणों में रख दोगे।

बस, चरणों तक पहुँच गये, इतनी ही भक्त की आकांक्षा है। भक्त कहता है, इससे पार की हमे चाह नहीं। हम तेरा 'सिर' नहीं होना चाहते, क्योंकि सिर से तो हम वैसे ही परेशान हैं। छोटे सिर से इतने परेशान हैं, तेरा बड़ा सिर और मुश्किल में डाल देगा। हम चरण तक रहेंगे। चरण काफी है। बहुत मिल गया; चरण मिल गये और क्या चाहिए!

तो भक्त कहते हैं: न तेरा वैकुण्ठ चाहिए, न तेरा ब्रह्मज्ञान चाहिए, न मोक्ष, न निर्वाण—नहीं कुछ। बस, तेरी याद हृदय में बनी रहे और तेरे चरण न छूटें।

और कोई माँग नहीं है। और कुछ नहीं चाहिए। बस, तेरे चरण हाथ से न छूटें, इतना चाहिए।

क्या कह रहा है भक्त? भक्त यह कह रहा है : बस, मेरा विनम्र भाव न छूटे; अहंकार भाव न पकड़े। क्योंकि वैकुण्ठ में अकड़ जाऊँगा कि—मुझे वैकुण्ठ मिल गया, मोक्ष मिल गया।

जिनको तुम संन्यासी कहते हो—शिवानन्द, अखण्डानन्द, इत्यादि इत्यादि, अगर ये सब मोक्ष में पहुँचते हैं, तो बड़ा उपद्रव मचता होगा वहाँ। अखण्ड अखाड़ा खड़ा हो जाता होगा—उपद्रवियों का। अहंकार से भरे हुए लोग, अकड़े हुए लोग। और यहाँ तो इनको शिष्य भी मिल जाते हैं, वहाँ शिष्य भी न मिलेंगे। वहाँ सभी स्वामिजन हैं। वहाँ कौन किसको झुकेगा? वहाँ लोग झुकना ही भूल गये होंगे। मोक्ष में तो सब उपद्रवी इकट्ठे हो गये होंगे।

भक्त कहता है, 'तुम्हारा मोक्ष तुम्हीं सम्हालो। ज्ञानियों को दे दो। हमें तुम्हारे चरण काफी हैं। बस, हम चरणों में पड़े रहें। चरणों से च्युत मत करना'—इतनी भक्त की आकांक्षा है। मगर इसी आकांक्षा में भक्त को वैकुण्ठ उपलब्ध हो जाता है। क्योंकि विनम्र के लिए मोक्ष है।

इसलिए यह विधि है : नहीं जिसने माँगा चरणों से ज्यादा, उसे पूरा परमात्मा मिल जाता है। भक्त भगवान् हो जाता है। बिना माँगे, बिना कहे, वह घटना घटती है आखीर में।

इस विधि से भी—भक्ति से भी भक्त भगवान् ही होता है। क्योंकि पैर में तो फासला बना रहेगा। फासले में तो विरह रहेगा, आग जलेगी। प्रेमी तब तक तृप्त नहीं हो सकता, जब तक एक न हो जाय। जरा-सा भी फासला काफी फासला मालूम होगा। या तो भक्त भगवान् में गिर जाय या भगवान् भक्त में गिर जाय, तब तक बेचैनी रहेगी। पर यह घटना घटती है।

भक्त कहते हैं, इसकी चर्चा मत करो। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ—वे कहते हैं, इसकी बात मत करो। यह तो अपने से हो जाता है। तुम इसकी चर्चा ही मत करो। तुम सौ डिग्री तक पानी गरम करो, भाप की चर्चा मत करो। वह तो अपने से हो जाता है। उसकी कोई चर्चा करनी? बात ही मत उठाओ। क्योंकि उसकी चर्चा अज्ञानी सुन ले तो खतरा है। वह पहले ही से अकड़ जाएगा। अकड़ गया तो पहुँचने से रुक जाएगा।

तो इस विधि का लाभ है एक—कि विनम्रता को जनमाती है। लेकिन खतरा भी है। और खतरा यह है कि यह सत्य नहीं है। यह विधि है—डिवाइस, लेकिन सत्य के अनुकूल नहीं है। और जो सत्य के अनुकूल नहीं है, कहीं वह तुम्हें जोर से न पकड़ ले। नहीं तो तुम वंचित रह जाओगे।

कहीं यह बात तुम्हारा आधार न हो जाय कि भक्त भगवान् को पा ही नहीं सकता। भक्त भक्त ही रहेगा, भगवान् हो ही नहीं सकता—अगर यह बात तुम्हें बहुत आग्रह-पूर्वक पकड़ ले, तो यही कारागृह हो जाएगी। तो तुम चरणों में ही पड़े रह जाओगे। तुम उससे आगे न जा सकोगे।

तो यह विधि कहीं तुम्हारा कारागृह न बन जाय, इसलिए ज्ञानी कहता है, यह स्मरण रखना कि यों तो तुम भगवान् ही हो; थोड़े भटक गये हो, राह से च्युत हो गये, इधर-उधर हो गये हो। लेकिन हो तो भगवान् ही।

इसलिए आखिरी बात तो खयाल में रखना अन्यथा तुम पूजा-पत्री में ही अटक जाओगे। तुम मंदिर-मसजिद में ही उलझ जाओगे। और तुम वहीं बस, वही गुणगान करते रहोगे भक्ति का कि 'तेरे चरण काफी हैं'। उतने से राजी मत होना। क्योंकि उसमें तुम्हारी नियति पूर्ण नहीं हो रही है। और परमात्मा भी उससे राजी नहीं होगा।

परमात्मा भी तभी राजी होगा, जब तुम्हारा परमात्म-भाव प्रकट हो, जब तुम मूल-स्रोत में गिर जाओ।

तो कहीं यह सिद्धांत, यह शास्त्र तुम्हें पकड़ न ले जोर से। वह पकड़ लेगा। वह भक्तों को इतने जोर से पकड़ लेता है कि वे ज्ञानियों की बात सुनने से डरते हैं।

इसलाम ने तो मंसूर की हत्या कर दी, क्योंकि उसने कहा—अनल-हक। वह भक्त था। चरणों को ही पकड़-पकड़ कर चला था। लेकिन जब पहुँचा तो उसके मुँह से निकल गया : अनल-हक—अहम् ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ। बस, मुसलमानों ने कत्ल कर दिया उसका—कि यह आदमी कुफ्र बोल रहा है, काफिर है। यह बात तो सच हो ही नहीं सकती, क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि चरणों के पार जाने का कोई उपाय नहीं है। और यह कह रहा है कि मैं खुद ही परमात्मा हो गया।

अब यह दूसरा खतरा है कि तुम ज्ञानी को अहंकारी समझ लो, उसकी हत्या कर डालो। और इसलाम ने जिस दिन मंसूर को मारा, उसी दिन इसलाम मर गया; इसलाम की जान चली गई; प्राण चला गया; कचरा हो गया; क्योंकि मंसूर पैदा होने की हिम्मत खो गई। फिर कोई दूसरा मंसूर पैदा होने का साहस खो गया। और मंसूर—वही तो नमक है, धर्म का। उसके बिना तो सब बेस्वाद हो जाता है।

कोई चंदन, तिलक, टीका लगा कर घूमने वाले लोगों से थोड़े ही धर्म बनता है। धर्म तो उनसे ही बनता है, जिनमें परमात्मा आविर्भूत हुआ है। और जिनके भीतर से अहर्निश उद्घोष उठ रहा है कि मैं ब्रह्म हूँ। बस, उन्हीं से धर्म में जान है, उन्हीं से प्राण है। भीड़-भड़क्का उनका नहीं है। वे पताका की तरह हैं, जो आकाश में उठी है। स्वर्ण शिखरों की तरह हैं, जो मंदिर पर चढ़े हैं। माना कि बुनियाद में जो पत्थर पड़े हैं, वे भी मंदिर को सहारा देते हैं। शिखर उनके बिना भी नहीं हो सकता।

लेकिन शिखर के बिना मंदिर कैसा बुरा लगेगा! कैसा अधूरा लगेगा।

इसलाम बिना शिखर का मंदिर है। जिस दिन मंसूर को मारा, उसी दिन शिखर गिर गया। मंसूर को मारने का मतलब यह हुआ कि तुम भूल ही गये कि यह विधि थी, सिद्धांत न था। सिद्धांत तो मंसूर ही था। आखिरी घड़ी में सभी भक्तों को ऐसा ही लगेगा।

ईसाइयत ने भी बड़ी मुश्किल में डाल दिया है। तो ईसाइयत में संत होना बंद ही हो गये। आधी दुनिया ईसाई है, लेकिन संत होना बंद हो गये। पादरी-पुरोहित पैदा होते हैं, संत पैदा होते ही नहीं। वह हो नहीं सकता; होने नहीं देंगे वे।

इकहार्ट हुआ, जर्मनी में, एक फकीर—मंसूर जैसा फकीर—ईसाइयत में पैदा हुआ। उसको ईसाइयत अंगीकार न कर पाई। पोप ने संदेशा भेजा कि यह बातचीत बंद कर दो, अन्यथा खतरा होगा। क्योंकि वह ईश्वर की बातचीत ऐसे करने लगा, जैसे वह ईश्वर हो गया हो। वह वही भाषा बोलने लगा, जो उपनिषदों की है। वह कहने लगा: मैंने ही बनाया संसार को। ये सब चाँद-तारे मेरा ही खेल ह। सृष्टि के पहले दिन मैंने ही गति दी थी। सृष्टि के अन्तिम दिन मैं ही उन सब को सिकोड़ लूँगा।

वह ठीक कह रहा था। यह भक्त की आखिरी दशा है। वह प्रार्थना कर करके इस घड़ी में पहुँच था। जब तक प्रार्थना करता था चर्च में, ठीक था; फिर उसने प्रार्थना बंद कर दी। क्योंकि वह उसी घड़ी में आ गया, जिसको कबीर कहते हैं कि 'कौन किसको पूजे? दोनों एक हो गये, दुई मिट गई।'

जब उसने घोषणा कर दी कि 'दुई मिट गई, कोई चर्च नहीं है, कोई पूजा नहीं है; किसकी पूजा करनी?' तब खतरा शुरू हो गया। यह आदमी खतरनाक बातें कह रहा है। यह आदमी या तो भ्रष्ट हो गया है या परम ज्ञान को उपलब्ध हो गया। और साधारणजन इसको भ्रष्ट ही समझेंगे।

संदेश भेजा पोप ने कि तुम यह बात बंद कर दो। यह चर्चा नहीं चलेगी। और इकहार्ट जैसे परम संत को चर्च के बाहर निकाल दिया गया, एक्सपेल कर दिया गया। वह ईसाई न रहा—जो परम ईसाई था, जो जीसस जैसा ईसाई था!

इसलिए मैं कहता हूँ कि अगर क्राइस्ट फिर से पैदा हों, तो ईसाई न हो पाएँगे। उनको ईसाई धर्म बाहर कर देगा। इकहार्ट को कर दिया।

इकहार्ट के वचन ऐसे कीमती है, जैसे कबीर के। अगर ईसाइयत में कोई आदमी हुआ—कबीर के मुकाबले, तो इकहार्ट।

फिर एक आदमी हुआ जैकब बोहमे। चमार था, कुछ पढ़ा-लिखा न था। कई बार ऐसा हुआ है कि पढ़े-लिखे चूक जाते हैं, क्योंकि पाण्डित्य जरा जरूरत से ज्यादा बोझिल हो जाती है। गैर-पढ़े-लिखे पा लेते हैं। जैकब बोहमे भी कबीर जैसा गैर-पढ़ा-

लिखा था; कुछ नहीं पढ़ा-लिखा था। मगर वह ऐसी बातें बोलने लगा कि पंडित झेंप जायँ—उससे ऐसे शब्दों का उच्चार होने लगा। तत्क्षण ईसाइयत ने उसे बाहर किया—निकाल बाहर किया कि वह ईसाई नहीं है। भ्रष्ट हो गया।

ईसाइयत ने जिनको संत घोषित किया है, उनमें से कोई संत नहीं है। और जिनको उसने बाहर किया, उनमें संत हैं। विधि ने गरदन पर फंदा बना लिया। तो खतरा है।

ध्यान रखना, हर विधि का लाभ है, हर विधि का खतरा है। कोई विधि बिना खतरे के नहीं है। क्यों? क्योंकि जिससे भी लाभ हो सकता है, उससे हानि हो ही सकती है।

कोई विधि होमयोपैथी की दवा नहीं है। होमयोपैथी की दवा में हानि नहीं होती—वे कहते हैं; लाभ होता है, हानि नहीं होती। यह बात फिजूल है। क्योंकि जिस चीज से भी लाभ होगा, उससे हानि हो ही सकती है। नहीं तो लाभ भी नहीं होगा।

जिस तलवार से तुम रक्षा कर सकते हो, उसी तलवार से मारे भी जा सकते हो। जिस ध्यान से तुम पहुँच सकते हो, उसी ध्यान से अटक भी सकते हो। जिस सीढ़ी से तुम ऊपर जाते हो, वही सीढ़ी तुम्हें रोकने के लिए जंजीर हो सकती है।

गुरु सहारा बन सकता है, गुरु बाधा बन सकता है। शास्त्र पहुँचा सकते हैं, शास्त्र अटका सकते हैं। इसलिए बड़ी खुली आँखें, बड़ा सजग हृदय चाहिए, तो तुम सभी विधियों से पार हो सकते हो। कोई भी विधि काम देगी।

इसलिए तो मैं सभी विधियों पर बोले चला जाता हूँ। मेरा कोई आग्रह नहीं है। तुम्हें मैं बता देता हूँ कि यह इसका खतरा है, यह इसका लाभ है। खतरे से बचना।

कोई भी विधि चुन लो। अगर तुम्हें ज्ञान का मार्ग ठीक लगता है, तो तुम ईश्वर हो। और भक्त भगवान् होता है। क्योंकि भक्त भगवान् है। अगर तुम्हें डर लगता है—अपने अहंकार से कि यह तो हमें दिक्कत में डाल देगा, तो छोड़ो। कोई अनिवार्यता नहीं है।

भक्त भगवान् नहीं हो सकता; कभी नहीं हो सकता। क्योंकि भगवान् भगवान् हैं भक्त भक्त है। भगवान् स्रष्टा है, भक्त तो सृजन है, किया हुआ है, उसके हाथ का खेल है। कैसे भक्त भगवान् हो सकता है? पूजा करो, अर्चना करो, चरणों तक जाओ, बस, इससे आगे जाने का कोई उपाय नहीं है।

लेकिन विधि को पकड़ मत लेना। क्योंकि जब तुम चरणों तक पहुँच जाओगे, और परमात्मा उठा कर तुम्हें आलिंगन करने लगे, तब तुम मत कहना कि 'रुको, यह हो ही नहीं सकता। हम पहले से ही मानते हैं कि भक्त कभी भगवान नहीं हो सकता। यह तुम क्या कुफ्र कर रहे हो? काफिर कहीं के। पड़ा रहने दो मुझे चरणों में। मुझे

तुम्हारे हृदय का आलिंगन नहीं चाहिए। न मुझे बैकुंठ चाहिए। क्योंकि मेरे गुरु ने यही सिखाया है।' तब तुम्हारी विधि परमात्मा से बड़ी हो गई।

कोई विधि परमात्मा से बड़ी न हो, इसका खयाल रखना। जीवन बड़ा है, सभी विधियाँ छोटे छोटी है। विधियाँ तो रास्ते हैं, जीवन तो पूरा आकाश है। किसी शास्त्र से जीवन छोटा नहीं है—इसे याद रखना।

सब सिद्धांत तुम्हारे लिए है। तुम किसी सिद्धांत के लिए नहीं हो। सब सिद्धांतों का उपयोग कर लेना और फेंक देना। सार निकाल लेना, असार को छोड़ देना। अन्यथा तुम पाओगे कि जिसको तुमने गले का हार समझ के पहना था, वही आखीर में फाँसी हो गई। बहुत लोगों को मैं ऐसी फाँसी में अटके देखता हूँ।

अब सूत्र।

'तथा हे अर्जुन, देवता, द्विज, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर संबंधी तप कहा जाता है। तथा जो उद्वेग को न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है और जो स्वाध्याय का अभ्यास है, वह निस्संदेह वाणी संबंधी तप कहा जाता है। तथा मन की प्रसन्नता, शांत भाव, मौन, मन का निग्रह और भाव की पवित्रता—ऐसे यह मन संबंधी तप कहा जाता है।'

कृष्ण कहते हैं : तप तीन प्रकार के हैं। क्योंकि तुम्हारा व्यक्तित्व तीन परतों में बँटा है। और उन तीनों परतों के तप हैं। और ठीक से समझ लेना चाहिए तपश्चर्या को। क्योंकि बहुतों ने बड़े गलत ढंग से समझा है।

अगर अलसी व्यक्ति, तमस् से भरा व्यक्ति तप में उतरता है, तो उसके तप के ढंग बड़े अनूठे होते हैं। वह तप भी करता है, तो तप में उनके प्रमाद की छाया होती है—उसके आलस्य की और तमस की ही। वह तप कर सकता है, जैसे कि वह एक ही जगह बैठा रह सकता है—जो कि राजसी को करना मुश्किल होगा।

एक गाँव में मैं मेहमान था। लोग मेरे पास आये, उन्होंने कहा, 'गाँव में एक परम योगी हैं। उनका नाम है : खड़े श्री बाबा।' वे खड़े ही रहते हैं। बैठते ही नहीं, सोते ही नहीं। रात सोते भी हैं, दोनों हाथ बैसाखियों पर रखकर और छप्पर से लटकती एक रस्सी को पकड़ कर सो जाते हैं, दस साल हो गये उनको वैसा करते, इसलिए उनके पैर हाथी-पाँव की बीमारी में जैसे हो जाते हैं, वैसे हो गये हैं। अब तो वे बैठना भी चाहें तो बैठ नहीं सकते। वे तो अकड़ गये। सारे शरीर से खून और मांस पैरों में इकट्ठा हो गया है। वे चलना भी चाहें, तो अब चल नहीं सकते। मगर लोगों में उनका भारी प्रभाव है।

मैंने लोगों से पूछा, 'माना कि खड़े हैं, दस साल से। लेकिन और क्या मामला है?' उन्होंने कहा, 'और क्या? यही तो तप है। और चाहिए भी क्या?

बाजार से निकलते वक्त मैंने उन्हें देखा, झाड़ के नीचे, जहाँ वे खड़े हैं। मुँह पर मक्खियाँ उड़ रही हैं—एक घिनौना व्यक्तित्व—गंदा तमस से भरा हुआ। लेकिन यह तपश्चर्या है!

यह आदमी कुछ भी नहीं कर रहा है, लेकिन हजारों रुपये पूजा में चढ़ते हैं, मंदिर बनाया जा रहा है; हजारों लोग आते हैं, जाते हैं। यह आदमी अपना सिर्फ खड़ा है। प्रशंसा के गीत चल रहे हैं; पूजा-पत्री हो रही है इसकी। इस आदमी के चेहरे को भी तो देखो। इस पर सत्त्व की कोई भी तो छाप नहीं दिखाई पड़ती।

फूल जैसी प्रफुल्लता होनी चाहिए सत्त्व में; पक्षियों जैसे उड़ने का हलकापन होना चाहिए सत्त्व में। गंगोत्री से उतरती गंगा की धारा जैसी निर्दोष दशा होनी चाहिए, एक कुंवारापन होना चाहिए आँखों में—कि तुम पास जाओ, तो तुम्हें लगे कि तुम हलके हो गये—स्नान हो गया।

इस आदमी के पास जाकर तुम्हें लगेगा कि घर से तो स्वच्छ आये थे, गंदे हो गये। यह आदमी एक रोग की तरह वहाँ खड़ा है। और सब तरह की गंदगी फैला रहा है; क्योंकि वहीं खड़े हो कर पेशाब करता है, उसको भक्तगण झेल रहे हैं। वहीं खड़े हो कर पाखाना करता है, मक्खियाँ न होंगी इकट्ठी, तो क्या होगा? वहीं खाना खाता है। सब वहीं चल रहा है; क्योंकि वह जगह छोड़ते ही नहीं। यह भयंकर तमस् की अवस्था है।

फिर राजसी तपस्वी हैं, जिनके तप का कुल जोड़ रजस् है। भागते फिरते हैं, दौड़ते फिरते हैं।

एक सज्जन मेरे पास आए; संन्यासी हैं। मैंने पूछा कि 'क्या कर रहे हैं?' उन्होंने कहा, 'पदयात्रा।' मैंने पूछा, 'पदयात्रा किसलिए कर रहे हैं? कुछ मतलब?' उन्होंने कहा, 'नहीं, यही मेरी तपश्चर्या है।'

एक खड़े हैं, वे खड़े श्री बाबा; एक ये हैं—पदयात्री बाबा; ये पदयात्रा कर रहे हैं! इनको खड़े होने में चैन नहीं है। बैठ नहीं सकते। आज यहा ह, कल वहाँ हैं। वे कहने लगे, 'मैं तो कोई पच्चीस साल से चल ही रहा हूँ। यही मेरी तपश्चर्या है कि—रुकना नहीं है।

'जाना कहाँ है? चल भी लोगे तो क्या होगा? कहाँ पहुँच जाओगे चल कर? नाहक क्यों जमीन नाप रहे हो?' लेकिन उनके भी मानने वाले हैं। वे कहते हैं : साधु हो, तो ऐसा। तीन रात से ज्यादा नहीं रुकता कहीं भी।' वर्षा हो, सर्दी हो, धूप हो—वह भागा चला जा रहा है। यह भी तो पूछो कि यह जा कहाँ रहा है? ऐसे ही चलते-चलते मर जाएगा, गिर जाएगा। यह रुक नहीं सकता।

रजस गति है, तमस् अगति है। तामसी चल नहीं सकता, रुका रहता है। धक्का-मुकी

करो तो थोड़ा बहुत ले जाओ, बाकी वह जा नहीं सकता, अपने से। उसने खड़े होने का रास्ता खोज लिया है; वह भी तपस्वी हो गया है!

दूसरा रुक नहीं सकता, यह दौड़ने वाला—बचकानी बुद्धि का, रजस् से भरा हुआ व्यक्ति है, इसको ठहरना नहीं आता। यह भाग रहा है। अगर इसको तुम रोक दो तो वह मन में भाग-दौड़ जारी रखेगा।

पूरब में लोग आलसी हैं, पश्चिम में लोग राजसी हैं। मेरे पास पश्चिम से जो लोग आते हैं: आज आये, कल गोआ जा रहे हैं। फिर दो-चार दिन में गोआ से लौट आए, अब काठमाण्डू जा रहे हैं। फिर दो-चार दिन में काठमाण्डू से लौट आए, अब मनाली जा रहे हैं। काहे के लिए जा रहे हो? काठमाण्डू किसलिए? बस, एक खयाल है। बहुत दिन से खयाल है: काठमाण्डू जाना है।

करोगे क्या—काठमाण्डू जाकर? जो काठमाण्डू में हैं, वे कहाँ पहुँच गये हैं? गोआ कोई मोक्ष है? लेकिन गोआ काबा बन गया है, काशी बन गया है। चले जा रहे हैं—और लोग जा रहे हैं—और रुक नहीं सकते हैं।

एक भाग-दौड़ होती है राजसी के मन में। वह भागदौड़ को ही अपनी यात्रा बना लेता है।

हिन्दू संन्यासियों में मुझे नब्बे प्रतिशत संन्यासी तामसी मालूम पड़े। और जैन संन्यासियों में नब्बे प्रतिशत् राजसी मालूम पड़े। इसलिए जन संन्यासी रुकेगा नहीं, यात्रा ही करता है—पदयात्रा! चार महीने बरसात में रुकना पड़ता है, वह भी कष्ट हो जाता है। भागता रहता है। हिन्दू संन्यासी जमकर बैठ जाते हैं। इसलिए जैन संन्यासियों ने आश्रम नहीं बनाये। क्योंकि आश्रम राजसी बनाये कैसे? उसको फुरसत कहाँ है—एक जगह बैठने की? वह परिव्राजक है। इसका कारण है।

जैन और बौद्ध—दोनों धर्म क्षत्रियों से आए। क्षत्रिय यानी राजस। जैनियों के चौबीस तीर्थंकर क्षत्रिय हैं। बुद्ध भी क्षत्रिय हैं। तो राजस सूत्र है उनका। न तो बुद्ध ने आश्रम बनाये, न जिनों ने आश्रम बनाये। दोनों ने परिव्राजक पैदा किए—'चलते रहो।'

बुद्ध ने तो अपने शिष्यों से कहा, 'चरैवेति चरैवेति—चलते रहो, चलते रहो; जाओ, विहार करो।' विहार का मतलब: 'जाओ; चलो; घूमो।' एक पूरे प्रांत का नाम बिहार हो गया—बुद्ध के भिक्षुओं के घूमने के कारण। उन्होंने इतनी परिक्रमा की इस जगह की कि पूरा प्रांत बिहार कहलाने लगा। विहार का मतलब: परिक्रमा कर रहे हैं लोग, घूम रहे हैं। किसलिए? अब भी जारी है।

हिन्दू संन्यासियों ने आश्रम बनाये, विहार नहीं किया। तो उन आश्रमों में खूब सम्पदा इकट्ठी हो गई और खूब तमस् चलता है; चलेगा।

जैन संन्यासी चलते रहे। चलते-चलते उन्होंने ऐसी स्थिति बना ली कि सब साधना खो गई, चलना ही साधना रह गई। क्योंकि रुकोगे नहीं, तो साधना करोगे कैसे?

अगर मैं किसी जैन संन्यासी को कहता हूँ कि 'भई, एक साल भर रुक कर ध्यान कर लो।' वे कहते हैं, 'रुक नहीं सकते।' अब यात्रा में कैसे ध्यान करोगे? आज यह गाँव, कल दूसरा गाँव, परसों तीसरा गाँव; ज्यादा समय पैदल चलने में जाता है। फिर थोड़ा-बहुत समय मिलता है, तो विश्राम भी करना पड़ता है; क्योंकि कल उठकर फिर चल देना है। फुरसत नहीं है—ध्यान की।

तो जैन धर्म से ध्यान और योग खो गये। क्योंकि उसके लिए तो थोड़ी सुविधा चाहिए कि तुम घड़ी, दो-घड़ी बैठ सको विश्राम से, आँख बंद कर सको। उसकी सुविधा ही न रही।

तो जैन संन्यासी क्या कर रहा है? न तो वह योग साधता, न वह ध्यान साधता। बस, वह एक गाँव से दूसरे गाँव जाता है। और लोगों को समझाता है कि ध्यान करो, योग करो—जो उसने खुद कभी नहीं किए। क्योंकि उसको फुरसत ही नहीं करने की। जो उसकी मान लेंगे, वे भी उसी जैसे किसी दिन पदयात्री हो जाएंगे—जब उनको जोश चढ़ जाएगा। वे भी नहीं करेंगे। क्योंकि गृहस्थी क्या ध्यान करे, क्या योग करे? संन्यासी करता है; और संन्यासी को फुरसत नहीं—रुकने की। एक पागलपन है, होश नहीं है। सत्त्व को उपलब्ध व्यक्ति रजस् और तमस् के बीच एक संतुलन निर्धारित कर लेता है। जब जरूरी होता है, वह विश्राम करता है। जब जरूरी होता है, तब आश्रम बनाता है। जब जरूरी होता है, तब परिव्राजक होता है।

उचित होगा कि संन्यासी जब जवान हो, तब परिव्राजक हो, तब रजस् महत्वपूर्ण होता है। लेकिन जैसे-जैसे वृद्ध होने लगे, आश्रम में स्थिर हो जाय। खबर पहुँचानी हो लोगों तक—तो चले। जब खबर पहुँच जाय और लोग आने लगें, तब चलता न रहे, तब बैठ जाय। क्योंकि अब लोग आने लगे, अब उनको कुछ करवाना है। खबर ही तो नहीं पहुँचाते रहना है जिंदगी भर। उनको कुछ करवाना है।

पंद्रह साल तक मैं दौड़ता रहा। पैदल नहीं चला। क्योंकि पैदल चलता, तो डेढ़ सौ साल चलता, तब इतना काम हो पाता। उसकी संभावना नहीं है। क्योंकि चलना ही अगर लक्ष्य हो, तब तो ठीक है। पैदल ही चलना ठीक है। लेकिन चलना तो कोई लक्ष्य नहीं है। खबर पहुँचानी थी लोगों तक; पहुँच गई खबर। अब मैं बैठ गया। अब जरूरी है कि वे मेरे पास आ जायें; बैठें। और जो मैं चाहता हूँ, वह कर लें। उसके लिए तो बैठना जरूरी है, शांत हो जाना जरूरी है, गति को रोक लेना जरूरी है।

कृष्ण अब तप की व्याख्या कर रहे हैं। यह व्याख्या सत्त्व के हिसाब से है। इसका रजस् रूप भी होगा, इसका तमस् रूप भी होगा। पहले सत्त्व के हिसाब से व्याख्या

समझ लें; क्योंकि वह तपश्चर्या का शुद्धतम रूप है; वह निखरा सोना है, कंचन है।

'हे अर्जुन, देवता...' जहाँ-जहाँ दिव्यता का अनुभव हो, वहीं-वहीं देवता। देवता तो प्रतीक शब्द है। ठीक अगर समझना हो, तो देवता अर्थात् दिव्यता। वह गुण है।

'...जहाँ-जहाँ दिव्यता का अनुभव हो...।' कहाँ-कहाँ हो सकता है? अगर आँख हो तो सब जगह होगा। आँख न हो तो मुश्किल पड़ेगी। अन्यथा सुबह तुम उठे, रात का अँधेरा टूटा। तमस् गया। सूर्य उगने लगा। क्या तुमने कभी सूर्य में देवता देखा? तुम्हें पता ही नहीं है। रात को जिसने तोड़ दिया, अँधेरे को जिसने मिटा दिया, वह दिव्य है। इसलिए हिन्दू उसे देवता कहते हैं। और सूर्य को नमस्कार करते हैं। यह तो प्रतीक है।

ऐसे ही तुम्हारे भीतर भी किसी दिन रात टूटेगी, सूरज उगेगा। लेकिन इस प्रतीक को तो थोड़ा नमस्कार करो। ताकि भीतर के नमस्कार के लिए द्वार खुलें। इस बाहर के सूरज के सामने झुको, ताकि भीतर के सूरज की भी हिम्मत बढ़े कि अगर पैदा हो जाऊँ तो तुम इनकार न कर दोगे—कि पैदा हो जाऊँ तो तुम राजी होओ—कि तुम्हें बोध है। इसलिए सूर्य देवता है।

ये तो प्रतीक हैं—काव्य के। कोई सूर्य देवता है—ऐसा नहीं। कुछ उसकी पूजा करने से तुम्हें मिल जाएगा, ऐसा नहीं है—कि उसको तुम राजी कर लोगे, तो वह तुम पर कुछ ज्यादा किरणें बरसाएगा और दूसरों पर कुछ कम; ऐसा नहीं है। कि पापी की तरफ अँधेरा कर देगा और पुण्यात्मा पर रोशनी कर देगा, ऐसा भी नहीं है। सूरज कोई व्यक्ति थोड़े ही है।

जब तुम सुबह सूरज को उगते देखकर नमस्कार के भाव से भर जाते हो, नमन करते हो, वह नमन इस बात की घोषणा है कि अंधकार को तोड़ना है; प्रकाश को लाना है। वह इस बात का तुम्हारा अंतर्भाव है : 'तमसो मा ज्योतिर्गमय—कि मुझे अंधकार से प्रकाश की तरफ ले चल, हे परमात्मा! मैं प्रकाश को नमस्कार करता हूँ, प्रकाश के स्रोत को नमस्कार करता हूँ। यह देवता है। इसने बाहर की रात मिटाई। मुझे भीतर का कुछ पता नहीं। जैसे बाहर की रात मिट गई, वैसे मेरी भीतर की रात को भी मिटा। तमसो मा ज्योतिर्गमय—मुझे ले चल अँधेरे से प्रकाश की तरफ।'

यह तुम्हारा भाव है। तुम्हारे भाव से तुम्हें लाभ है। सूरज तुम्हें कोई लाभ नहीं पहुँचा देगा। न सूरज तुम्हें कोई हानि पहुँचाता है। लेकिन तुम्हारी भावदशा तुम्हें लाभ पहुँचाएगी, हानि पहुँचाएगी।

जिन्होंने सूर्य को नमस्कार किया, बड़े कुशल लोग हैं। उन्होंने अपने भीतर एक परिवेश पैदा कर लिया, एक बीजारोपण किया।

तुमने वृक्ष में फूल खिले देखे और तुम्हारे भीतर एक नमन आया, तुम झुके। वह भी देवता हो गया। इसलिए हिन्दुओं के लिए सभी देवता हैं: वृक्ष, नदियाँ, पहाड़, सूरज। हिन्दू समझ पाये कला को। उन्होंने देवता का राज पकड़ लिया। वह राज देवता में नहीं है, वह तुम्हारे भाव में है।

तो जितनी जगह तुम्हें देवता मिल जाय, उतना अच्छा; क्योंकि उतनी बार भाव का बार-बार जन्म होगा, पुनरुक्ति होगी, भाव सघन होगा, प्रगाढ़ होगा, बैठेगा।

तो हिन्दुओं ने सारे जगत् को देवता से भर दिया। चाँद भी देवता है, सूरज भी देवता है, वृक्ष भी देवता हैं—गंगा भी, हिमालय भी, कैलाश भी।

जहाँ आँख उठाओ, वहाँ देवताओं का वास है। तुम देवताओं से भाग न सकोगे। सब तरफ से तुम्हें दिव्यता घेर लेगी। इस घिराव में तुम्हारे भीतर के देवता का जन्म होगा।

तो लक्षण पहला कहते हैं कृष्ण, अर्जुन से, 'देवता'—फिर—'द्विज, गुरु, ज्ञानी जनों का पूजन...।'

पहला देवता, क्योंकि उससे ही तुम्हारे भीतर की चेतना रूपांतरित होगी। सारी दुनिया हँसती है, लेकिन समझ नहीं पाती।

सारी दुनिया हँसती है कि हिन्दू कैसे पागल हैं : गंगा की पूजा कर रहे हैं! नदी में क्या रखा है? हमें भी पता है। रात दीया जला घर में और हिंदू नमस्कार कर रहे है। हमें भी पता है कि दीये में क्या रखा है। केरोसिन तेल है; वह भी शुद्ध नहीं। उसमें भी पानी मिला है। वह हमें भी पता है। दीये में नमस्कार करने जैसा कुछ भी नहीं है। घासलेट के तेल में क्या हो सकता है—नमस्कार करने जैसा? फिर भी हम नमस्कार कर रहे हैं।

असली सवाल दीया नहीं है। असली सवाल नमस्कार करना है। जहाँ मौका मिल जाय, वहीं हम बहाना खोज लेते हैं, वह बहाना तत्क्षण तुम्हें बदलता है।

समझो कि तुम क्रोध से भरे बैठे थे और किसी ने दीया जलाया। दीया क्या, हिन्दू तो अब बिजली भी जलाओ तो भी नमस्कार करते हैं। थोड़े डरते हैं, झिझकते हैं; पढ़े लिखे हुए तो जरा देख लेते हैं कि कोई देख तो नहीं रहा है। ज्यादा ही डरपोक हुए तो भीतर-भीतर कर लेते हैं, ऊपर से नहीं प्रकट करते। 'तरुलता' करती है, मगर डरती नहीं है।

बिजली जलती है...तुम क्रोध से भरे थे, नाराज थे, अचानक बिजली जली, साँझ हो गई। तुमने हाथ जोड़े; नमस्कार किए; क्रोध विसर्जित हो गया; भावदशा बदल गई। क्योंकि कैसे तुम क्रोध से भरे नमस्कार कर सकोगे? क्षण में रूपांतरण हो गया। हवा दूसरी आ गई। झोंका और आ गया—बाहर का, ले गया क्रोध को; शृंखला टूट गई।

भीतर की विचारधारा क्रोध की तरफ जा रही थी, वह टूट गई, वह नमन में बदल गई।

पति घर में आता है, पत्नी पैर छू लेती है। बेटा घर लौटता है, माँ के पैर छूता है। यह चलता रहता है क्रम। यह नमन तुम्हारे जीवन को दिव्यता की तरफ ले जाता है।

देवताओं से मतलब नहीं है। तुम्हें दिव्यता की तरफ जाना है, तो तुम जितने देवता अनुभव कर सको, उतना सुगम हो जाय।

देवताओं का नमस्कार तुम्हें दिव्य बनाएगा। वह तो तरकीब है, एक विधि है।

'द्विज'; द्विज का अर्थ है—ब्राह्मण; द्विज का अर्थ है—जिसका दुबारा जन्म हुआ। यह द्विज शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। ऐसा शब्द दुनिया की किसी भाषा में नहीं है। क्योंकि जन्म तो एक ही दफा होता है। दुबारा जन्म का क्या मतलब ?

लेकिन हम कहते हैं : पहला जन्म तो शरीर का है। वह तो माँ-बाप से होता है। दूसरा जन्म असली है; जिसमें तुम अपनी चेतना को जन्म देते हो; उसे हम द्विज कहते हैं।

द्विज वह है, जिसने ब्रह्म को जाना, जिसका दूसरा जन्म हो गया—शरीर का नहीं, आत्मा का, चैतन्य का। मृण्मय का नहीं, चिन्मय का जिसके भीतर आविर्भाव हुआ। दीये को तो भूल गया जो, ज्योति हो गया; उसको हम कहते हैं—द्विज। ध्यानस्थ हुए को, समाधिस्थ हुए को—उसे हम कहते हैं ब्राह्मण।

ब्राह्मण कोई किसी ब्राह्मण के घर में पैदा होने से नहीं होता। ब्राह्मण तो द्विज होने से होता है। पैदा तो सभी शूद्र होते हैं। फिर उनमें से कुछ ब्राह्मण हो जाते हैं, अधिकतम शूद्र ही रह जाते हैं।

द्विज का मतलब है : समाधि से आविर्भाव हुआ—नये का जीवन का। पुराना गया, नया आया। पुराना मरा, नये का जन्म हुआ। फिर से तुम बालक हुए परमात्मा के।

द्विज को नमस्कार; जिसके भीतर क्रांति के घटने का सूत्रपात मिलेगा, सम्बन्ध जुड़ेगा। वैसे नमस्कार करते-करते द्विज को, कितनी देर तक तुम अपने शरीर से चिपके रहोगे ? वह नमस्कार तुम्हें तोड़ेगा अपने ही शरीर से।

द्विज को नमस्कार करते-करते कभी-कभी तो तुम्हें द्विज की क्षमता दिखाई पड़ेगी। उसकी गरिमा, उसका गौरव, उसकी आँखें, उसका होना, उसका ढंग, कभी तो तुम पहचानोगे। हो सकता है, पहले नमस्कार औपचारिक ही हो; शास्त्र कहते हैं इसलिए हो; लेकिन अगर तुम द्विज को नमस्कार करते ही रहे, तो किसी न किसी क्षण में—जब तुम्हारा मन शांत होगा, आनन्दित होगा, क्रोध न होगा, दुःख न होगा, एक भीतर सन्नाटा होगा—किसी दिन संयोग बैठ जाएगा, उसी क्षण तुम्हें द्विज का दर्शन हो जाएगा। उस क्षण तुम जिसको नमस्कार करते थे, वह शरीर नहीं रह जाएगा; भीतर की ज्योति दिखाई पड़ जाएगी।

और ध्यान रखो कि जब तुम्हें किसी में वह ज्योति दिखाई पड़ेगी, तभी तुम अपने में खोजना शुरू करोगे अन्यथा तुम कैसे खोजोगे अपने में ? किसी में खजाना देख लोगे, तो तुम अपने घर आकर खोदने लगोगे। खजाना कहीं दिखाई ही न पड़ेगा, तो तुम सोच भी न पाओगे कि घर में खजाना हो सकता है।

कहीं खोजोगे तो ही, किसी में देख लोगे तो ही, किन्हीं आँखों में तुम्हें सागर दिखाई पड़ जाएगा, किसी हृदय में तुम्हें विराट् की थोड़ी-सी झलक मिलेगी।

द्विज का अर्थ है : कोई—जो जाग गया। शायद उसके पास क्षण भर को तुम्हारी नींद टूट जाय, तुम करवट बदल लो; एक क्षण को आँख खोल कर देख लो—एक क्षण भी—फिर क्रांति हो जाती है। एक चिनगारी आग बन जाती है। जरा-सी चिनगारी और तुम फिर वही न हो सकोगे।

द्विज के पास होने का मतलब है : बारूद के पास होना। तुम तो घास-पात हो। एक चिनगारी पड़ गई कि लपटें लग जाएँगी, सब राख हो जाएगा। फिर वही बचेगा जो जल नहीं सकता। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'—फिर वही बचेगा, जो शरीर के मरने से मरता नहीं; फिर वही बचेगा, जिसे शस्त्र छेद नहीं सकते।

पर द्विज के पास ही पहली दफा स्वाद लगेगा। और एक दफा स्वाद लग जाय, तब कठिनाई नहीं।

मैं जब स्कूल में पढ़ता था, तो पहली या दूसरी कक्षा में एक शिकारी की कहानी थी। वह क्यों वहाँ रखी थी, पता नहीं। किसने रख दी थी, वह भी पता नहीं। कोई प्रयोजन उस वक्त मालूम नहीं पड़ता था।

कहानी थी कि एक शिकारी ने एक सिंह को मारा, एक सिंहनी को मारा—जोड़े को मार डाला, तब उसे पता चला कि जोड़े के बच्चे भी थे। तो सिंह शावकों को—दो बच्चों को—वह घर ले आया। एक तो उनमें से मर गया, एक बड़ा हो गया। उसे उसने शाक-सब्जी-दूध पर ही पाला।

वह सिंह शावक बड़ा हुआ—शाकाहारी। वह उसके पास बैठा रहता; जैसे बिल्ली बैठती या कुत्ता बैठता; बच्चे उसके साथ खेलते; वह बड़ा होता गया। नये लोग तो भयभीत हो जाते, लेकिन पूरा गाँव जानता था; वह गाँव में घूम आता। लोग उसे मिठाई खिलाते और उसको प्रेम करते।

एक दिन शिकारी बैठा था; वह भी बैठा था—उसका सिंह भी उसके पास बैठा था। शिकारी के पैर में चोट लग गई थी, और थोड़ा-सा खून बह रहा था। और उस सिंह ने उसे चाट लिया। बस, फिर खतरा हो गया। स्वाद लग गया। खून का स्वाद—उसी वक्त शिकारी खतरे में पड़ गया। क्योंकि सिंह ने गर्जना कर दी, वह शाकाहारी न रहा।

शिकारी को अपने प्राण बचाने मुश्किल हो गये, क्योंकि सिंह ने झपट्टा मार दिया। कभी उसने किसी पर झपट्टा न मारा था। उसे पता ही न था कि खून का स्वाद क्या है। अब स्वाद लग गया, तो उसके रोएँ-रोएँ में सोई हुई प्रकृति जाग गई।

उसके कण-कण में सिंह सोया था। सिंह शाकाहारी हो गया था; अपने सिंह होने का उसको पता ही नहीं था। इसलिए कोई उपाय ही न था। वह भूल ही चुका होगा कि सिंह है। अचानक गर्जना हो गई। सारा घर खतरे में पड़ गया। सारा गाँव खतरे में पड़ गया।

जब मैंने यह कहानी पढ़ी थी, तब तो मुझे लगा कि किसलिए है? इसका क्या मतलब है? इसका क्या प्रयोजन है? लेकिन अब मैं सोचता हूँ, यह कहानी जरूर किन्हीं ज्ञान के स्रोतों से आई होगी।

कहानी इतना ही कह रही है कि जब स्वाद लग जाय, तब क्रांति घट जाती है।

द्विज के पास तुम्हें स्वाद लगेगा। क्योंकि द्विज से बह रहा है परमात्मा, जैसे शिकारी से बह रहा था खून। एक दफा तुमने चख लिया, जरा-सा तुमने चख लिया, फिर तुम वही न हो सकोगे—जो तुम थे। कल तक तुम अर्जुन थे, अब एकदम कृष्ण हो जाओगे। एक क्षण में सब बदल जाता है।

लेकिन कृष्ण का स्वाद कैसे लगेगा? कृष्ण के पास आने की व्यवस्था बनी रहनी चाहिए। उस व्यवस्था को हिन्दुओं ने जमाया है—द्विज से। तो वे कहते हैं—द्विज को, ब्राह्मण को नमस्कार करो, नमन करो, उसका पूजन करो, उसके प्रति श्रद्धा का भाव रखो, तो कभी न कभी, अनायास, बिना तुम्हारे प्रयास के भी द्वार खुल जाएगा। बस, एक बार स्वाद लगने की बात है।

'गुरु और ज्ञानी जन...' जिनसे तुमने कुछ भी सीखा हो—कुछ भी, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि क्या। यहाँ कोई सद्गुरु की बात नहीं हो रही है। क्योंकि द्विज में वह बात हो गई। द्विज के बाद गुरु का नाम लेना अब फिर—व्यर्थ है, पुनरुक्ति है। कृष्ण पुनरुक्ति नहीं करेंगे। वे एक शब्द ज्यादा न बोलेंगे—जो जरूरी है उससे। 'द्विज' में सद्गुरु आ गया।

यहाँ तो गुरु से मतलब है: जिससे तुमने कुछ भी सीखा हो—कुछ भी—उसके प्रति नमन। जिससे तुमने क ख ग घ सीखा, गणित सीखा, भूगोल सीखी, उसमें कुछ भी नहीं है नमन जैसा। क्या है नमन जैसा?

पश्चिम में विद्यार्थी कहता है कि 'तुम तनखाह लेते हो, हम फीस देते हैं, बात खतम हो गई।' वही बात अब हिन्दुस्तान में भी विद्यार्थी कह रहा है कि 'तुम नौकर हो। बात खत्म हो गई। तुम्हें नमन क्या करना? तुम्हारे पैर क्या छूना?'

हम चूके जा रहे हैं, बड़ी महत्त्वपूर्ण बात से। वह महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिससे

तुमने कुछ भी सीखा हो, उसके आगे—उसके चरणों में झुकना। क्यों? क्योंकि जो आखिरी सीखना होने वाला है, वह चरणों में बिना झुके न होगा। यह गणित है।

यहाँ तो जो तुमने सीखा है, वह दो कौड़ी का है। कोई हरजा नहीं—न झुके तो भी कोई गुरु बिगाड़ नहीं लेगा कुछ। लेकिन झुकने की कला कहाँ सीखोगे? झुकने का अभ्यास कहाँ करोगे?

उथले पानी में तैरना सीखना पड़ता है। तो गुरु कितना ही उथला हो—उथले ही हैं, क्योंकि क्या है बेचारा वह। प्राइमरी स्कूल का एक मास्टर है, वह कोई सत्तर रुपया, अस्सी रुपया महीना पाता है। उसकी क्या हैसियत है? और तुम कभी के उससे आगे जा चुके। वह मैट्रिक पास है या पुराना मिडिलची होगा; तुम एम० ए० हो गये, पी० एच० डी० हो गये, या डी० लिट० हो गये। अब क्या है उस गुरु में? तुम उसके लिए क्यों झुको? तुम उससे ज्यादा जानते हो, उसे तुम्हारे लिए झुकना चाहिए। नहीं, लेकिन जिससे तुमने कभी भी कुछ सीखा, उसके प्रति झुकना।

तुम झुकते ही रहना। क्योंकि आखिरी दिन ऐसी घड़ी आएगी, जब तुम झुकोगे, तब सीखना होगा। अभी कुछ भी सिखाने वाले के प्रति झुकते रहना, ताकि झुकने का अभ्यास गहन हो जाय। और उस परम सिखावन के पहले ऐसा न हो कि तुम अकड़े खड़े रह जाओ।

हिन्दुओं ने पूरे जीवन का शास्त्र बना लिया है। हिन्दुओं से ज्यादा कुशल जाति खोजनी असम्भव है। मगर उनके सब मूल्य टूटे जा रहे हैं। और उनके मूल्यों को समझाने वाला भी कोई नहीं है। और उनके मूल्यों के जो रखवाले हैं, वे बिलकुल निर्बुद्धि लोग मालूम पड़ते हैं। पुरी के शंकराचार्य जैसे लोग हैं, जिनमें साधारण बुद्धि भी नहीं है।

जब भी कोई जाति मरती है, तो ऐसा हो जाता है। उसमें बुद्धुओं के हाथ में शक्ति पहुँच जाती है, फिर उस जाति का मरना निश्चित हो जाता है।

'गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन...।' गुरु तो वह है, जिससे तुमने सीखा हो। और ज्ञानी जन वे हैं, जिनसे दूसरों ने भी सीखा हो; तुमने न भी सीखा हो, तो भी झुकना। जिनसे दूसरों ने भी सीखा हो, जो दूसरों के गुरु हों, उनके प्रति भी झुकना; क्योंकि यह बड़ा सवाल नहीं है कि तुमने जिससे सीखा हो, उसी के प्रति झुको। क्योंकि अगर तुमने ऐसा अभ्यास किया कि तुम उसी के प्रति झुकोगे, जिससे तुमने सीखा है, तो इसमें भी अहंकार है। मैंने सीखा इसलिए झुकता हूँ; एक लेन-देन है। झुकना शुद्ध नहीं है। झुकने में थोड़ी अशुद्धि है, थोड़ा व्यवसाय है।

न; उनके प्रति भी झुकना, जिनकी तुम्हें खबर है कि वे ज्ञानी जन हैं; वे न भी हों, इसको खयाल रखना। वे ज्ञानी जन न भी हों; अफवाह तुमने सुनी हो; तुम्हारे

ऊपर कोई यह जुम्मा नहीं है कि तुम पहले पक्का प्रमाण खोजो, अदालत से सर्टिफिकेट लाओ कि यह आदमी असली में गुरु है कि नहीं, योग्य है कि नहीं, ज्ञानी है कि नहीं, फिर मैं झुकूँगा। नहीं, यह सवाल ही नहीं है। हो सकता है, वह ज्ञानी न भी हो, अज्ञानी हो। हरजा कुछ नहीं है। झुकने से लाभ ही लाभ है।

और मेरा अनुभव यह है कि अगर तुम अज्ञानी के प्रति भी झुको तो दोनों को लाभ होता है। अज्ञानी भी तुम्हारे झुकने से थोड़ा ज्ञानी होता है। उसको भी अपने अज्ञान से थोड़ी घबड़ाहट होती है।

कभी तुम अज्ञानी के प्रति झुको तो उसको भी लगता है: 'कुछ करना पड़ेगा। लोग झुक रहे हैं, कुछ बदलाहट करनी पड़ेगी।' तुम करके देखो। एक आदमी को तुम तय कर लो, उसको पता न चलने दो, सब उसके पैर छूने लगो। तुम पाओगे—महीने भर में तुमने उस आदमी को बदल डाला है। क्योंकि अब वह चोरी नहीं कर सकता, शराब नहीं पी सकता, सिगरेट पीए तो डर लगता है कि कोई पैर छू ले उसी वक्त, तो कैसा बेहूदा लगेगा! इसलिए मैं कहता हूँ: हिन्दू जाति बहुत कुशल है।

झुकने से तुम्हें लाभ है। और जिसके प्रति तुम झुके, उसे भी लाभ है। क्योंकि तुम जब भी किसी के प्रति आदर देते हो, तब तुम उसके भीतर एक आकांक्षा पैदा करते हो कि उसे इस आदर के योग्य तो बनना चाहिए।

इसलिए हमने इस गणित का बड़ा गहरा उपयोग किया था। हमने गुरुओं को—और गुरु की गहराई में जाने में सहयोग दिया था। और शिष्य को शिष्यत्व की गहराई में जाने में। और एक ही तरकीब का। इसको कहते हैं: एक पत्थर से दो पक्षी मार लेना।

अगर स्कूल के बच्चे स्कूल के गुरुओं को आदर दें, तो गुरुओं को बदल डालते हैं।

मेरे एक शिक्षक थे। कोई खास भले आदमी न थे। उनके बाबत बहुत बातें मैं सुनता था। मेरे घर के लोगों ने भी मुझसे कहा कि 'तुम और सबके पैर छूओ—ठीक। लेकिन इस आदमी के मत छूना।' मैंने कहा कि 'मेरा कोई यह हिसाब नहीं है। लेकिन यह आदमी मुझे भूगोल पढ़ाता है। उतने से मेरा सम्बन्ध है। भूगोल अच्छे ढंग से पढ़ाता है।

'यह आदमी जुआ खेलता है, ऐसी मैंने खबर सुनी है। यह शराब पीता है, यह भी मैंने सुना है। यह वेश्यागामी है, यह भी मैंने सुना है; न केवल सुना है, बल्कि मैंने इसे वेश्याओं के इलाके में जाते भी देखा है। और शराबघर में भी बैठे देखा है। मगर इससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि भूगोल यह ठीक पढ़ाता है। और इसके भूगोल पढ़ाने में न तो यह शराब पी कर आता है, और न वेश्या को लेकर

आता है। इसलिए उससे मेरा कोई लेना-देना नहीं है। इसकी जिंदगी बड़ी है। अपना तो सम्बन्ध भूगोल से है। तो मैं तो इसके पैर छूता रहूँगा।'

मैं पहला ही विद्यार्थी था, जो उसके पैर छूता। क्योंकि कोई उसके पैर छूता नहीं। कुछ दिनों बाद उस आदमी ने कहा कि 'देखो भई, तुम मेरे पैर मत छूओ।' मैंने कहा, 'क्यों?' उसने कहा कि 'तुम्हें पता नहीं, मैं आदमी बुरा हूँ। शिक्षक होने की मेरी योग्यता ही नहीं। यह तो मजबूरी में नौकरी करनी पड़ती है। और तुमसे मैं सच-सच कहे देता हूँ: मैं आदमी बिलकुल बुरा हूँ। सब बुरे कृत्य मेरे जीवन में हैं। और तुम जब मेरे पैर छूते हो, तो मुझे बड़ा कष्ट होता है।'

तो मैंने कहा, 'वह आप की चिंता है। मैं पैर छूना जारी रखूँगा।' उसने कहा कि 'तुम मुझे मुश्किल में डाले दे रहे हो। क्योंकि कल मैं शराबघर में बैठा था। तुम वहाँ से निकले, तो मुझे छिपना पड़ा। मैं कभी नहीं छिपा अपनी जिंदगी में। मुझे डर लगा कि यह लड़का कहीं देख न ले—नहीं तो यह क्या सोचेगा? और यह क्या इतने भाव से पैर छूता है।'

मैंने उस आदमी को बदल ही डाला। मैंने उस आदमी का पीछा जारी रखा।

कृष्ण कहते हैं, 'ज्ञानी जनों का भी पूजन...' जो तुम्हारे गुरु न भी हों, उनका भी पूजन।

'पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा...।' पवित्रता का अर्थ होता है—प्रमाणिकता। अपवित्र तुम उसी क्षण हो जाते हो, जब तुम होते कुछ हो और दिखाते कुछ हो।

कोई आदमी चोरी करने से अपवित्र नहीं होता। चोरी करता है और दिखलाता है कि अचोर हूँ, तब अपवित्र होता है। इसे तुम ठीक से समझ लो।

कोई आदमी झूठ बोलने से अपवित्र नहीं होता, लेकिन बोलता झूठ है और दिखाता यह है कि मैं सच बोलता हूँ, तब अपवित्र होता है। जो आदमी झूठ बोलता है और कहता है, मैं झूठ बोलने वाला हूँ, वह पवित्र है। उसमें अपवित्रता नहीं है। उसमें विपरीत का मिश्रण नहीं है। वह सीधा, सरल है।

तो अगर तुम्हें पवित्रता पानी हो जीवन में, तो तुम जैसे हो, वैसा ही प्रकट कर देना: बुरे हो तो बुरे, चोर हो चोर, झूठे हो तो झूठे, कामी हो तो कामी। उसे तुम छिपाना मत। बस, छिपाने से आदमी अपवित्र होता है।

और यह बड़े रहस्य की बात है कि जितने तुम प्रकट कर दोगे, उतने ही जल्दी तुम बदलना शुरू हो जाओगे। क्योंकि पवित्र व्यक्ति कितने दिन तक चोर रह सकता है? पवित्रता इतनी बड़ी अग्नि है कि चोरी को जला डालेगी। प्रमाणिकता इतनी बड़ी बात है कि जो आदमी झूठ बोलता है और कहता है कि मैं झूठ बोलता हूँ, वह कितने दिन

तक झूठ बोल सकेगा? उसने पहला कदम सच की तरफ उठा ही लिया। सबसे बड़ा कदम उसने उठा लिया कि उसने स्वीकार कर लिया कि मैं झूठ बोलता हूँ, मैं झूठा आदमी हूँ। इससे बड़ा सत्य की तरफ कोई भी कदम नहीं है। और यह कदम इतना बड़ा है कि सब झूठ इस कदम में दब जाएँगे और मर जाएँगे।

जिस आदमी ने स्वीकार कर लिया कि मैं काम-वासना से भरा हूँ, उसने ब्रह्मचर्य की तरफ पहला कदम उठा लिया। इसलिए तो तुम्हारे साधु-संन्यासी ब्रह्मचारी नहीं हो पाते। क्योंकि उन्होंने पहला कदम ही नहीं उठाया। उन्होंने कभी यह स्वीकार नहीं किया कि हम काम-वासना से भरे हैं। वे पहले ही से दावा कर रहे हैं कि हम ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हैं।

ब्रह्मचर्य को उपलब्ध करोड़ों में कभी एक आदमी होता है। क्योंकि काम-वासना शरीर के रोएँ-रोएँ में भरी है। और हिंदुस्तान में लाखों संन्यासी दावा कर रहे हैं कि वे ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हैं। इससे भयंकर झूठ दुनिया में कहीं चल ही नहीं सकता।

हिन्दुस्तान जैसा पाखण्ड तुम कहीं भी न पा सकोगे। और लोग मान भी रहे हैं! बड़ा खेल चल रहा है।

जिसने स्वीकार कर लिया कि मुझमें काम-वासना है, यह आदमी प्रमाणिक है। यह कभी ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होकर रहेगा। जिसने कहा, 'काम-वासना मुझमें है ही नहीं', इसने पहला झूठ स्थापित कर लिया। अब यह 'काम-वासना नहीं है', इसको छिपाने में, इसको ही दबाने में सारी जिंदगी लग जाएगी।

प्रमाणिक, ऑथेन्टिक बनो।

तो कृष्ण कहते हैं, पवित्रता; फिर कहते हैं: सरलता। जो पवित्र होगा, वह सरल हो जाता है। सरल का अर्थ है—जिसमें दाँवपेंच न हों, चालाकी न हो, एक निर्दोषता हो—बच्चे जैसा।

क्या मतलब है—बच्चे जैसा होने का? बच्चा नाराज हो जाए, तो वह क्रोध से भर जाता है। आग में जलने लगता है। लगता है कि मकान को मिटा देगा—कि दुनिया को मिटा देगा, अगर उसके हाथ में ताकत होती। कूदता-फाँदता है। चीज़ें तोड़ देता है। तुम सोचोगे कि यह बच्चा तो महान भयंकर उपद्रव है। यह किसी न किसी दिन हत्यारा बनेगा। और पाँच मिनिट बाद वह शांति से तुम्हारे पास बैठा है। बड़ा आनन्दित है। गीत गुनगुना रहा है। तुम भरोसा ही नहीं कर सकते कि क्षण भर पहले यह इतना क्रोध से भरा था और अब इतना सुंदर और शांत मालूम हो रहा है! क्या हो गया इसको?

बच्चा सरल है, उसके पास गणित नहीं है। जब क्रोध होता है, तब वह क्रोध

प्रकट करता है। बच्चा जिस भाव-दशा में होता है, वही भाव-दशा प्रकट करता है। तुम कभी क्रोध में होते हो, लेकिन मुसकराते हो। क्योंकि अभी मुसकराना लाभपूर्ण है, क्रोध करना खतरा है; महंगा पड़ जाएगा।

मालिक से दफ्तर में तुम नाराज हो, लेकिन हँस-हँस कर बातें करते हो, पूँछ हिलाते हो। तबीयत हो रही है कि गरदन दबा दें इसकी। तुम हिसाब बिठाते हो कि इसमें तो नुकसान होगा, नौकरी हाथ से चली जाएगी। घर आते हो, पत्नी से कलह होती है। कोई सद्भाव नहीं भीतर पैदा होता, क्रोध पैदा होता है। उसको भी छिपाते हो। क्योंकि पत्नी से झंझट लेने का मतलब है—दिन, दो दिन मुसीबत चलेगी। उतना महंगा सौदा नहीं करना चाहते।

सब तरफ से झूठ इकट्ठा कर लेते हो, धीरे-धीरे अप्रमाणिक हो जाते हो। तुम्हारी हँसी से पक्का पता नहीं चलता कि तुम भीतर हँस रहे हो। तुम्हारे रोने से पक्का पता नहीं चलता कि तुम भीतर रो रहे हो। भीतर कुछ, बाहर कुछ—यह जटिलता है। और फिर यह जटिलता घनी होती जाती है।

जैसे-जैसे अनुभव जीवन का बढ़ता है, सब चीजें जटिल हो जाती हैं, उलझाव हो जाता है। जैसे रस्सी का धागा उलझन गया हो, कई उलझन में पड़ गया हो, ऐसा तुम्हारा व्यक्तित्व हो जाता है।

इसलिए मैं कहता हूँ: धार्मिक होना बड़ी हिम्मत की बात है। क्योंकि उसमें तुम्हें कई खतरनाक सौदे करने पड़ेंगे। जब तुम क्रोध से भरो, तो क्रोध को ही प्रकट करना—चाहे कोई भी परिणाम हो, चाहे कितना ही उसका फल भोगना पड़े।

फल का हिसाब जिसने लगाया वह चालाक है। असल में फल का हिसाब ही चालाकी है। वह सोच रहा है कि इसका क्या परिणाम होगा। बच्चा नहीं सोचता कि क्या परिणाम होगा।

और मैं तुमसे कहता हूँ कि अगर तुम सरल रहे, तो तुम धीरे-धीरे पाओगे—क्रोध विलीन हो गया। अगर तुम जटिल रहे, तो क्रोध सदा मौजूद रहेगा; घृणा गहन होती जाएगी, प्राणों के प्राण में समा जाएगी। नासूर की तरह तुम्हारा व्यक्तित्व हो जाएगा। उसमें से परमात्मा की सुगंध कैसे उठ सकती है? उसमें सामाधि का दीया कैसे जलेगा? नहीं, उसमें कमल नहीं खिल सकते। वहाँ भूमि ही नहीं रही। वहाँ तुमने सब जटिल कर लिया।

कृष्ण कहते हैं, 'पवित्रता, सरलता...।' पहले पवित्रता, फिर सरलता। सरलता का अर्थ है: जीवन के सभी संवेगों को बच्चे की तरह जीना। धीरे-धीरे तुम पाओगे कि कोई हानि नहीं होती। तुम्हारे क्रोध को भी लोग समझते हैं कि यह आदमी क्रोध भला कर लेता हो, लेकिन क्रोधी नहीं है। तुम्हारे क्रोध को लोग क्षमा कर देंगे; क्योंकि

लोग जानते हैं, तुम सरल हो। तुम किसी क्षण में उबल पड़ते हो, यह बात ठीक है। लेकिन तुम जटिल नहीं हो।

जो आदमी कभी क्रोध नहीं करता और सदा क्रोध को ढोता है, उसका कोई भरोसा नहीं करता। वह आदमी जटिल है। उसकी बात का पक्का भरोसा नहीं है। वह पाखण्डी है। वह कहेगा कुछ, करेगा कुछ। उस पर तुम भरोसा नहीं कर सकते। धीरे-धीरे वह जितनी चालाकी करता है, जितना हिसाब लगाता है, उतने ही नुकसान में पड़ता है।

सरल व्यक्ति को चाहे शुरू में थोड़ी कठिनाई हो, अंततः वह परम धन को उपलब्ध होता है, परम लाभ को उपलब्ध होता है।

पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य...।' इनमें एक क्रम है। अगर तुम पवित्र (प्रमाणिक) हो, तो सरल होना आसान होगा। अगर सरल हो तो ब्रह्मचर्य आसान होगा। पहले काम-वासना को स्वीकार करो। फिर काम-वासना को दबाओ मत, प्रकट होने दो; उसे जीओ। जीवन में सभी कुछ जीने के लिए है, ताकि तुम उसके पार जा सको। तब ब्रह्मचर्य उपलब्ध होता है।

ब्रह्मचर्य काम-वासना के विपरीत नहीं है। काम-वासना के द्वारा पाये गये अनुभव का नाम है। काम-वासना से गुजरे हुए आदमी की सम्पदा है। काम-वासना को जीया है जिसने, जी कर देखा है जिसने, पीड़ा जानी, व्यर्थता जानी, वही ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होता है।

तब ब्रह्मचर्य कोई जबरदस्ती थोपा गया नियम नहीं होता, अनुशासन नहीं होता; तुम्हारे जीवन के अनुभव से आया हुआ सीधा-सीधा भाव होता है। नहीं कि तुम अब लड़ते हो, अपनी काम-वासना से। काम-वासना जा चुकी; तुमने उसे जी लिया, वह बात खत्म हो गई।

इसे तुम सूत्र की तरह याद रखो : जिस चीज को भी समाप्त करना हो, उसे ठीक से जी लो। अधूरी जीयी गई चीज हमेशा कायम रहती है, सरकती है, सिर के आसपास घूमती रहती है।

अधूरे अनुभव से कोई मुक्त नहीं हो सकता। कच्चा फल कैसे वृक्ष से गिरेगा? पत्थर मार कर गिरा सकते हो। लेकिन फल में भी घाव रह जाएगा; वृक्ष में भी घाव रह जाएगा। और कच्चा फल खाया भी नहीं जा सकता। और कच्चे फल में जो बीज हैं, वे भी व्यर्थ हैं। उनसे नये पौधे पैदा नहीं हो सकते।

कच्चा फल बिलकुल बेकार है। कच्चा ब्रह्मचर्य बिलकुल बेकार है। उससे ब्रह्म का कोई अनुभव पैदा न होगा। तुम भटक-भटक कर शरीर में आओगे। जो अधूरा है, वह तुम्हें वापस ले आएगा।

अधूरा अनुभव संसार में लौटने का द्वार है। अनुभव की पूर्णता पार ले जाती है, अतिक्रमण करा देती है।

जान ही लो...परमात्मा ने जो भी अवसर दिया है। दुःख-पीड़ा झेल ही लो, ताकि तुम पक जाओ। उस पकने का ही नाम अनुभव है।

जिसका काम पक गया, वह ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो जाता है। जिसका क्रोध पक गया, वह करुणा को उपलब्ध हो जाता है। जिसकी घृणा पक गई, वह प्रेम को उपलब्ध हो जाता है। जिसका भोग पक गया, वह त्याग को उपलब्ध हो जाता है।

उपनिषद् कहते हैं 'तेन त्यक्तेन भुन्जीथा—उन्होंने ही जाना त्याग, जिन्होंने भोग जाना। वे ही बने त्यागी, जो भोगी रहे।' बड़ी अनूठी बात है यह—तेन त्यक्तेन भुन्जीथा—भोगा जिन्होंने, वही त्याग को उपलब्ध हुए।

उपनिषद् हिम्मतवर हैं; कमज़ोरों का धर्म नहीं है वहाँ। कूड़ाकरकट नहीं है वहाँ व्यर्थ का, सीधी साफ बात है, विज्ञान की बात है। जानो—क्योंकि जानना ही मुक्ति है।

और जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होता है, वह अहिंसा को उपलब्ध होता है। क्यों? क्योंकि जब तक तुम्हारी काम-वासना है, तब तक तुम हिंसक रहोगे। काम-वासना हिंसा है।

काम-वासना का अर्थ है—दूसरे का शोषण। काम-वासना का अर्थ है—दूसरे का उपयोग। काम-वासना का अर्थ है—दूसरे के शरीर की वस्तु की भाँति उपभोगिता है; दूसरे पर कब्जा करो।

इसलिए तुम ध्यान रखो : काम-वासना ही तुम्हारे मन में हिंसा पैदा करती है। इसलिए पति और पत्नी लड़ते रहते हैं। जैसा पति पत्नी लड़ते हैं, ऐसा दुनिया में कोई नहीं लड़ता। लड़ते ही रहते हैं चौबीस घंटे; क्योंकि एक दूसरे का सम्बन्ध ही काम-वासना का है।

जहाँ काम-वासना है, वहाँ कलह, वहाँ हिंसा जारी रहेगी। और जो तुम्हारी काम-वासना में बाधा डालेगा, उसे तुम समाप्त कर देना चाहोगे। जो भी बीच में आड़ आएगा, उसे तुम मिटा देना चाहोगे।

जब काम-वासना ही चली जाती है, तो अचानक अहिंसा का आविर्भाव होता है। अहिंसा का अर्थ है—अब मुझे दूसरे से कोई प्रयोजन न रहा; अब मेरा आनन्द मुझमें है, दूसरे में नहीं है। तो न तो दूसरा उसे छीन सकता है, न दे सकता है। जब दूसरा मुझे आनन्द नहीं दे सकता और न छीन सकता है, तो दूसरे को मैं क्यों दुःख पहुँचाने जाऊँगा!

जैसे-जैसे आनन्द अपने भीतर गहन होता है, वैसे-वैसे तुम्हारे दूसरों के प्रति जो

भी हिंसा के, लगाव के, विरोध के, मित्रता के, शत्रुता के सम्बन्ध थे, वे सब गिर जाते हैं। अहिंसक का न तो कोई मित्र है, न कोई शत्रु। अहिंसक अकेला है। अहिंसक अपने में जीता है। उसे भीतर का स्वर्ग मिल गया। अब दूसरे से उसका कोई सम्बन्ध न रहा।

काम-वासना से भरा आदमी हिंसक रहेगा ही। क्योंकि काम-वासना की बहुत जरूरतें हैं : एक तो सुंदर स्त्री चाहिए, वह तुम्हें खोजना पड़ेगा, छीनना पड़ेगा; क्योंकि बड़ा बाजार है। गरीब को सुंदर स्त्री तो नहीं मिल पाती। जितना धन हो, उसको उतनी सुंदर स्त्री मिल पाती है।

अगर तुम्हें अब जेकलिन केनेडी से विवाह करना हो, तो ओनासिस होना चाहिए; धन होना चाहिए। सुंदर स्त्री को तुम बिना धन के तो न पा सकोगे। वहाँ बाजार है। तो गरीब को गई-गुजरी स्त्री मिलती है। ऐसी ही मिल जाती है, जिसको काम-चलाऊ स्त्री कह सकते हो। तो दौड़ है धन की।

काम-वासना है तो धन चाहिए। नहीं तो बिना धन के कैसे रहोगे? और धन है, तो एक स्त्री नहीं पचास स्त्रियाँ मिल सकती हैं। सम्राट हजारों स्त्रियों को रखते थे; कोई अड़चन न थी। गरीब तो एक स्त्री को भी नहीं रख पाता। गरीब को एक स्त्री का भी विचार उठता है, तो सोचता है, हजार दफे कि विवाह करना कि नहीं; सम्हाल पायेंगे कि नहीं।

अमीर सैकड़ों स्त्रियों से सम्बन्ध बना लेता है। और तुम यह मत सोचना कि जिन अमीरों की एक पत्नियाँ हैं, उनकी और स्त्रियों से सम्बन्ध नहीं हैं। नहीं तो अमीर होने का फायदा ही क्या है? सार क्या है?

अमीर होने का मतलब यह है कि अधिक से अधिक भोगा जा सके; भोग की सुविधा धन है। धन तो केवल सुविधा है। तो तुम जितनी स्त्रियाँ चाहो, उतनी स्त्रियाँ मिल सकती हैं। पद चाहिए, जिसके पास पद है, उसे स्त्रियों को पाना आसान हो जाता है। तो वही आदमी कल बाजार में घूमता रहता था तुम्हारे पूना के, कोई नहीं मिलता था। वही अब मिनिस्टर हो जाय, तो फिल्म अभिनेत्रियाँ उसके पैर दबाने लगती हैं।

पद हो, धन हो, तो काम-वासना को पूरा करना आसान होता है। पद न हो, धन न हो, तो तुम कैसे काम-वासना पूरी करोगे? फिर धन और पद के लिए हिंसा करनी पड़ती है, शोषण करना पड़ता है। युद्ध होते हैं—स्त्रियों के लिए, धन के लिए, पद के लिए, प्रतिष्ठा के लिए।

हिंसा तभी मिटती है, जब काम-वासना चली जाती है। ब्रह्मचर्य को शरीर सम्बन्धी तप कृष्ण ने कहा।

'जो उद्वेग को न करने वाला, प्रिय और हितकारी यथार्थ भाषण है, स्वाध्याय का अभ्यास है, वह निःसंदेह वाणी का तप है।'

वाणी ऐसी हो जो प्रिय हो, हितकारक हो। दूसरे से तभी बोलो, जब उसका कुछ हित होने वाला हो—तुम्हारे बोलने से; अन्यथा मत बोलो।

तुम बोले चले जाते हो, तुम्हें दूसरे से कोई प्रयोजन ही नहीं है। यह हिंसा है। एक व्यक्ति भागना चाहता है, उसे दफ्तर जाना है। तुम उसे रास्ते पर पकड़ लिए हो और तुम बोले चले जा रहे हो। तुम्हें इसकी फिक्र ही नहीं कि वह सुनने वाले को सुनना है कि नहीं सुनना है। वह क्या कह रहा है? उसका चेहरा देखो; वह भागने को तैयार खड़ा है। लेकिन तुम कहे चले जा रहे हो। तुम हिंसा कर रहे हो। यह वाणी की हिंसा है।

वही कहो, जिससे दूसरे का कोई हित होता हो; अन्यथा चुप रहो। क्या जरूरत है?

और जिस ढंग से कहो, वह ढंग प्रीतिकर हो, क्योंकि सत्य भी तुम इस तरह बोल सकते हो, जैसे गाली फेंके कोई—किसी की तरफ। तुम काने आदमी को काना कह सकते हो; असत्य वह नहीं है। इसलिए दुनिया का कोई भी संत तुमसे यह नहीं कह सकता कि तुम असत्य बोले। सत्य तुम बिलकुल बोले, अंधे को तुमने अंधा कहा। लेकिन सूरदास भी कह सकते थे। और सूरदास में एक माधुर्य है।

तुमने अंधे को अंधा कहके चोट पहुँचाई—सत्य से ही। तुमने सत्य का ऐसा उपयोग किया, जैसा लोग असत्य का करते हैं। तुमने सत्य को पत्थर की तरह फेंका। उससे तुम्हारे भीतर का बोध बढ़ेगा नहीं।

संवेदनशील बनो; वही कहो, जो दूसरे के लिए प्रीतिकर हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम प्रीतिकर करने के लिए झूठ बोलो। इसलिए कृष्ण उसमें शर्त लगा देते हैं : 'उद्वेग को न पैदा करे, प्रिय हो, हितकारक हो, यथार्थ, हो सत्य हो।'

कृष्ण यह नहीं कहते कि तुम लोगों की झूठी प्रशंसा करो कि उनको खूब आनन्द आये—कि वे खुद अपना चेहरा आईने में देखने में डरते हैं और तुम कह रहे हो कि तुम परम सुंदर हो—कि आप जैसा पुरुष कहीं देखा नहीं। धन्य है—कि दर्शन हो गये।

झूठ बोलने का भी कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि वह भी हानिकर है। वह भी इस आदमी में अहंकार जनमा सकता है। तुमने विष डाल दिया।

और जिससे स्वाध्याय का अभ्यास हो; वही बात बोलो, जिसके बोलने से तुम्हारे स्वयं के अध्ययन में, स्वयं के निरीक्षण में गति आए। खयाल करो : किसी से तुम कुछ भी बोल रहे हो, तो बोले मत जाओ—मूर्च्छित। ठीक भीतर जाग कर बोलो कि जो मैं बोल रहा हूँ, वह मैं क्यों बोल रहा हूँ। अपने कारण बोल रहा हूँ या दूसरे के

कारण बोल रहा हूँ? बोलना मेरा पागलपन है, इसलिए बोल रहा हूँ—कि मेरे मन में कचरा भरा है, उसे खाली करने के लिए बोल रहा हूँ; रेचन कर रहा हूँ।

भीतर अध्ययन करते रहो : क्यों बोल रहा हूँ? यह बात मैंने क्यों कही? क्या कारण था? क्यों मेरे भीतर उठी?

वाणी मधुर हो, यथार्थ हो, तुममें या दूसरे में व्यर्थ के उद्वेग और तनाव को पैदा न करती हो; और साथ ही साथ तुम्हारा स्वाध्याय चलता रहे, तो यह वाणी का तप है।

'मन की प्रसन्नता, शांत भाव, मौन, मन का निग्रह और भाव की पवित्रता—ऐसे यह मन सम्बन्धी तप हैं।' और तीसरा तप है : मन सम्बन्धी।

'मन की प्रसन्नता'...। तुम आमतौर से पाओगे कि धार्मिक जो लोग बन जाते है या सोचते हैं कि धार्मिक बन गये, वे प्रसन्नता छोड़ देते हैं। वे उदास होकर बैठ जाते हैं, लम्बे चेहरे बना लेते हैं। जैसे लगता है कि धार्मिक होने का उदासी से कोई सम्बन्ध है।

नहीं, कृष्ण तो बड़ी उलटी बात कह रहे हैं। कहते हैं : मन की प्रसन्नता तप है। उदास होना तो सांसारिक आदमी का लक्षण होना चाहिए—साधु का नहीं।

सांसारिक उदास हो, समझ में आता है; क्योंकि इतने दुःख में जी रहा है, नरक में पड़ा है। लेकिन मंदिरों में बैठे साधु ऐसा चेहरा बनाये बैठे हैं, जरूर कुछ गड़बड़ हो गई है। इनका दिल भी वहीं होने का है, जहाँ नरक है, बाजार है। दुर्घटनावश ये मंदिर में फँस गये हैं, इसलिए उदास बैठे हैं। अन्यथा मंदिर में तो नाच होगा, गीत होगा, प्रसन्नता होगी।

मन की प्रसन्नता को साधो। जितने तुम मन को प्रसन्न कर सकोगे, तुम पाओगे कि तुम उतने ही मन के पार जाने लगे। मन की प्रसन्नता मन के पार ले जाने का उपाय है।

मन की प्रसन्नता ऐसे है, जैसे फूल की गंध। फूल तो पीछे पड़ा रह जाता है, गंध ऊपर उठ जाती है। जब तुम्हारा मन प्रसन्न होता है, तब मन तो नीचे पड़ा रह जाता है, प्रसन्नता की गंध ऊपर उठ जाती है। सिर्फ प्रसन्नचित्त लोगों ने ही परमात्मा को जाना है; वह नाचते हुए लोगों का अनुभव है। उदास, बीमार, रुग्णचित्तों का अनुभव नहीं है। क्योंकि परमात्मा यानी उत्सव।

प्रसन्न होकर तैयारी करो। नाचने का थोड़ा अभ्यास करो; थोड़े पैरों में घूंघर बाँधो; कण्ठ को मधुर करो; गीत को गूँजने दो; क्योंकि उस परम उत्सव में तुम तभी सम्मिलित किए जा सकोगे, जब तुम्हारी थोड़ी तैयारी होगी।

'मन की प्रसन्नता और शांत भाव...।' क्योंकि मन की प्रसन्नता उथली भी हो सकती है। जैसे बाजार में खड़े सड़कों पर लोग हँसते हैं, वह हँसना उथला है।

उसमें कोई गहराई नहीं है। वह ऐसे ही है, जैसे छिछली नदी में शोरगुल होता है, कंकड़-पत्थरों में आवाज होती है। और गहरी नदी में सब शांत हो जाता है। गहरी नदी भी प्रसन्न होती है, लेकिन शांत होती है।

तुम गहरी नदी की तरह शांत भी रहो—और प्रसन्न भी। तुम्हारी प्रसन्नता खिलखिलाहट की तरह नहीं होगी, स्मित की तरह होगी, मुसकराहट की तरह होगी। और भीतर एक शांत पृष्ठभूमि हो—मौन।

और तुम्हारी प्रसन्नता, तुम्हारी हँसी कुछ कहे न। सिर्फ तुम्हें प्रकट करे, कुछ कहे न। कोई गिर गया छिलके पर फिसल के। तुम हँस दिए। यह मौन नहीं है हँसना। तुम व्यंग कर रहे हो। तुम गाली से भी गहन चोट पहुँचा रहे हो, उस आदमी को, जो गिर पड़ा है। तुम्हारी हँसी कुछ न कहे, सिर्फ तुम्हें कहे। तुम्हारे मौन को प्रकट करे—तुम्हारी प्रसन्नता।

'मन का निग्रह'—मन के निग्रह का अर्थ है कि तुम मन के प्रति सदा जागे रहो; मन के साथ तादात्म्य न हो जाय। क्रोध आये, तो भी तुम जाग के जानते रहो कि क्रोध ने मुझे घेरा है, लेकिन मैं क्रोध नहीं हूँ। मैं क्रोध से अलग हूँ। मैं साक्षी हूँ। साक्षी-भाव है—मन का निग्रह।

'भाव की पवित्रता...।' कुछ भी हो, तुम भाव को अपवित्र मत करो। एक आदमी तुम्हें धोखा दे दे, तो दो उपाय हैं; एक तो यह है कि तुम भाव को अपवित्र कर लो कि यह आदमी बुरा है और अब कभी किसी का भरोसा न करूँगा। और इस आदमी का तो अब कभी भरोसा नहीं करूँगा। और यह आदमी चोर है, बेईमान है। और तुमने अपने भाव को कलुषित कर लिया।

बड़े मजे की बात यह है कि उसने तुम्हें चोरी करके जितना नुकसान पहुँचाया, उससे ज्यादा नुकसान तुम अपने भाव को अपवित्र करके पहुँचा रहे हो। यह भी हो सकता था कि तुम कहते कि बेचारा आदमी, शायद तकलीफ में होगा, गरीबी में होगा, मुसीबत में होगा। उपाय नहीं खोज सका कोई, इसलिए चोरी की है। और मुझे अगर समझ आ जाती कि इसको चोरी करनी पड़ेगी, तो मैं ऐसे ही दे देता।

तुम अपने भाव को बचाओ; क्योंकि अंतिम रूप से भाव ही तुम्हारी सम्पदा है। इस संसार में किसने तुम्हें धोखा दिया, किसने नहीं दिया—इसका कोई हिसाब आखीर में नहीं बचेगा। तुम्हारा भाव क्या रहा, बस, यही बचेगा।

'भाव की पवित्रता—ऐसे यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

ये तीन तप अगर तुम साध सको, तो तुम्हारे सत्त्व का उदय होगा। तुम सात्त्विक हो सकते हो।

आज इतना ही।

पूरब और पश्चिम का अभिनव संतुलन
पहले अहंकार, फिर निरहंकार
सद्‌गुरुओं की भिन्नता • त्रिगुणात्मक स्वाध्याय

आठवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, प्रातः, दिनांक २८ मई १९७५

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

हे अर्जुन, फल को न चाहने वाले निष्कामी योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को तो सात्त्विक कहते हैं।

और जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए अथवा केवल पाखण्ड से ही किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फल वाला तप यहाँ राजस कहा गया है।

और जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।
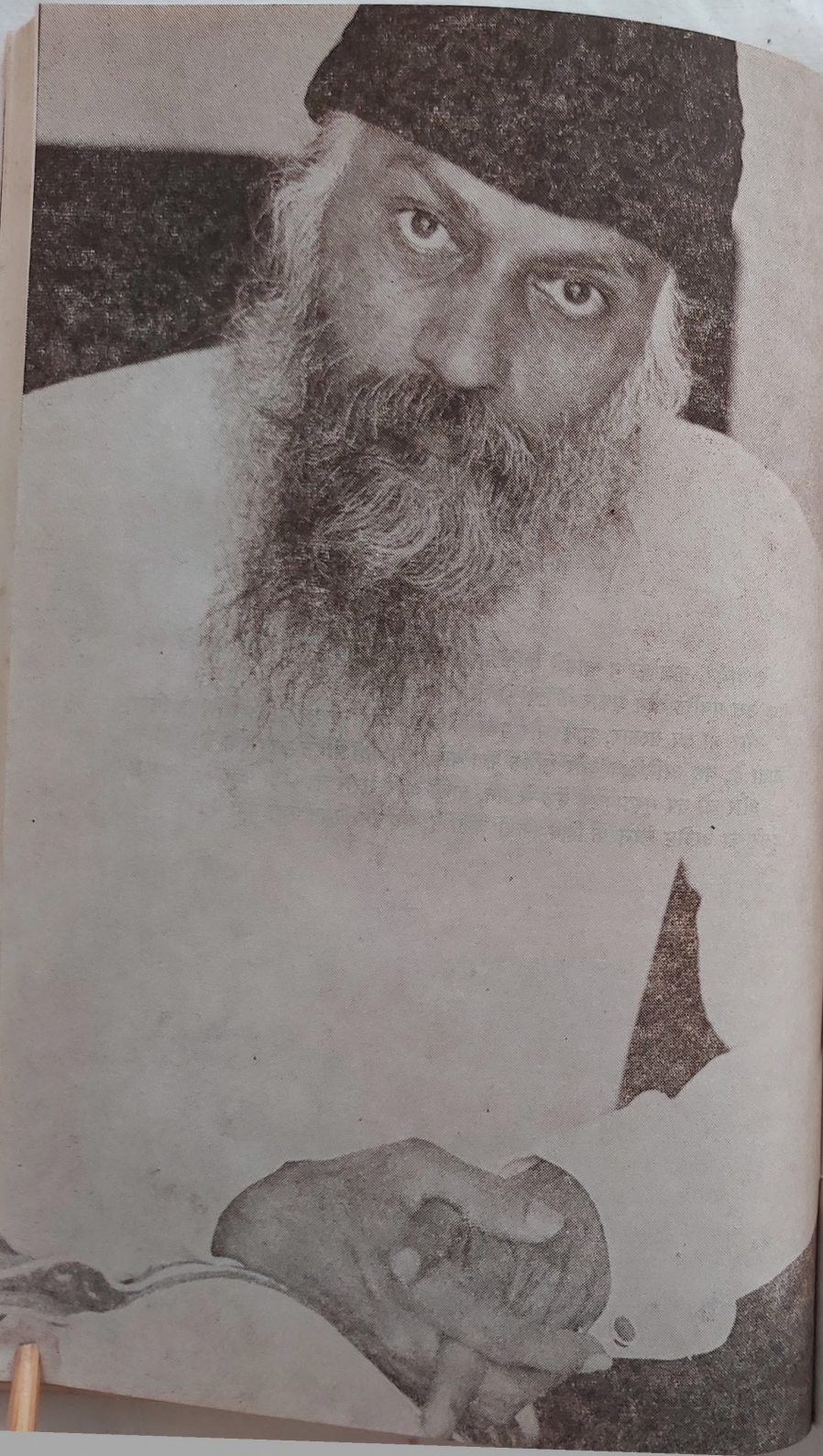
पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : आपने कहा कि हिन्दू मनीषा कभी आत्यंतिक रूप से बुद्धिमान भी और धर्म की परम ऊँचाइयों को छूने में वह सफल हुई। उसके ही परिणाम में देवता, द्विज, गुरु और ज्ञानी हुए, उपनिषद, गीता, धम्मपद और जिन-वाणी हुई। फिर क्या कारण है कि वही जाति हज़ार वर्षों से पतन के महागर्त में गिरी और उसके उठने के कोई आसार नज़र नहीं आते ?

परमात्मा बाहर भी है और भीतर भी। वस्तुतः बाहर और भीतर का भेद अज्ञान-आधारित है। बाहर भी उसी का है, भीतर भी उसी का है; एक ही आकाश व्याप्त है।

लेकिन मन के लिए सदा आसान है चुनाव करना। मन चुनने की कला है। तो या तो मन बाहर देखता है या भीतर। अगर मन दोनों को देख ले तो मन मिट जाता है। दोनों को एक साथ देख लेने वाला व्यक्ति न तो अंतर्मुखी होता है, न बहिर्मुखी।

कार्ल गुस्ताव ज़ुंग ने आदमियों के दो विभाजन किये हैं—अंतर्मुखी (इंट्रोवर्ट) और बहिर्मुखी (ऐक्स्ट्रोवर्ट)।

अंतर्मुखी धीरे-धीरे बाहर से सम्बन्ध छोड़ देता है; बहिर्मुखी धीरे-धीरे अंतर से सम्बन्ध छोड़ देता है—दोनों के जीवन एकांगी हो जाते हैं; जैसे तराजू का एक ही पलड़ा भारी हो जाता है, तो एक जमीन छूने लगता है, एक आकाश में अटक जाता है। चाहिए ऐसा जीवन का तराजू कि कांटा मध्य में सधा रहे—बाहर और भीतर दोनों समान अनुपात में सधें।

यह अब तक नहीं हो पाया। पूरब ने भीतर को साधने में बाहर की उपेक्षा कर दी। वहीं पूरब का पतन हुआ। वहीं भारत गिरा और अब तक नहीं उठ पाया। पश्चिम

ने बाहर को सम्हालने में भीतर खो दिया। दोनों के आकर्षण हैं। दोनों के लाभ हैं। दोनों की हानियाँ हैं।

अंतर्मुखी व्यक्ति शांत हो जाता है; जीवन में तनाव कम ही जाता है, भागदौड़ रुक जाती है। लेकिन अंतर्मुखी व्यक्ति अगर अतिशय से अंतर्मुखता से भर जाए तो धीरे-धीरे दीन हो जाएगा। शांति तो रहेगी, लेकिन दरिद्र हो जाएगा। भीतर तनाव न रहेगा, लेकिन बाहर जीवन की सुख-सुविधा खो जाएगी।

बहिर्मुखी व्यक्ति बाहर तो बड़ा आयोजन कर लेता है, भीतर चिंता से भर जाता है। तो बाहर तो बहुत सुख हो जाएगा, भीतर उसी मात्रा में दुःख संग्रहीत हो जाएगा।

भारत की मनीषा ने बड़े ऊँचे शिखर छुए, लेकिन वे शिखर अंतर्मुखता के थे—अधूरे थे। परमात्मा पूरा न था उनमें।

पश्चिम ने बड़े शिखर छू लिए हैं। पश्चिम के भवन पहली दफा गगनचुंबी हुए हैं, आकाश को छू रहे हैं। बड़ा फैलाव है विज्ञान का। शक्ति बढ़ी है—विनाश की, सृजन की; लेकिन भीतर आदमी बिलकुल ही पीड़ा, ग्लानि, पाप, अंधकार से भरा है। बाहर तो खूब रोशनी हो गई है, बाहर की रात तो करीब-करीब मिट गई है, भीतर की रात अमावस हो गई है—वहाँ चाँद का कोई दर्शन ही नहीं होता, वहाँ तारे भी छिप गए हैं।

और ध्यान रखना कि मन को हमेशा सुविधा है दो में से एक को चुनने में, क्योंकि मन द्वन्द्व है। एक को चुनो, द्वन्द्व जारी रहता है, संघर्ष जारी रहता है। दोनों को एक साथ चुन लो, द्वन्द्व मिट जाता है, अद्वैत फलित हो जाता है।

न तो पश्चिम अद्वैत वादी है और न पूरब। कभी-कभी इक्के-दुक्के लोग अद्वैतवादी हुए हैं; कोई समाज, कोई राष्ट्र अभी तक अद्वैतवादी नहीं हो पाया। जो कहता है कि ब्रह्म ही है और माया नहीं है, वह भी अद्वैतवादी नहीं है। क्योंकि, वह माया को इनकार कर रहा है, एक को इनकार कर रहा है। उसका एक का स्वीकार दूसरे के इनकार पर निर्भर है। और जिसे तुमने इनकार किया है, उसकी कमी खलती रहेगी। कितने ही ज़ोर से इनकार करो, तुम्हारे इनकार करने में भी पता चलता है कि तुम उसे स्वीकार करते हो, अन्यथा क्या जरूरत है कहने की?

सुबह जाग कर तुम दुनिया को थोड़े ही समझाते हो कि रात जो देखा, वह सपना था, झूठा था। लेकिन ब्रह्मज्ञानी समझाए फिरता है कि सब संसार माया है। अगर है ही नहीं तो कृपा करके बंद करो बकवास। किसके संबंध में बता रहे हो? अगर संसार माया है, तो किसको समझा रहे हो? क्योंकि जिसको तुम समझा रहे हो, वही तो संसार है। अगर संसार माया है, तो किसको छोड़ कर जा रहे हो? माया को कोई छोड़ कर जा सकता है? जो है ही नहीं, उसे छोड़ोगे कैसे? सपनों का किसी ने कभी

त्याग किया? सपने जाने जा सकते हैं; त्याग क्या होगा? त्याग कैसे करोगे? कुछ भी तो नहीं है हाथ में, जिसको छोड़ दोगे; सपना है।

लेकिन जिनको तुम ब्रह्मज्ञानी कहते हो, वे माया का त्याग करते हैं, संसार को छोड़ते हैं, और समझाए चले जाते हैं कि सब माया है, सब सपना है। किसको समझाते हैं? लगता है, खुद को समझाते हैं। आधे को छोड़ दिया है, उस की पीड़ा खलती है। वही दुःख प्रवचन बन जाता है। वही दुःख समझाना बन जाता है। वे तुम्हें नहीं समझा रहे हैं, वे अपने को ही समझा रहे हैं, क्योंकि वह आधा माँग कर रहा है कि मुझे स्वीकार करो। उसे उन्हें सदा इनकार करना होता है।

पश्चिम में ठीक उलटी बात चलती है। वह यह है कि पश्चिम के विचारक कहे जाते हैं कि ईश्वर नहीं है। इसमें तुम थोड़ा समझो। वे कहते हैं, 'ईश्वर है ही नहीं; आत्मा है ही नहीं। जो नहीं है, उसके पीछे क्यों पड़े हो? एक दफा कह दिया, बात खत्म हो गई, शांत हो जाओ। और जो नहीं है, उसके न होने को सिद्ध करने के लिये बड़े-बड़े शास्त्र क्यों लिखते हो?

ऐसे लोग हैं, जिनका पूरा जीवन इसी में लग जाता है—सिद्ध करने में कि ईश्वर नहीं है। और वे कोई छोटे-मोटे लोग नहीं, बर्ट्रेंड रसेल जैसे विचारशील लोग, वे भी इसमें लगा देते हैं समय को—कि ईश्वर नहीं है, जैसे यह कोई बहुत महत्त्वपूर्ण बात है! जो है ही नहीं, उसको सिद्ध क्या करना है? उसका मूल्य ही क्या है?

इसे तुम समझोगे तो तुम्हें रहस्य समझ में आ जाएगा। पश्चिम सिद्ध करता है, आत्मा नहीं है, ईश्वर नहीं है; पूरब सिद्ध करता है, संसार नहीं है, बाहर सब माया है। दोनों की तरकीब यह है कि एक बच जाए तो सुविधा हो जाए।

पश्चिम कहता है, भीतर नहीं है, बाहर है। लेकिन बाहर कैसे हो सकता है—बिना भीतर के? तुमने कोई ऐसी चीज देखी, जिसमें बाहर ही हो और भीतर न हो? बाहर के साथ भीतर जुड़ा है, नहीं तो तुम उसे बाहर भी कैसे कहोगे?

हम मकान के बाहर बैठे हैं, क्योंकि मकान का भीतर भी है। अगर भीतर हो ही न, तो इस जगह को तुम मकान के बाहर कहोगे? किस कारण से कहोगे? किस अपेक्षा से कहोगे? भीतर के आधार पर ही कुछ बाहर होता है। अगर सच में ही भीतर कुछ नहीं है, तो बाहर भी कुछ नहीं है। अगर सिद्ध हो जाए कि आत्मा नहीं है, तो सिद्ध हो गया कि संसार भी नहीं है।

और, पूरब में, भारत में लोग सिद्ध किए जाते हैं कि बाहर नहीं है; झूठा है सब। लेकिन भीतर हो कैसे सकता है—बिना बाहर के? ये तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ये तो एक ही सचाई के दो रूप हैं। और ये दोनों रूप अनिवार्य हैं। भीतर मिट जाएगा, अगर बाहर नहीं है।

इसलिए अगर तुम ठीक-ठीक तर्किकों में विचरण करोगे तो भारत में एक बहुत प्रगाढ़ तार्किक हुआ—नागार्जुन। उसने दोनों तर्कों का एक साथ उपयोग किया है। वह कहता है कि बाहर नहीं है, यह तो वेदांतियों ने सिद्ध कर दिया, इसलिए भीतर हो नहीं सकता। क्योंकि भीतर शब्द ही व्यर्थ हो गया, उसमें कोई सार ही न रहा। उसमें सब सार 'बाहर' शब्द से आता था। तो वह कहता है, न बाहर है न भीतर है; कुछ भी नहीं है।

यही बात नास्तिक की तरफ से भी कही जा सकती है कि तुमने सिद्ध कर दिया कि भीतर नहीं है, सिद्ध हो गया कि बाहर भी नहीं है। लेकिन यह निष्पत्ति कि न बाहर है न भीतर है, बड़ी व्यर्थ मालूम पड़ती है। तुम कौन हो फिर? कहाँ हो? किससे बोल रहे हो? कौन बोल रहा है? किसको समझा रहे हो? नींद में बड़बड़ा रहे हो? लेकिन एक बात तो पक्की है कि नींद में बड़बड़ाता हुआ आदमी तो है! नागार्जुन तो है, जो कहता है, 'कुछ भी नहीं है'। यह नागार्जुन बाहर है या भीतर? निश्चित ही भीतर है, और बाहर के लोगों को समझा रहा है।

दोनों हैं, लेकिन दोनों को कोई कभी स्वीकार नहीं कर पाया। क्योंकि, मन दो को साथ स्वीकार करने में बड़ी अड़चन अनुभव करता है। क्योंकि, तब तो एक संतुलन जमाना होगा। उसी संतुलन को मैं संन्यास कहता हूँ।

पूरब का संन्यास डूब गया। ऊँचाइयाँ छुईं उसने। कभी-कभी कोई बुद्ध, महावीर पैदा हुआ। लेकिन यह पूरा समाज तो बुद्ध, महावीर नहीं हो सका। एक बुद्ध के लिए करोड़ों लोग बुद्धू रह गए। यह कोई सौदा करने जैसा नहीं मालूम पड़ता। और कभी कोई एक दो छू लें शिखर, तो वे अपवाद हैं। और उस एक-दो के छूने की वजह से तुम्हें ऐसा लगा कि बिलकुल ठीक है; बस, भीतर को पकड़ लो; आत्मा को पकड़ लो, बाहर को जाने दो। बाहर चला गया। अब तुम रो रहे हो, अब तुम परेशान हो। गुलामी, दरिद्रता, दीनता, बीमारी—सब ने भारत को घेर लिया।

पश्चिम भी कोई एक आइन्स्टीन पैदा कर देता है कभी-कभी—बाहर को जानने वाला। लेकिन उससे भी कोई हल नहीं होता। बहुजन समाज तो तनाव, चिंता से भरा रह जाता है।

क्या यह नहीं हो सकता कि तुम बाहर भीतर को एक साथ स्वीकार कर लो? दोनों हैं; तुम्हारे स्वीकार अस्वीकार करने से कोई भी फर्क नहीं पड़ता; सिर्फ तुम झंझट में पड़ते हो।

ऐसा समझो कि तुम श्वास लेते हो; वह बाहर आती है, भीतर जाती है। तुम अगर जिद कर लो कि हम तो भीतर ही ले जाएँगे, बाहर न जाने देंगे, तो भी तुम मरोगे। या दूसरा आदमी जिद कर ले कि हम भीतर न जाने देंगे, बाहर ही रोक कर रखेंगे; वह भी मरेगा।

पूरब भी मरा, पश्चिम भी मरा, क्योंकि दोनों ने आधे को अंगीकार किया। मैं उसी को साहसी कहता हूँ, जो दोनों को एक साथ स्वीकार कर ले। जो कहे, हम तराजू के दोनों पलड़ों को बराबर रखेंगे। पूरब ने भी गँवाया, पश्चिम ने भी गँवाया। और डर यह है कि जब एक चीज को तुम खो देते हो, तो दूसरी अति पर जाने की आकांक्षा पैदा होती है। जैसे भारत है अब।

अब भारत में किसी को धर्म में बहुत उत्सुकता नहीं है। काफी दुःख झेल लिया धर्म का और काफी परेशानी उठा ली—इस परमात्मा के साथ। और इस आत्मा की खोज में खूब गँवाया। और ध्यान, समाधि बहुत लगाई; न तो रोटी बरसी उससे, न धन उगा, न खेत भरे, न वर्षा हुई। कुछ भी न हुआ।

तो अब तो भारत की मनीषा इंजीनियर होना चाहती है, गणितज्ञ होना चाहती है, वैज्ञानिक होना चाहती है। तो भारत के बेटे पश्चिम जाते हैं—बड़े इंजीनियर, बड़े वैज्ञानिक होने के लिए।

पश्चिम के बेटे भारत आते हैं, संन्यास की तलाश में, ध्यान की खोज में। क्योंकि पश्चिम भी थक गया। बहुत धन हुआ, बहुत विज्ञान हुआ, कुछ सार न पाया; सब व्यर्थ लगता है।

बड़ी अनूठी घटना घट रही है : पश्चिम पूरब जैसा होता जा रहा है, पूरब पश्चिम जैसा होता जा रहा है। धीरे-धीरे पूरब तो कम्युनिस्ट होता जा रहा है; करीब-करीब हो चुका है। एशिया करीब-करीब कम्युनिस्ट हो चुका है। जो नहीं हैं कम्युनिस्ट, वे भी अधूरे हैं। उनका भी ज्यादा देर भरोसा नहीं है। कब साँस टूट जाएगी, कुछ पक्का नहीं है।

पूरब तो कम्युनिस्ट हो रहा है।

कम्युनिस्ट है—बहिर्वाद—आत्यंतिक बहिर्वाद। न कोई आत्मा है, न कोई ईश्वर है; सिर्फ पदार्थ है—और पदार्थ का भोग है। इस पदार्थ को हम सामूहिक रूप से भोग लें, साथ-साथ भोग लें; समाप्ति है। जन्म के साथ शुरुआत है, मृत्यु के साथ अंत है; बीच के थोड़े से दिन हैं; उनको चाहे दुःख में बिता लो, चाहे सुख में। थोड़ी सुविधा हम बना लें, ठीक से भोजन मिल जाय, कपड़े हों, छप्पर हों। बात समाप्त है।

पूरब कम्युनिस्ट हो रहा है और पश्चिम में व्यापक रूप से ध्यान की महिमा बढ़ती जाती है। क्या कारण होगा?

जब तुम एक चीज से काफी परेशान हो जाते हो, तो तुम दूसरी अति पर जाने लगते हो। जो आदमी ज्यादा भोजन कर लेता है, वह उपवास करता है। थक गया। जो आदमी ज्यादा भोग लेता है, वह ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेता है। लेकिन मध्य में रुकना कला है। थकने से कोई निर्णय मत लेना। क्योंकि फिर तुम वही भूल करोगे, जो तुमने पहले की थी।

पहली भी भूल यही थी कि आधे को चुना था। अब आधे से घबड़ा गये, तो दूसरा आधा तुम्हें बहुत महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ रहा है; इतना महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ रहा है कि यह खतरा है कि तुम पहले आधे को छोड़ कर दूसरे को पकड़ लोगे।

ऐसी है तुम्हारी हालत, जैसे एक पैर से चलने की कोशिश की है और न चल पाये; गिरे, लंगड़ाये, चोट खाई, तो धीरे-धीरे दूसरे पैर की जरूरत मालूम होने लगी। वह जरूरत इतनी ज्यादा मालूम होने लगी, इतने ज्यादा तुम आविष्ट हो गये उस जरूरत से, कि तुमने पहले पैर को छोड़ ही दिया कि यह तो फिजूल है। वह दूसरा पैर ही असली है। अब तुम दूसरे से चलने की कोशिश करोगे। फिर तुम लंगड़ाओगे; फिर तुम गिरोगे।

दोनों पैर चाहिए। दोनों पंख चाहिए। दोनों आँख चाहिए, दोनों कान चाहिए। द्वन्द्व पूरा का पूरा तुम अंगीकार कर लो, तो निर्द्वन्द्व तो जाते हो।

अगर तुम बाहर भी जीओ, भीतर भी जीओ; बाहर भीतर का भेद ही छोड़ दो, तो तुम न पूरब के रह जाते, न पश्चिम के। ठीक अर्थों में तुम पहली दफा समग्र मनुष्यता के अंग बनते हो। पहली बार तुम समग्र बनते हो। और समग्रता सबसे बड़ी मनीषा है।

पूरब भी चूका, पश्चिम भी चूका है। और अभी मौका है; क्योंकि बदलाहट हो रही है। अच्छा हो कि इस बदलाहट के क्षण में समझ आ जाय। बड़ा कठिन दीखता है।

पश्चिम को समझना मुश्किल है कि विज्ञान को नष्ट मत करो अन्यथा तुम पछताओगे, हम पछता रहे हैं। नहीं समझ में आता!

पश्चिम के जवान लड़के विज्ञान में बिलकुल उत्सुक नहीं हैं। विज्ञान दुश्मन मालूम पड़ता है। विज्ञान का अर्थ मालूम पड़ता है : हिरोशिमा, नागासाकी। विज्ञान का अर्थ मालूम होता है : मरती हुई प्रकृति, मरते हुए पक्षी, मरती हुई झीलें, मरता हुआ सागर। विज्ञान का अर्थ मालूम होता है : एक भयंकर दानव है—टेकनॉलॉजी का, वह आदमी को कैसे जा रहा है।

बर्कले विश्वविद्यालय में पिछले वर्ष लड़कों ने, जैसे तुम होली जलाते हो—होलिका को जलाते हो, वैसा उन्होंने रॉल्सरॉयस को जलाया। नई गाड़ी को चंदा करके खरीदा और बर्कले विश्वविद्यालय के प्रांगण में रख कर नई गाड़ी की होली की; प्रतीक की तरह जलाया कि यह प्रतीक है टेकनॉलॉजी का। हम टेकनॉलॉजी के दुश्मन हैं।

इसलिए हिप्पी पैदा हो रहा है पश्चिम में। हिप्पी का मतलब है : जो विज्ञान के विरोध में है। जो साबुन का उपयोग नहीं करता, क्योंकि वह अप्राकृतिक है। जो तेल नहीं डालता, क्योंकि वह तो सब बाहर का रंग-रोगन है। जो नियम-नीति नहीं

मानता, क्योंकि बहुत मान लिया, कुछ सार न पाया। जो विश्वविद्यालय पढ़ने नहीं जाता, क्योंकि जो पढ़ लिए, उन्होंने क्या किया? बरबाद कर दिया!

विज्ञान में उसकी उत्सुकता नहीं है। बिजली में उसको रस नहीं है। वह चाहता है, कहीं किसी जंगल के एक झोपड़े में, रात के अँधेरे में सोये—दीया भी जलाये न।

पश्चिम में हिप्पी पैदा हो रहा है। हिप्पी का अर्थ है : बाहर से बगावत—भीतर की खोज।

पूरब में ठीक उलटी घटना घट रही है। पूरब का लड़का इंजीनियर, डॉक्टर बनना चाहता है और पूरब के हर लड़के की आकांक्षा है कि पश्चिम जाकर बड़ी डिग्रियाँ लेकर लौटे, और टेकनॉलॉजी सीख के लौटे। और यंत्रों को जान ले। और नये यंत्र बनाये! खेती को वैज्ञानिक ढंग से किया जाय। हर चीज वैज्ञानिक हो, ताकि प्रचुरता से उपलब्ध हो सके। हम काफी दीन रह लिए, दुःखी हो लिए।

मैं पश्चिम से कहता हूँ कि विज्ञान को छोड़ा कि तुम हजार दो हजार साल में भारत जैसी दीनता को पहुँच जाओगे। भूखे मरोगे। आज तुम्हें जो सम्पन्नता दिखाई पड़ रही है—पश्चिम में, वह प्रकृति से आई हुई संपन्नता नहीं है, वह विज्ञान ने दी है; वह बाहर जीने की कला से आई है।

आज तुम्हें पूरब में जो दरिद्रता दिखाई पड़ती है, वह उसी भूल से आई है, जो तुम पश्चिम में कर सकते हो, कि हमने कह दिया, सब बेकार है; बाहर तो कुछ सार नहीं। जब माया ही है तो कौन फिक्र करे? कौन प्रयोगशाला बनाये? कौन खोज करे? क्या लेना-देना है? सपने में कोई ज्यादा रस ही नहीं है। भीतर जाओ, अंतर्मुखी हो जाओ। हम ने होकर देख लिया है।

और मैं पूरब के लोगों से भी कहना चाहता हूँ कि पश्चिम के लोगों को समझो। उन्होंने विज्ञान का खूब विस्तार करके देख लिया है और वे थक गये हैं, घबड़ा गये हैं। जिंदगी नष्ट हो गई। टेकनॉलॉजी बड़ी हो गई, आदमी छोटा हो गया। टेकनॉलॉजी इतनी बड़ी होती जा रही है कि आदमी उसमें सिकुड़ता ही जाता है, खोता जाता है।

यंत्र ही सब चला रहे हैं, यंत्र ही मालिक हो गये हैं। हर चीज यंत्र से पूछी जा रही है। अब तो कम्प्यूटर पैदा हो गये हैं, तो अब तो तुम्हें कोई जरूरी सवाल भी पूछना है, निर्णय भी करना है, तो वह भी आदमी से पूछना ठीक नहीं है, कम्प्यूटर से पूछना ठीक है। क्योंकि आदमी से भूल हो सकती है, कम्प्यूटर से भूल नहीं होती। कम्प्यूटर तुम्हें बता देगा कि इस स्त्री से विवाह करना उचित है या नहीं। तुम दोनों अपने-अपने जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा कम्प्यूटर को दे दो, वह हिसाब लगा कर बता देगा कि इस स्त्री के साथ तुम्हारी कैसी जिंदगी रहेगी। साथ रहोगे, तो कितना झगड़ा

होगा, कितना मेल होगा, कितनी कलह रहेगी। जो ज्योतिषी कभी नहीं कर पाए, वह कम्प्यूटर आसानी से कर देता है। क्योंकि दोनों के गुणों को वह पहले समझ लेता है, फिर दोनों के गुणों का पूरा गणित लगा देता है। वह कह देता है कि साठ प्रतिशत सफलता होगी, चालीस प्रतिशत असफलता होगी। अगर चालीस प्रतिशत असफल होने की राजी हो, तो इस स्त्री से शादी कर लो अन्यथा दूसरी स्त्री खोजो।

सभी चीजें धीरे-धीरे यंत्र के हाथ में चली गई हैं।

पश्चिम ने कर के देख लिया, थक गया; तुम भी कर के देख लिए, तुम भी थक गए। अब डर यह है कि तुम वह चुन लो, जो भूल पश्चिम ने की थी। और पश्चिम वह चुन ले, तो भूल तुमने की थी। और फिर चक्कर शुरू हो जाय।

इसलिए मेरा एक अभिनव प्रयास है; वह सभी सम्भावनाओं के ऊपर देखने की चेष्टा है; बड़ा आशावादी भाव है वह। वह भाव यह है कि मनुष्य दोनों में एक साथ जी सकता है; क्योंकि दोनों दो नहीं हैं। अगर वे दो होते, तब तो जी ही नहीं सकता था।

कहाँ बाहर शुरू होता है, कहाँ भीतर शुरू होता है? भोजन तुम करते हो, बाहर से भीतर डालते हो; फिर भोजन पचता है, खून-मांस-मज्जा बनता है; भीतर हो गया। न केवल भोजन पच कर 'भीतर' बन जाता है, फिर भोजन की ही सूक्ष्म ऊर्जा उठती है और विचार बनती है, सपने बनती है; कविता का जन्म होता है।

कविता को तो बाहर न कहोगे! प्रेम को तो बाहर न कहोगे! जब तुम किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाते हो, तो तुम कहोगे, यह भीतर से आ रहा है, कि बाहर से? इसे तो भीतर कहोगे? लेकिन 'भूखे भजन न होंहि गुपाला'—भजन भी पैदा नहीं होता भूखे को, तो प्रेम कैसे पैदा होगा?

वह भी भोजन की ही सूक्ष्म ऊर्जा है, जो प्रेम बनती है, भजन बनती है। इसलिए तो उपनिषदों ने कहाः अन्न ब्रह्म है। बड़े गहरे लोग रहे होंगे। अन्न और ब्रह्म को जोड़ दिया। बाहर और भीतर को एक कर कर दिया। क्या बचा? अन्न तो छोटी से छोटी चीज है। और ब्रह्म बड़ी से बड़ी चीज है। लेकिन उपनिषदों ने कहाः 'अन्नम् ब्रह्म—अन्न ब्रह्म है।' छोटे से छोटा, बड़े से बड़ा है। बाहर से बाहर भी, भीतर से भीतर है। भीतर से भीतर भी, बाहर से बाहर है।

जब तुम क्रोध से भरते हो, तो उठाकर एक पत्थर किसी के सिर में मार देते हो। पत्थर बाहर है, क्रोध भीतर है। जिस आदमी का सिर टूट जाता है, वह भी बाहर है। खून बहता है, वह भीतर से आता है। उसके भीतर भी क्रोध पैदा होता है, वह भीतर है।

सब संयुक्त है। बाहर और भीतर विभाजित नहीं हैं। जिस दिन तुम्हें यह खयाल

आ जाय, उस दिन तुम्हारे जीवन में बड़ी समझ पैदा होगी। तब तुम एक को पकड़ कर जीने की कोशिश छोड़ दोगे।

उस एकांगी चेष्टा से ही गृहस्थ पैदा होता है और पुराना संन्यासी पैदा होता है। लेकिन तुमने कभी खयाल नहीं किया कि वह संन्यासी भी गृहस्थ को छोड़ कर जा नहीं सकता। भोजन के लिए, वस्त्र के लिए, गृहस्थ पर निर्भर रहना पड़ता है। और गृहस्थ भी संन्यासी को छोड़ कर नहीं जा सकता। प्रवचन सुनने के लिए—जब पत्नी से झगड़ा हो जाय, तो थोड़ी सांत्वना के लिए; जब घर में बहुत उपद्रव मचे तो थोड़ी शांति के लिए, वह संन्यासी के द्वार पर खड़ा रहता है।

बाहर के लिए संन्यासी गृहस्थ के द्वार पर खड़ा रहता है; भीतर के लिए गृहस्थ संन्यासी के द्वार पर खड़ा रहता है।

शांति चाहिए, तो जाओ—संन्यासी को खोजो। ध्यान चाहिए तो संन्यासी को खोजो। और संन्यासी को भूख लगती है, तो चला गृहस्थ की खोज में। फिर भी तुम्हें दिखाई न पड़ा कि संन्यासी और गृहस्थ आधे-आधे हैं; ये पूरे नहीं हैं। और पूरा मनुष्य ही तृप्त होता है। पूर्णता ही तृप्ति है।

और पूर्णता का एक ही उपाय मैं जानता हूँ, (दूसरा उपाय है भी नहीं।) और वह पूर्णता यह है कि तुम संन्यासी और गृहस्थ एक साथ हो जाओ। तुम रोटी अपने ही गृहस्थ से माँग लो, दूसरे गृहस्थ से माँगने की क्या जरूरत है? जो तुम ही कर सकते हो, उसके लिए दूसरे के द्वार पर जाने की क्या जरूरत है? और शांति भी तुम अपनी ही साध लो, किसी से क्या माँगना है। दोनों तुम्हारे भीतर उपलब्ध हैं, तुम व्यर्थ ही भिखारी बन जाते हो।

बँटे हुए संन्यासी भी भिखारी हो जाते हैं। गृहस्थ भी भिखारी हो जाता है। अनबँटे, अखण्ड—तुम दोनों हो जाते हो।

दोनों जो एक साथ है, वही अद्वैत को उपलब्ध है।

भारत की मनीषा ने बहुत कुछ पाया, लेकिन वह एकांगी थी; इसीलिए दुःख उत्पन्न हुआ। पश्चिम ने भी बहुत पाया है; वह भी एकांगी है। और मेरे लिए सवाल न तो बाहर की खोज का है, न भीतर का! मेरे लिए एकांगी होना रोग है।

तो तुम किस ढंग से एकांगी हो, इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता; तुम दीन रहोगे। दोनों को साध लो। और अड़चन जरा भी नहीं है।

कई लोग मुझसे आकर पूछते हैं कि दोनों को कैसे साधें। तुम कभी मुझसे नहीं पूछते कि दोनों श्वास कैसे चलती हैं, दोनों पैर कैसे चलते हैं? सिर्फ इसी के लिये तुम क्यों पूछते हो! क्योंकि हजारों साल से तुम को यही सिखाया गया है कि दोनों में द्वंद्व है।

दोनों में द्वन्द्व है ही नहीं। साधना है ही नहीं। वे दोनों सधे ही हुए हैं—कृपा करके इतना समझ लो। सधे ही हुए हैं, नहीं तो तुम जी ही नहीं सकते।

प्रतिपल बाहर से भीतर जा रही है ऊर्जा, भीतर से बाहर आ रही है। तुम तो बाहर और भीतर के मिलन हो, द्वार हो—जहाँ से आकाश भीतर बन रहा है और पुराना आकाश, जो जराजीर्ण हो गया, बाहर जा रहा है। नया आकाश भीतर आ रहा है, पुराना आकाश बाहर जा रहा है।

नया भोजन तुम भीतर ले रहे हो, पुराना मल-मूत्र होकर बाहर जा रहा है। कल उसे बाहर से ही लिया था, अब फिर वापस जा रहा है। नया बच्चा पैदा हो रहा है, बूढ़ा आदमी मर रहा है। नया बच्चा बाहर आ रहा है, बूढ़ा आदमी कब्र में जा रहा है। कुछ और नहीं है; सिर्फ बाहर और भीतर का संतुलन है। बूढ़ा चुक गया; उसने बाहर से जो-जो लेना था, ले लिया; अब सब वापस लौटना है। प्रतिपल ऐसा हो रहा है।

श्वास भीतर आ रही है, बाहर जा रही है। भीतर आती है, तब ऑक्सीजन से भरी हुई आती है; भीतर ऑक्सीजन तो तुम्हारे खून में मिल जाती है, तुम्हारा प्राण बन जाती है। कार्बन डाय ऑक्साइड शेष रह जाता है, वह बाहर जा रहा है। उसकी बाहर को जरूरत है।

ये जो वृक्ष खड़े हैं, ये कार्बन डाय ऑक्साईड पीने के लिए तुम्हारे पास खड़े हैं। ये वृक्ष कार्बन डाय ऑक्साईड को पी जाते हैं। इसलिए तो तुम जब वृक्ष को जलाते हो, तो कोयला पैदा होता है। कोयला यानी कार्बन। और वृक्ष ऑक्सीजन को छोड़ रहे हैं। उनकी श्वास का ढंग भिन्न है। वे कार्बन को पीते हैं और ऑक्सीजन को छोड़ते है। तुम ऑक्सीजन पीते हो और कार्बन को छोड़ते हो।

बिना वृक्षों के तुम जिंदा न रह सकोगे। इसलिए पश्चिम में बड़ा आन्दोलन इकॉलॉजी का चल रहा है कि वृक्ष मत काटो, नये वृक्ष लगाओ। क्योंकि वृक्ष अगर सब कट गए, तो आदमी मर जाएगा।

तुमने कभी सोचा ही नहीं कि वृक्ष से तुम्हारी जिंदगी जुड़ी है। वह बाहर है, लेकिन एक क्षण को बिना वृक्ष के तुम नहीं रह सकते। वृक्ष तो चाहिए ही। वह शुद्ध कर रहा है, हवा को, तुम्हारे लिए। तुम उसके लिए कार्बन डाय ऑक्साईड तैयार कर रहे हो। तुम एक ही बड़े यंत्र के दो हिस्से हो।

तुम्हारे बिना वृक्ष भी मुश्किल में पड़ेगा। अगर सारे पशु-पक्षी और मनुष्य मर जायँ, तो वृक्ष सूख जाएँगे। क्योंकि कौन उन्हें कार्बन डाय ऑक्साईड देगा? अगर सब वृक्ष काट डाले जायँ, आदमी, पशु-पक्षी—सब मर जाएँगे। कौन उन्हें ऑक्सीजन देगा?

किसे तुम बाहर कहते हो, किसे तुम भीतर कहते हो? कैसे तुम बाँटते हो? इसलिए मुझसे जब कोई पूछता है, तो मैं बड़ी अड़चन में पड़ता हूँ।

मुझसे कोई पूछता है, 'कैसे साधें?' मैं उससे पूछता हूँ, 'इसकी फिक्र ही छोड़ो। तुम देखो कि कैसा सधा हुआ है। तुम कृपा करके अड़चन न डालो। तराजू बिलकुल सधा हुआ है। अगर तुमने कृपा की और समझपूर्वक बाधा न डाली, हस्तक्षेप न किया, तो सब सधा ही हुआ है।'

इसलिए सम्यक् बोध जीवन का—संन्यास है। वहाँ तुम पाओगे दोनों जुड़े हैं।

भोजन लेते हो। भोजन बाहर है; भूख भीतर है। दोनों के बीच बड़ा संतुलन है। दोनों के बीच गहरा संतुलन है। भूख का अर्थ है : भोजन की माँग; बाहर की माँग—भीतर से। फिर जब तुमने कर लिया, भूख विदा हो गई। जब भोजन मिल गया, तो भूख की कोई जरूरत न रही, माँग न रही। अब भोजन भीतर बदलने लगा। अब भोजन तुम्हारे भीतर का हिस्सा होने लगा।

अगर तुम चाहो तो महीने दो महीने भूखे रह सकते हो। वह भी तुम इसीलिए भूखे रह सकते हो कि अतीत में तुमने भोजन किया था।

उपवास भी भोजन पर निर्भर है। अगर तुम अतीत में भी भूखे रहे हो, तो उपवास न कर सकोगे। कुछ आश्चर्य नहीं है कि महावीर महीनों उपवास कर सके। राजपुत्र थे। शुद्धतम्, श्रेष्ठतम, शक्तिशाली भोजन जीवन भर उपलब्ध हुआ था। अगर महावीर की नकल कोई गरीब आदमी करेगा तो मरेगा। वह जो जीवन भर पौष्टिक आहार उपलब्ध हुआ था, उसके आधार पर उपवास हो रहा है। क्योंकि उपवास के लिए जरूरी है कि तुम्हारे शरीर में चर्बी इकट्ठी हो। चर्बी का मतलब है—संग्रहीत भोजन, जो तुमने वक्त-बेवक्त के लिए इकट्ठा कर रखा है।

तो हर आदमी, अगर ठीक स्वस्थ हो, तो तीन महीने तक के लिए भोजन इकट्ठा रखता है शरीर में—वक्त-बेवक्त के लिए। कभी जंगल में भटक गए और भोजन न मिला; कोई मुसीबत आ गई, भोजन न मिला; कोई बीमारी हो गई, भोजन न कर सके; तो तीन महीने तक इमर्जेन्सि, संकटकालीन व्यवस्था है—कि तीन महीने तक तुम्हें शरीर ही भोजन देता रहेगा। लेकिन वह भोजन भी बाहर से आया है।

अब यह बड़े मजे की बात है। लोग समझते हैं : उपवास भीतर है और भोजन बाहर है। लेकिन बिना भोजन के उपवास नहीं हो सकता। और उलटी बात भी सच है कि बिना उपवास के भोजन नहीं हो सकता। इसलिए हर दो भोजन के बीच में आठ घंटे का उपवास करना पड़ता है। वह जो आठ घंटे का उपवास है, वह फिर भोजन की तैयारी पैदा कर देता है। इसलिए अगर तुम दिन भर खाते रहोगे, तो भूख भी मर जाएगी, भोजन का मजा भी चला जाएगा। भोजन का मजा भूख में है।

यह तो बड़ी उलटी बात हुई कि भोजन का मजा भूख में है। जितनी प्रगाढ़ भूख लगती है, उतना ही भोजन का रस आता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि ध्यान का रस विचार में है। तुमने जितना विचार कर लिया होता, उतनी ही ध्यान की आकांक्षा पैदा होती। इसका तो अर्थ हुआ कि ब्रह्मचर्य की जड़ें काम-वासना में हैं—कि तुमने जितना काम भोग लिया होता, उतने ब्रह्मचर्य के फूल तुम्हारे जीवन में खिलते।

ये मेरी बातें तुम्हें उलट-बासियाँ लगेंगी; क्योंकि जिन्होंने तुम्हें समझाया है अब तक, उन्होंने खण्ड करके समझाया है। उन्होंने कहा, 'काम-वासना ब्रह्मचर्य के विपरीत है।' उन्होंने कहा, 'संसार संन्यास के विपरीत है।' उन्होंने हर चीज के बीच द्वन्द्व और संघर्ष और कलह पैदा कर दी। ये जो कलह पैदा करने वाले लोग हैं, इनको तुम गुरु समझ रहे हो। यही तुम्हें भटकाए हैं।

मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे जीवन में अकलह हो जाय, एक संवाद छिड़ जाय, संगीत बजने लगे। अलग-अलग स्वर न रह जायँ, सब एक संगीत में समवेत हो जायँ। तुम्हारे भीतर एक कोरस का जन्म हो, जिसमें सभी जीवन की तरंगें संयुक्त हों। बाहर और भीतर मिले—शरीर और आत्मा मिले, परमात्मा और प्रकृति मिले।

इसलिए कबीर कह सके कि वे ही बिरले योगी हैं—'जे धरनी महारस चाखा'। विरले योगी वे ही हैं। परमात्मा का जिन्होंने अकेले रस चखा, वे कोई बहुत विरले योगी नहीं है। अधूरे हैं, आधे हैं। पूरे तो वे ही हैं--जे धरनी महारस चाखा—जिन्होंने धरती के महारस को भी चखा। परमात्मा को तो पीया ही, धरती को भी पीया; आत्मा को तो जाना ही, पदार्थ को भी जाना। भीतर तो मुड़े ही, बाहर के विपरीत नहीं; बाहर के सहारे मुड़े। भीतर गये और बाहर की नाव पर गये। उनको कबीर ने कहा—विरले योगी।

उन्हीं विरले योगियों से संसार उस शांति को उपलब्ध होगा, जो पूरब जानता है। और उस सुख को उपलब्ध होगा, जो पश्चिम जानता है, और जहाँ सुख और शांति के पल्ले बराबर हो जाते हैं, वहीं जीवन में संयम पैदा होता है। संयम यानी संतुलन।

पूरब भी असंयमी है और पश्चिम भी असंयमी है। इसलिए दोनों दुःखी है। असंयम दुःख है। संयम महासुख है।

● दूसरा प्रश्न : आपने कहा है कि झुकना एक महाघटना का सूत्रपात है। क्या खड़े रहना, अकड़े रहना, किसी महा अनुभव पर नहीं ले जाता?

ले जाता है। वही—झुकने पर ले जाता है। अकड़े रहो, खड़े रहो—झुकोगे—जब अकड़ से थक जाओगे, परेशान हो जाओगे। कितनी देर अकड़े खड़े रह सकते हो? विश्राम तो करोगे? अकड़ की पीड़ा, संताप, दुःख—आत्यंतिक रूप से झुकने की तरफ ले जाता है, विनम्रता की तरफ ले जाता है।

अहंकार का आखिरी कदम निरअहंकारिता है। कब तक अहंकारी बने रहोगे? जब पत्थर की तरह सिर पर अहंकार बोझिल हो जाएगा, छाती में हृदय को धड़कने न देगा, प्रेम को मार डालेगा, ध्यान का उपाय न छोड़ेगा, शांति का सुराग भी न मिलने देगा, अशांति का दावानल जलेगा, भीतर तुम लपटें ही लपटें हो जाओगे, जलोगे ही, दग्ध ही होओगे और कभी कोई वर्षा न होगी, तब क्या करोगे? तब एक क्षण में छोड़ कर—इस अहंकार को—तुम झुक जाओगे।

इसलिए कुनकुने अहंकारी खतरनाक हैं। थोड़े-थोड़े अहंकारी, थोड़े-थोड़े विनम्र—ये खतरनाक लोग हैं। ये कभी धर्म को उपलब्ध नहीं होते। ये कुनकुने पानी की तरह हैं; कभी भाप नहीं बनते। ये सौ डिग्री पर ही नहीं पहुँचते, तो भाप कैसे बनेंगे? न तो शीतल हो पाते हैं, क्योंकि अहंकार इनको गरमाए रखता है। और न इतने गरम हो पाते, क्योंकि झूठी सज्जनता, विनम्रता, आचरण, व्यवहार, कुशलता—वह इनको शीतल बनाये रखती है। न गरम हो पाते, न ठीक शीतल हो पाते। दोनों के बीच सड़ते हैं।

अगर तुम अहंकार के ही पीछे लगे रहो, तो आज नहीं कल निरअहंकार बटेगा। इसलिए मेरी दृष्टि में हर बच्चे को अहंकार की शिक्षा दी जानी चाहिए, ताकि कहीं वह कुनकुना न रह जाय। उसे अहंकार की खूब प्रगाढ़ शिक्षा दी जानी चाहिए, ताकि आज नहीं कल अहंकार का दंश इतना भयंकर हो उठे कि वह अपने अनुभव से ही अहंकार छोड़ दे और निरअहंकारिता की तरफ यात्रा करे।

किसी बच्चे को मत सिखाओ कि विनम्र हो जाओ। विनम्रता कोई सिखा नहीं सकता, वह स्वानुभव से आती है। तुम तो सिखाओ—अहंकार। अहंकार को इतना प्रगाढ़ और निखरा हुआ कर दो बच्चे में कि वह तलवार की धार हो जाय; खुद को ही काटने लगे। और तब तुम पाओगे बच्चा एक दिन खुद ही अपने अनुभव से प्रौढ़ हो गया है।

इधर मेरे अनुभव में रोज यह बात आती है। पश्चिम का मनोविज्ञान अहंकार पर जोर देता है। वह कहता है : स्वस्थ आदमी को सघनीभूत अहंकार चाहिए। और पूरब का धर्म जोर देता है कि परम स्वास्थ्य के लिए निरअहंकारिता चाहिए। ये विपरीत मालूम पड़ते हैं; ये विपरीत नहीं हैं। और मेरे अनुभव में बड़ी अनूठी बात आती है। जब कोई पूरब के आदमी मेरे पास आते हैं, पश्चिम से आदमी मेरे पास आते हैं। जब कोई भारतीय आता है, तो वह पैर ऐसे ही छू लेता है। उसमें कोई विनम्रता नहीं होती। छू रहा है, आदत वश छू लेता है। और उसके चेहरे पर कुछ नहीं दिखाई पड़ता। छूने में कोई भाव सदा से छूता रहा है, एक औपचारिक नियम है, एक कर्तव्य है। छूने में कोई भाव नहीं है, कोई श्रद्धा नहीं है, न कोई निरअहंकारिता है।

पश्चिम का आदमी आता है; छूने में बड़ी कठिनाई पाता है; पैर छूना उसे बड़ा मुश्किल मालूम पड़ता है। वह उसकी शिक्षा का अंग नहीं है। उसे बड़ी कठिनाई होती है। ध्यान करता है; सोचता है, विचार करता है; अनुभव करता है, तब किसी दिन पैर छूने आता है। लेकिन तब पैर छूने में अर्थ होता है।

पूरब का आदमी पैर छू लेता है सरलता से, लेकिन उस सरलता में गहराई नहीं है, उथलापन है। पश्चिम के आदमी के लिए बड़ा कठिन है पैर छूना, लेकिन जब छूता है, तो उसमें अर्थ है। क्या कारण है?

पश्चिम में विनम्रता सिखाई नहीं जाती, स्वस्थ अहंकार सिखाया जाता है। और मेरी अपनी धारणा है कि दोनों सही हैं। पहले कदम पर स्वस्थ अहंकार सिखाया जाना चाहिए, ताकि दूसरे कदम पर विनम्रता की शिक्षा संभव हो सके।

पश्चिम यात्रा की शुरुआत करता है और पूरब में यात्रा का अंत है।

और यही सब चीजों के संबंध में सही है। पहले विज्ञान सिखाया जाना चाहिए, क्योंकि वह यात्रा का प्रारंभ है, फिर धर्म, क्योंकि वह यात्रा का अंत है। पहले विचार करना सिखाया जाना चाहिए—प्रशिक्षण विचार का, फिर ध्यान; क्योंकि वह निर्विचार है। वह अंतिम बात है।

पश्चिम में जो हो रहा है, वह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के प्राथमिक चरण में होना चाहिए। और जो पूरब की आकांक्षा है, वह प्रत्येक व्यक्ति के अंतिम चरण में होना चाहिए।

पैंतीस वर्ष का जीवन पश्चिम जैसा—और पैंतीस वर्ष का आखिरी जीवन पूरब जैसा, तो तुम्हारे भीतर सम्यक् संयोग फलित होगा।

● तीसरा प्रश्न : सद्गुरुओं की लीलाएँ अलग-अलग क्यों हैं?

क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग है, और प्रत्येक व्यक्ति अनूठा, अद्वितीय है, बेजोड़ है।

तुम भी बेजोड़ हो तो सद्गुरुओं का तो कहना ही क्या!

तुम भी दूसरे जैसे नहीं हो; तुम्हारे जैसा कोई आदमी कहीं नहीं है। जैसे तुम्हारे अंगूठे का चिह्न अलग है, और दुनिया में किसी दूसरे का वैसा चिह्न नहीं है—न मौजूद किसी का, न अतीत में कोई हुआ—उसका, न भविष्य में कोई होगा—उसका। जब अंगूठा तक इतना अलग है, तो आत्मा का तो क्या कहना? तुम्हारी आत्मा का हस्ताक्षर बिलकुल अलग है; वैसा कभी किसी ने नहीं किया, कभी कोई नहीं करेगा।

यह तो साधारण जन की बात है, जो जमीन पर जीते हैं—भीड़ में जीते हैं, अनुकरण में जीते हैं, वे भी भिन्न-भिन्न हैं।

तुमने कभी एक जैसे दो आदमी देखे? दो जुड़वा भाई भी एक जैसे नहीं होते; अगर तुम निरीक्षण करो, तो फर्क पाओगे। शरीर शास्त्री कहते हैं कि यह कोई बाद में फर्क हो जाता है, ऐसा भी नहीं। दो बच्चे भी माँ के पेट में एक जैसे नहीं रहते। कोई टाँगें फटकारता है, कोई बिलकुल शांत रहता है, कोई उपद्रव मचाता है। वह पहले ही से कोई क्रांतिकारी है, वह पैदा होते ही से, कोई विप्लव खड़ा करने की तैयारी कर रहा है। कोई बिलकुल शांत रहता है, माँ के पेट को पता ही नहीं चलता, हलन-चलन भी नहीं होती। वह कभी-कभी चौंकती भी है कि बच्चा जिंदा है या मरा! वह पहले ही से साधु है!

डॉक्टरों का अनुभव है—जो बच्चों को जन्म दिलवाते हैं—कि बच्चे पैदा होते से ही अलग-अलग होते हैं। कोई बच्चा पैदा होते से ही बड़ी शांति का भाव प्रकट करता है। कोई बच्चा पैदा होते से ही भयंकर चीख-पुकार मचाता है। कोई बच्चा पैदा होते ही आँख खोलता है, लोगों को गौर से देखता है। कोई बच्चा आँख बंद किए पड़ा रहता है।—एक उदासी; कोई उत्सुकता नहीं। कोई बच्चा पहले से ही गोबर-गणेश होता है; पड़ जाता है। कोई बच्चा पहले ही से चारों तरफ सजग होकर सारी दुनिया को जानने को उत्सुक हो जाता है। यात्रा शुरू हो गई।

दो बच्चे एक जैसे जन्म के क्षण में भी नहीं होते। माँ के गर्भ में भी नहीं होते।

यह तो भीड़ में रहने वाले लोगों का जीवन है, जहाँ अनुकरण नियम है; जहाँ वैसे ही कपड़े पहनो, जैसे दूसरे पहनते हैं। वैसे ही बाल कटाओ, जैसे दूसरे कटाते हैं। नहीं तो तुम कुछ विचित्र समझे जाओगे और लोग उसको अच्छा न मानेंगे। लोग समझेंगे कि तुम उनकी आलोचना कर रहे हो—या उनके कपड़ों की—या उनके बालों की। लोग चाहते हैं कि लोग एक-दूसरे के जैसे हों। वहाँ भी इतना भेद है कि वहाँ भी कोई एक जैसा नहीं है।

लेकिन सद्गुरु का तो अर्थ है : वह जमीन पर नहीं है अब, शिखर की तरह हो गया—गौरीशंकर। तो दो शिखर पहाड़ों के, आकाश में अलग अलग उठें, तो बिलकुल अलग हो जाते हैं। जमीन पर इतना भेद है, तो शिखरों में तो बहुत भेद हो जाता है।

इसलिए दो गुरु एक जैसे नहीं होते। इससे बड़ी अड़चन पैदा हुई है। अड़चन पैदा यह हुई है कि जो एक गुरु के प्रेम में पड़ जाता है, वह यह समझ ही नहीं पाता कि दूसरे गुरु—कैसे गुरु हैं? क्योंकि उसके पास एक मापदण्ड हो जाता है।

जिसने महावीर को प्रेम किया, वह मुहम्मद को कैसे प्रेम करे? उसकी एक कसौटी है। वह देखता है कि नग्न खड़े हैं या नहीं? अभी वस्त्र का त्याग किया या नहीं? और मुहम्मद वस्त्र पहने खड़े हैं, तो मुश्किल हो गई।

और मुहम्मद तो ठीक ही हैं, रामचन्द्र धनुष लिए खड़े हैं!

और कृष्ण का तो कहना ही क्या! वे मोर-मुकुट बाँधे खड़े हैं। वस्त्र तो छोड़े ही नहीं हैं, मोर-मुकुट और बाँध लिया है। बाँसुरी बजा रहे हैं! स्त्रियाँ आस-पास में नाच रही हैं!

तो जिसने महावीर को कसौटी बना लिया, उसके लिए कृष्ण कोई हालत में ज्ञानी नहीं हो सकते।

और जिसने कृष्ण को बना लिया मापदण्ड, वह महावीर को कैसे बरदाश्त करेगा! कृष्ण में ऐसा रस उसे मालूम होगा कि महावीर बिलकुल सूखे रेगिस्तान मालूम पड़ेंगे। मोर-मुकुट कैसा सोहता है कृष्ण पर। बाँसुरी की कैसी धुन है! नाच का कैसा मजा! कैसा उत्सव! और ये महावीर खड़े हैं—नग्न; भूत-प्रेम मालूम होते हैं। ये क्या कर रहे हैं—नग्न वृक्ष के नीचे खड़े? कुछ गाओ। अरे, नाचो। बाँसुरी बजाओ; मोर-मुकुट बाँधो। लेकिन महावीर महावीर हैं।

महावीर का मानने वाला कृष्ण को देखता है कि ये तो कुछ नाटकीय हैं। ड्रेमैटिक मालूम होते हैं, कोई अभिनेता हैं।—कि किसी नौटंकी में काम करते हैं! ये मोर-मुकट बाँधे किस लिए खड़े हो? ज्ञानी को इसमें क्या रस! और यह बाँसुरी किस लिए बजा रहे हो? यह तो अज्ञानी काफी हैं—बजाने के लिए। तुम तो फेंको इसे। यह कैसा राग-रंग हो रहा है? वीतराग बनो। ये स्त्रियाँ किस लिए नाच रही हैं? यह द्वन्द्व कब तक चलेगा? अभी काम-वासना शांत नहीं हुई?

नहीं, एक का भक्त दूसरे के प्रति अंधा हो जाता है। और कठिनाई यह है कि दो सद्‌गुरु एक से होते ही नहीं।

बड़ी खुली आँख चाहिए, जब तुम पहचान पाओगे कि ये तो आवरण हैं। हर गुरु के अलग हैं।

हर गुरु की लीला अलग होगी ही। क्योंकि वह अपने स्वभाव से जीता है। कोई कृष्ण, महावीर का अनुकरण नहीं करते, न कोई महावीर किसी कृष्ण का अनुकरण करते हैं। परम ज्ञानी अनुकरण करता ही नहीं। वह तो अपने शुद्ध स्वभाव में जीता है। जो घटता है, घटता है।

कृष्ण कोई बाँसुरी बजा थोड़े ही रहे हैं, बाँसुरी बज रही है। महावीर कोई नग्न होकर खड़े थोड़े ही हो गए हैं, इसका कोई अभ्यास थोड़े ही किया है। नग्नता फलित हुई है। यह घटी है। यह कोई अभ्यास नहीं है, आयोजन नहीं है। इसके लिए कोई चेष्टा नहीं की है; कपड़े उतार के, झाड़ के नीचे आँख बंद करके अभ्यास नहीं किया है। यह घटी है।

महावीर ने घर छोड़ा; जब घर छोड़ा तो एक ही वस्त्र था। जब वे घर छोड़ कर गये, तो राह में एक भिखारी मिला, तो उसने कहा कि 'कुछ मुझे भी दे जायँ।'

महावीर ने तो सब लुटा दिया था; उनके पास जो सम्पत्ति थी, वह तो शहर में लुटा आये। जो धन था, वह सब उन्होंने बाँट दिया; जो-जो उनकी निजी चीजें थीं, वे सब उन्होंने बाँट दीं। कुछ भी न बचा। एक वस्त्र, एक चादर को लपेटे आए हैं। और अब यह भिखारी मिल गया—गाँव के बाहर। उसने कहा कि 'मुझे भी कुछ देते जायँ; मैं वहाँ तो आ न पाया; लूला-लँगड़ा हूँ। और उस भीड़ में मेरी कौन सुनता?' अब इसको कैसे मना करें। तो आधा कपड़ा फाड़ कर उसे दे दिया। अब वह आधा ही बचा।

फिर जंगल में जा रहे हैं कि एक झाड़ी में वह आधा कपड़ा उलझ गया। कांटों वाली झाड़ी थी। वह इस बुरी तरह ऊलझ गया कि बिना झाड़ी को नुकसान पहुँचाये, उस कपड़े को बाहर नहीं निकाला जा सकता था। तो महावीर ने सोचा, इतनी मुझे जरूरत भी है—कि इस झाड़ी को नुकसान पहुँचाऊँ?—कि इसके कांटे तोड़ूँ और इसके पत्ते गिराऊँ? तो आधा उस भिखारी ने ले लिया, आधा इस झाड़ी की इच्छा है; तो आधा उसको दे दिया। ऐसी सरलता से नग्न हो गये। वह कोई अभ्यास न था। नग्नता फलित हुई।

कृष्ण का राग भीतर बड़ी वीतरागता को छिपाए है। महावीर की वीतरागता के भीतर बजती हुई राग की बड़ी गहरी बाँसुरी है। महावीर की वीतरागता बाहर है और वह जो धुन बज रही है आनन्द की, वह भीतर है। उसे उतारा भी कैसे जा सकता है बाँसुरी में। कृष्ण ही धुन बाँसुरी पर बज रही है, हृदय में वीतरागता है; वीतरागता को कपड़ों से या कपड़ों के अभाव से कैसे प्रकट किया जा सकता है?

जिसके पास दृष्टि है, वह दोनों के भीतर वही देख लेगा। वह दृष्टि चाहिए, आँख चाहिए। और अनुयायियों के पास तो आँख होती नहीं। वे तो अंधे ही होते हैं, तभी तो अनुयायी होते हैं। वे एक को पकड़ लेते हैं, जड़ की तरह और इस कारण अन्य से वंचित रह जाते हैं।

तुम्हारी हालत ऐसी है, जैसे आकाश में हजारों-हजारों तारे हैं और तुम एक तारे को पकड़ कर बैठे हो। और तुम कहते हो, 'हम दूसरा तारा तो देखेंगे नहीं, क्योंकि ये देखो, हमारा तारा, इसमें लाल चमक है; दूसरे तारे में कहाँ हैं; वह तारा है ही नहीं। यह देखो हमारा तारा, इसकी यह खूबी है। जब तक यह खूबी दूसरे तारों में न होगी, तब तक हम किसी को तारा भी स्वीकार नहीं कर सकते।'

ऐसे तुम अपने हाथ से दीन हो जाते हो। तारों को तो कोई नुकसान नहीं पहुँचता; तारे तो बने रहते हैं। रात का पूरा आकाश तारों से भरा है; लेकिन तुम व्यर्थ दीन हो जाते हो। तुम पूरे आकाश का आनन्द ले सकते थे।

तुम समग्र चेतना के आनन्द के वंशधर हो सकते थे। तुम महावीर बुद्ध, कृष्ण,

मुहम्मद, क्राइस्ट, जरथुस्त्र, लाओत्से—सभी के वसीयतदार हो सकते थे। तुम सभी के बेटे हो सकते थे; कोई अड़चन न थी। सबका खुला आकाश तुम्हें छाया देता, विश्राम देता, रोशनी देता, लेकिन तुम अपने हाथ से दीन-दरिद्र बने हो। तुम एक को पकड़ लेते हो, उसको कसौटी बना लेते हो और उस कारण तुम गरीब रह जाते हो और आकाश तैयार था—पूरा का पूरा उँडल पड़ने को। ऐसा मैं जान कर तुमसे कहता हूँ।

जितना ही मैंने गौर से देखा और पाया, उतना ही पाया कि रूप कितने ही अलग हों, भीतर एक ही अरूप का वास है। ढंग कितने ही भिन्न हों, भीतर एक ही बोध सतत प्रवाहित है। गीत कितने ही भिन्न हों, वाद्य कितने ही भिन्न हों, भीतर एक ही संगीत बज रहा है। लेकिन तुम ऊपर के साज-सामान को देखते हो।

कोई वीणा बजा रहा है, किसी ने इकतारा उठा लिया है। तुम यह नहीं देख पाते कि वह जो संगीत पैदा हो रहा है, उसका गुण-धर्म एक है। वह इकतारे से भी पैदा होता है। वह वीणा से भी पैदा होता है। वह सारंगी से भी पैदा होता है। कोई बुद्ध सारंगी हैं, कोई महावीर इकतारा हैं, कोई कृष्ण कुछ और हैं।

अनेक हैं वाद्य, संगीत एक है। अनेक हैं, रूप, अरूप एक है। अनेक हैं लीलाएँ, लीला करने वाला एक है।

अब सूत्र।

'हे अर्जुन, फल को न चाहने वाले निष्कामी योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किए हुए उस (प्रवोक्त) तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं। और जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए अथवा केवल पाखण्ड से ही किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है। और जो तप मूढ़तापूर्वक, हठ से मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।'

फल को न चाहना सत्त्व का शुद्धतम लक्षण है। जीवन में तुम जो भी करते हो, फल की चाह से ही करते हो, अन्यथा करोग ही क्यों?

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि यह संभव ही कैसे है कि फल की हम आकांक्षा न करें? क्योंकि अगर आकांक्षा ही न करें, तो हम कृत्य ही क्यों करेंगे? अगर मैं उनको कहता हूँ, 'ध्यान तो तुम करो, लेकिन फल का कोई विचार मत करो।' तो वे कहते हैं, 'तो हम आपके पास आएँगे ही क्यों? हम आए ही इसलिए हैं कि शांति चाहिए। आप कहते हो, ध्यान से शांति मिलेगी, तो हम ध्यान करते हैं; क्योंकि शांति चाहिए।'

अब एक बड़ी जटिल समस्या खड़ी होती है, क्योंकि जब तक तुम कुछ चाहोगे,

ध्यान न लगेगा। ध्यान से शांति मिलती है, इसमें कोई शक-शुबहा नहीं है। इसमें सारी दुनिया के ध्यानी एक मत हैं। और एक और अजीब शर्त से भी एकमत हैं कि जब तक तुम चाहते हो, तब तक नहीं मिलती। क्योंकि चाह अशांति है।

चाहने में ही तो सारी अशांति है। चाहने के कारण ही तो तुम तने हो। चाहने के कारण ही तो भीतर एक बेचैनी है। तुम ध्यान कैसे कर पाओगे।

ध्यान का अर्थ है—सिर्फ हो जाना। चाह के कारण तुम कभी भी सिर्फ नहीं हो पाते। आगे कुछ खींचता रहता है। ध्यान का अर्थ है : अभी और यहीं हो जाना। और चाह तो भविष्य में खींचती रहती है—कल।

जब तुम चाह से भरे होते हो, तब तुम ध्यान थोड़े ही करते हो, तुम किनारे खड़े ध्यान के, देखते हो, कब मिलेगी शांति? अभी तक नहीं मिली? घंटा बीतने के करीब आ गया और शांति का कोई पता नहीं है! तो ध्यान तुम्हें और अशांत कर देगा।

तुम वैसे ही अशांत थे। अशांत थे—धन चाहते थे, नहीं मिला। अशांत थे, सुंदर स्त्री चाहते थे, नहीं मिली। और मिल भी जाय तो बहुत फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि मिलने से ही सुंदर स्त्री सुंदर नहीं रह जाती। मिलते से ही जितना धन मिले, वह काफी नहीं रह जाता। मिला, न मिला—कोई फर्क नहीं पड़ता। सफलता चाहते थे, वह न मिली; पद चाहते थे, वह न मिला; कभी मिलता ही नहीं, क्योंकि जो भी पद मिल जाय, वही छोटा पड़ जाता है। पद की आकांक्षा बड़ी है, विराट् है, उसका कोई अंत नहीं है।

हर जगह तुम पाओगे, कुछ अड़चन खड़ी हो जाती है। जब तक चाह है, तब तक अड़चन खड़ी होती ही रहेगी।

तुम भटके, संसार से थके-मांदे मेरे पास आए। अब तुम कहते हो, 'शांति चाहिए।' अब तुम शांति को चाह बना रहे हो! धन नहीं मिला, उससे तुम काफी अशांत हो गए। पद नहीं मिला, उससे अशांत हो गए। अब तुम कहते हो, 'शांति चाहिए।' तुम समझे नहीं, तुम जागे नहीं।

धन की खोज के कारण थोड़े ही अशांति थी। और तुम्हारे धर्मगुरु भी ऐसी मूढ़तापूर्ण बातें तुम्हें समझा रहे हैं कि धन की चाह छोड़ो, तो अशांति मिट जाएगी। गलती कह रहे हैं। चाह छोड़ने से अशांति मिटती है। धन की चाह से कुछ लेना-देना नहीं है। मोक्ष की चाह भी उतनी ही अशांति ले आएगी।

चाह अशांति है। चाह की विषय-वस्तु का कोई अर्थ नहीं है। मोक्ष, धन, परमात्मा, शांति—कुछ भी चाहो, अशांति पैदा होगी। न चाहो—शांति मौजूद है।

चाह के पीछे अशांति छाया की तरह आती है। और जहाँ चाह नहीं रह जाती, वहाँ शांति आती थोड़े ही है। तुम अचानक जाग कर पाते हो—शांति सदा थी, चाह के कारण चूकते थे।

शांति स्वभाव है, उसे माँगना नहीं है, चाहना नहीं है। वह बाहर नहीं है। उसे तुमने कभी खोया नहीं है। वह तुम्हारा होने का भीतरी ढंग है। लेकिन चाह के कारण तुम भीतरी को देख नहीं पाते। दौड़ते हो, भागते हो; भाग-दौड़ में अपने को ही भूल जाते हो।

तो उनसे मैं कहता हूँ कि 'शांति तो मिलेगी, वह पक्का है। लेकिन तुम कृपा करके चाहो मत।'

उनकी अड़चन भी मैं समझता हूँ। उनका गणित भी साफ है। वे कहते हैं, 'अगर हम चाहें ही न, तो हम आपके पास क्यों आएँ? हम चाहते हैं, इसीलिए तो आए हैं।'

मैं उनसे कहता हूँ कि 'मेरे पास तक आ गए, चाह ने इतना कर दिया, यही काफी है। अब कृपा करके सिर्फ ध्यान करो, चाहो मत कुछ।' समझाता हूँ, तो अधूरे मन से वे सिर भी हिलाते हैं। हाँ भी भरते हैं। बात तो उनको भी कहीं समझ में पड़ती है। एकदम पकड़ में तो नहीं आती। पकड़ में आय जाय, तो ध्यान की जरूरत ही नहीं रह जाती। बात ही खत्म हो गयी। यह बात दीख गई कि चाह ही तो मुझे अशांत किए है।

थोड़ी देर को सोचो, अगर तुम्हारी कोई चाह न हो, तो तुम कैसे अशांत हो पाओगे? क्या कोई उपाय कर सकते हो तुम—बिना चाह के अशांत होने का? क्या कोई ढंग है तुम्हारे पास? उछलोगे, कूदोगे, मगर अशांत हो सकोगे—अगर चाह न हो?

चाह न हो तो अशांति का उपाय ही न रहा, मूल बीज ही खो गया। तब ध्यान की भी कोई जरूरत नहीं है।

लेकिन अधूरे मन से, उनको भी बात जँचती तो है। बुद्धि को समझ में भी आती है कि शायद ऐसा भी हो। वे कहते हैं, 'आप कहते हैं, तो होगा ही। तो हम कोशिश करेंगे। अच्छा हम चाह छोड़ देते हैं।' लेकिन भीतर गहरे में वे चाह इसीलिए छोड़ते हैं कि शांति मिल जाय।

तीन दिन बाद वे फिर हाजिर हैं—कि 'तीन दिन हो गए छोड़े हुए, अभी तक मिली नहीं।' क्या खाक छोड़ी होगी? छोड़ने का मतलब ही यह होता है कि अब इसको उठाना ही मत, अब इसकी बात ही मत करना। यह बात ही व्यर्थ हो गई।

तीन दिन बाद फिर तुम आकर कहते हो कि, 'चाह छोड़ दी, तीन दिन हो गये, अभी तक शांति मिली नहीं।' तो तुम किनारे खड़े देखते रहे। ध्यान तुमने किया नहीं। तुम्हारा ध्यान चाह पर लगा रहा। ध्यान हो न पाया; माँग कायम रही। थोड़ा सरका दी होगी भीतर को, थोड़ी हटा दी होगी अँधेरे में, थोड़ा उस तरफ से

पीठ कर ली होगी। लेकिन तुम जानते हो, वह खड़ी है। और जब तक वह खड़ी है, तब तक सत्त्व का उदय नहीं होता।

इसलिए सात्विक साधना का पहला सूत्र कृष्ण कहते हैं, 'फल को न चाहने वाले बनो'; यही निष्काम दशा है। काम की दशा है कि जब तुम्हारा रस सदा फल में होता है, कृत्य में नहीं। वह काम की दशा है। और जब तुम्हारा रस कृत्य में होता है, फल में नहीं, तब वह निष्काम दशा है। जैसे सुबह-सुबह तुम घूमने निकले हो। सूरज उगा। पक्षी गीत गाते हैं। वसंत आ गया है। सब तरफ बहार है। तुम मस्ती में गीत गुनगुनाते चले जा रहे हो। कोई अगर तुमसे पूछे, 'कहाँ जा रहे हो', तो तुम क्या कहोगे? तुम कहोगे, 'बस, घूमने निकले हैं। कहीं जा नहीं रहे हैं।'

यही रास्ता होगा, यही वृक्ष होंगे, यही सूरज होगा, यही वसंत होगा। दोपहर तुम दफ्तर की तरफ चले जा रहे हो या दुकान की तरफ; लेकिन अब वह गुनगुनाहट नहीं है। सब वही है; तुम भी वही हो, हवाएँ वही, कुछ बदला नहीं, मधुमास अभी चला नहीं गया। फूल अब भी खिले हैं, पक्षी अब भी गीत गा रहे हैं, लेकिन अब तुम्हें कुछ सुनाई नहीं पड़ता। सूरज रोशनी देता नहीं मालूम पड़ता। अब सिर्फ ताप पैदा करता है। पक्षियों के गीत बाजार के शोरगुल को सिर्फ बढ़ा रहे हैं। वृक्षों की हरियाली वृक्षों के फूल, अब तुम्हें सुख नहीं देते, बल्कि एक पीड़ा देते हैं कि तुम्हें दफ्तर जाना पड़ रहा है। सब कुछ वही है, लेकिन अब कोई तुमसे पूछे, 'कहाँ जा रहे हो'—तो? तुम दफ्तर जा रहे हो; तुम्हारे चेहरे का ढंग बदल गया; बड़ा तनाव है। लक्ष्य है अब; सुबह लक्ष्य न था। फल है अब; सुबह फल न था।

संन्यासी का जीवन सुबह घूमने जैसा है। गृहस्थ का जीवन दोपहर दफ्तर जाने जैसा है। बस, इतना ही फर्क है। कोई पहाड़ नहीं जाना है। दफ्तर ऐसे ही जाना है, जैसे तुम सुबह घूमने निकले। दुकान पर ऐसे ही जाकर बैठ जाना है, जैसे क्लब में आकर मित्रों से गपशप करने चले आए हो।

अर्जुन भागना चाहता है युद्ध से। वह कहता है कि यह करने योग्य नहीं है। हिंसा होगी बहुत। पाप लगेगा बहुत। जन्मों-जन्मों तक सड़ूँगा नरकों में और मिलने को कुछ भी नहीं है। राज्य मिल भी गया अगर, तो इतने हिंसा पात के बाद, इतने लोगों का जीवन लेने के बाद, अपने ही लोग और...। उस तरफ भी मेरे ही सगे-संबन्धी हैं, इस तरफ भी। दोनों तरफ कोई भी मरेगा, मेरे ही लोग मरेंगे, अपने ही सम्बंधी मरेंगे। मित्र प्रिय जन बँटे खड़े हैं। नहीं, युद्ध योग्य नहीं मालूम पड़ता।

कृष्ण का जोर क्या है अर्जुन से?—जोर है कि तू फल की क्यों सोचता है। अगर अर्जुन अचानक उतर गया होता नीचे रथ से और कृष्ण से कहता कि 'जाता हूँ। बात खत्म हो गई।' तो कृष्ण रोक न पाते। रोकने की जरूरत भी न थी। कृष्ण

प्रसन्नता से कहते कि 'इस क्षण की मैं प्रतीक्षा करता था। भला हुआ। बात खत्म हो गई।' लेकिन अर्जुन यह नहीं कहता है कि मैं जाता हूँ। अर्जुन फल की बातें कर रहा है। वह कह रहा है, 'क्या फल मिलेगा? सार क्या है?' कृत्य का सवाल नहीं है।

अर्जुन राजी है, अगर हिंसा करनी पड़े, कोई अड़चन नहीं है। लेकिन अगर अपने लोग न होते; पराये होते तो काट देता घास-पात की तरह। सदा काटता ही रहा था। कोई नया न था यह मामला। योद्धा था, क्षत्रिय था। लोगों को काट-पीस दे, तो हाथ भी धोने की आदत न थी। अचानक कैसे यह संन्यास उठा है। यह संन्यास नहीं है। यह मोह भाव है।

और अचानक कैसे फल की चर्चा चली—कि 'नरक जाना पड़े, पाप लगे? जन्मों-जन्मों तक यह मेरे ऊपर कलंक बना रह जाएगा?'

यह भविष्य की छाया उठी है, मोह के कारण—ज्ञान के कारण नहीं। ज्ञान सदा वर्तमान में है। मोह सदा भविष्य में है। मोह सदा अज्ञान में है।

फल की सोच रहा है अर्जुन। और यह भी देख रहा है कि अगर धन मैंने पा भी लिया...। धन पाना चाहता है, नहीं तो युद्ध तक आने की जरूरत क्या थी? यह तो आखिरी घड़ी में आकर उनको बुद्धि आ रही है! अब तक क्या करते थे?

यह तो पहले ही सोच सकते थे कि 'इतने लोग मरेंगे, मिलेगा क्या? सार क्या है? सिंहासन पर बैठ ही जाऊँगा, तो क्या फायदा? क्योंकि जिनके लिए सिंहासन बैठा पर जाता है, वे तो सब कब्रों में होंगे। बच्चे मर जाएँगे, जो प्रसन्न होते कि पिता सिंहासन पर बैठे। मित्र मर जाएँगे, जो भेंट लाते कि अर्जुन, तो अंततः तुम सम्राट हो गए। प्रियजन मर जाएँगे, जो उत्सव मनाते। बैठ जाऊँगा—मरघट पर रखा होगा मेरा सिंहासन।' उस सिंहासन पर बैठने में रस नहीं मालूम होता।

नहीं, कि उसको त्याग आ गया है। नहीं कि संन्यास का भाव उदय हुआ है। बस, देख के कि फल कुछ सार का नहीं मालूम पड़ता; सौदा महंगा लग रहा है उसको। करने योग्य नहीं लगता। जाएगा ज्यादा, मिलेगा कम। यह उसकी काम की दशा है।

और कृष्ण की पूरी चेष्टा यही है कि लड़, न लड़, यह बहुत बड़ा सवाल नहीं है। लेकिन निष्काम हो जा। लड़, न लड़—यह बहुत सवाल नहीं है। तू बस, फल की आकांक्षा छोड़ दे।

फल की आकांक्षा छोड़ते ही एक अपूर्व घटना घटती है कि तुम परमात्मा के उपकरण हो जाते हो। फिर वह जो कराता है, तुम करते हो। नहीं कराता, नहीं करते।

अगर परमात्मा नहीं चाहता है युद्ध कराना, तो नहीं होगा। अर्जुन बैठा हँसता रहेगा। कृष्ण कहते रहें गीता। वे लाख समझाएँ, वह कहेगा कि 'चुप रहो। बेकार

की बातें मत करो। बात ही नहीं उठ रही है। यह होने को ही नहीं है। परमात्मा उपकरण नहीं बना रहा है। बनाए तो लड़ने को तैयार हूँ। न बनाए तो मैं क्या कर सकता हूँ! लेकिन कर्ता भाव मेरा नहीं है अब। लड़ाएगा तो लड़ूँगा अर्थात् लड़ाएगा तो वही लड़ेगा; मैं नहीं लड़ूँगा। नहीं लड़ाएगा तो वही भागेगा; मैं नहीं भागूँगा। संन्यास उसका, गृहस्थी उसकी, अब मेरा कुछ भी नहीं है।'

यह सोचने जैसा है। जब तक फल की आकांक्षा है, तब तक तुम अड़े रहते हो। जैसे ही फल की आकांक्षा गई, तुम हट जाते हो। तुम फल की आकांक्षा हो। अहंकार फल की आकांक्षा है। अहंकार को हटाना हो तो फल की आकांक्षा छोड़ देनी पड़े। तब कृत्य ही पर्याप्त है।

फिर कल का भरोसा क्या? कल होगा ही—यह किसे मालूम है? और अर्जुन ऐसा क्यों सोचता है कि ये ही लोग मरेंगे और वह न मर जाएगा? और सिंहासन मिलेगा ही?

मुल्ला नसरुद्दीन फ्रांस गया था—घूमने। पत्नी को साथ ले गया था। एक तो पेरिस जाना और पत्नी को साथ ले जाना, वैसे ही अड़चन की बात है। पेरिस—और पत्नी के साथ जमता ही नहीं। पत्नी को साथ ले जाना हो, तो काशी, मक्का, मदीना, ठीक है; तीर्थयात्रा ठीक है। पत्नी मानी नहीं, पेरिस ले गया। पेरिस में देखी सुंदर स्त्रियाँ उपलब्ध; बड़ी बेचैनी होने लगी। और यह पत्नी पीछे लगी है! यह तो बोझ हो गई। आए, न आए—बराबर हो गया!

तो मुल्ला ने बीच सड़क पर रुक कर कहा कि 'अगर हम दो में से किसी को कुछ हो जाय तो फिर मैं पेरिस में ही रहूँगा।'

उसका मतलब समझ रहे हो? 'अगर हम दो में से किसी को कुछ हो जाय, तो—मैं—पेरिस में ही रहूँगा।'

यह अर्जुन क्या कह रहा है कृष्ण से? कल पक्का है? सिंहासन मिल ही जाएगा तुझे? ये मर जाएँगे दुश्मन, तू नहीं मरेगा? तू बचा रहेगा? लाशें इन्हीं की बिछेंगी, तू सिंहासन पर होगा? कल का इतना पक्का भरोसा क्या है? कोई कारण तो दिखाई नहीं पड़ता। कोई योद्धा उस तरफ कमजोर नहीं हैं। बल करीब-करीब संतुलित है। कौन जीतेगा, कौन हारेगा, यह बस, जरा-सी बारीक रेखा है।

हार और जीत में अर्जुन को इतना पक्का क्या है? लेकिन हर अहंकार अपने को केंद्र मान कर सोचता है। फलाकांक्षी अपने को केंद्र मान कर सोचता है।

कृष्ण कहते हैं, 'सत्त्व का लक्षण है—फलाकांक्षा का छूट जाना। तू निष्काम भाव से हो जा।' आज इस क्षण जो कर्तव्य है, कर; कल की मत सोच। कर्तव्य का क्या फल होगा, यह परमात्मा पर छोड़। फल हमारे हाथ में नहीं है।

तुम भी जानते हो कि कई बार तुम अच्छा करते हो और बुरा हो जाता है। और कई बार बुरा करना चाहते थे और अच्छा हो जाता है।

ऐसा हुआ चीन में कि एक आदमी की गलती से आक्युपंक्चर नाम के एक चिकित्सा-शास्त्र का जन्म हुआ। एक आदमी के पैर में लंगड़ापन था—बचपन से था। औ किसी दुश्मन ने छिप के उस को तीर मार दिया। वह उसे मार डालना चाहता था। लेकिन तीर उसको कुछ ऐसी जगह लगा कि उसका लंगड़ापन ठीक हो गया। उससे आक्युपंक्चर का पूरा चिकित्सा-शास्त्र पैदा हुआ।

तो चीन में यह पता चल गया कि कुछ ऐसे हिस्से हैं शरीर में कि अगर वहाँ कोई तीखा औजार चुभाया जाय तो शरीर-ऊर्जा की गति बदल जाती है।

तो वह जो लंगड़ा था आदमी, वह इसीलिए लंगड़ा था कि ऊर्जा ठीक धारा में नहीं बह रही थी। शरीर की विद्युत ठीक धारा में नहीं बह रही थी, थोड़ी तिरछी थी। धारा तिरछी थी, तो पैर तिरछा था। क्योंकि पैर तो ऊर्जा का अनुसरण करता है। तीर लगने से धारा झटक के सीधी बहने लगी; पैर सीधा हो गया। फिर तो आक्युपंक्चर का पूरा शास्त्र पैदा हुआ।

जिसने मारा था, उसने सोचा भी न होगा कि तीर मारने से यह आदमी मरेगा तो नहीं, उलटा, लंगड़ा था, ठीक हो जाएगा। न केवल यह ठीक होगा, बल्कि इसके आधार पर एक शास्त्र का जन्म होगा, जिससे हजारों साल तक लाखों लोग ठीक होंगे!

फिर तो धीरे-धीरे उन्होंने सात सौ बिंदु खोज लिए आक्युपंक्चर के—आदमी के शरीर में। और हर बिंदु से संबंधित बीमारियाँ हैं। आक्युपंक्चर कुछ भी नहीं करता है; बड़ी अनूठी कला है। सिर्फ सूई चुभोता है। अब तो तीर भी नहीं चुभोता। क्योंकि उतनी बड़ी चीज चुभाने की भी जरूरत नहीं है। इतनी छोटी-सी सूई चुभोता है कि तुम्हें पता ही नहीं चलता। सिर में दर्द है और हाथ में सूई चुभायेंगे, और अचानक तुम्हारा दर्द तिरोहित हो जाता है। पेट में तकलीफ है, कहीं पीठ में सूई चुभोयेंगे। उनके हिसाब हैं कि कहाँ सूई चुभाने से कहाँ की धारा में रूपांतरण होता है। एक शास्त्र, एक विज्ञान का जन्म हो गया।

बुरा करने जाओ, भला हो जाता है। कभी तुम भला करने जाते हो और बुरा हो जाता है। कहना बिलकुल मुश्किल है।

समझो : हिटलर छोटा था, कुएँ में गिर पड़ता, तो तुम बचाते कि नहीं? बचाते; भागते कि छोटा बच्चा गिर पड़ा। अब इस छोटे बच्चे का कोई पता तो नहीं है कि कितना जहरीला साँप होने वाला है। तुम इसको बचा लेते।

फिर हिटलर ने कोई एक करोड़ आदमी मारे। तुम्हारा कुछ हाथ होता इसकी

हिंसा में कि नहीं? अगर तुमने न बचाया होता इसे, कुएँ में डूब जाने दिया होता, तो दुनिया कहती कि तुमने बड़ा पुण्य किया। लेकिन आसान नहीं है मामला इतना। वह जो करोड़ आदमी इसने मारे, उसमें तुम्हारा भी हाथ है। तुम न बचाते तो ये करोड़ आदमी बच जाते। यह तो बड़ी झंझट की बात है।

तुम अच्छा करते हो, बुरा हो जाता है। बुरा करते हो, अच्छा हो जाता है।

'तुम्हारे हाथ में करना मात्र है', कृष्ण कहते हैं। 'क्या होगा, यह तुम समष्टि के हाथ में छोड़ दो। तुम इसकी जिद में ही मत पड़ो, तुम यह सोचो ही मत कि क्या होगा। तुम इतना ही सोचो कि जो हो रहा है, उसको मैं कैसे पूरी तरह, पूरे कर्तव्य भाव से कर पाऊँ।'

'हे अर्जुन फल को न चाहने वाले निष्कामी योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किए हुए उस तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं।

कल जो हमने तीन प्रकार के तप समझे, वे सात्त्विक हैं, यदि किसी ने निष्काम भाव से किए हैं; कुछ चाहा नहीं। खुद निमित्त होकर किए हैं। कुछ माँगा नहीं। और परम श्रद्धा से किए हैं।

स्वभावतः निष्काम भाव तभी हो सकता है, जब तुम्हारी श्रद्धा परम हो।

तुम फल की आकांक्षा क्यों करते हो? क्योंकि तुम्हें पक्का भरोसा नहीं है कि फल आएगा। अन्यथा आकांक्षा क्यों करोगे?

तुम बीज बोते हो, फिर तुम बैठ कर आकांक्षा करते हो कि पौधे अंकुरित हों। अगर तुम बिलकुल सिक्खड़ किसान हो, नये-नये खेती में उतरे हो या बागवानी में, तो तुम बड़ी चिंता करोगे, रात सो न सकोगे, सुबह उठ-उठ कर बार-बार जाओगे; दिन में कई दफा देखोगे—अभी तक अंकुर आये या नहीं आये?

छोटे बच्चे आम की गोई बो देते हैं...। कम से कम मेरे गाँव में वैसा होता था। तो बचपन में मैंने भी आम की गोई लाकर अपने आँगन में बो दी। लेकिन बच्चों की धीरज कितनी? घड़ी भर बाद फिर जाकर उखाड़ के देखते—अभी तक आया कि नहीं आया? इतनी जल्दी आम नहीं आते। वह भी पका है। बड़ों ने कहा भी कि 'क्या कर रहे हो? इस तरह तो कभी नहीं आएँगे।'

लेकिन उत्सुकता मानती नहीं। सोचती है कि शायद आ गया हो। रात सो नहीं पाते; नींद में भी चिंता लगी रहती है कि आम की गोई अभी फूटी या नहीं; अंकुर लगे या नहीं। पता नहीं, फल लग गये हों!

रात भी बच्चा उठकर जाता है, एक नजर डाल आता है, आँगन में। 'अभी भी आया नहीं?' यह सारी चिंता इसलिए हो रही है कि बच्चे को कुछ पता नहीं है, कुछ बोध नहीं है।

माली भी बोता है आम की गोई, लेकिन चिंता नहीं करता। क्योंकि वह जानता है : आयेंगे अंकुर। आम की गोई बी दी है, कृत्य पूरा कर दिया है; जरूरत जैसी थी, वैसी खाद दे दी है, पानी दे दिया है, सुविधा जुटा दी—सब। बात खत्म हो गई। करना पूरा हो गया। फल हमारे हाथ में थोड़े ही है। और फिर श्रद्धा होती है—आएगा।

जो जानता है, उसकी श्रद्धा होती है। अज्ञानी अश्रद्धालु होता है। ज्ञानी श्रद्धालु होता है। और इस सूत्र का उलटा भी सच है। जितने तुम श्रद्धालु हो जाओगे, उतने ज्ञानी हो जाओगे। जितने अश्रद्धालु हो जाओगे, उतने अज्ञानी हो जाओगे। वे दोनों जुड़ी हैं बातें। श्रद्धा ज्ञान का एक पहलू है; अश्रद्धा अज्ञान का एक पहलू है।

परमश्रद्धालु का अर्थ है : जो जानता है कि करने योग्य कर दिया, होने योग्य होता रहेगा। अगर करने योग्य ठीक से कर दिया है, तो होने योग्य होगा ही। उस पर क्या सोचना?

अगर तुमने ध्यान कर लिया—शांति होगी ही। तुम ध्यान की फिक्र करो, तुम शांति की फिक्र मत करो। अगर तुमने प्रार्थना कर ली, तुम प्रकाश से भर ही जाओगे। तुम प्रकाश का विचार ही मत करो। तुम सिर्फ प्रार्थना कर लो। अगर तुम ठीक से जी लिए हो, तो तुम मुक्त हो ही जाओगे। तुम मुक्ति की चिंता मत करो। ठीक से जीने वाला, सदा मुक्त हो गया है।

जीवन में फल तो आते ही हैं, कृत्य भर पूरा हो जाय। क्योंकि कृत्य में ही छिपा है फल। कृत्य है बीज, उसी में छिपा है फल।

यह शब्द 'फल' अच्छा है। बीज में छिपा है फल। फल का अर्थ सिर्फ परिणाम ही नहीं होता। परिणाम को हम इसीलिए फल कहते हैं, क्योंकि वह बीज में छिपा है।

तुम बीज की फिक्र कर लो, फल तो अपने से आ जाता है। कोई बीज निष्फल नहीं जाता। और अगर गया तो उसका केवल इतना ही अर्थ है कि तुमने कर्तव्य न किया। जो करने योग्य था, उसमें कमी की और जो होने को ही था, उसके चिंतन में समय बिताया। तुम सोचते रहे फल की और कृत्य उपेक्षित पड़ा रहा। कर्तव्य पूरा न हुआ, तो ही फल चूकता है। इसलिए परम श्रद्धा से...।

परम श्रद्धा का अर्थ है : जहाँ रत्ती मात्र भी संदेह नहीं। और अगर तुम जीवन को गौर से देखोगे, तो संदेह मिट जाएगा। संदेह का कोई कारण नहीं है।

मेरे पास एक सज्जन आए और उन्होंने कहा कि 'कैसे भरोसा आए; मैं अच्छा करता हूँ। आप कहते हैं, भरोसा आ जाय। करता हूँ अच्छा। जिनके साथ अच्छा करता हूँ, वे भी बुराई लौटाते हैं। तो श्रद्धा बढ़े कैसे? श्रद्धा घटती है! मैं करता हूँ अच्छा, लौटता है बुरा! मैं करता हूँ नेकी, लौटती है बदी।' तो वे कहते हैं कि 'श्रद्धा कैसे करें।' उनकी बात ठीक है—कि अगर तुम भला करो लोगों के साथ और लोग तुम्हारे साथ बुरा करें, तो साफ है कि श्रद्धा उठ जाती है। क्या भरोसा कि मैं जीवन भर अच्छा ही जीऊँ और मोक्ष मिले? क्योंकि यहाँ तो यही दिखाई पर रहा है कि बुरा करने वाले मजा ले रहे हैं, भला करने वाले दुःख पा रहे हैं।

साधु सड़ रहे हैं, असाधु सिंहासनों पर विराजमान हैं। और कृष्ण कहते हैं, 'साधुओं के उद्धार के लिए और असाधुओं के विनाश के लिए युगों-युगों में आऊँगा। बात उलटी दीखती है। या तो उन्होंने अपना बदल दिया वचन।

ऐसा दीखता है कि साधुओं का विनाश हो रहा है और असाधु सिंहासनों पर बैठे हैं। कैसे श्रद्धा हो?

उन मित्र को मैंने कहा कि, 'तुम्हें बिलकुल पक्का है कि तुमने भला किया? अगर अश्रद्धा ही करनी है, तो वहाँ से शुरू करो। शुरुआत से शुरू करो। क्योंकि तुमने कुछ किया, वह शुरुआत है। दूसरे ने कुछ किया, वह तो प्रतिक्रिया है, वह तो अंत है। पहले अपने से शुरू करो।'

'तुमने सच में ही भला करना चाहा था?' दिखावा हो सकता है—भले का हो। यह तो हो सकता है कि तुम एक आदमी को पाँच रुपया दान दे दो। लेकिन तुम्हारा इरादा उसकी गरीबी में सहायता करने का न हो। तुम्हारा इरादा यह हो कि वह तुम पर निर्भर हो जाय। तुम्हारा इरादा यह हो कि अब तुम जहाँ मिलो, वहीं यह नमस्कार करे और चरण छूए। तुम्हारा इरादा यह हो कि पाँच रुपये में तुम इसे गुलाम बना लो।

और मजा यह है कि यह इरादा तुम्हें भी साफ न हो। और जीवन बड़ा जटिल है। यहाँ तुम जो करते हो, उसका फल नहीं मिलता। यहाँ वस्तुतः करने के पीछे जो छिपा हुआ भाव है, उसी के फल मिलते हैं।

तुमने बुरा ही किया होगा—अनजाने किया होगा—तब यह बुरा लौट आया है। क्योंकि नीम के बीज जो बोता है, तभी नीम के फल लगते हैं।

तुम कहते हो, 'हमने आम के बीज बोये थे और नीम के फल लग रहे हैं! यह मैं कैसे मानूँ?' कहीं भूल हो गई। तुम्हारे पैकेट पर लिखा रहा होगा 'आम के बीज'। पैकेट के भीतर नीम के बीज ही रहे होंगे। कहीं कुछ चूक हो गई। यह तो संभव ही नहीं है कि आम के बीज बोओ और नीम के फल लग जायँ। शक ही करना है, तो अपने पर करो। बस, यही फर्क है।

धार्मिक व्यक्ति अगर शक करता है, तो अपने पर। और अधार्मिक अगर शक करता है, तो दूसरे पर। दूसरे का ही शक बढ़ते-बढ़ते परमात्मा के प्रति संदेह बन जाता है। और अपने पर शक करते-करते अहंकार गिर जाता है। क्योंकि अहंकार संदिग्ध हो जाता है। स्वयं पर जिसने संदेह किया, वह परमात्मा पर श्रद्धा करने लगेगा। और स्वयं पर जिसने कभी संदेह न किया, वह परमात्मा पर संदेह करेगा।

परम श्रद्धा का अर्थ है : जिसने जीवन के अनुभव से जाना कि जो बोओगे, वही काटोगे। इसलिए अब काटने की चिंता क्या? अब उसकी बात ही क्या उठानी? अब उसकी चर्चा ही क्या करनी?

ध्यान रखना, फल की बहुत चर्चा करने वाले जितनी ऊर्जा फल की चर्चा में लगाते हैं, उतनी ही ऊर्जा कृत्य में चूक जाती है और उतना ही फल विकृत हो जाता है। फिर जब फल विकृत होता है, तो एक दुष्ट-चक्र शुरू हो गया। दुबारा वे और भी घबड़ा जाते हैं। और भी फल विकृत हो जाता है। तीसरी बार संदेह पूरा हो जाता है, फल नष्ट हो जाते हैं।

संदेह से कभी किसी ने सत्य के फल नहीं काटे; श्रद्धा से काटे हैं।

श्रद्धा और निष्काम भाव से जो किया जाय, वह सात्त्विक तप है। इसलिए तपस्वी कुछ माँगता नहीं। वह यह नहीं कहता कि परमात्मा वैकुण्ठ देना, कि मोक्ष देना, कि स्वर्ग में मकान बिलकुल बगल में देना। वह कुछ भी नहीं माँगता। वह कहता है, 'फल की बात ही क्या उठानी। वह तेरी चिंता। हम क्यों फिक्र करें? तूने जन्म दिया, तूने जीवन दिया, तू श्वास देता है, तूने बिना माँगे इतना दिया, बिना पूछे दिया; हम क्यों चिंता करें कि तू और देगा या नहीं देगा?'

जितना दिया है, उसे जरा गौर से देखो—श्रद्धा का आविर्भाव होगा। जो नहीं दिया है, उस पर ध्यान लगाओ, संदेह का आविर्भाव होगा।

श्रद्धा से भरा हुआ कृत्य सात्त्विक है।

'और जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए अथवा केवल पाखण्ड से किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है।

तुम ऐसी भी तपश्चर्या कर सकते हो, जो केवल सत्कार के लिए हो। तुम प्रतीक्षा कर रहे हो, कब बैण्ड-बाजा बजे; कब जुलूस निकले, कब शोभा-यात्रा हो। तो तुम उपवास कर सकते हो लम्बे। लेकिन प्रतीक्षा बैण्ड-बाजों पर लगी है। बच्चे हो। जिससे स्वर्ग का आनन्द मिल सकता था, उससे तुम बैण्ड-बाजे का शोरगुल सुनोगे। तुम कुछ बहुत होशियार नहीं हो। तुम भला कितना ही अपने को समझदार समझ रहे हो, मगर चूक रहे हो। जिससे वर्षा हो सकती थी आनन्द की, उससे सिर्फ थोड़े से खुशामदी मिल कर तुम्हारी प्रशंसा करेंगे। खत्म हो गई बात। तुम चूक गए। इतना मिल सकता था—न माँगते तो। माँगा—कि क्षुद्र मिलता है। जिसका कोई भी सार नहीं।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, 'क्षणिक फल वाला तप...।' क्षण भर को शोरगुल होगा, लोग चर्चा करेंगे, बात खत्म हो जाएगी। लहर उठेगी पानी पर, मिट जाएगी, बस, इतना ही सुख पाएगा—राजसी व्यक्ति।

राष्ट्रपति हो गए तुम; फिर क्या करोगे? लोग आकर भेंट कर जाएँगा, फूल मालाएँ पहना देंगे। प्रसन्नता हो जाएगी। और दूसरे दिन ये ही लोग गालियाँ देने लगेंगे और पत्थर फेंकने लगेंगे।

होगा क्या? राष्ट्रपति होकर तुम पाओगे क्या? सिंहासन पर बैठ जाओगे। तो अपने घर पर ही छत पर एक कुर्सी रख के बैठ गए ऊँचाई पर। सारा संसार नीचा कर दिया! पाओगे क्या? मिलने को क्या है? मिलने को कुछ भी नहीं। 'क्षणिक फल वाला...' थोड़ी-सी लहर उठेगी चारों तरफ, खो जाएगी।

'...तप सत्कार के लिए किया जाय, मान के लिए किया जाय, पूजा के लिए किया जाय, या केवल पाखण्ड के किया जाय...।' पाखण्ड का मतलब ही यह है कि तुम करना भी नहीं चाहते, करने का कोई भाव ही नहीं था, कोई श्रद्धा भी नहीं थी कि इससे कोई सार होगा। लोकोपचार के लिए...। लोग धार्मिक समझते हैं, इसलिए कर देते हो।

मंदिर भी हो आते हो, कभी उपवास भी रख लेते हो, कभी व्रत भी कर लेते हो, लोगों को दिखाने के लिए; एक पाखण्डा बना रहता है। उससे भी लाभ हैं।

पाखण्ड के लाभ हैं, इसलिए तुम करते हो। क्योंकि अगर तुम धार्मिक आदमी हो...।

मने सुना ह कि एक दुकान थी, सोने जवाहरातों की। उसके मालिक ने अपने नौकरों को बड़ी कला सिखा रखी थी। जैसे ही कोई आदमी प्रविष्ट होता, मालिक ने पहले ही एक मनोवैज्ञानिक बिठा रखा था, जो जाँच पड़ताल करे कि है भी इसके पास कुछ या नहीं। खीसे में कुछ वजन है, गर्मी है? फिर अगर दिखती गर्मी, तो वह उस आदमी को देख कर कहता : 'हरी हरी'। वह बाहर हरी-हरी कहता और भीतर कहता कि—है—लूटने योग्य है।

हरि का मतलब होता : चोर; चुराया जा सकता है; हरण किया जा सकता है। हरि का मतलब होता है, हरण किया जा सकता है। लेकिन वह आदमी बड़ा प्रभावित होता कि कैसी दुकान है साधुओं की!

तो दूसरे आदमी के पास आता काउन्टर पर, वह भी जाँच-पड़ताल करता, दिखाता चीजें कहता : 'केशव, केशव'। वे सब संकेत थे। उनकी लिपि थी।

जो हिसाब लगाता, बिल बनाता, वह कहता : 'राम राम'। वह यह कह रहा है कि 'मरा, मरा'। वह सब कोड है उनका। मगर वह आदमी यह सोच कर कि कैसे सात्त्विक पुरुष लोग हैं, न तो मोल-भाव करता; क्योंकि इनसे क्या मोल-भाव करना! न ठीक से देखता कि ये हिसाब में क्या लगा रहे हैं, न यह देखता कि ये हीरे दिखा रहे हैं और पत्थर दे रहे हैं। दिखा कुछ रहे हैं, रख कुछ रहे हैं। मगर वहाँ अहर्निश परमात्मा के नामों की गूँज चलती रहती है।

पाखण्ड का उपयोग है। अगर तुम मंदिर जाते हो, तो तुम्हारी दुकान में सहायत मिलती है। लोग सोचते हैं, साधु पुरुष है। झूठ थोड़े ही बोलेगा, जेब थोड़े ही काटेगा!

राम चदरिया ओढ़े बैठे हो तुम। तो तुम चाहे कसाई भी क्यों न होओ, दूसरा आदमी सोचेगा, 'बेचारा राम चदरिया ओढ़े बैठा है। साधु पुरुष है। धन्यभाग जो दर्शन हुए।' और वह छुरी छिपाये है।

मुँह में राम बगल में छुरी। छुरी को छिपाना हो, तो मुँह में राम बड़ा उपयोगी है।

तो कुछ हैं जो पाखण्ड के लिए तप कर रहे हैं। कुछ हैं, जो तप सत्कार के लिए कर रहे हैं, जिनकी आकांक्षा है, कुछ पाने की, फल की। उन्हें थोड़ा-सा फल भी मिलेगा। लेकिन वह फल पानी पर बनी हुई लकीर जैसा होगा। इस तरह के तप को राजस कहा है।

आर फिर ऐसे भी हैं, जो 'मूढ़तापूर्वक, हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए तप कर रहे हैं। वह तप तामस कहा गया है।'

ऐसे लोग भी हैं, जो मूढ़तापूर्वक तप कर रहे हैं। वे जिद्दी हैं, हठी हैं, अकड़े हैं, दम्भी हैं। वे यह करके दिखा रहे हैं कि जो कोई नहीं कर सकता, वह हम करके दिखा रहे हैं। काँटों पर लेट जाते हैं। वे तुमसे यह कह रहे हैं कि तुम सब कायर हो। हमको देखो! वैसे वे मूढ़ हैं, क्योंकि इससे कुछ मिलने वाला नहीं है। इससे उतना भी नहीं मिलने वाला है, जितना राजस को मिल जाता है। राजस तप करने वाले को क्षणभंगुर प्रतिष्ठा भी मिल जाती है; मान सम्मान भी मिल जाता है, वह भी इसे मिलने वाला नहीं है। ज्यादा से ज्यादा राहगीर खड़े हो जाएँगे और चले जाएँगे कि ठीक है। मदारीगिरी से ज्यादा क्या इसका मूल्य हो सकता है? लेकिन मूढ़ व्यक्ति भी तप कर सकते हैं।

मेरे अनुभव में ऐसा आया कि मूढ़ व्यक्ति जिद्दी होते हैं और जिद्दी होने के कारण कोई चीज करना हो, तो जिसको सात्त्विक वृत्ति का व्यक्ति मुश्किल पाए, राजस व्यक्ति भी थोड़ा कठिन पाए, उसे मूढ़ बिलकुल कठिन नहीं पाता। मूढ़ को कोई ऐसी चीज करने को कह दो, जिसमें कोई सार भी न हो, सिर्फ उसके अहंकार को पकड़ जाय तो वह कर लेता है।

तो इस तरह मैंने अनुभव किया है कि अधिक तपस्वी तीसरी कोटि के होते हैं। अब एक आदमी दो महीने तक उपवास करता है। इसे न तो उपवास से पहले कभी कुछ मिला, क्योंकि यह बहुत बार कर चुका है। न इसके जीवन में कोई ऊर्जा का आविर्भाव हुआ, न कोई ज्योति जगी, न कोई धुन बजी, न कोई वीणा छिड़ी। कुछ भी नहीं हुआ है। लेकिन फिर कर रहा है, फिर कर रहा है। यह जिद्दी है, हठी है। यह दुष्ट प्रकृति का है। यह दूसरे को नहीं सता रहा है, अपने को ही सता रहा है।

दुनिया में दो तरह के दुष्ट हैं; एक, जो दूसरों को सताते हैं, और एक, जो अपने को सताते हैं। और ध्यान रखना: पहले तरह के दुष्ट उतने खतरनाक नहीं हैं। क्योंकि दूसरा कम से कम अपनी रक्षा तो कर सकता है। दूसरे प्रकार के दुष्ट बहुत खतरनाक हैं—जो अपने को सताते हैं। वहाँ कोई रक्षा करने वाला भी नहीं है।

अब अगर तुम अपने ही शरीर में काँटे चुभाओ, तो कौन रक्षा करेगा? खुद को ही भूखा मारो, कौन रक्षा करेगा? अंग काट डालो, आँखें फोड़ लो, कान फोड़ दो—कौन रक्षा करेगा? सड़ाओ अपने को, कौन रक्षा करेगा?

लेकिन ये दूसरे तरह के दुष्ट बड़े तपस्वी हो जाते हैं। इनके जीवन में सिवाय मूढ़ता के कुछ भी नहीं होता। तुम कोई लपट न देखोगे इनके जीवन में—प्रतिभा की।

जाओ काशी के सड़कों पर बैठे लोगों को देखो। तीर्थों में तुम्हें इस तरह के मूढ़ मिल जाएँगे। तुम उनके चेहरे पर सिर्फ जघन्य अंधकार पाओगे, घनीभूत अंधकार पाओगे। उनकी आँखों में तुम्हें कोई ज्योति न मिलेगी; तुम उन्हें दुष्ट पाओगे।

तुमने कभी नागा संन्यासी देखे—कुम्भ के मेले पर। ये उसी तरह के लोग हैं, जिस तरह के लोग अपराधी होते हैं। इनमें उनमें कोई फर्क नहीं है। और बड़े मजे की बात है कि अपने आखाड़े में तो वे कपड़ा पहनते हैं और जब वे जुलूस निकालते हैं, तब वे नंगे हो जाते हैं! और भाले, छुरे और तलवारें लेकर चलते हैं।

तुम उनकी आँखों में पाओगे महापाप, घृणित भाव, हिंसा, मूढ़ता। और खतरनाक हैं वे। वे किसी भी वक्त झगड़े के लिए तैयार हैं।

कोई बीस वर्ष पहले कुम्भ में जो भयंकर उत्पात हुआ, वह उन्हीं के कारण हुआ, क्योंकि वे किसी को पहले स्नान नहीं करने देते। अहंकारी की वही तो दौड़ है। वे पहले स्नान करेंगे! फिर दूसरे कोई व्यक्ति प्रवेश कर सकते हैं। और दूसरे लोगों ने प्रवेश करने की कोशिश की, तो उपद्रव मच गया। उसी उपद्रव में सैकड़ों लोग मरे।

साधुओं को ज़रा गौर से देखना, क्योंकि उनमें तीन तरह के साधु हैं। नब्बे प्रतिशत तो उसमें सिर्फ हठी हैं। हठ ही उनका गुण-धर्म है। इसलिए वे कुछ भी कर सकते हैं, यह खयाल रखना। क्योंकि हठी व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। उसमें से नौ प्रतिशत तुम पाओगे कि राजसी हैं, जो मान-प्रतिष्ठा के लिए कर रहे हैं। कभी भूल से तुम्हें वह एक आदमी मिलेगा, जो सात्त्विक है। जो उपवास कुछ पाने के लिए नहीं कर रहा है, जिसका उपवास आनन्द है। जिसका उपवास परमात्मा के निकट होने की सिर्फ एक दशा है।

फर्क समझ लो। सात्त्विक व्यक्ति उपवास करता है। उपवास का अर्थ है, 'उसके'

पास होना—आत्मा के पास होना या परमात्मा के पास होना। शब्द का भी वही अर्थ है। उसका भूखे मरने से कोई लोग-देना नहीं है सीधा। लेकिन जब सात्त्विक व्यक्ति उसके निकट होता है, तो शरीर को भूल जाता है—कुछ घड़ियों के लिए न भूख लगती है, न प्यास लगती है। भीतर ऐसी धुन बजने लगती है, जैसे तुम भी कभी-कभी नृत्य देखने बैठे हो, कोई सुंदर नर्तक नाच रहा है या कोई गीत गा रहा है, और गीत ऐसा प्यारा है कि धुन बँध गई, तारी लग गई, तो तीन घंटे तुम्हें न भूख लगती है, न प्यास लगती है। तुम सब भूल ही जाते हो। जब संगीत बंद होता है, अचानक तुम्हें पता लगता है कि पेट में तो हाहाकार मचा है, भूख लगी है। कंठ सूख रहा है। इतनी देर तक पता क्यों न चला! ध्यान लीन था।

सात्त्विक व्यक्ति का उपवास ऐसा है कि उसका ध्यान इतना भीतर परमात्मा में लीन होता है कि वह भूल ही जाता है कि प्यास लगी है, भूख लगी है। जब लौटता है अपने ध्यान से, तब भूख और प्यास का पता चलता है। इसलिए उसका नाम उपवास है—परमात्मा के निकट वास।

राजस व्यक्ति अनशन करता है, उपवास नहीं। अनशन का मतलब है, उसकी कोई चेष्टा है। जैसे कि मोरारजी देसाई ने किया। वह उपवास नहीं है, वह अनशन है। उसको उपवास कहना गलत है। उसके पीछे आकांक्षा है।

अब मोरारजी देसाई सात्त्विक उपवास कर भी कैसे सकते हैं! सारी चेष्टा यह है कि अब यह जिंदगी जा रही है हाथ से और प्रधान मंत्री वे हो नहीं पाये। डिप्टी कलेक्टर से शुरू हुए और डिप्टी प्राइम मिनिस्टर पर अंत हो गए। वह 'डिप्टी' पीछा कर रहा है उनका। वे डिप्टी से अब घबड़ाए हुए हैं। मरते वक्त तक डिप्टी लिखा रह जाएगा। प्रमुख नहीं हो पा रहे हैं। और मरता क्या न करता! अब वे जीवन दाँव पर लगा देते हैं, कोई भी क्षुद्र बात हो।

अब यह इतनी फिजूल बात थी, जिसका कोई भी अर्थ ही नहीं है। गुजरात में चुनाव दो महीने पहले होते कि दो महीने बाद, इसका कोई भी अर्थ नहीं है। कुछ लेना-देना नहीं है। लेकिन राजसी हैं, राज की आकांक्षा है। कोई महत्त्वाकांक्षा है भारी! दौड़ लगी है।

मोरारजी का उपवास उपवास नहीं कहा जाना चाहिए। वह भाषा के साथ व्यभिचार है। गांधी के उपवास भी उपवास नहीं हैं। क्योंकि उसमें भी आकांक्षा है। कभी उपवास है अम्बेडकर को झुकाने के लिए। कैसे उपवास हो सकता है? हिंसा है सीधी! अब एक आदमी मरने लगे, छोटी-सी बातों पर मरने लगे, तो किसी को भी लगता है कि चलो।

इंदिरा कोई झुकी नहीं है मोरारजी के मामले में, झुकने का कोई कारण न था; सिर्फ

एक मूढ़तापूर्ण बात थी, जिसमें एक आदमी नाहक मरे और उलझन पैदा हो—जिसमें कोई सार नहीं। झुकना ठीक है।

वही अम्बेडकर ने किया, जब देखा कि गांधी मरने को ही उतारू हैं, तो अम्बेडकर झुक गया। मैं मानता हूँ कि उसके झुकने में ज्यादा अहिंसा है। उतनी अहिंसा गांधी के उपवास में नहीं। क्योंकि वह चाहता तो अड़ा रह जाता कि नहीं झुकते; मरो, मरना है तो। क्या फर्क पड़ता है?

अड़ा रह सकता था अम्बेडकर और उससे सम्भावना थी कि वह अड़ा रहे, क्योंकि वह भी जिद्दी आदमी था, लेकिन वह झुक गया। देखा कि इतने मूल्य की बात ही नहीं है कि एक गांधी की हत्या अपने सिर पर ली जाय। ठीक है।

गांधी के उपवास भी आकांक्षा से प्रेरित हैं, उनके पीछे परिणाम हैं, वे आग्रह हैं। और ध्यान रहे, जहाँ आग्रह है, वहाँ सत्याग्रह तो हो ही नहीं सकता।

'सत्याग्रह' शब्द ही गलत है, क्योंकि सत्य का कोई आग्रह नहीं होता। ज्यादा से ज्यादा निवेदन हो सकता है, आग्रह क्या होगा? आग्रह का तो मतलब ही यह है कि 'ऐसा करना पड़ेगा। नहीं करोगे, तो हम मरने को तैयार हैं।'

कुछ लोग हैं, जो कहते हैं कि नहीं करोगे, तो हम मार डालेंगे तुम्हें। कुछ लोग हैं, जो कहते हैं कि नहीं करोगे, तो हम मार डालेंगे हमें। मगर मारने की जिद है। हिंसा की हवा पैदा करना है।

नहीं, राजसी व्यक्ति कभी भी उपवास नहीं कर सकता। गांधी इस बात को समझते थे। वे आदमी ईमानदार थे। मोरारजी तो समझते होंगे कि उपवास ही है। न तो उतनी समझ है गांधी जैसी, न उतना ईमान है। गांधी आदमी ईमानदार थे।

लुई फिशर ने गांधी के सम्बन्ध में एक लेख लिखा और उसने लिखा कि गांधी एक ऐसे धार्मिक पुरुष हैं, जो राजनीतिक होने की जीवन भर चेष्टा करते रहे हैं। तो गांधी ने उत्तर दिया कि 'गलती है बात। मैं पुरुष तो राजनीतिक हूँ, धार्मिक होने की चेष्टा करता रहा हूँ।'

वे ईमानदार हैं, वे जानते हैं कि सत्त्व नहीं है उनका लक्षण; रजस् है। रजस् यानी राजनीति, सत्त्व यानी धर्म। ये जो भी कर रहे हैं, वह निष्काम नहीं है, उसमें कामना है। भला कामना दूसरों के हित के लिए हो।

लेकिन तुम कौन हो तय करने वाले कि दूसरे का हित क्या है! और जब तुम आग्रह करो और कहो कि तुम्हारे हित में हम मरने को खड़े हैं, अगर न मानी हमारी तो हम मर जाएँगे, तो तुम दूसरे के गले में फाँसी लगा रहे हो। यह फाँसी ठीक नहीं है।

मैंने सुना है, एक लफंगे ने एक सुंदर स्त्री के घर पर धरना दे दिया और उपवास

कर दिया। और उसने कहा, 'जब तक तुम विवाह करने के लिए राजी न होओगी, तब तक मैं यहाँ से हटने वाला नहीं। आमरण उपवास।'

बड़ी मुसीबत हो गई। वह स्त्री भी घबड़ाई, घर के लोग भी घबड़ाए। और वह बोरिया-बिस्तर बाँधे सामने बैठा है। और कहीं भी बैठ जाओ बोरिया-बिस्तर बाँध कर—फोटोग्राफर आ गए और अखबार वाले आ गए। वे तो इस उपद्रव की तलाश में हैं। समाचार की सुर्खी मिल गई। नेतागण आ गए, ट्रेड युनियनिस्ट आ गए। उन्होंने कहा, 'हड़ताल करवा देंगे। तुम बिलकुल जमे रहो। सरकार को डाँवाडोल कर देंगे। यह तो प्रेम का मामला है; इसमें तो आदमी...।'

घबड़ा गये घर के लोग। दो दिन हड़ताल चली। बड़ी मुसीबत हो गई। किसी समझदार से, किसी बूढ़े से जाकर पूछा कि 'क्या करें?' उसने कहा, 'तुम घबड़ाओ मत। मैं रास्ता बताता हूँ। एक बूढ़ी वेश्या है, जिसकी तरफ अब कोई देखता भी नहीं। उसको दस-पच्चीस रुपया दे दो। वह हड़ताल कर दे, इसके खिलाफ—आमरण—कि जब तक तुम हमसे विवाह न करेगा। तब तक...। उसका भी बोरिया-बिस्तर लगा दो।'

तब तो पूरे गाँव में तहलका मच गया। उसने भी बोरिया-बिस्तर लगा दिया। लफंगे ने देखा कि यह तो मुसीबत हो गई। वह उसी रात भाग गया।

तो मोरारजी का अनशन तुड़वाने के लिए और कोई उनसे भी ज्यादा मरा हुआ बूढ़ा आदमी खोज लेना था, वह ज्यादा सरल बात थी कि वह कहता कि 'हम मर जाएँगे, अगर तुमने अनशन न तोड़ा।' फिजूल की बकवास है। लेकिन राजस चित्त कुछ पाने के लिए, आकांक्षा के लिए, फल के लिए उत्सुक है।

और तीसरा जो है, वह तो सिर्फ मूढ़तावश तप करता है। उसके मन में तो सिर्फ हिंसा और अज्ञान है।

'हठ से, मन, वाणी और शरीर को पीड़ा पहुँचा कर...।' वह अपने को कष्ट पहुँचाता है। या ज्यादा से ज्यादा उसकी आकांक्षा होती है, तो दूसरे का अनिष्ट करने की होती है।

मैंने सुना है, एक बड़ी पुरानी कहानी है पंचतंत्र में कि एक आदमी को निरंतर भक्ति करने से कोई देवता प्रसन्न हो गया। और उसने कहा, 'माँग ले—तू जो भी माँगता हो।' तो उसने कहा, 'जो भी मैं माँगू कभी भी—वह मुझे मिले, यही मैं माँगता हूँ।' होशियार आदमी रहा होगा, गणितज्ञ रहा होगा, एक माँग में खत्म हो जाती बात; तो उसने कहा कि 'मैं यही माँगता हूँ कि जो भी कभी माँगू वह मुझे मिल जाय।'

देवता ने देखा कि यह तो चालाकी कर रहा है। वरदान एक दिया था, इसने तो

करोड़ माँग लिए, अनंत माँग लिए। देवता ने कहा, 'वही देता हूँ, लेकिन सिर्फ एक शर्त है कि जो तुझे मिलेगा, वह तेरे पड़ोसियों को दुगना होकर मिलेगा।'

बस, बात खत्म हो गई। अब वह आदमी बड़ी मुश्किल में पड़ गया। यही तो मूढ़ आदमी की दिक्कत है। उसे खुद से कोई मतलब नहीं है। खुद को चाहे दुःख भी मिले तो चलेगा; किसी को सुख न मिल जाय।

अब वह बड़ी मुश्किल में पड़ गया। उसने माँगा—महल। महल तो बन गया। लेकिन दुगुने बड़े महल पड़ोसियों के बन गये। वह फिर नीचे के नीचे रह गया। उसने कहा, 'इसमें तो कोई सार न रहा। इससे तो झोपड़ी ही बेहतर थी। फल क्या है इसका?' उसने माँगा धन; दुगना धन पड़ोसियों के घर में बरस गया। उसने कहा, 'ऐसे नहीं चलेगा। यह देवता तो चालाकी कर गया!'

तो उसने कहा, 'मेरी एक आँख फोड़!' उसकी एक फूटी; पड़ोसियों की दोनों फूट गईं। उसने कहा, 'अब मेरे घर के सामने एक बड़ा कुआँ बना दे।' उसके घर के सामने एक कुआँ बना, पड़ोसियों के घर के सामने दो कुएं बन गए। अब उसको तृप्ति हुई। खुद की आँख गई, उसकी कोई चिंता नहीं। अब तृप्ति हो गई कि अंधे कुओं में गिरेंगे। जाएँगे कहाँ? सारा पड़ोस अंधा हो गया; दो-दो कुएँ हर घर के सामने हो गये। अब उसको शांति हुई।

वह जो मूढ़ चित्त का व्यक्ति है, उसको अपने सुख में रस नहीं होता। उसका एक ही सुख होता है कि दूसरों को वह कितना दुःखी करे।

और बहुत बार तुम्हारे भीतर भी यही स्वर होता है। तुम्हें इसकी फिक्र नहीं होती कि तुम्हें कितना मिल रहा है, तुम्हें इसकी फिक्र होती है कि पड़ोसी को कितना मिल रहा है। अगर उसको कम मिल जाय, तो तुम्हें जितना मिल रहा है, उतने में भी सुख मालूम पड़ता है। उसको ज्यादा मिल जाय और तुम्हें भी ज्यादा मिल जाय, तो भी रस नहीं मालूम होता, क्योंकि उसको भी ज्यादा मिल गया।

मूढ़ चित्त दूसरे को दुःख देने में अपना सुख मानता है। यह तमस् का लक्षण है। राजस व्यक्ति अपने को सुख देने में सुख मानता है। सत्त्व का व्यक्ति दूसरे को सुख देने में सुख मानता ह। और तुम्हारे जीवन को सारी गतिविधियाँ इन तीन हिस्सों में बँटी है।

अपनी हर गति-विधि का गौर से निरीक्षण करना। वह सत्त्व है, रजस् है या तमस है? और चेष्टा करना तमस् से रजस् में उठने की, रजस् से सत्त्व में उठने की।

अगर कोई स्वाध्यायपूर्वक अपनी वृत्तियों का, अपनी दृष्टियों का, धारणाओं का, मनोभावों का ठीक-ठीक अध्ययन करता रहे, तो उस अध्ययन से ही तुम्हारे भीतर सीढ़ियाँ लग जाएँगी। और जैसे-जैसे तुम सत्त्व के करीब आते हो, वैसे-वैसे श्रद्धा के

करीब आते हो। जैसे-जैसे सत्त्व के करीब आते हो, वैसे-वैसे भगवत्ता के करीब आते हो।

भगवान् दूर नहीं हैं। उतना ही दूर है, जितनी तुम्हारे जीवन की दूरी सत्त्व से है। वह दूरी तुम पूरी कर लो, भगवान् बरस जाता है।

कबीर ने कहा है, गगन घटा घहरानी साधो — ऐ साधुओ! आकाश में परमात्मा की घटा गहन हो गई है, क्योंकि श्रद्धा का जन्म हुआ है, क्योंकि सत्त्व की उपलब्धि हुई है।

आज इतना ही।

कृष्णमूर्ति, मेहरबाबा और रजनीश • माँग की क्षुद्रता संदेह और श्रद्धा के पार • दान—सात्त्विक, राजस, तामस

नौवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, प्रातः, दिनांक २९ मई, १९७५

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेश काले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

हे अर्जुन, दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार न करने वाले के लिए दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।

और जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को उद्देश्य रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है।

और जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक, अयोग्यदेश-काल में कुपात्रों के लिए दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है।
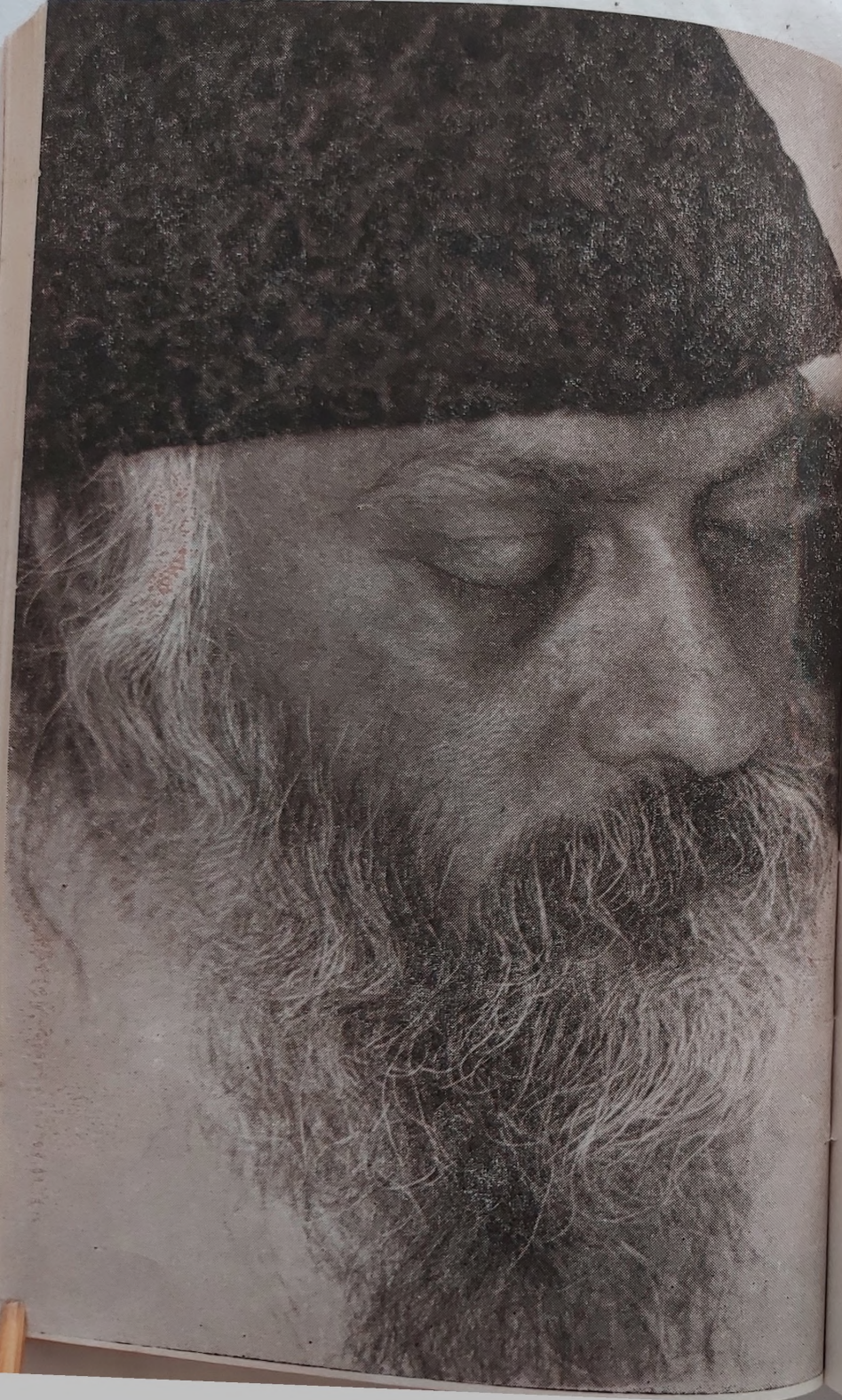
पहले कुछ प्रश्न।

● सद्‌गुरु अलग-अलग होते हैं और किसी एक सद्‌गुरु को मानने वाला दूसरे सद्‌गुरु को स्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन हम बुद्ध, महावीर, लाओत्से, जीसस, कृष्ण—सभी के प्रति झुक जाते हैं। इसकी वज़ह यह हो सकती है कि आपने ही हमें उनके उन्मुख किया। जीवित गुरु कृष्णमूर्ति को देख कर भी हमारा हृदय आनंदविभोर हो उठा है, पैर थिरक उठे हैं। क्यों? और समझ में नहीं आता कि कृष्णमूर्ति के प्रेमी आपको क्यों स्वीकार नहीं कर सकते?

सद्‌गुरु निश्चित ही भिन्न-भिन्न हैं। विशेषकर तीन वर्ग किये जा सकते हैं। एक वर्ग है कृष्णमूर्ति जैसे सद्‌गुरुओं का; महावीर, बुद्ध उसी पंक्ति में आते हैं। इस प्रकार के सद्‌गुरु का एक ही उपदेश है कि तुम परिपूर्ण रूप से स्वतंत्र हो जाओ, निर्भर न रहो। तुम्हारी स्वतंत्रता में ही तुम्हारा मोक्ष है। मोक्ष कोई अंतिम घटना नहीं है। पहले कदम से ही मुक्त होना सीखना पड़ेगा, तो ही अंतिम कदम पर मुक्ति फलित होगी।

कृष्णमूर्ति की प्रसिद्ध किताब है : द फर्स्ट एण्ड द लास्ट फ्रीडम—पहली और अंतिम मुक्ति। पहली मुक्ति ही अंतिम मुक्ति है और पहला कदम ही, स्वतंत्रता का, अंतिम कदम है। तो न तो किसी की शरण जाना, न कहीं समर्पण करना, न किसी विचार से बँधना, श्रद्धा से बचना। महावीर ने इसी बात को अशरण-भाव कहा है—किसी की शरण न जाना।

बुद्ध ने मरते समय जो आखिरी संदेश दिया... आनंद ने पूछा कि 'कुछ आखिरी बात हमें कह दें, जिसे हम सदा संजो कर रख सकें।' तो बुद्ध ने कहा: 'अप्प दीपो भव! अपने दीये खुद बनना। किसी का दीया उधार मत माँगना और किसी दूसरे की रोशनी मत लेना, तो ही तुम परम मुक्ति को उपलब्ध हो सकोगे।'

स्वभावतः जिसने ऐसे गुरु के वचन सुने हों, वह किसी दूसरे के पास नहीं आ सकता। उसे तो कठिन है कृष्णमूर्ति के पास भी रहना। क्योंकि अगर उसने ठीक से सुना है, तो वह उनसे भी भाग खड़ा होगा। उसने अधूरा सुना है, इसलिए वह उनके पास खड़ा है। लेकिन इतना तो उसने सुन ही लिया है कि अब वह किसी और के पास नहीं जाएगा, कहीं और नहीं झुकेगा। ज्यादा से ज्यादा वह कृष्णमूर्ति के प्रति झुकेगा। वह भी ठीक नहीं सुनी बात उसने, अन्यथा वह भी रुक जाना चाहिए। क्योंकि, कृष्णमूर्ति हों कि कृष्ण हों कि बुद्ध हों, क्या फर्क पड़ता ? तुम झुके कि चूक हो गयी। वहाँ झुकने का ही विरोध है।

लेकिन, फिर भक्त तो समझौते बनाता है। वह कहता है, 'इतना चलेगा—एक के प्रति झुकेंगे, और किसी के प्रति न झुकेंगे। और इस आदमी के प्रति तो झुकेंगे, क्योंकि इसने ही सिखाया कि किसी के प्रति मत झुको।' लेकिन दूसरे सब द्वार बंद हो जाते हैं। ऐसा आदमी संकीर्ण हो जाता है।

अब यह बड़े सोचने जैसे बात है, कृष्णमूर्ति, बुद्ध और महावीर किसी को संकीर्ण नहीं बनाना चाहते; चाहते हैं, तुम मुक्त आकाश जैसे हो जाओ। इसीलिए कहते हैं, किसी से बँधना मत। ज़ोर इसीलिए है, ताकि तुम बँधो न, कोई कारागृह खड़ा न हो—तो तुम मुक्त—खुले आकाश जैसे रहोगे, तुम्हारी कोई सीमा न होगी, कोई सम्प्रदाय न होगा, कोई शास्त्र न होगा।

लेकिन, जो कृष्णमूर्ति कहते हैं, वही थोड़ी सुनने वाला सुनता है। हाँ, कोई कृष्णमूर्ति ही सुन रहा हो, तो वह वही सुनेगा, जो कृष्णमूर्ति कहते हैं ? लेकिन कृष्णमूर्ति को सुनने कृष्णमूर्ति क्यों जाएगा ? सुनने वाला अपने तल से सुनता है। वह कहता है, 'बिल्कुल ठीक, कहीं नहीं झुकना है; यह तो हम पहले से ही जानते थे।' वह उसका अहंकार बोल रहा है—मोक्ष नहीं, स्वतंत्रता नहीं।

जब कृष्णमूर्ति कहते हैं, मत झुको कहीं, तो वे यह नहीं कह रहे हैं कि अकड़े खड़े रहो। वे यह कह रहे हैं कि झुकने से तो गुलामी बन जाएगी। तो 'किसी' के प्रति मत झुको, सिर्फ झुको। किसी के प्रति नहीं, प्रति न हो; सिर्फ झुकना हो। समस्त के प्रति झुको, यह संदेश है ! मुक्त आकाश के प्रति झुको; क्या छोटे-छोटे आँगन के प्रति झुकना ? जब बड़ा मौजूद हो तो क्यों छोटे के लिए झुकना ? जब विराट् मौजूद हो तो क्यों क्षुद्र के लिए झुकना ? जब असीम मौजूद हो तो सीमा को क्यों झुकना ? वे यह कह रहे हैं कि झुको—पूरे के लिए। सुनने वाला समझ रहा है, झुको ही मत, अकड़े रहो।

कृष्णमूर्ति डरते हैं कि कहीं तुम किसी के सामने झुके—चाहे वह कोई कृष्ण ही क्यों न हो—तो भी तुम बँध जाओगे। उतना भी उनको लगता है कि बंधन न हो, अड़चन

हो जाएगी। लेकिन तुम समझ रहे हो कि अपने से ही बँधे रहो, झुको ही मत। इससे तो बेहतर था कि तुम कृष्ण के प्रति ही झुक जाते। तुमसे तो वे बड़े ही थे। तुम तो बिलकुल क्षुद्र हो, क्षुद्रतम हो।

लेकिन सुनने वाला वही सुन सकता है, जो वह है। उसकी अपनी व्याख्या है। उसकी अपनी टीका है। तो कृष्णमूर्ति के पास सुनने वाले निन्यानवे तो चूक जाते हैं कि वे क्या कह रहे हैं। मुश्किल से एक समझ पाता है। उस एक को मेरे पास आने में कोई अड़चन न होगी। वह मेरे इतने पास आ जाएगा, जितने पास आया जा सकता है; कोई अड़चन न होगी। क्योंकि उसने समझ लिया, झुकना नहीं है, बँधना नहीं है; वह मुक्त हो गया; सब द्वार खुले हैं। अब उसकी गंगा कहीं भी बह सकती है। सब मार्ग अपने हैं। लेकिन वह एक को होगा, निन्यानवे तो कृष्णमूर्ति से बँध जाएँगे। इसी ने सिखाया न झुकना, इसने ही अहंकार को पुष्टि दी—अब इसको छोड़ के वे नहीं जा सकते, क्योंकि जहाँ भी जाओ, लोग कहते हैं, झुको।

तो एक तो कृष्णमूर्ति के ढंग के सद्‌गुरु हैं—बुद्ध, महावीर। दूसरे मेहरबाबा के ढंग के सद्‌गुरु हैं। वह दूसरा ढंग है। वह ठीक कृष्णमूर्ति से उलटा है। वहाँ झुकना ही कला है। वे कहते हैं, बिलकुल झुक जाओ, बचो ही मत। गुरु परमात्मा है। वही परम है। तुम बिलकुल झुक जाओ। तुम अपने को खो ही दो।

मेहरबाबा जैसे गुरु हैं कृष्ण, जो अर्जुन को कहते हैं : मामेकं शरणम् व्रज। सब छोड़—सब धर्म छोड़, मेरी शरण आ। चैतन्य महाप्रभु—सारे भक्ति के मार्ग से उपलब्ध हुए जितने भी लोग हैं, वे सब कहेंगे, 'छोड़ दो—सब छोड़ दो।'

जीसस कहते हैं, 'सब छोड़ो। कम, फॉलो मी ! आओ, मेरे पीछे चलो।'

यह दूसरा वर्ग है। इस वर्ग को भी समझ लेना चाहिए। यह वर्ग यह कह रहा है कि तुम इतने झुक जाओ की तुम बचो ही नहीं। दूसरा थोड़े ही बाँधता है; तुम्हारी वह जो क्षुद्र अस्मिता है, वही बँधती है। दूसरा क्या बाँधेगा ? अगर अहंकार न हो तुम्हारे पास, तो संसार में तुम्हें कोई भी नहीं बाँध सकता। बाँधने को ही कुछ न बचा। अहंकार जब तुम्हारे भीतर नहीं रह जाता, तुम खुले आकाश हो गये। इसको कोई मुट्ठी में बाँधना चाहे ? कोई भी नहीं बाँध सकता।

तो वे कहते हैं, झुकने से डरो मत, अन्यथा बँध जाओगे। ज़रा तुम बचे, कि अकड़ थोड़ी बची रही—वही अकड़ तो बँधती है जगह-जगह। उसी अकड़ पर तो जंजीरें पड़ जाती हैं। वही अहंकार तो तुम्हारी सारी उपाधियों, सारे रोगों की जड़ है। वही तो तुम्हें संसार में भटकाता है। वही तो तुम्हें धन से बाँध देता है, पद से बाँध देता है। तुम धन से बँधोगे, पद से बँधोगे, पत्नी से बँधोगे, पति से बँधोगे; सिर्फ गुरु से बचना चाहते हो ? जबकि गुरु एकमात्र ऐसा बंधन है, जो मुक्ति बन सकता है।

तो मेहरबाबा की कोटि के सद्गुरु कहते हैं, 'छोड़ दो अपने को बिलकुल, भूल ही जाओ कि तुम हो। परतंत्र होने को कोई है ही नहीं, इस तरह मिट जाओ। फिर तुम्हें कौन परतंत्र करेगा? इसलिए समर्पण पूरा कर दो।'

ध्यान रखना, दुनिया में सौ में से एक प्रतिशत लोग कृष्णमूर्ति, बुद्ध और महावीर के मार्ग से पहुँच सकते हैं, इससे ज्यादा नहीं। क्योंकि अहंकार बड़ी भयंकर व्याधि है। उस मार्ग में स्वतंत्रता के नाम पर अहंकार को ही पुष्टि मिलेगी।

मेहरबाबा जैसे व्यक्तियों के साथ जितने लोग पहुँचते हैं, वह संख्या निन्यानबे प्रतिशत है। क्योंकि, अगर तुम छोड़ दो अहंकार, तो न कुछ बँधने को रहा, न कुछ मुक्त होने को रहा। अगर तुम बचे रहे—तुम्हारे मोक्ष में भी—तो तुम्हारा मोक्ष भी संसार होगा। मोक्ष कोई स्थान थोड़े ही है, जहाँ तुम्हें जाना है; मोक्ष तो एक अवस्था है, जहाँ तुम्हें नहीं बचना है।

तो कृष्णमूर्ति के मानने वाले को एक तो मोक्ष बहुत दूर। क्योंकि वह उस मानने में से अपने अहंकार को बचाएगा। लेकिन कोई एक उससे भी उपलब्ध होता है। इसलिए कृष्णमूर्ति, बुद्ध और महावीर के मार्ग को मैं हीनयान कहता हूँ; वह छोटी डोंगी है, वह कोई बड़ा जहाज नहीं है, महायान नहीं है। उसमें थोड़े-बहुत लोग बैठ के नदी पार हो जाते हैं। पार होते हैं। डोंगी में कुछ हर्जा नहीं है; उससे भी पार हो सकते हैं। और डोंगी में एक तरह की स्वतंत्रता है—जब खेना हो खेओ, न खेना हो मत खेओ; रुकना हो किसी किनारे पर थोड़ी देर, तो रुको; न रुकना हो तो मत रुको। लेकिन खतरा भी है, क्योंकि डोंगी अकसर डूबती है, पहुँचती कम है। स्वतंत्रता थोड़ी ज्यादा है, लेकिन खतरा भी उतना ही ज्यादा है। और अकसर तो यह होता है कि तुम पहुँच ही नहीं पाते। अकसर तो थोड़ा भटक-भटक के अपने किनारे पर वापस आ जाते हो।

मैंने सुना है, एच. जी. वेल्स ने एक कहानी लिखी है। एक आदमी था। वह उसी ढंग का आदमी रहा होगा, जिसको हम शेखचिल्ली कहते हैं; या स्पेन में जिसके ऊपर एक बड़ी प्रसिद्ध किताब लिखी गई है—डान कुईज़ोट। शेखचिल्ली ढंग का आदमी रहा होगा। उसने एक किताब पढ़ी। और किताब में वर्णन था कि प्राचीन समय में लोग छोटी-छोटी डोंगियों से समुद्र पार कर जाते थे। जहाज तो थे नहीं, लेकिन समुद्र तो लोगों ने पार किया ही है। अर्जुन की एक पत्नी मैक्सिको से आई थी। तो जहाज तो बड़े नहीं थे, डोंगियों में ही आई होगी, डोंगियों में ही लाई गई होगी; लोग तो यात्रा कर रहे थे। और अब तो मैक्सिको की पत्नी की बात करीब-करीब ऐतिहासिक हो गई है, क्योंकि मैक्सिको में बहुत-से हिन्दू-चित्र मिले हैं, मूर्तियाँ मिली हैं, मंदिर मिले हैं। मैक्सिको कभी हिन्दू देश रहा, इसके सब प्रमाण जुट गये हैं। महाभारत

में उसका नाम मक्षिका है। मैक्सिको मक्षिका का ही अपभ्रंश मालूम होता है।

तो लोग चलते रहे होंगे, बिना बड़े जहाजों के। उसने ये सब कहानियाँ पढ़ीं, वह बहुत उत्तेजित हो गया। उसने भी एक डोंगी खरीदी। तीन महिने का भोजन, सामान तैयार करके रखा—हलके से हलका, क्योंकि ज्यादा वजन ले जा नहीं सकता था। विटामिन की गोलियाँ रख लीं और सब इंतजाम कर लिया और चल पड़ा। बड़ा संघर्ष था, भयंकर तूफान थे। लेकिन हिम्मतवर आदमी था, जूझता रहा। तीन महीने पूरे होने को करीब आये, तब उसे थोड़ी घबराहट भी होने लगी—कहीं पहुँचता हुआ नहीं मालूम पड़ता। रात थी, सुबह हुई; देखा कि ज़मीन करीब है। बहुत आनंदित हो गया। भगवान् को धन्यवाद दिया कि पहुँच गये। बड़ी प्रसन्नता से किनारे पहुँचा। देख कर चकित हुआ। चकित यह हुआ कि कहानियों में उसने यही सुना था कि जब तुम पहुँचोगे दूसरे देश, तो वहाँ के लोग दूसरी भाषा बोलेंगे। ये लोग अंग्रेजी ही बोलते हैं—यहाँ भी—तीन महीने की यात्रा के बाद! जब वह और थोड़े पास गया, और लोगों को देखा तो पता चला कि यह तो उसी का गाँव है। अपने ही गाँव—तीन महीने उपद्रव में उलझ के—वापस डोंगी लग गयी। यह भी बहुत कि कम से कम अपने गाँव ही लग गयी।

सागरों में डोंगियाँ लेकर यात्रा करना कठिन काम है। कहीं पहुँचोगे, इसकी संभावना कम है।

तो, जो समझ सकता है...(और कितने लोग समझ सकते हैं?)...वह कृष्णमूर्ति की डोंगी में भी पहुँच जाएगा। जो नहीं समझ सकता...(और बहुत लोग हैं, जो नहीं समझ सकते।)...उसके लिए तो मेहरबाबा का बड़ा जहाज चाहिए—जहाँ तुम्हें कुछ करना ही नहीं पड़ता; तुम सब छोड़ देते हो गुरु पर, तुम अशेष भाव से छोड़ देते हो, तुम कुछ बचाते ही नहीं। गुरु कहे, कूद जाओ, तो कूद जाते हो; गुरु कहे, रुको, तो रुक जाते हो। तुम्हारा अपना कोई अब निर्णय न रहा। तुम न रहे।

एक मार्ग यह है। जो पहुँचे हैं, उनमें से निन्यानबे प्रतिशत इससे पहुँचे हैं।

तीसरा और एक मार्ग है, जिसके बाबत मैं तुमसे चर्चा कर रहा हूँ। वह मार्ग इन दो को अलग-अलग नहीं तोड़ता। इन दो मार्गों की, जिनकी मैंने तुमसे बात की—कृष्णमूर्ति और मेहरबाबा, ये दो अति मालूम होते हैं— दो छोर। मैं जिस मार्ग की तुमसे बात कर रहा हूँ, वह इन दोनों का सम्मिलन है, वह इन दोनों का ऐक्य है। क्योंकि, मैं कहता हूँ कि सौ ही आदमी पार होने चाहिए; क्यों निन्यानबे पार हों? एक क्यों चूके? या क्यों एक पार हो और निन्यानबे क्यों चूकें? तो मैंने कुछ ऐसा इन्तजाम किया है कि बड़े जहाज के आसपास छोटी-छोटी डोंगियाँ भी बाँध दी हैं। तो जिनका शौक डोंगी में ही बैठने का है, डोंगी में बैठ जाएँ, लेकिन जहाज से बँधे

रहें। कुछ लोग हैं, जिनको डोंगी में बैठने का आनंद है। उनको चैन ही न मिलेगी, जब तक तकलीफ न हो, कुछ घबड़ाहट-बेचैनी न हो। वे बैठ जाएँ डोंगी में, लेकिन डोंगी जहास से बँधी है।

तो मैं दोनों के लिए बोल रहा हूँ—एक प्रतिशत के लिए भी, निन्यानबे प्रतिशत के लिए भी। इसलिए तुम्हें जहाँ भी कोई ज्ञानी मिल जाये, तुम मजे से झुको। तुम पूरी तरह झुको।

मेरे शिष्य को किसी भी ज्ञानी में मुझे ही देखना चाहिए, इससे कम नहीं। तुम झुको पूरी तरह। कोई तुम्हें बाँध न पाएगा। बँधने का बँध जाने का, डर भी थोड़ी कमज़ोरी का लक्षण है। क्या बँधना है? कौन बाँध लेगा? यह भी भय है कि कहीं बँध न जाएँ। ऐसे छोटे भय ले कर क्यों जीते हो? भयभीत न रहो।

तुम्हें जहाँ कोई सद्‌गुरु दिखे, पूरी तरह झुक जाओ। चाहे वह सद्‌गुरु यही कह रहा हो कि झुकना ठीक नहीं है, तब भी झुको। इतना भी सिखाया उसने, तो भी अनुग्रह! यह भी बड़ी बात कही उसने! तो भी धन्यवाद!

तो मेरे पास जो हैं, उनके लिए मेहरबाबा हों, कि कृष्णमूर्ति हों, बुद्ध हों कि कृष्ण हों, राम हों कि मुहम्मद हों, कोई फर्क नहीं है। क्योंकि, मैं तुम्हें ऊपर की खोलों के फर्क नहीं सिखा रहा हूँ, तुम्हें भीतर की चेतना का राज बता रहा हूँ।

तुम सब जगह झुको। कोई तुम्हें बाँध न पाएगा। समर्पण में तुम्हारी मुक्ति है। तुम वहाँ भी जाओ, जो कहता है कि सब समर्पण गलत है। उसकी भी सुनो। क्योंकि एक प्रतिशत उससे भी मुक्त होते हैं। कौन जाने, तुम उस एक प्रतिशत में होओ।

तुम्हारे लिए मैंने सब द्वार खुले छोड़ दिये हैं, कोई द्वार बंद नहीं रखा है। मैं कोशिश कर रहा हूँ, तुम्हें इतना विराट् बनाने की कि तुम्हें अगर कोई बाँध के भी ले जाए, तो तुम तो न बँधो, बाँध के ले जाने वाले को तुम्हारे साथ मुक्त होना पड़े।

ऐसा भी हुआ है।

डायोजनीज़, यूनान में एक फकीर हुआ। महावीर की तरह फकीर था, नग्न रहता था, अलमस्त आदमी था, कोई चिंता-फिक्र न थी; तो मस्त था, शरीर स्वस्थ था, शक्तिशाली था। कुछ लोग निकल रहे थे जंगल से और वह एक झाड़ के नीचे विश्राम कर रहा था। आठ आदमी थे वे। उनका धंधा गुलामों को बेचना था। उन्होंने इस मस्त आदमी को सोये देखा। उन्होंने कहा कि अगर यह पकड़ में आ जाए...। लेकिन इसको पकड़ो कैसे? हालाँकि यह सो रहा है, हम आठ हैं; मगर अगर यह जाग गया तो मुसीबत खड़ी हो जाएगी। अगर यह हाथ आ जाए तो खूब दाम मिल सकते हैं। हमने बहुत गुलाम बेचे हैं, मगर इस गुलाम को तो बाज़ार में ले जाएँगे तो ऐसा हीरा कभी आया ही नहीं, इसके तो बड़े दाम मिल जाएँगे।

क्या करें, वे विचार ही कर रहे थे कि उनकी बातचीत सुनकर डायोजनीज़ की नींद खुल गई। तो उसने आँखें बंद ही किये कहा कि 'तुम परेशान मत होओ, बाँध लो। चलूँगा साथ, घबड़ाओ मत।' वे और भी घबड़ाये कि यह आदमी किस तरह का है! आदमी को गुलाम बनाना हो तो हजार झंझटें खड़ी करता है; कमजोर आदमी भी करता है। वह भी उछलकूद मचाता है, शोरगुल मचाता है, मार-पीट करेगा, उसमें भी ताकत आ जाती है। और यह आदमी ऐसे ही पड़ा है, और आँखें ही बंद किये...आँख खोल कर भी नहीं देखा कि कौन हो, क्या हो?

उसने कहा कि 'ज्यादा चिंता-फिक्र मत करो; चिंता-फिक्र का मैं दुश्मन हूँ। यही मेरी शिक्षा है कि चिंता-फिक्र छोड़ो। तुम बाँध ही लो। मैं चलने को राजी हूँ। मैं कोई अड़चन खड़ी न करूँगा।'

डरते-डरते उन्होंने उसके हाथ बाँधे। उसने हाथ आगे कर दिये। बाँध तो लिया उसे, लेकिन भीतर कुछ टूट गया उनके। यह आदमी बाँधने जैसा है नहीं। इतना स्वतंत्र आदमी उन्होंने देखा ही न था, जो बँधने को इतनी आसानी से राजी हो। सिर्फ परम स्वतंत्र आदमी ही बँधने को राजी हो सकता है। उसको अपने पर इतना भरोसा है, अपनी स्वतंत्रता की इतनी श्रद्धा है कि क्या तुम उसे मिटाओगे! और जिसको आठ आदमी मिल कर मिटा दें, वह भी कोई मोक्ष है, वह भी कोई स्वतंत्रता है, मुक्ति है? जिसको कोई गुरु मिटा दे, वह भी कोई मोक्ष है?

कृष्णमूर्ति के पास कमज़ोर आदमी इकट्ठे हो गये हैं—अहंकारी और कमज़ोर। अपने को बचाने में लगे हैं, डर रहे हैं। इसलिए वे मेरे पास कैसे आएँगे? यहाँ खतरा हो सकता है।

डायोजनीज़ बँध गया। उसने फिर पूछा कि 'किस तरफ चलें? तुम बता दो, क्योंकि मैं ज़रा तगड़ा आदमी हूँ। अगर मैं पूरब जाऊँ, तो तुम को पूरब जाना पड़ेगा। तुम आठ कुछ कर न पाओगे। इसलिए तुम मुझे राह बता दो। और एक आदमी आगे हो जाए; कहाँ चलना है?'

एक आदमी आगे हो गया। लेकिन रास्ते में उन लोगों पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ने लगा। उसकी मस्ती, उसकी चाल! वह गीत गुनगुनाये! वह जैसे कि जंगल से लाया शेर हो! और इतना निर्भीक कि तुम उसे बाँध भी न सको, बँधने को भी खुद ही राजी हो!

आखिर वे पूछने लगे, 'तुम आदमी किस तरह के हो? ऐसा आदमी हमने देखा नहीं, जिंदगी हमें गुलामों का धंधा करते हो गई।' उसने कहा, 'तुम भी गुलाम हो। गुलामों का धंधा करने वाले गुलामों से बेहतर नहीं हो सकते।' जो तुम्हें बाँधते हैं, याद रखना, वे भी बँधे हुए ही लोग हो सकते हैं! कौन मुक्त आदमी तुम्हें बाँधेगा?

क्योंकि मुक्त भलीभाँति जानता है कि जिसको तुम बाँधोगे, उससे तुम बँध जाओगे। बंधन एकतरफा नहीं होता। बंधन दोधारी धार है। जब मैं तुम्हें बाँधूँगा, तब मैं भी बँधा तुम्हारे साथ। तुम जहाँ घसिटोगे, मुझे भी घसिटना पड़ेगा।

डायोजनीज़ ने कहा, 'हम इस राज़ को समझ गये कि गुलाम ही गुलामों को बाँधते हैं, परतंत्र लोग ही परतंत्रों को परतंत्र करते हैं। हम स्वतंत्र हैं। तुम हमें क्या बाँधोगे? हम खुद ही बँधे हैं!'

उससे बड़े प्रभावित हो गये। उन्होंने धीरे-धीरे अपनी जंजीरें भी निकाल लीं। उन्होंने कहा कि 'तुम पर जंजीरें...! तुम तो वैसे ही चल रहे हो साथ।' वह साथ रहा। बाजार आ गया। भीड़ लग गई उसके आसपास। लेकिन लोगों को तय करना मुश्किल हुआ कि मालिक कौन है, गुलाम कौन है! उन मालिकों ने—तथाकथित मालिकों ने—आवाज भी दी, बताया भी कि हम एक गुलाम को ले आये हैं। लोगों ने गुलाम को देखा—बहुत शक्तिशाली, बिना जंजीरों के!

डायोजनीज़ ने कहा कि 'रुको, तुमसे न चलेगा काम।' वह खड़ा हो गया टिकठी पर, जिस पर खड़े करके नीलाम किये जाते थे गुलाम, और उसने खड़े हो कर जो बात कही, वह बड़ी अनूठी है। उसने कहा कि 'एक मालिक बिकने आया है, कोई गुलाम खरीदने को तैयार है?'

'एक मालिक बिकने आया है, कोई गुलाम खरीदने को तैयार है!'

मालिक तो मालिक है—कारागृह में भी। और गुलाम तो गुलाम ही रहेगा—खुले आकाश के नीचे भी। क्योंकि गुलामी या स्वतंत्रता बाहर की घटनाएँ नहीं, जंजीरों से उनका कुछ लेना-देना नहीं; वह भीतर की गुणवत्ता है।

इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ, झुको! जहाँ तुम्हारी मौज आये वहाँ झुको। कृष्णमूर्ति मिलें तो नाचो, झुको, नमस्कार करो। वहाँ भी दीया जला है। वह दीया तो एक ही सूरज की रोशनी है। तुम्हें मेहरबाबा मिल जाएँ रास्ते पर, उनके साथ भी हो लो, उनके साथ भी नाचो। अगर तुम ठीक से समझो तो यही मेरा तुम्हें मुक्त करने का उपाय है। इसलिए मैं कृष्ण पर बोलता हूँ, बुद्ध पर बोलता हूँ, महावीर पर बोलता हूँ —ताकि तुम कहीं बँध न जाओ; सबसे मुक्त हो जाओ, तुम सबको प्रेम कर सको, और सबसे मुक्त हो जाओ।

और, यह बड़े मजे की बात है और बड़ी जटिल है, विरोधाभासी है—अगर तुम सबसे मुक्त होना चाहते हो, तो सबके प्रति समर्पित हो जाने के सिवाय कोई उपाय नहीं। तब तुम्हें कोई भी न बाँध पाएगा। तब न महावीर, न बुद्ध, न कृष्ण—तुम्हें कोई भी न बाँध पाएगा। हो, अगर तुम समर्पित हो, कौन तुम्हें बाँध पाएगा? फिर उस समर्पण के बाद तुम चाहे अकेले खड़े रहो, चाहे किसी के पीछे चलो, कोई भी फर्क

नहीं पड़ता। चाहे तुम डोंगी में यात्रा करो, चाहे एक बड़े जहाज में बैठ जाओ, कोई फर्क नहीं पड़ता है।

भीतर से तुम कहीं जकड़ न जाओ, इसलिए मैं विपरीत मार्गों की बात भी तुमसे करता हूँ। तुम उलझन में भी पड़ जाते हो।

जब मैं महावीर पर बोलता हूँ तो तुम महावीर से प्रभावित हो जाते हो। लेकिन जल्दी ही मैं कृष्ण पर बोलूँगा और दूसरी धारा आ जाएगी। और तुम चकित होओगे, और तुम मुश्किल में पड़ोगे कि अब क्या करें! तुम्हारी अड़चन यह है कि तुम चाहते थे कि 'कुछ एक बता दो, जहाँ हम बँध जाएँ। अब झंझट और न करो! एक मकान बन नहीं पाता कि आप दूसरा मकान शुरू कर देते हैं। हमारा उसमें अभी गृह-प्रवेश भी न हुआ था। अभी बैंड-बाजे हम इकट्ठे ही कर रहे थे, निमंत्रण भेजा ही था कि उसको गिराने का वक्त आ गया, और आप दूसरा मकान बना रहे हो!'

और, दूसरा मकान और भी शोभायुक्त मालूम होता है। लेकिन दूसरे के साथ भी यही होगा; मैं तीसरा मकान बनाऊँगा। मैं असल में तुम्हें 'मकानों' से मुक्त करना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ, तुम्हारा गृह-प्रवेश तो हो, लेकिन आकाश में हो—मकानों में न हो। और एक ही उपाय है कि मैं तुम्हें सारे मकान दिखला दूँ—जहाँ-जहाँ तुम कारागृह में पड़ सकते हो। और उन सारे मकानों के भीतर छिपा हुआ आकाश भी दिखला दूँ—जो कि भीतर भी है और बाहर भी है।

तो मेरा मार्ग बड़ा अन्य है। कृष्णमूर्ति तुम्हें स्वतंत्र करना चाहते हैं; एक-दो व्यक्ति को कर पाते हैं, निन्यानबे अहंकार से बँधे रह जाते हैं। उससे तो बेहतर था, गुरु से बँध जाना—थोड़ी आशा थी, थोड़ी किरण थी, शायद कोई मार्ग मिल जाता! किसी दीये से बँध जाते तो कुछ मार्ग मिल जाता। अपने अँधेरे से बँधे हो—क्या मार्ग मिलेगा?

मेहरबाबा बँधने को कहते हैं; कहते हैं, 'सब छोड़ दो; अनन्य भाव से छोड़ दो; श्रद्धा पूरी रखो।' वह कृष्णमूर्ति से ज्यादा कारगर है। लेकिन बहुत-से लोग उसमें भी चूक जाएँगे। क्योंकि बहुत तरह के लोग हैं: आलसी हैं, जो सदा से चाहते थे कि अच्छा ही हुआ, झंझट मिटी; अब हमें कुछ करना नहीं है।

कृष्णमूर्ति के पास अहंकारी इकट्ठे हो जाएँगे और मेहरबाबा के पास आलसी इकट्ठे हो जाएँगे। कृष्णमूर्ति के पास वे लोग इकट्ठे हो जाएँगे, जिनमें रजस की मात्रा ज्यादा है और मेहरबाबा के पास लोग इकट्ठे हो जाएँगे जिनमें तमस की मात्रा ज्यादा है; जो कहते हैं कि चलो अच्छा ही हुआ, तुम करोगे सब; सम्हालो; अब हम निश्चित हुए; अब हमें कुछ करना ही नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि वे कुछ न करेंगे; वे सब जारी रखेंगे; जो कर रहे थे, वह तो जारी रखेंगे—दुकान पर काम

जारी रखेंगे, चोरी जारी रखेंगे, बेईमानी जारी रखेंगे, और कहेंगे कि अब सब बाबा पर छोड़ दिया; अब अपनी करने से क्या होगा! तो जो भगवान् करवाए। भगवान् लगता है, चोरी और बेईमानी ही करवाता है! वे कुशल लोग हैं, चालाक लोग हैं। सब बाबा पर छोड़ दिया है!

एक आदमी को मैं जानता हूँ, जिसने तीस साल मेहरबाबा के सत्संग में बिताये हैं। और तीस साल बाद मेरी उनसे बात हुई तो उन्होंने कहा कि हमें तो कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। ध्यान भी हमें करने की कोई ज़रूरत नहीं है। प्रार्थना-पूजा की भी कोई ज़रूरत नहीं। हमने सब बाबा पर छोड़ दिया, अब वे जानें।'

मैंने कहा : तीस साल हो गये छोड़े हुए, कुछ हुआ ?'

उन्होंने कहा : 'यह भी हम क्यों सोचें ?'

एक तरह से तो दिखता है कि श्रद्धा बड़ी गहरी है। मगर बड़ा चालाक है आदमी का मन। चोरी, बेईमानी—सब ज़ारी है! सब बाबा पर छोड़ दिया! इसका यह मतलब नहीं कि बाबा अगर कहे कि चोरी मत करो, तो ये चोरी बंद करेंगे; या बाबा अगर कहे कि शराब मत पीयो, तो ये शराब पीना बंद करेंगे! ये तो बाबा से भी कहेंगे—'सब आप पर ही छोड़ दिया, अब हमको करना क्या है ?'

मेरे पास ऐसे लोग आ जाते हैं। वे मुझसे कहते हैं—'अब जब सब आप पर ही छोड़ दिया, तो हमको क्यों ध्यान वगैरह में उलझाते हैं ? अब आप ही करो!' मैं उनसे कहता हूँ : 'मुझ पर छोड़ दिया, तो मैं तुमसे कहता हूँ कि ध्यान करो।' वे कहते हैं, 'अब आपकी अनुकम्पा चाहिए, और क्या!' वे मेरी सुनते ही नहीं कि उनसे क्या कह रहा हूँ! मेरी सुनने का सवाल भी नहीं है। वे तो अपनी एक धुन लगाये हुए हैं कि सब आप पर छोड़ दिया। सब आप पर छोड़ने का मतलब क्या होता है ? मतलब यह होता है, अगर तुमने ठीक समझा, तो मैं जो कहूँ, वह करो; लेकिन अगर गलत समझा तो मतलब यह होता है कि अब मैं जो कहूँ, उसको भी मत सुनो, और तुम यही कहे चले जाओ कि सब आप पर छोड़ दिया। अब हमको करना क्या है ? अब आप जो करेंगे, ठीक है!

और तुम जो करते थे, वह तुम करते चले जाते हो।

तो आलसी इकट्ठे हो जाते हैं—समर्पण की जहाँ धारणा होती है। और जहाँ अशरण की धारणा होती है, वहाँ अहंकारी इकट्ठे हो जाते हैं।

सत्त्व का व्यक्ति तो हर जगह से लाभ ले लेता है, वह कृष्णमूर्ति के पास भी पार हो जाएगा, वह मेहरबाबा के पास भी पार हो जाएगा। क्योंकि वस्तुतः न तो कृष्णमूर्ति पार करते हैं, न मेहरबाबा पार करते हैं, न मैं पार करता हूँ; सत्त्व पार करता है।

तो तुम अपने भीतर देखना कि तुम जो कर रहे हो; वह तमस से तो नहीं आ रहा है, रजस से तो नहीं आ रहा है; वह सत्त्व से आना चाहिए।

तो तुम मेहरबाबा के पास लोग पाओगे—बहुत तार्किक नहीं, बहुत बौद्धिक नहीं; ज्यादा हृदयपूर्ण, प्रेमी, उनकी आँख से तुम आँसू बहते हुए पाओगे, उन्हें तुम भजन गाते पाओगे। कृष्णमूर्ति के पास तुम पाओगे—अधिक बौद्धिक लोग, जिनकी आँखों के आँसू सदा के लिए सूख चुके हैं; जिनके हृदय में कोई पुलक नहीं उठती; जो तर्क करने में कुशल हो गये हैं।

रजस तर्क है। तमस इतना आलस्य है कि तर्क भी कौन करे! सत्त्व तर्क के बाद उपलब्ध हुई श्रद्धा है! सत्त्व, रजस और तमस का संतुलन है। सत्त्व वाला व्यक्ति हर कहीं लाभ उठा लेता है। वह जहाँ भी जाएगा, लाभ उठा लेगा। उसे कोई नुकसान नहीं।

मैं यह कोशिश कर रहा हूँ कि तुम यह संतुलन सीख जाओ। फिर कृष्ण मिल जाएँ तो उनसे भी तुम्हें लाभ होगा, बुद्ध मिल जाएँ तो भी, कृष्णमूर्ति राह पर मिल जाएँ तो उनसे भी लाभ होगा। और अगर तुम इस सत्त्व की अवस्था में नहीं उठते हो तो चाहे बुद्ध मिलें तो भी नुकसान होगा, कृष्णमूर्ति मिल तो भी नुकसान होगा। मेरे पास जिंदगी रहो तो भी नुकसान होगा, लाभ न हो पाएगा। लाभ और हानि किसी के कारण नहीं होती है, तुम्हारी चेतना की क्षमता से होती है, तुम्हारी पात्रता से होती है।

पर मैं सबके सम्बन्ध में बात किये जाता हूँ, ताकि तुम झुकने की कला सीख लो। और तुम इस तरह झुकने की कला सीख लो कि तुम्हारे भीतर वह जो न झुकने वाला तत्त्व है—अहंकार—वह विसर्जित हो जाए। तब तुम सब जगह से सम्पदा बटोर लाओगे।

तो अगर कृष्णमूर्ति के मार्ग को हम स्वतंत्रता का मार्ग कहें—अशरण का, और मेहरबाबा के मार्ग को परतंत्रता का मार्ग कहें, समर्पण का—तो मेरे मार्ग को तुम क्या कहोगे ? मेरा मार्ग है—परस्पर-तंत्रता का, इंटर-डिपेंडेंस का। और मेरे हिसाब से न तो कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वतंत्र है—इस अस्तित्व में; हो भी नहीं सकता, क्योंकि तुम अकेले नहीं हो सकते। और न कोई पूर्ण रूप से परतंत्र है इस जगत् में, क्योंकि वह भी संभव नहीं है। न तो पूरी परतंत्रता संभव है, न पूरी स्वतंत्रता सम्भव है; अस्तिव का स्वभाव परस्पर-तंत्रता है, इंटरडिपेंडेंस है। सब चीजें एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

इसलिए परम ज्ञानी परस्पर-तंत्रता में जीता है। न तो वह परतंत्र होता है, न वह स्वतंत्र होता है। क्योंकि स्वतंत्रता भी अहंकार की घोषणा है और परतंत्रता भी अहंकार का बंधन है। जहाँ निरहंकार फलित होता है, वहाँ दिखाई पड़ता है : सभी चीजें जुड़ी हैं, एक-दूसरे से श्रृंखला में बँधी हैं। कुछ भी अलग नहीं है। कोई आदमी अलग खण्ड नहीं है, भूखण्ड अलग नहीं है। सब जुड़ा है।

तुम चाँद-तारों से जुड़े हो। तुम अपने आसपास मनुष्यों से जुड़े हो, पक्षियों से

जुड़े हो, पौधों से जुड़े हो, पत्थरों से जुड़े हो। तुम्हें लगी चोट—और सारे अस्तित्व में झंकार होता। तुम नाचते हो प्रसन्नता से, तो पूरा अस्तित्व तुम्हारे साथ प्रसन्न होता है। अखण्ड है, एक है—तो कैसी स्वतंत्रता और कैसी परतंत्रता? अद्वैत अगर है, तो स्वतंत्रता भी झूठी बात है; क्योंकि स्वतंत्रता का कोई अर्थ ही नहीं, जब दूसरा है ही नहीं; जो परतंत्र कर सके। और अगर एक ही है, तो कैसी परतंत्रता—किसकी परतंत्रता?

उस एक पर ही अगर तुमने ध्यान दिया तो तुम्हें मेरी बात समझ में आ जाएगी। तो मैं कहता हूँ कि ये बाँसुरियाँ अलग-अलग होंगी—कृष्ण की, बुद्ध की, महावीर की, कृष्णमूर्ति की, मेहरबाबा की; मगर संगीत एक है। बाँसुरियों पर बहुत ध्यान मत दो। इनके राग भी भिन्न-भिन्न हैं, इनके ढंग भी भिन्न-भिन्न हैं। तुम सिर्फ संगीत पर ध्यान दो। संगीत एक का ही है।

संगीत एक है—अगर यह तुम्हें दिखाई पड़ने लगे, तो तुम सब जगह से समृद्ध हो कर लौटोगे। बड़ी सम्पदा तुम्हारे लिए राह देख रही है। सब खज़ाने तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तुम सभी खज़ानों के मालिक हो सकते हो। इसलिए मैं तुम्हें नहीं रोकता। मैं तुम्हें बढ़ावा देता हूँ कि तुम जाओ, जहाँ तुम्हें कोई दीया जला हुआ मिले, उसके निकट बैठो। उस रोशनी से थोड़ा संग करो। सत्संग का वही अर्थ है। उस रोशनी को थोड़ा पीयो। उस रोशनी से थोड़े भरो। और डरो मत। वह क्या कहता है, इसकी भी फिक्र मत करो। वह उसका ढंग है कहने का। तुम चिंता ही मत करो। तुम तो सिर्फ एक बात खयाल रखो कि घाट अलग-अलग, गंगा एक है। तुम सभी घाटों से अपनी प्यास को बुझा लो। और जितने-जितने तुम घाटों पर जाओगे, उतनी-उतनी तुम्हें समझ आएगी कि घाट का कोई सवाल नहीं है; सवाल गंगा का है।

इसलिए बुद्ध एक घाट हैं। हमने तो पुराने दिनों में उनको जो नाम दिया है, वही साफ है। जैन अपने बुद्धों को तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थ का अर्थ होता है घाट, तीर्थंकर का अर्थ होता है—घाट बनाने वाला।

गंगा एक है, घाट अनेक हैं—घाट बनाने वाले अनेक हैं। यह तीर्थंकर शब्द बड़ा मधुर है। यह खूबी पैगम्बर शब्द में नहीं है और न अवतार शब्द में है—जो तीर्थंकर शब्द में है। इसका मतलब है—सिर्फ घाट बनाने वाले हैं : महावीर, बुद्ध, कृष्ण, क्राइस्ट। गंगा बहुत बड़ी है, पूरी गंगा पर तो कोई घाट नहीं बना सकता।

मेरी चेष्टा है कि तुम्हें बहुत घाट दिखा दिये जाएँ। क्यों? क्योंकि बहुत घाटों को देख कर ही तुम्हें समझ में आएगा कि गंगा एक है। घाट अलग हैं। घाटों के ढंग से कुछ फर्क नहीं पड़ता। कहीं संगमरमर का घाट है और कहीं संगमूसा का—बड़े विपरीत हैं। एक काले पत्थर का है, एक सफेद पत्थर का; एक कृष्णमूर्ति, एक मेहरबाबा!

घाट पर नज़र जाएगी तो बड़े फर्क हैं; लेकिन अगर गंगा पर नज़र गई—जो घाटों

के पास से बह रही है...। और गंगा का क्या लेना है घाट से? घाट न हो तो भी गंगा बहती है, गैरघाट भी बहती है, बिना घाट भी बहती है, घाट पर भी बहती है; अमीर के घाट से भी बहती है, गरीब के घाट से भी बहती है। मरघट के पास भी उसके नाद में कोई फर्क नहीं पड़ता और बस्ती के पास भी कोई फर्क नहीं पड़ता।

तुम्हें गंगा दिखाई पड़ जाए एक की इसलिए सब पर बोलता हूँ। और कठिनाई खड़ी होती है तुम्हें, क्योंकि जब मैं कृष्ण पर बोलता हूँ, तो कृष्ण के घाट की चर्चा में ऐसा लीन हो जाता हूँ कि मैं खुद ही भूल जाता हूँ कि और घाट भी हैं। तो जो कृष्ण को मानने वाला है, बड़ा आह्लादित होता है कि यही तो हम मानते थे। जल्दी मत करो; थोड़ा धैर्य रखो; क्योंकि जब मैं अष्टावक्र पर बोलूँगा तो इस तरह कृष्ण को भूल जाऊँगा, जैसे वह घाट ही नहीं है। तब अष्टावक्र का घाट ही मेरे लिए सब कुछ हो जाएगा।

और यही मेरी मान्यता है। क्षण-क्षण जीने की कला यही है कि तुम जिस क्षण को जीयो, उसे पूरी तरह जीयो। इसलिए तुम्हें मेरे वचनों में विरोधाभास दिखाई पड़ेंगे। कभी मैं कहता हूँ कि महावीर का कोई मुकाबला नहीं, तो तुम सोचते हो—बात खत्म हो गई। और तब मैं कहता हूँ कि कृष्ण का कोई मुकाबला नहीं; तुम कहते हो, यह तो अड़चन हो गई। पहले कहा, महावीर का कोई मुकाबला नहीं, अद्वितीय हैं; फिर कहते हैं, कृष्ण का कोई मुकाबला नहीं, अद्वितीय हैं! और जब मैं कृष्ण से भरा हूँ, अगर तुमने महावीर की बात छेड़ी, तो महावीर मुझे तुलना में कुछ भी न जँचेंगे। और जब मैं महावीर से भरा हूँ, तब तुम कृष्ण की बात ही मत उठाना, नहीं तो नाहक कृष्ण की उपेक्षा होगी।

जिस क्षण में मैं जो बोल रहा हूँ, उसके साथ मेरा पूरा तादात्म्य है; उस क्षण वही घाट सब कुछ है; सारे घाट भूल गये, उतनी ही गंगा सब कुछ है। लेकिन यह तुम्हें तीर्थयात्रा करा रहा हूँ।

तीर्थयात्री निकलते हैं। स्वामी अखण्डानंद एक यात्रा ले के निकलते हैं—स्पैशल ट्रेन, उसमें वे सभी तीर्थों की यात्रा कराते हैं। मैं भी निकला हूँ—तुम्हें तीर्थयात्रा पर ले कर; वे तीर्थ बहुत दृश्य के तीर्थ नहीं ह, अदृश्य के तीर्थ हैं। वे ही असली तीर्थ हैं। वहाँ कोई स्पैशल ट्रेन नहीं जा सकती। वहाँ तो एक विशेष मनोदशा और भावदशा जाती है। उसको ही पैदा करने की कोशिश में लगा हूँ।

● दूसरा प्रश्न : आपने कहा है कि माँगो तो क्षुद्र मिलता है। पर हम भगवान् माँगते हैं। क्या भगवान् माँगने से भी क्षुद्र ही मिलेगा?

माँगोगे तो क्षुद्र ही मिलेगा, क्योंकि माँग का अर्थ ही क्षुद्र है। भगवान् भी माँगो, तो भगवान् के कारण क्षुद्र नहीं, तुम्हारी माँग के कारण वह भी क्षुद्र हो जाता है।

माँग क्षुद्र करती है। बिना माँगे जो मिले, वह सम्पदा; माँग के जो मिले, वह उच्छिष्ट! बिना माँगे जो मिले, वह विराट्; भिक्षापात्र फैला के जो मिले, वह कैसे विराट् होगा? सीमा तुम्हारे भिक्षापात्र में है, सीमा विराट् के लिए नहीं है। माँग भिक्षापात्र है। माँगना यानी भिखारी होना।

तुमने अगर भगवान् को भी माँगा, तो माँगोगे तो 'तुम'! तुम्हारी माँग तो तुम्हारे ही जीवन से ओतप्रोत होगी।

थोड़ा सोचो इसे। क्योंकि ऊपर से ऐसा लगता है कि भगवान् को माँगा, यह कोई छोटी माँग तो नहीं। लेकिन तुम बाजार में खड़े धन माँग रहे थे, फिर किसी स्त्री के सामने हाथ जोड़ कर शरीर माँग रहे थे, फिर किसी पद वाले व्यक्ति के सामने सुरक्षा माँग रहे थे; ऐसी तुमने हज़ारों माँगें की हैं—हज़ार-हज़ार ढंग से। इन सब माँगों ने तुम्हें बनाया है और इन सब माँगों ने तुम्हारी माँग को बनाया है, तुम्हारे माँगने का ढंग बनाया है, तुम्हारा भिक्षापात्र निर्मित किया है। अब अचानक तुम्हें भगवान् का खयाल आया!

क्यों खयाल आता है तुम्हें भगवान् का?

भगवान् का इसीलिए खयाल आता है कि वे माँगें पूरी नहीं हो पायीं; पूरी हो जातीं तो शायद तुम भगवान् की बात ही न उठाते। सुख में कौन स्मरण करता है भगवान् का? दुःख में लोग स्मरण करते हैं—विफलता में, विषाद में।

तुमने माँगा बहुत, मिला कुछ भी नहीं; दिन भर भिक्षापात्र लिये खड़े रहे, (जन्मों से खड़े रहे हो) साँझ आये, तो ठीकरे! इतने ही ठीकरे पड़ते हैं भिक्षापात्र में कि तुम कल भी जिंदा रह सकते हो—और माँग सकते हो, बस। माँगने-लायक जिंदगी बाकी बच जाती है; इतना माँगने से मिल जाता है कि कल भी तुम घिसटोगे, कल फिर भिक्षापात्र फैलाओगे, फिर माँगोगे।

तुम्हारी निरंतर माँग ने—क्षुद्र की, तुम्हारी माँग पर भी अपनी छाप छोड़ दी है। अचानक तुम खड़े हो गये, परमात्मा को माँगने लगे! तुम तो वही हो! तुम्हारा मन वही है! तुम्हारा अनुभव वही है!

और परमात्मा का तुम्हें पता ही क्या है? परमात्मा तुम्हारे लिए—अगर ठीक से तुम विचार करो तो, तुम्हारी सब माँगों का जोड़ है। तुम्हें ऐसा खयाल है कि शायद परमात्मा के मिलने से सब मिल जाए—जो माँगने से नहीं मिला—धन मिल जाए, पद मिल जाए।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, 'ध्यान करेंगे तो व्यवसाय में सफलता मिलेगी कि नहीं?' आदमी की मूढ़ता की कोई सीमा नहीं मालूम पड़ती! अब ध्यान करने से व्यवसाय की सफलता का क्या लेना-देना है!

'बीमारी जाएगी कि नहीं?'

एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि 'ध्यान करेंगे तो चिंता मिटेगी कि नहीं?' मैंने कहा, 'चिंता जरूर मिटेगी; लेकिन पहले तुम मुझे बता दो कि चिंता क्या है?' उन्होंने कहा कि 'मुझ पर एक मुकदमा चला रहा है।' 'मुकदमा थोड़े ही हट जाएगा...ध्यान करने से! हाँ, तुम चिंतित न रहोगे इतने; मुकदमा चलता रहेगा, तुम निश्चिंत रहोगे, यह मैं तुमसे कह सकता हूँ।' लेकिन वे बोले, 'मुकदमा चलता रहे, तो कोई आदमी निश्चिंत कैसे रह सकता है?'

लोग पूछते हैं, 'व्यवसाय में सफलता मिलेगी कि नहीं?'

व्यवसाय में तो सफलता नहीं मिल सकती; लेकिन असफलता भी मिले तो तुम्हें असफलता न लगेगी, यह ध्यान से मिल सकता है। 'पत्नी बीमार है, बचेगी कि मरेगी?' नहीं, ध्यान से कुछ लेना-देना नहीं है। ध्यान कोई दवाई नहीं है—तुम्हारी पत्नी के लिए। हाँ, इतना पक्का है कि बचे तो ठीक, न बचे तो भी ठीक, ऐसी मनोदशा मिल जाएगी।

तुम जब ध्यान करने आते हो, तब भी तुम्हारे ध्यान के नीचे परत-दर-परत माँगें छिपी हैं। तुम जब परमात्मा भी माँगते हो तो परमात्मा समूहवाची नाम है—तुम्हारी सब वासनाओं का! भगवान् का क्या अर्थ है—अगर तुमसे हम पूछें? भगवान् के ढक्कन को जरा उठाओ, तो नीचे तुम पाओगे धन, क्योंकि ज्ञानियों ने कहा, परमधन परमात्मा है; पद—क्योंकि ज्ञानियों ने कहा, परमपद परमात्मा है; ऐश्वर्य—क्योंकि भगवान् का नाम ही ईश्वर इसीलिए है—ऐश्वर्यवाला! किन पागलों ने ईश्वर नाम दिया है भगवान् को, पता नहीं। वह ऐश्वर्य से बना हुआ शब्द है। वह तुम्हारी माँग की खबर दे रहा है कि तुम चाहते क्या हो? ईश्वर को थोड़े ही चाहते हो; तुम तो ऐश्वर्य चाहते हो और तुमने नाम में भी छिपा रखी है अपनी माँग!

पूछो भक्तों से—तथाकथित भगवान् के मानने वालों से कि 'भगवान यानी क्या?' तो बैकुण्ठ, परमसुख, आनंद ही आनंद! तुम सपने देख रहे हो। तुम सत्य नहीं माँग रहे हो। तुम्हारे सत्य में भी सपने ही छिपे हुए हैं। तुम संसार से हारे नहीं हो अभी। तुम्हारा परमात्मा भी तुम्हारे संसार का आखिरी पड़ाव है।

तो मैं तुमसे कहता हूँ, तुम जब तक माँगोगे, तब तक जो भी माँगोगे, क्षुद्र होगा—परमात्मा माँगोगे तो क्षुद्र होगा, तुम मोक्ष माँगोगे, तो क्षुद्र होगा, तुम समाधि माँगोगे तो क्षुद्र होगी। तुम्हारे माँगने से हर चीज़ क्षुद्र हो जाएगी, क्योंकि तुम क्षुद्र हो। और माँग क्षुद्र है, तो फिर कैसे विराट् होगी? क्या ऐसी भी कोई माँग हो सकती है, जो विराट् हो जाए? नहीं, माँग तो विराट् नहीं हो सकती।

थोड़ा सोचो। तुम कोई ऐसी माँग सोच सकते हो, जिसकी कोई सीमा न हो?—तो वह माँग ही न रह जाएगी। असीम को कैसे माँगोगे? सीमित बात माँगी जा सकती है। असीम तो शब्द में भी नहीं समायेगा, भाव में भी नहीं समायेगा। असीम में तो तुम समा जाओगे, असीम थोड़े ही तुममें समायेगा।

तो तुम कैसे विराट् को माँगोगे?

माँग ही क्षुद्र कर देती है। जो माँगा—वह क्षुद्र हुआ। माँगना मत। इसलिए परमज्ञानी क्या कहते हैं? वे कहते हैं, अचाह परमात्मा को पाने का उपाय है। निर्वासना, न माँगना। राज़ी हो जाना, जो है—उससे; माँग छोड़ देना; तृप्ति, सन्तोष; ऐसा परितोष कि जो है, वह काफी है, काफी से ज्यादा है—माँग कुछ भी नहीं है। तत्क्षण तुम पाओगे, विराट् तुममें उतरने लगा; बिन माँगे!

माँगने से खो जाता है। बिना माँगे मिलता है। इस गणित को तुम खूब याद रख लो।

अगर तुम्हें परमात्मा नहीं मिल रहा है, तो तुम्हारी माँग ही बाधा बनी है। छोड़ो माँगना। बात ही शोभा नहीं देती। परमात्मा को—और माँगना? परमात्मा का मिलना तो सम्राटों से होता है, भिखारियों से नहीं होता। तुम सम्राट बनो थोड़ा। और मजा ऐसा है कि तुम्हारे सम्राट भी भिखारी हैं, तो तुम तो सम्राट कैसे बनो? थोड़े मालिक बनो। थोड़ा धन्यवाद देना सीखो, माँगना कम करो। थोड़ा अनुग्रह से भरो। माँग क्षीण करो। थोड़ा उसके प्रसाद को—जो मिला है, उसको—अनुभव करो, ताकि तुम अहोभाव से कह सको कि 'मेरी योग्यता से ज्यादा तूने मुझे दिया; धन्यवाद!'

मैंने सुना है, सूफी फकीर बायजीद के जीवन में उल्लेख है कि बायजीद प्रार्थना करता रहा, पूजा करता रहा, स्मरण करता रहा; लेकिन उसने कभी माँगा नहीं। कहते हैं, परमात्मा मुश्किल में पड़ गया। क्योंकि जो माँगे न, अब उसके साथ क्या करो! और परमात्मा तक को बेचैनी लगने लगी। कहानी बड़ी मीठी है। परमात्मा को बेचैनी लगने लगी कि इस बायजीद के साथ क्या करो! इसका निपटारा करना पड़े। नहीं तो वह (परमात्मा) ऋणी हुआ जा रहा है। यह आदमी ध्यान करता है, पूजा करता है, प्रार्थना करता है; माँगता कभी भी नहीं। कुछ माँगा ही नहीं कि इसको दे दो और छुटकारा हो। तो कहते हैं, देवता भेजे। कहानी है, प्रतीक है। और देवताओं ने बायजीद को कहा कि 'परमात्मा बड़ा प्रसन्न है, तुम कुछ माँग लो।' उसने कहा, 'अब और माँगने को क्या बचा? जब वह प्रसन्न है, तो सब मिल गया। कह देना—धन्यवाद!'

देवताओं ने कहा, 'इतने सस्ते में हम न जाएँगे। क्योंकि, तुमने अड़चन खड़ी कर दी है। तुम उसे बेचैन किये दे रहे हो; कुछ माँग लो तो निपटारा हो जाए। तुम्हारी प्रार्थनाएँ उसके सिर पर घूम रही हैं। तुम्हारा ध्यान उसके चारों तरफ वर्तुल मार रहा है। और तुम किये जा रहे हो, किये जा रहे हो; माँगते तुम कुछ नहीं तो काम कैसे समाप्त हो?'

बायज़ीद ने कहा, 'जब वह प्रसन्न है तो और अब क्या चाहिए? और अगर उसको मेरे न माँगने से बेचैनी हो रही है तो एक बात माँगे लेता हूँ।'

देवता प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि 'बस, क्य है, जल्दी कहो।' उसने कहा, 'एक ही बात माँगनी है कि कभी कुछ माँगूँ न।' उसने हरा दिया परमात्मा को। 'एक वरदान कि कोई चाह कभी न आये! कभी भिखारी हो कर उसके द्वार पर न आऊँ! कभी माँगूँ न!' जिस दिन तुम न माँगोगे, उस दिन परमात्मा देने को व्याकुल हो जाता है।

और तुमसे मैं कहता हूँ कि यह केवल परमात्मा आर तुम्हारे बीच के सम्बंध में ही सही नहीं है, सारे जीवन के सम्बंध में सही ह। जिससे भी तुम माँगोगे, वही डर जाता है। पत्नी पति से प्रेम माँगती है; पति डर जाता है, देने में कंजूस हो जाता है; देता है तो परेशानी से देता है। पति पत्नी से प्रेम माँगता ह; बस, कुछ बात सिकुड़ जाती है।

कुछ जीवन-चेतना का लक्षण ऐसा है कि जब भी कोई कुछ माँगता है, तो सिकुड़न पैदा हो जाती है। और जब कोई नहीं माँगता, तो देने का फैलाव आता है। तो जब पत्नी नहीं माँगती, तो देने का मन होता है। जब पति नहीं माँगता, तब देने का मन होता है। जब मित्र नहीं माँगता, तब देने का मन होता ह! क्योंकि तब तुम देने में मालिक होते हो। और जब कोई माँगता है, तब तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम्हारा शोषण किया जा रहा है, छीना जा रहा है, तुम्हारे ऊपर जबरदस्ती की जा रही है।

जीवन-चेतना का लक्षण यही है कि जब अचाह होती है, तब तुम्हारे द्वार पर वर्षा हो जाती है। और जब तुम चाह से भरे होते हो, तब सब द्वार बंद हो जाते हैं।

नहीं, परमात्मा को तो भूल के मत माँगना। वह माँग ही तुम्हारे और उसके बीच दीवार है। तुम उसके पास ऐसे जाना—माँगने नहीं, धन्यवाद देने; जो उसने दिया ही हुआ है, उसके लिए अनुग्रह का भाव प्रकट करने। मंदिर की प्रार्थनाएँ तुम्हारी माँगें न हों, तुम्हारे धन्यवाद हों।

● अंतिम प्रश्न : आपने कहा कि स्वयं पर संदेह श्रद्धा पर ले जाता है, तो बताएँ कि श्रद्धा पर संदेह कहाँ ले जाएगा?

कुछ बातें समझें।

एक—संदेह साधारणतः संदेह पर संदेह नहीं करता; कर ले, तो संदेह मर जाता है। संदेह की पूर्णता तभी है, जब संदेह पर संदेह आ जाय। तभी तुम ढंग के विचारक हो; तभी तुममें कोई प्रतिभा है। सब चीजों पर संदेह करो और संदेह पर संदेह न करो,

तो तुम्हारे विचार की पूर्णता नहीं है; तुम शिखर तक नहीं पहुँचे; तुम्हारा संदेह अधूरा है; तुम्हारी नास्तिकता प्रगाढ़ नहीं ह। जब तुम संदेह करते-करते उस क्षण में आ जाओगे कि तुम्हें संदेह उठेगा संदेह पर—कि मैं जिसको मान कर अब तक चल रहा हूँ, वह मानने-योग्य भी ह? जिसके पीछे मैं चल रहा हूँ छाया की तरह, वह चलने-योग्य भी है, वह मुझे कहीं ले जाएगा? संदेह को मैंने गुरु बनाया है, वह गुरु बनने-योग्य है?

जिस दिन तुम संदेह पर संदिग्ध हो गये, उसी दिन संदेह की मृत्यु हो जाती है। संदेह की मृत्यु पर श्रद्धा का जन्म होता है। फिर एक नई यात्रा शुरू होती है।

तुम परमात्मा पर श्रद्धा करोगे, गुरु पर श्रद्धा करोगे, शास्त्र पर श्रद्धा करोगे; लेकिन यह श्रद्धा वैसी ही अधूरी है, जैसे संदेह पहले अधूरा था। श्रद्धा तो तभी पूरी होती है, जब न परमात्मा पर, न गुरु पर, न शास्त्र पर, वरन् श्रद्धा पर ही श्रद्धा आ जाती है, तब श्रद्धा पूरी होती है।

संदेह पर संदेह आ जाय, तो संदेह पूरा हो जाता है और संदेह समाप्त हो जाता है। जब श्रद्धा पर श्रद्धा आ जाती ह, तब श्रद्धा पूरी हो जाती है, और श्रद्धा भी समाप्त हो जाती है।

संदेह में रहोगे तो नास्तिक, श्रद्धा में रहोगे तो आस्तिक; और जब संदेह और श्रद्धा दोनों के पार हो जाते हो, तब न तुम नास्तिक, न आस्तिक—तभी धर्म का जन्म हुआ, तब तुम धार्मिक हुए! धार्मिक व्यक्ति द्वन्द्व के पार है। श्रद्धा और संदेह का संघर्ष तो द्वन्द्व है।

तो ध्यान रखना, जो संदेह करता है, उसमें भी थोड़ी श्रद्धा होती है—श्रद्धा संदेह पर होती है। और जो श्रद्धा करता है, उसमें भी थोड़ा संदेह होता है—संदेह अश्रद्धा पर होता है। संदेह करने वाले की श्रद्धा होती है संदेह पर, श्रद्धा करने वाले की श्रद्धा होती है अश्रद्धा के विपरीत, संदेह के विपरीत; लेकिन दूसरा मौजूद रहता है—थोड़े परिमाण में। जब हम कहते हैं, फलाँ आदमी श्रद्धालु है, तो इसका मतलब है, अभी कहीं न कहीं कोने में संदेह भी छिपा होगा, नहीं तो श्रद्धा का क्या अर्थ?

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, 'हमारी दृढ़ श्रद्धा है।' मैं कहता हूँ, 'दृढ़ क्यों कहते हो? क्या श्रद्धा कहना काफी नहीं है? दृढ़ क्यों कह रहे हो?' दृढ़ का मतलब है कि भीतर संदेह छिपा है, उसको 'दृढ़' से दबा रहे हो। नहीं तो श्रद्धा काफी है।

जब कोई कहे कि मेरा प्रेम बहुत दृढ़ है, तब खतरा है। प्रेम पर्याप्त है। प्रेम में कमी क्या रही? और दृढ़ क्या कर रहे हो उसको? प्रेम काफी नहीं था; भीतर घृणा छिपी है, दृढ़ता से उसको दबा रहे हो।

आस्तिक में नास्तिक छिपा रहता है—थोड़ी मात्रा में। नास्तिक में आस्तिक छिपा रहता है—थोड़ी मात्रा में। जब दोनों विदा हो जाते हैं, तब परम धर्म का जन्म होता है।

तो पहले संदेह पर संदेह करो, ताकि नास्तिक मरे। फिर श्रद्धा पर श्रद्धा करना, ताकि आस्तिक भी मर जाए। और जहाँ न संदेह बचा, न श्रद्धा बची—वहाँ अकेले तुम बचे। तुम यानी सब। तुम यानी सर्वस्व। तुम यानी सर्व अस्तित्व। फिर वहाँ कोई मन न रहा।

ध्यान रखना, संदेह में भी मन मौजूद रहता है, श्रद्धा में भी मौजूद रहता है। संदेह में समझो कि शीर्षासन करता है, श्रद्धा में पैर के बल खड़ा हो जाता है—बाकी मन जाता नहीं। जब दोनों चले जाते हैं; तभी मन जाता है। जहाँ तक द्वन्द्व है, वहाँ तक मन है। जहाँ अद्वन्द्व पैदा होता है, वहीं मन से छुटकारा होता है।

मन से मुक्ति मोक्ष है। मन से मुक्ति परमात्मा की उपलब्धि है। और इसलिए फिर दोहराता हूँ, मन ही माँग है। जब तक माँग है, तब तक परमात्मा न मिलेगा।

मन गया, माँग गयी, चाह गयी। परमात्मा मिला ही हुआ है। ऐसा नहीं कि मिलता है। जब चाह गिर जाती है, अचानक तुम जागते हो कि वह सदा से भीतर मौजूद था। वह मंदिर में बैठा ही था; तुम कहाँ-कहाँ भटकते थे? तुम कहाँ-कहाँ खोजते थे? सिर्फ अपने भीतर छोड़ कर, तुमने सारी पृथ्वी छान डाली, चाँद-तारे छान डाले। एक जगह छोड़ गये थे। जिस दिन मन समाप्त होता है, उसी जगह प्रवेश होता है। तुम अपने भीतर के आकाश में आते हो। जिसे तुम खोजते थे, वह कभी खोया ही न था। वह तो सदा से वहाँ था। वह सदा से ही मौजूद है।

अब हम सूत्र को लें।

'हे अर्जुन! दान देना ही कर्तव्य है; ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार न करने वाले के लिए दिया जाता, वह दान सात्त्विक। और जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को उद्देश्य रख कर दिया जाता, वह दान राजस। और जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश, काल में कुपात्रों को दिया जाता है, वह तामस कहा गया है।'

कृष्ण तीनों गुणों को जीवन की सब विधाओं में समझाने की कोशिश कर रहे हैं।

'दान देना कर्तव्य है।'

कर्तव्य शब्द को थोड़ा समझना चाहिए। क्योंकि जो अर्थ कृष्ण के समय में कर्तव्य का होता था, अब वह अर्थ रहा नहीं, विकृत हो गया है। शब्द पर बड़ी धूल जम गयी है। शब्द खराब हो गया है। तुम तो कर्तव्य तभी कहते हो किसी चीज को, जब तुम करना नहीं चाहते और करना पड़ता है। जैसे कि बाप बीमार है और तुम पैर दबा रहे हो और तुम मित्रों से कहते हो—कर्तव्य है। तुम यह कह रहे हो कि करना

तो नहीं था, लेकिन लोक-लाज करवाती है। तुम्हारे मन में कर्तव्य का अर्थ ही यह हो गया है कि जो जबरदस्ती करना पड़ता है।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, 'दुकान करनी पड़ रही है, अब कोई मन नहीं रहा, लेकिन बच्चे हैं छोटे, कर्तव्य है।' बच्चे पैदा किये, कोई प्रेम नहीं मालूम पड़ता। बच्चों को बड़ा करना है, इसमें कोई अहोभाव नहीं मालूम पड़ता। बच्चों को शिक्षा देनी है, उनको जीवन की दिशाओं में यात्रा पर भेजना है, इसमें कोई रस नहीं मालूम पड़ता। कर्तव्य है! जैसे बच्चे खुद जबरदस्ती घर में घुस गए हों। जैसे बच्चों ने खुद ही आकर कब्जा कर लिया हो, और घोषणा कर दी हो कि हम तुम्हारे बच्चे हैं; अब तुम दुकान करो और कर्तव्य करो!

कर्तव्य शब्द की गरिमा खो गई! कृष्ण के समय में कर्तव्य शब्द बड़ा दूसरा अर्थ रखता था। कर्तव्य का अर्थ यह नहीं था कि जो नहीं करने की इच्छा है, और करना पड़ता है; नहीं, कर्तव्य का अर्थ था—बड़ा सात्त्विक भाव था उसमें छिपा—वह अर्थ था: जो करने योग्य है, जो ही करने योग्य है, जिसके अतिरिक्त करने योग्य कुछ भी नहीं है।

तुम पिता के पैर दबा रहे हो...।

महाराष्ट्र में विठोबा की कथा है कि एक भक्त...। महाराष्ट्र में ही कृष्ण का नाम विठोबा है। विठोबा यानी कृष्ण। पर कैसे विठोबा हो गये कृष्ण! एक भक्त अपनी माँ के पैर दबा रहा था। और कृष्ण उस पर बड़े प्रसन्न थे। वे आ कर पीछे खड़े हो गये। और यह भक्त वर्षों से रोता था, विरहलीन रहता था, गीत गाता था, नाचता था—और कृष्ण इससे मिलने आ गये। और उन्होंने कहा कि 'देख, तू क्या उस तरफ मुँह किये हुए है? मैं तेरा भगवान् जिसकी तूने इतने दिन पूजा-प्रार्थना-अर्चना की, धूप-दीप जलाए। मैं मौजूद हूँ! लौट, मेरी तरफ देख।'

उस भक्त ने कहा, 'अभी?' एक ईंट पास में पड़ी थी, पीछे सरका दी और कहा, 'इस पर बैठ रहो।' इसलिए विठोबा! बिठा दिया ईंट पर। 'इस पर बैठ रहो, अभी मैं माँ के पैर दबा रहा हूँ। तुम ठीक वक्त नहीं आये।'

भगवान् को जिसने छोड़ दिया माँ के पैर दबाने के लिए, तब कर्तव्य! जो करनेयोग्य है! यदि भगवान् भी बीच में आ जाय तो कोई अर्थ नहीं रखता।

कहा: 'बेवक्त आये! समय से आना। और अगर रुकना ही हो तो तुम्हारी मरजी है। यह ईंट है, बैठ रहो।'

किसी भक्त ने कृष्ण को ऐसा नहीं बिठाया। इसलिए पंढरपुर के विठोबा का मंदिर अनूठा है। उसकी जैसे कोई शान नहीं। बहुत मंदिर हैं, जहाँ भगवान् अपनी ही मरजी से खड़े हैं; यहाँ भक्त की मरजी से बैठे हैं! और ईंट पर बैठ हैं; कुछ खास बड़ा सिंहासन नहीं है।

लेकिन जब तक उसने अपनी माँ को सुला न दिया, जब उसकी माँ सो गई—घन्टों लगे होंगे—तभी उसने मुँह किया। लेकिन कृष्ण को वह बड़ा प्यारा हो गया। क्योंकि जहाँ ऐसा प्रेम है, वहीं तो प्रार्थना का फूल खिलता है।

कर्तव्य का अर्थ है, जो करने योग्य है। तुम्हारे लिए कर्तव्य का अर्थ है, जो करना नहीं चाहते, करने योग्य मालूम भी नहीं पड़ता; मगर क्या करें, संसार करवा रहा है; लोक-लाज है, मर्यादा है, नियम हैं, संसार है, करना पड़ेगा। तुम बेमन से जो करते हो, उसी को तुम कर्तव्य कहते हो।

कृष्ण जब कहते हैं कि सात्त्विक व्यक्ति के लिए दान देना कर्तव्य है, तो वे यह कह रहे हैं कि वह देता है, क्योंकि देने से बड़ा और कुछ भी नहीं है। वह देता है, क्योंकि देने में ही उसका आनंद प्रगाढ़ होता है। देना अपने-आप में आनंद है।

'दान देना कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर...।' निश्चित ही, सात्त्विक व्यक्ति हमेशा इस बात को ध्यान में रखेगा कि वह जो कर रहा है, उस करने के व्यापक परिणाम क्या होंगे? क्योंकि तुम तुम्हारा कृत्य जब करते हो, तो तुम तो चाहे समाप्त भी हो जाओगे कभी—हो ही जाओगे—लेकिन तुम्हारा कृत्य जीवित रहेगा—अनन्त-अनन्त काल तक। ऐसे ही जैसे किसी ने एक कंकड़ फेंक दिया झील में, वह तो झील में कंकड़ फेंक कर चला गया, कंकड़ भी जा कर झील की तलहटी में बैठ गया; लेकिन जो लहरें उठीं, वे चलती जाती हैं, चलती जाती हैं। वह आदमी मर जाय, रास्ते में ऐक्सीडेंट हो जाय कार का; लेकिन वे लहरें चलती रहेंगी। वे लहरें तो दूर तटों तक जाएँगी, जहाँ तक फैलाव होगा झील का। और जीवन की झील का कहीं कोई तट है? कहीं कोई तट नहीं। इसका अर्थ है कि तुम जो भी कृत्य करोगे, वह शाश्वत है, उसकी तरंग चलती ही रहेगी।

तुमने एक आदमी को दान दिया; तुम समाप्त हो जाओगे, जिसे दान दिया, वह समाप्त हो जाएगा; लेकिन दान का कृत्य चलता ही रहेगा। तो इसका अर्थ यह हुआ कि सात्त्विक व्यक्ति सोचेगा, अत्यंत समाधिस्थ भाव से सोचेगा—देश, काल और पात्र को, क्योंकि यह हो सकता है कि तुम अपात्र को दान दे दो। दिया तो तुमने सही; लेकिन वह दान न रहा और अधर्म हो गया।

तुमने एक हत्यारे को दान दे दिया।...

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन अपने पड़ोस में एक दानी के घर गया और उसने कहा कि हालत बहुत खराब है और बच्चे भूखे मर रहे हैं; आज तो रोटी का भी इंतजाम नहीं, आटा भी नहीं खरीद सके—तो कुछ दान मिल जाय!' तो उस आदमी ने कहा कि 'जहाँ तक मैं समझता हूँ, गाँव में सर्कस आया है और तुम जरूर ही, जो पैसे मैं तुम्हें दूँगा, उससे सर्कस देखोगे।' उसने कहा, 'नहीं, आप उसकी फिक्र ही मत

करो, उसके लिए पैसे तो हमने पहले ही बचा रखे हैं। सर्कस की तो कोई चिंता ही न करो आप।'

तुम अगर एक आदमी को दान देते हो, और वह हत्यारा है और उससे जा कर बंदूक खरीद के दस आदमियों को मार डालता है, तो क्या तुम सोचते हो कि तुम्हारा इसमें हाथ नहीं? जानकर तो नहीं है, अनजाने तो हाथ है। और यह संभव था कि तुम अगर थोड़े सात्त्विक होते तो इस आदमी की चित्त-दशा को पहचान पाते। जब यह तुमसे माँगने आया था, तब भी यह हत्यारा था, छिपा हत्यारा था, बीज में छिपी थी हत्या। तुममें अगर जरा-सी भी समझ होती, जितनी माली में होती है समझ, तो वह देख लेता है कि इस बीज में कौन-सा वृक्ष छिपा है—कड़वा वृक्ष छिपा है कि मीठा। तुम अगर सात्त्विक होते हो, तो दूसरे लोग तुम्हारे सामने दर्पण की तरह साफ हो जाते हैं।

इसलिए सात्त्विक व्यक्ति—कृष्ण कहते हैं—देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर ही वह देता है, हर किसी को नहीं बाँटता फिरता। वह भैंस के सामने बैठ कर बीन नहीं बजाता। क्योंकि भैंस क्या करेगी? भैंस पड़ी पगुराय! तुम बीन बजाते रहो, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता भैंस को। सात्त्विक व्यक्ति सूअरों के सामने मोती नहीं फेंकता, क्योंकि वे व्यर्थ चले जाएँगे। वह हंस की खोज करता है। 'हंसा तो मोती चुगे!' लेकिन सात्त्विक व्यक्ति ही यह खोज कर सकता है कि किसको देना, कब देना। क्योंकि यह भी जरूरी नहीं है कि जो आदमी सुबह ठीक है, वह साँझ ठीक हो; या जो आदमी एक दिन ठीक है, वह दूसरे दिन ठीक हो। तो देश, काल...। जो आदमी यहाँ ठीक है, वह वहाँ ठीक न हो; जो इस गाँव में ठीक है, वह दूसरे गाँव में ठीक न हो! क्योंकि आदमी का होना तो परिस्थिति पर निर्भर है, जब तक कि आदमी जाग न जाय। और बुद्ध तो तुम्हें मिलते नहीं हैं, जिनको तुम दान दोगे। तो तुम्हारा दान एक कृत्य है, जिसके परिणाम अनंत काल तक गूँजते रहेंगे। तो सोच कर, होश-पूर्वक देना। सिर्फ देना काफी नहीं है; देख के देना, समझ के देना। देश, काल, पात्र को पूरा जब तुम देख लो, कि यह तुम्हारा कृत्य सदा के लिए शुभ रहेगा, तुम्हारा यह कृत्य सदा के लिए शुभ के फल लायेगा, फूल लायेगा—तो ही देना।

'...और प्रत्युपकार न करने वाले के लिए दिया जाता है।' क्योंकि दान का अर्थ ही है कि सौदा नहीं। उसी को देता है सात्त्विक व्यक्ति, जिससे लेने की कोई आकांक्षा नहीं, नहीं तो वह दान न रहा। अगर तुमने कुछ भी प्रत्युत्तर माँगा, तो वह सौदा हो गया। तुमने अगर धन्यवाद भी माँगा, तो वह सौदा हो गया। इसलिए गहरा दानी ऐसे देता है कि किसी को पता न चले।

मैंने सुना है कि एक गाँव में अज्ञात दान की वर्ष में एक घड़ी आती थी, जहाँ गाँव

के सारे लोग अज्ञात दान करते थे—अनानिमस—कोई नाम नहीं लेता था। एक पेटी रखी रहती थी। पेटी के पास एक रजिस्टर रखा रहता था। लोग पेटी में दान डाल देते, रजिस्टर में संख्या लिख देते और लिख देते : 'अज्ञात व्यक्ति द्वारा—अनानिमस।' मुल्ला नसरुद्दीन भी उस गाँव में था और दान देने गया। किसी ने हज़ार दिये थे, किसी ने पाँच हज़ार दिये थे, किसी ने दस हज़ार दिये थे। उसने भी पाँच रुपये दिये। उसने डाल दिये पाँच रुपये पेटी में। जिन्होंने पाँच हज़ार दिये थे, उन्होंने ने भी छोटे छोटे अक्षरों में लिखा था; उसने पाँच रुपया इतने बड़े अक्षरों में लिखा कि पचास हज़ार देता तो ही उतनी जगह में लिखे जा सकते थे। पाँच रुपया! फिर उसने लिखा—मुल्ला नसरुद्दीन, इकतीस नम्बर का मकान, फलाँ-फलाँ मोहल्ला—सब पता-ठिकाना और नीचे बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा : अनानिमस, अज्ञात व्यक्ति के द्वारा।

आदमी दिखाना चाहता है! धन्यवाद पाना चाहता है! दो पैसा देता है तो हज़ार गुना करके बताना चाहता है! उसकी चर्चा करता है, उसकी बात उठाता है। उसका प्रचार करता है कि मैंने इतना दान दे दिया।

अगर जरा-सी भी आकांक्षा प्रत्युत्तर की है कि कोई धन्यवाद दे, कोई कहे, वाह! वाह! खूब किया! बड़ी ऊँची बात की!—तो कृष्ण कहते हैं, दान सात्त्विक न रहा; सात्त्विक की कोटि से नीचे गिर गया। फिर वह राजस हो गया।

'दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से, अथवा फल को उद्देश्य में रख कर दिया गया, वह दान राजस है।'

और जब तुम कुछ प्रत्युत्तर चाहते हो, तो तुम दान आनंदभाव से देते ही नहीं, क्योंकि तुम्हारा आनंद तो तब होगा, जब फल मिलेगा, जब उत्तर आयेगा। तो देने में तो तुम क्लेशपूर्वक ही दोगे, क्योंकि फल का क्या पक्का पता है? तुम दे रहे हो, यह आदमी लौटाएगा, इसका कुछ पक्का पता है? इसका कोई पक्का पता नहीं है। इसलिए क्लेश रहेगा कि दे तो रहे हैं, लौटेगा कि नहीं? कहीं व्यर्थ तो न चला जाएगा?

क्लेश रहेगा। और फल को उद्देश्य में रख कर दिया जाएगा तो सौदा हो गया, दान न रहा। तुम खो ही दिए—वह अद्भुत क्षण जो शुद्ध दान का है, जो सिर्फ कर्तव्य से किया जाता है।

'और जो दान बिना सत्कार किये...।'

लेकिन राजस व्यक्ति कम से कम सत्कार करेगा लेने वाले का। क्यों? क्योंकि पीछे उससे उत्तर पाना है। भीतर चाहे कितना ही क्लेश से भरा हो, ऊपर मुसकरा के देगा, ताकि इस आदमी को क्लेश की खबर न मिल जाय; यह तो यही समझे कि बड़े आनंद से दिया गया है, ताकि इतने ही आनंद से यह वापस भी कर सके।

'जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कारपूर्वक...।'

फिर कुछ दानी ऐसे भी हैं जो न तो सत्कार करते, न सत्कार से कोई प्रयोजन है उनका; वस्तुतः दान दे कर वे अपमान करते हैं, तिरस्कार करते हैं। दान देने का उनका मजा ही यह है कि हमारा हाथ ऊपर और तुम्हारा हाथ नीचे! दान देने का मजा ही यह है कि देखो, हम दान की स्थिति में हैं और तुम दान लेने की स्थिति में।

एक मेरे परिचित हैं, बड़े धनी हैं। मध्यप्रदेश में उनसे बड़ा कोई धनी नहीं। उन्होंने मुझसे कहा कि 'मैं जीवन भर से दान दे रहा हूँ, अपने सब सगे-संबंधियों को मैंने बड़ा अमीर बना दिया; जो मेरे पास आया उसको मैंने दिया; लेकिन लोग मुझसे खुश नहीं हैं। और जो एक दफा मुझसे ले लेता है, वह फिर मुझसे दूर हट जाता है। नमस्कार करने तक से लोग बचते हैं। क्या कारण है?

मैंने कहा, 'कारण बिलकुल साफ है। देते वक्त तिरस्कार रहा होगा। तो ले तो लिया है उस आदमी ने मजबूरी में, लेकिन वह तुम्हें क्षमा नहीं कर सकता।'

अब यह बड़े मजे की बात है कि जिसको तुम दान देते हो, वह भी तुम्हें क्षमा नहीं कर पाएगा—अगर तिरस्कार रहा। क्योंकि दान तो दो दिन में चुक जाएगा, लेकिन तिरस्कार सदा बना रहेगा। तो मैंने कहा, वे आपसे बचते हैं, डरते हैं।

फिर मैंने उनसे पूछा कि 'एक बात मैं पूछता हूँ; कभी आप उनको भी कोई मौका देते हैं कि वे आपकी थोड़ी सहायता कर सकें?' वे कहते हैं, 'जरूरत ही नहीं।' 'तो फिर', मैंने कहा, 'बहुत कठिन है। उनको आप कोई मौका नहीं देते कि वे आपकी थोड़ी सहायता करने का मजा ले सकें और आप उनको दान दिये जाते हैं, आप दबाये जाते हैं, उनकी छाती पर पत्थर की तरह चढ़ते जाते हैं। मजबूरी है तो आपसे दान लेना पड़ता है; लेकिन अगर मौका लगे तो वे आपको गोली मार दें। उनको भी थोड़ा मौका दो। कभी-कभार, छोटा-मोटा—कि तुम बीमार पड़े हो, किसी को बुला लो, ताकि तुम्हारे पास बैठ के सांत्वना प्रकट कर सके, उसमें भी उसको राहत मिलेगी कि हमने भी कुछ दिया। नहीं धन दे सकते, कोई बात नहीं, गरीब हैं; लेकिन सांत्वना दी। जब तुम मर रहे थे, तब हमीं ने तुमको सांत्वना दी और बचाया! उसको थोड़ा मौका दो—कोई छोटे-मोटे काम का, जो जरूरी भी न हो; लेकिन उसे सिर्फ यह ऐहसास दो कि उसने भी तुम्हारे लिए कुछ किया। कभी उसे भी ऊपर होने का मौका दो, तो वह तुम्हे क्षमा कर पाएगा, अन्यथा क्षमा न कर पाएगा।'

'जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक दिया जाता…।'

स्वभावतः तामसी दान न तो देश का विचार कर सकता है, न काल का, न पात्र का। वह दान ही नहीं है, नाममात्र को दान है। तामसी व्यक्ति खोज भी कैसे सकता है—कौन है पात्र? अभी खुद की पात्रता नहीं। तुम दूसरे को वहीं तक पहचान सकते हो, जहाँ तक तुम्हारी जीवन-ऊर्जा का विकास हुआ है। अकसर तामसी व्यक्ति

तामसी को खोज लेगा दान देने के लिए, क्योंकि समान समान में बड़ा तालमेल है। तामसी व्यक्ति किसी ऐसे आदमी को दान देगा, जो उस दान से नुकसान ही करेगा, लाभ नहीं पहुँचा सकेगा। वह खोजेगा अपने जैसों को और हमेशा ऐसे समय में देगा, जब कि योग्य न तो काल था, न स्थान था, न पात्र था। और फिर सोचेगा कि कोई धन्यवाद तक नहीं देता। तामसी धन्यवाद देना जानते ही नहीं। धन्यवाद तो सिर्फ सात्त्विक देना जानते हैं। लेकिन सात्त्विक को खोजना कठिन बात है।

बुद्ध ने कहा है: ध्यानी को, संन्यासी को, सात्त्विक को अगर तुम खोज लो भोजन देने के लिए, तो तुम धन्यभागी हो। तुम्हारा अहोभाग्य है। तुम्हारा पूरा जीवन सार्थक हुआ।

बुद्ध के पचास हज़ार भिक्षु थे। सुबह से कतार लग जाती थी लोगों की—निमंत्रण देने वालों की। और भिक्षु जहाँ जाता, वहीं उसका सम्मान था। भिखारी नहीं था भिक्षु। इसलिए हमने अलग शब्द उसके लिए गढ़ा है। भिखारी नहीं है वह; वह हमसे कहीं ज़्यादा बड़ा सम्राट् है। वह ज्यादा सात्त्विक है। उसके जीवन की सारी ऊर्जा शांति और ध्यान और मोक्ष की तलाश में लगी है। उसने अपने को सब भाँति मौन किया है। उसके उठने, चलने में सब तरफ सत्त्व का आभास है। वह तुम्हारे घर भोजन ले ले तो तुम धन्यभागी हो। इसलिए भिक्षु धन्यवाद नहीं देता था; धन्यवाद तुम देते थे कि तुमने भोजन लिया—हम धन्यभागी! इसलिए दान, जब तक दक्षिणा न दी जाए, तो पूरा नहीं है। 'आये तुम, स्वीकार किया हमारा भोजन, हम अपात्र को मौका दिया कि हम सुपात्र को कुछ दे सकें, ऐसी घड़ी हमारे जीवन में आ सकी कि जो करने योग्य था, हम कर सके, ऐसा अवसर तुमने जुटाया।' उसके लिए दक्षिणा है।

सात्त्विक दान सात्त्विक पात्र की खोज, सात्त्विक क्षण की खोज, सात्त्विक स्थान की खोज से होगा, प्रत्युत्तर की बिना आकांक्षा के, चुपचाप होगा—देने वाला जैसे है ही नहीं। और देने वाला अनुगृहीत होगा कि तुमने लिया, स्वीकार किया; तुम इनकार भी कर सकते थे। वह दान के बाद दक्षिणा भी देगा।

राजस दान क्लेशपूर्वक दिया जाएगा—आकांक्षापूर्वक कि उत्तर ज्यादा आना चाहिए; पाँच दे रहा हूँ तो दस लौटने चाहिए।

गंगा के किनारे मैं बैठा था एक कुम्भ के मेले में। और एक पंडित वहाँ कुछ लोगों को समझा रहा था कि अगर तुम यहाँ एक पैसा दान करोगे तो एक करोड़ गुना तुम्हें स्वर्ग में मिलेगा। लोग कर भी रहे थे एक पैसा, दो पैसा दान—एक करोड़ गुने की आकांक्षा में! धंधा भी कुछ छोटा नहीं कर रहे हैं वे। जुआरी भी इतने जुआरी नहीं हैं। वे भी एक पैसा लगा कर एक करोड़ गुना नहीं पाने की आकांक्षा रखते। सटोरिये

भी क्या सटोरिये होंगे, जैसे स्वर्ग के सटोरिये हैं! दे रहे हैं एक पैसा, दो पैसा, करोड़ गुने को आकांक्षा कर रहे हैं; यह दान है? एक पैसा दे के भी कल्पेंगे, तड़फेंगे वह स्वर्ग कब आयेगा, जब एक करोड़ पा लेंगे, तब इनको शांति मिलेगी! ऐसा स्वर्ग कभी नहीं आता। स्वर्ग तो उसके ही पास है—जो देता है और माँगता नहीं। ये तो नरक में गिरेंगे। और जितना क्लेश इन्होंने एक पैसा दे कर पाया है, उससे एक करोड़ गुना पाएँगे। क्लेश क्लेश बढ़ाएगा। आनंद आनंद बढ़ाता है। तुम जो बनते जाते हो, उसी के और होने की संभावना बढ़ती जाती है।

जीसस का बड़ा अनूठा वचन है: जिनके पास है, उन्हें और दिया जाएगा; और जिनके पास नहीं है, उनसे वह भी छीन लिया जाएगा।

अगर तुम आनंदित हो, तो और आनंद मिलेगा। अगर तुम दुःखी हो—और दुःखी हो जाओगे; आनंद जो थोड़ा-बहुत होगा, वह भी छीन लिया जाएगा। जीवन का गणित जीसस के वचन में पूरी तरह है।

और फिर तामस दान है, जो दान नहीं है; जो सिर्फ अपमान के लिए दिया जाता है, जो अहंकार की तृप्ति के लिए दिया जाता है। वह निश्चित ही कुपात्रों के हाथ में पड़ेगा और उसके दुष्परिणाम होंगे।

आज इतना ही।

परस्पर-तंत्रता का बोध • क्रान्ति की कीमिया : स्वीकार
मूल-स्रोत : ॐ

दसवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, प्रातः, दिनांक ३० मई, १९७५

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्तेमोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

और हे अर्जुन, ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है, उसी से सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं।

इसलिए ब्रह्मवादिन श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्रविधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तप-रूप क्रियाएँ सदा ॐ—ऐसे इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।

और तत् अर्थात् तत् नाम से कहे जानेवाले परमात्मा का ही सब है—इस भाव से फल को न चाह कर नाना प्रकार की यज्ञ, तप-रूप क्रियाएँ, तथा दान-रूप क्रियाएँ मोक्ष की आकांक्षा वाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं।
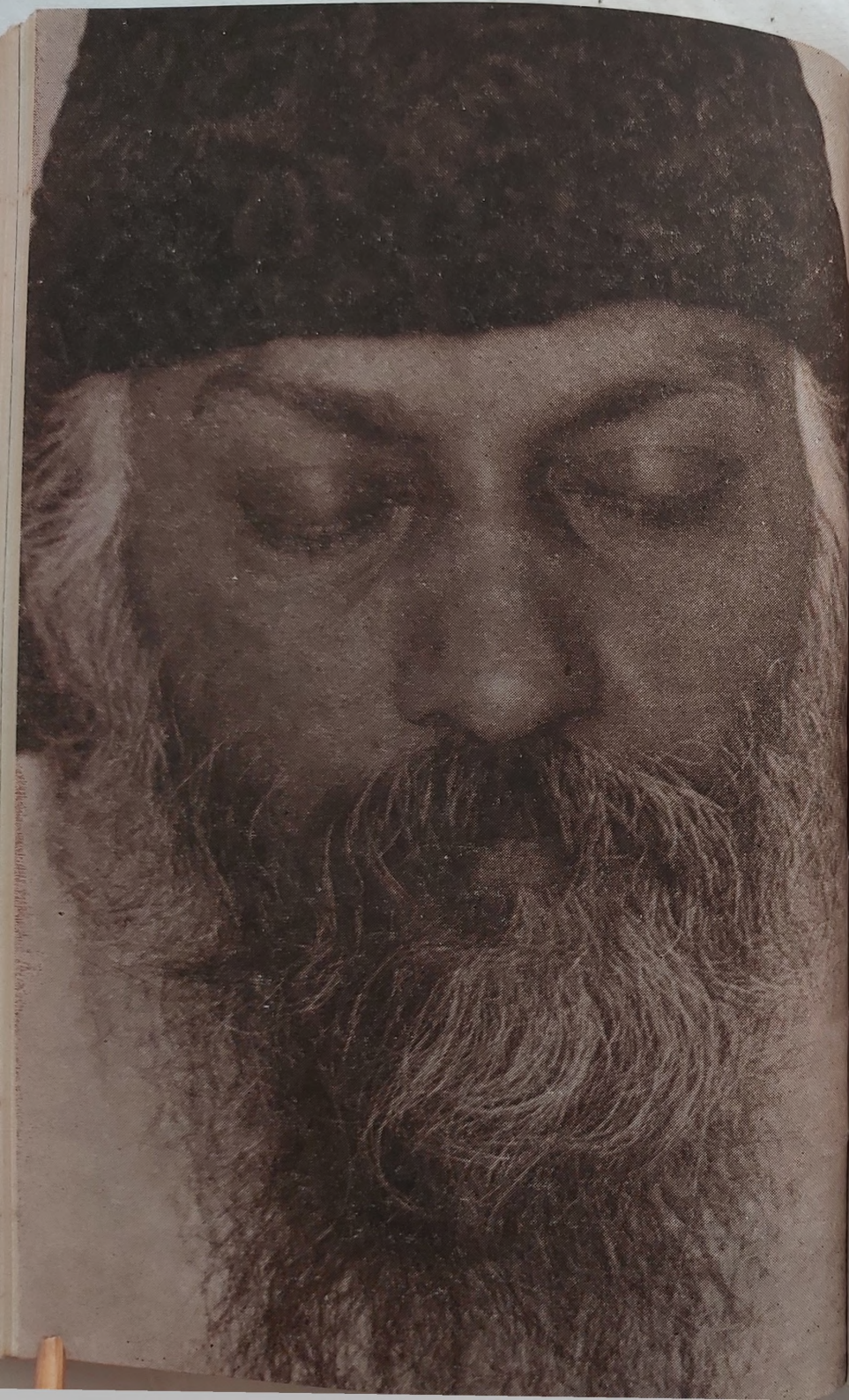
पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : क्या क्षण-क्षण जीने से परस्पर-तंत्रता का बोध शुरू होता है?

क्षण-क्षण जीने का अर्थ है—अतीत से मुक्त हो कर जीना, भविष्य से भी मुक्त होकर जीना; जैसे न तो कोई अतीत था, न कोई भविष्य है; बस, यही क्षण सब कुछ है। इस क्षण के न तो पीछे की तरफ मन जाय, न आगे की तरफ; इस क्षण में ही जागकर जीये; इस क्षण से ज्यादा कुछ भी नहीं है; यही क्षण सारा आकाश हो, यही क्षण सारा जीवन हो, तो निश्चित ही परस्पर-तंत्रता का बोध होगा। क्योंकि अतीत जहाँ नहीं है, वहाँ अहंकार के खड़े होने का उपाय नहीं।

अतीत का जोड़ ही तो अहंकार है, जो तुम्हें जीवन से तोड़ता है, जो तुम्हें कहता है: 'तुम अलग हो।' और जहाँ भविष्य नहीं, कामना नहीं, आकांक्षा नहीं, जहाँ कोई दौड़ नहीं, कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं, वहाँ तुम चाहो सपने में भी, तो भी तो अहंकार को खड़ा नहीं कर सकते।

तो अहंकार दो सहारों पर खड़ा है, उसकी दो टाँग है। एक तो है—अतीत—जो तुम थे, जो तुमने किया, जो हुआ—उस सब का संग्रह है तुम्हारी स्मृति; वह एक पैर। और एक, जो तुम होना चाहते हो, जो तुम्हारी योजना है होने की, जो तुम चाहोगे कि हो—भविष्य—कल्पना—सपना—वह दूसरा पैर है अहंकार का।

वर्तमान में तो अहंकार को खड़े होने की जगह भी नहीं है। वर्तमान तो इतना भरा है जीवन से कि वहाँ अहंकार कहाँ पैर जमा पाएगा। वर्तमान तो इतना प्रकाशित है जीवन से कि वहाँ अहंकार के अँधेरे के लिये जगह खोजनी मुश्किल है।

और वर्तमान की गली कितनी संकरी है।—एक पल! पल का भी लाखवाँ हिस्सा

तुम्हारे हाथ में पड़ता है। जब वह चला जाता है, तब दूसरा हिस्सा हाथ में आता है। तुम उस पल में जीने की कला भर सीख जाओ। सारे धर्म वही सिखाते हैं। इसलिए—अचाह पर इतना जोर है।

कृष्ण कहते हैं: चाहो मत, माँगो मत, क्योंकि माँग और चाह भविष्य को पैदा करती है; इसलिए अकर्ता भाव। क्योंकि तुमने क्या किया अतीत में, तुम कौन हो—तुम्हारा तादात्म्य फिर अहंकार को पैदा करता है। ऐसे ही तो तुम च्युत हो जाते हो, इस क्षण से, जो मौजूद है—अपनी विराटता में।

जैसे ही अहंकार नहीं होता, वैसे ही तुम्हें पता चलता है: तुम अलग और पृथक नहीं हो, जुड़े हो; जीवन एक संयुक्त घटना है।

दूसरा—तुम से कितना ही भिन्न मालूम होता हो—उसी सागर की लहर है, जिसकी लहर तुम हो। तुम छोटी लहर हो या बड़ी लहर हो, दूसरा छोटी लहर है या बड़ी लहर है, तुम पूरब की तरफ जा रहे हो, दूसरी लहर पश्चिम की तरफ जा रही है, कोई फर्क नहीं पड़ता। सब एक ही सागर का खेल है।

वर्तमान के क्षण में जागे हुए व्यक्ति को 'मैं' तो दिखाई नहीं पड़ता; यह विराट—एक ही दिखाई पड़ता है। उस एक को ही हम ब्रह्म कहते हैं।

ब्रह्म का अर्थ है—जिसका विस्तार है, जो फैला हुआ है, जो सब में विस्तीर्ण है, जो सब में फैला है—पत्थर-पहाड़ से लेकर परम चैतन्य की घटना तक जिस एक का ही विस्तार है—क्षुद्र में भी, विराट में भी—सब में जो माजूद है, उस एक के दिखाई पड़ते ही अहंकार तो मिट जाता है। तो कौन होगा स्वंतत्र, कौन होगा परतंत्र इसलिए एक अनूठी अनुभूति पैदा होती है: परस्पर-तंत्रता—इन्टरडिपेंडेंस की।

यह शब्द भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस शब्द को भी हमें उन्हीं दो शब्दों के आधार पर बनाना पड़ रहा है, जो गलत हो गये हैं। लेकिन इससे थोड़ा एहसास होगा कि क्या मतलब है।

परस्पर-तंत्रता का इतना ही अर्थ है कि सब जुड़ा हुआ है, खण्ड-खण्ड नहीं है; सब अखण्ड है। दो नहीं है, अनेक नहीं है—एक है। नाम रूप के भेद हैं; वस्तुतः कोई भी भेद नहीं है; परिधि पर भेद है, भीतर, केंद्र पर कोई भेद नहीं है, अभेद है।

क्या इसका यह अर्थ हुआ कि तुम्हारी निजता मिट जाएगी? यहीं धर्म का सबसे बड़ा विरोधाभास, सबसे बड़ा पैराडॉक्स है।

जब तक तुम अहंकार से भरे हो, तुम्हारी निजता पैदा ही नहीं होती। जब अहंकार शून्य हो जाता है, तब तुम्हारी निजता पैदा होती है। लेकिन यह निजता अस्मिता नहीं है; यह निजता बड़ी अनूठी है। इस निजता में 'मेरे' होने का कोई भी भाव नहीं है। है तो वही, लेकिन एक खास ढंग से मुझ में है। और एक खास ढंग से तुम में है। और एक खास ढंग से वृक्ष में है। और एक और खास ढंग से आकाश में है। सब ढंग उसके ह। लेकिन ढंगों में भेद है और हर ढंग अद्वितीय है, हर ढंग बेजोड़ है।

ब्रह्म पुनरुक्ति जानता ही नहीं। उसने वही गीत की कड़ी फिर कभी नहीं गुनगुनाई—जो एक दफा गुनगुना ली। वह एक-सी दो शकलें पैदा नहीं करता; एक से दो पत्ते नहीं बनाता; एक से दो कंकड़ नहीं बनाता।

सब बेजोड़ है, हर चीज अद्वितीय है। निजता का अर्थ है: यह अद्वितीयता। लेकिन यह अद्वितीयता तुम्हारी नहीं है। अगर तुम्हारी है, तो अहंकार है। यह अद्वितीयता ब्रह्म की है; उसकी है। इसलिए तुम्हारा इसमें क्या लेना-देना।

अब यह समझ लेने जैसा है कि निजता 'तुम्हारी' नहीं है। क्योंकि निजता शब्द से तो ऐसा लगता है कि—तुम्हारी। तुम से प्रकट हो रही है। तुम्हारी बाँसुरी से गाया जा रहा है यह गीत; लेकिन गीत तुम्हारा नहीं है। यद्यपि किसी दूसरी बाँसुरी से यह गीत नहीं गाया जा सकता; यह भी सच है। इसलिए तुम्हारा भी इसमें कुछ है—बाँसुरी का ढंग।

यह बाँस की जो पोंगरी है, यह तुम्हारी है। लेकिन इसमें गीत उसका है। इसलिए अहंकार का कोई प्रयोजन नहीं है। वह गीत बंद कर दे, तो बाँसुरी समाप्त; बाँस की पोंगरी पड़ी रह जाएगी। पोंगरी तो बाँसुरी तभी होती है, जब उसका गीत बहता रहता है। वही तुम से बह रहा है। बहने वाला एक है। कण्ठ अनेक हैं; वही गा रहा है।

बाँसुरियाँ बहुत हैं। कृष्ण के ओठ पर ही रखी हैं सब बाँसुरियाँ। गाने वाला एक, पर गीत बड़े अनेक भिन्न रूपों में पैदा हो रहा है। हर गीत की निजता है, खूबी ह अद्वितीयता है। पर उस अद्वितीयता में भी उसी का गुण-गान है।

जब हम कहते हैं—'निजता', तो उस निजता में भी उसकी ही महिमा का स्मरण है; तुम्हारी महिमा का नहीं। अगर तुम्हें अपनी महिमा खयाल आ गई, तो तुम टूट गये, तो तुम्हारा सम्बन्ध गीत से टूट गया; तुम बाँस की पोंगरी रह गये। और अगर तुम अकड़ गए और तुमने अगर यह समझ लिया कि यह गीत चूँकि किसी और से नहीं गाया जा सकता, क्योंकि ऐसी कोई बाँसुरी नहीं है, इसलिए यह गीत मेरा है, तब तुम भटक गये।

अगर तुमने यह जाना कि खूबी बाँस की पोंगरी की विशेषता में है, लेकिन वह पोंगरी भी उसकी ही बनायी हुई है, वह पोंगरी भी उसी की, और गीत गानेवाला भी वही; मैं बीच में कौन हूँ? जिस दिन तुम अपने और परमात्मा के बीच से हट जाते हो, निजता का आविर्भाव होता है; तुम बड़े अद्वितीय हो जाते हो।

कहाँ खोजोगे बुद्ध जैसा पुरुष? कहाँ खोजोगे महावीर? कहाँ खोजोगे कृष्ण? कोई मुकाबला नहीं है। एकदम अनूठे हैं। कोई मार्ग नहीं है, इन जैसा व्यक्ति दुबारा खोज

लेने का। इसलिए तो सदियों तक हम इन्हें भूल नहीं पाते, क्योंकि अगर दूसरा कृष्ण पैदा हो जाता, तो पहले कृष्ण को हम कभी का भूल गये होते। क्या जरूरत थी? नये संस्करण को याद रखते, पुराने को भूल गये होते। लेकिन कोई दूसरा संस्करण पैदा ही नहीं होता। बस, पहला ही संस्करण है; वही आखिरी भी है। पुनरुक्ति होती नहीं, वही निजता है।

तुम दोहराये न जाओगे, यह निजता है; लेकिन यह 'तुम्हारी' नहीं है; यह भी ब्रह्म की ही निजता है। बस, एम्फेसिस, जोर का फर्क है। अगर कहा, 'मेरी'—चूक गये। अगर कहा, 'उसकी'—पा गये।

और ऐसी निजता स्वतंत्रता से भरी हुई है। इसलिए यह भी ध्यान रखना कि जब मैं कहता हूँ: 'परस्पर-तंत्रता', तो उसका मतलब तुम गुलामी मत समझ लेना, परतंत्रता मत समझ लेना। परस्पर-तंत्रता में सिर्फ स्वच्छंदता छूट जाती है—स्वतंत्रता नहीं। वस्तुतः तुम और स्वतंत्र हो जाते हो, क्योंकि जितने ही तुम नियम के करीब आते हो, उतनी ही स्वतंत्रता प्रकट होने लगती है।

जितना ही तुम्हारा जीवन ब्रह्म से अनुशासित होता है, तुम उतना ही पाते हो, तुम मुक्त हो गए। इसलिए हम ब्रह्म-ज्ञानियों को मुक्त कहते हैं। कहने का क्या कारण है? क्या ब्रह्म-ज्ञानी मुक्त हो गया? अब उस पर कोई परतंत्रता न रही, कोई नियम न रहे? नहीं, उलटी ही घटना घटी है। वह नियम के साथ इतना एकरूप हो गया कि अब नियम में और अपने में कोई फर्क न रहा। परतंत्र कौन करेगा?

तुम्हें परतंत्रता का पता चलता है, क्योंकि तुम नियम के विपरीत चलते हो। तुम रास्ते पर शराब पीकर चल रहे हो। आड़े-टेढ़े चलते हो; संतुलन खो गया है; गिर पड़ते हो; टाँग टूट जाती है। तुम कहते हो, 'यह ग्रेव्हिटेशन का नियम, यह जमीन का जो गुरुत्वाकर्षण है, इसने टाँग तोड़ दी। न होता गुरुत्वाकर्षण, न हम गिरते।' ठीक है, अगर तुम चाँद पर गिरो, तो टाँग इतनी बुरी तरह से नहीं टूटेगी। अगर जमीन पर गिरो, और आठ फ्रैक्चर हों, तो चाँद पर एक होगा, क्योंकि गुरुत्वाकर्षण आठ गुना कम है। लेकिन ध्यान रखना आठ गुनी ऊँची छलाँग भी लगती है वहाँ। तो मूढ़ चाहे जमीन पर हो, चाहे चाँद पर, आठ ही फ्रैक्चर होंगे। क्योंकि वहाँ शराब पीकर वह आठ गुना ऊँची छलाँग से चलने लगेगा। चाँद पर तुम किसी के मकान पर सीधी छलाँग लगाकर निकल सकते हो। क्योंकि चाँद छोटा है, उसका खिंचाव कम है।

जमीन पर तुम गिरते हो, तो तुम्हारे कहने में सचाई है कि गुरुत्वाकर्षण ने तुम्हारी टाँग तोड़ दी। लेकिन कितने लोग चल रहे हैं बिना शराब पीये, गुरुत्वाकर्षण उनकी टाँग नहीं तोड़ रहा है। और जो लोक सदा सम्हलकर और होश से चलते हैं, उनकी तो कभी नहीं टाँग तोड़ता। उनको पता ही नहीं चलता कि जमीन में कोई दुश्मनी है।

जो व्यक्ति नियम के साथ एक हो जाता है, उसकी परतंत्रता समाप्त हो जाती है। क्योंकि परतंत्रता का पता ही चलता था इसलिए, कि नियम के विपरीत तुम जाना चाहते थे, वहीं अड़चन आ जाती थी, वहीं सीमा आ जाती थी। तुम्हें लगता था—यह तो परतंत्रता है।

ज्ञानपूर्ण व्यक्ति जीवन के नियम के साथ हो जाता है, तब कोई परतंत्रता नहीं बचती। वह स्वयं ही नियम हो गया, अब कोई विपरीत बचा नहीं। वह परिपूर्ण स्वतंत्र हो जाता है।

यह बात तुम्हें विरोधाभासी लगेगी: अनुशासित व्यक्ति ही मुक्त होता है। जितना बड़ा अनुशासन होता है जीवन में, उतनी बड़ी मुक्ति होती है। और जितना स्वच्छंद व्यक्ति होता है, उतना ही परतंत्र होता है। क्योंकि उतना ही नियम को तोड़ने जाता है।

नियम बहुत बड़ा है, तुमसे बड़ा है; तुम नहीं थे, तब भी था; तुम नहीं होओगे, तब भी होएगा। नियम ही से तुम हो—उसकी ही एक तरंग। तुम नियम को कैसे तोड़ पाओगे? तुम ही टूटोगे। जब भी तुम पहाड़ से सिर टकराओगे, पहाड़ नहीं टूटेगा, तुम ही टूटोगे। लेकिन सिर टकराने की जरूरत क्या थी? टकरा के तुम्हें अनुभव होगा कि यह तो बात परतंत्रता की हो गई है। आदमी स्वतंत्र नहीं है। क्योंकि हम सिर टकराते हैं पहाड़ से, और सिर टूट जाता है।

आदमी बिलकुल स्वतंत्र है। स्वतंत्रता को जरा और कहीं खोजो। स्वतंत्रता इसमें है कि तुम चाहो, तो सिर टकरा लो और चाहो तो मत टकराओ। वहाँ तुम्हारी स्वतंत्रता है। अगर तुम न टकराओ सिर, तो सिर न टूटेगा। पहाड़ आकर तुमसे नहीं टकरा सकता। इसे थोड़ा खयाल रखो।

नियम आकर तुमसे कभी नहीं टकराता। तुम ही नियम के विपरीत जाकर टकराते हो। नियम तुम्हारा दुश्मन नहीं है। जब तुम नियम की दुश्मनी करते हो, तब तुम्हें फल भोगना पड़ता है।

सारे कर्म का सिद्धांत इस छोटी-सी बात पर खड़ा है कि नियम के विपरीत मत जाना अन्यथा फल भोगना पड़ेगा। फिर तुम बच न सकोगे। और जो नियम के विपरीत नहीं जाते, उनका कर्मजाल समाप्त हो जाता है। वे नियम के अनुसार ही चलते हैं। अब यह भी थोड़ा सोचो।

जब मैं कहता हूँ, 'नियम के अनुसार चलते हैं', तो हमारे मन में होता है कि यह तो परतंत्रता हो गई। 'नियम के अनुसार'—तो हमें लगता है कि मान के चलना पड़ रहा है, किसी नियम का बोझ ढोना पड़ रहा है; तो स्वतंत्रता कहाँ रही?

कठिनाई तुम्हारे अहंकार में है। तुम यह नहीं समझ पाते कि तुम भी नियम की ही

एक व्यवस्था हो। नियम तुम से भिन्न नहीं। उसी ने तुम्हें पैदा किया है; उसी से तुम जीवित हो — हृदय धड़क रहा है; उसी से तुम सोच रहे हो; उसी से तुम मुझे सुन रहे हो; उसी से मैं बोल रहा हूँ; उसी से तुम ध्यान करोगे; उसी से तुम शांत होओगे—मौन होओगे, समाधि को उपलब्ध होओगे।

तुम नियम हो; तुम नियम का एक ढंग हो। नियम अगर तुम से भिन्न होता तो परतंत्रता हो सकती थी; तुम ही नियम हो। यही तो अर्थ है, जब हम कहते हैं कि तुम ब्रह्म हो। कोई और अर्थ नहीं है। इसलिए बुद्ध ने ब्रह्म शब्द को टाल ही दिया। कोई जरूरत न पाई। क्योंकि उन्होंने ब्रह्म की जगह धर्म शब्द का उपयोग कर लिया। धर्म का मतलब होता है—नियम।

लाओत्से ने धर्म का भी उपयोग नहीं किया। उसने 'ताओ' का उपयोग किया। ताओ का अर्थ होता है—नियम; जिसको वेदों में ऋत कहा है। वह मधुरतम शब्द है परमात्मा के लिये। क्योंकि उसमें मनुष्य की कोई भी धारणा प्रविष्ट नहीं होती।

ऋत; साइंस उसी की तो खोज कर रही है—नियय की। और जैसे-जैसे साइंस खोज करती जाती है, वैसा-वैसा आदमी नियम से मुक्त होता जाता है। यह बड़े मजे की बात है।

हजारों साल तक आदमी ने सोचा : आकाश में उड़े। वह नहीं हो सका। बड़ी परतंत्रता अनुभव हुई होगी! उड़ना चाहते हैं, नहीं उड़ सकते।

उड़ने के कितने सपने देखता है आदमी? तुम में शायद ही कोई व्यक्ति हो, जिसने आकाश में उड़ने का सपना न देखा हो। उसका अर्थ है कि मन में उड़ने की बड़ी आकांक्षा है। पुराने से पुराने सपने की खोजें की गई हैं। एक सपना सदा से आदमी को आता रहा है कि पंख लग गए, आकाश में उड़ रहे हैं। यह उड़ना स्वतंत्रता की आकांक्षा है। लेकिन आदमी उड़ नहीं सका। उड़ा कब? जब हमने नियम समझ लिया। अब हम आकाश में उड़ रहे हैं, हवाई-जहाज आकाश में उड़ रहे हैं, अंतरिक्ष-यान चाँद पर पहुँच रहे हैं। और हमें लगता है, हम स्वतंत्र हैं—उड़ने को।

लेकिन तुम्हारी स्वतंत्रता कैसे आई है, इसका तुम्हें पता है? नियम को जानकर, नियम के अनुसार चलने से।

हमने कोई प्रकृति को जीत लिया है, इस खयाल में मत पड़ना। वैज्ञानिक कहे चले जाते हैं कि हमने प्रकृति को जीत लिया। गलत बात है। हमने सिर्फ प्रकृति के नियम को जाना और उसके अनुसार चल पड़े। प्रकृति ने ही हम को जीता है। प्रकृति को तुम कैसे जीतोगे? हमने सिर्फ जान लिया है कि नियम यह है प्रकृति का। अब तक न जानते थे, तो न उड़ सकते थे। अब जान लिया और जान कर हम उसका अनुसरण कर रहे हैं—जो प्रकृति का नियम है। अब हम उड़ सकते हैं; कोई अड़चन न रही।

इस बात की सम्भावना है...। अभी तो केवल जो वैज्ञानिक उपन्यास लिखे जाते हैं, उनमें ये कथाएँ हैं। लेकिन कभी इस बात की सम्भावना है कि यान की भी जरूरत न रह जाए। हम आदमी के शरीर में ही कुछ व्यवस्था खोज लें, जिससे व्यक्तिगत रूप से आदमी उड़ सके। उसके हाथ ही पंख का काम करें या उसके भीतर कोई प्रक्रिया हम खोज लें, जो जमीन के गुरुत्वाकर्षण को काट देती हो। इसकी सम्भावना है।

योगियों ने सदा से कहा है कि उन्हें कभी-कभी अनुभव होते हैं—जमीन के ऊपर उठ जाने के। और अब इसके वैज्ञानिक प्रमाण हैं कि कुछ लोग ध्यान की खास अवस्था में जमीन से ऊपर उठ जाते हैं।

यूरोप में एक महिला है, जिस पर हजारों प्रयोग किये गए हैं, जो जमीन से चार फीट ऊपर उठ जाती है—ध्यान की अवस्था में।

और अब यह एक वैज्ञानिक रूप से सिद्ध बात हो गई कि कभी-कभी भाव की ऐसी शांत अवस्था होती है, जब शरीर बिलकुल निर्भार हो जाता है। तो अगर यह संभव है—चार फीट, तो चार सौ फीट भी सम्भव है, चार हजार फीट भी सम्भव है। फिर तो गणित का विस्तार है। फिर इसकी जरा ठीक से खोज करने की जरूरत है कि कसी भाव-दशा में गुरुत्वाकर्षण काम नहीं करता; कोई दूसरा आकर्षण काम करने लगता है।

जैसे जमीन खींचती है आदमी को; शायद और एक नियम है, जिसमें हम कहें कि आकाश खींचता है। ऐसा होना ही चाहिए, क्योंकि नियम कभी अकेला नहीं होता; उससे विपरीत नियम भी होता है, तभी तो दोनों में तालमेल रहता है, नहीं तो ताल-मेल टूट जाए। नदी दो किनारों से बहती है। अगर एक किनारे का पता चल गया तो पक्का ही समझो कि दूसरा किनारा भी होगा। चाहे दूसरा दिखाई भी न पड़ता हो; धुंध में छिपा हो—होगा। कितने ही दूर हो—होगा। एक किनारे की कहीं नदी हो सकती है?

एक किनारा हमें ग्रेव्हिटेशन का पता चल गया—कि जमीन खींचती है। दूसरा किनारा भी है। तुम्हें भी अनुभव होता है : कभी जब तुम पानी में तैरते हो, तो हलके हो जाते हो। निश्चित ही पानी पर कोई नियम काम कर रहा है—आकाश का। इसलिए अगर पानी में तुमसे भी बड़ा आदमी डूब रहा हो, तो तुम बचा सकते हो; क्योंकि वजन कम हो जाता है। इसलिए तैराने वाला किसी मोटे से मोटे आदमी को भी तैराना सिखा सकता है—दुबले से दुबला आदमी भी। क्योंकि पानी में वजन कम हो जाता है।

शायद जल आकाश के किसी नियम से अनुप्राणित है।

शायद जल आकाश के किसी नियम से अनुप्राणित है। जब आकाश ऊपर की तरफ खींच रहा है, जमीन नीचे की तरफ खींच रही है। जब

तुम जमीन पर होते हो, तब तुम्हारा वजन बढ़ जाता है; पानी में वजन कम हो जाता है। इसलिए तो पानी में तुम हलके लगते हो। इसलिए तो तैरने में इतना मजा आता है। वह मजा ध्यान का ही है। क्योंकि हलकापन हो जाता है। जैसे तुम उड़ सकते हो।

जरूर कोई नियम है आकाश का, जो ऊपर खींचता है। ध्यान की किसी घड़ियों में वह नियम काम करता है; किसी ठीक ट्यूनिंग में, जब तुम्हारा ध्यान उस अवस्था में आता है, जहाँ सूई मिल जाती है—आकाश के नियम से।

निश्चित ही आकाश का नियम पृथ्वी के नियम से बड़ा होगा; क्योंकि पृथ्वी बड़ी छोटी है, आकाश बहुत बड़ा है। अगर तुमने वह सूत्र खोज लिया, तो पृथ्वी के पार तुम हो जाते हो।

किसी न किसी दिन आदमी निजी रूप से भी उड़ सकेगा। आखिर पक्षी उड़ ही रहे हैं, बड़े-बड़े पक्षी उड़ रहे हैं, जिनका वजन आदमी के बराबर है। तुमने चीलों को आकाश में उड़ते देखा होगा, जब वे पंख भी नहीं हिलातीं, सिर्फ तिरती हैं। किसी नियम का अनुसरण चल रहा है।

विज्ञान जीतता नहीं प्रकृति को। विज्ञान केवल नियम को जानता है; जानकर अनुसरण करता है। अनुसरण में ही उसकी सारी शक्ति है। इसी अनुसरण का नाम योग है; इसी अनुसरण का नाम अनुशासन है—डिसिप्लिन है, साधना है।

साधना नियम के पार नहीं ले जाएगी; साधना केवल नियम को साफ कर देगी; तुम नियम के अनुकूल हो जाओगे। नियम से दुश्मनी टूट गई; अब तुम मालिक हो; अब तुम स्वतंत्र हो, पहली दफा। इसलिए मैं कहता हूँ, यह उलटा दिखाई पडने वाला वचन बहुत महत्त्वपूर्ण है : 'जब तुम परिपूर्ण रूप से नियम के अनुकूल होते हो, तभी तुम परिपूर्ण स्वतंत्र होते हो, और तभी तुम्हारी निजता पैदा होती है।'

अपनी ढपली पीटते-पीटते तुम रोज-रोज गुलाम ही होते जाओगे। स्वच्छन्द होने की चेष्टा में तुम परतंत्र हो जाओगे। समर्पण स्वतंत्रता ले आता है। इसलिए ज्ञानियों ने जो सबसे बड़ी स्वतंत्रता जानी है, वह समर्पण है। छोड़ दो अपने को चरणों में—उसके—जिसका सब है। तुम अपने को मत ढोये फिरो। समर्पण होते ही अचानक सब बोझ खो जाता है। एक क्षण में क्रांति हो जाती है।

जागकर क्षण में जीने की जरूरत है, तुम्हें परस्पर-तंत्रता का अनुभव होगा। सीमाएँ टूट जाएँगी, पिघल जाएँगी। तुम कहाँ शुरू होते हो, कहाँ अंत होते हो—मिट जाएगा यह खयाल।

न तुम कहीं शुरू होते, न तुम कहीं अंत होते। तुम्हारी शुरुआत वहीं है, जहाँ इस पूरे अस्तित्व की है। और तुम्हारा अंत भी वहीं है, जहां इस पूरे अस्तित्व का है।

तुम्हारी और इस अस्तित्व की सीमाएँ एक ही हैं—अगर कहीं कोई सीमा है। अन्यथा तुम उतने ही असीम हो, जितना यह अस्तित्व है।

इसको थोड़ा गणित की तरह भी समझ लो। दुनिया में दो तरह के गणित हैं—एक साधारण गणित है, जिसे हम स्कूल में पढ़ते हैं, वह इस संसार में काम आता है। एक असाधारण गणित है; या तो बहुत पहुँचे हुए गणितज्ञ उसका अनुभव कर पाते हैं या ब्रह्म-ज्ञानियों को उसकी प्रतीति होती है। आइंस्टीन जैसे गणितज्ञ को उसका खयाल आना शुरू हो जाता है। ऑस्पेंस्की जैसे गणितज्ञ को उसके सूत्र दिखाई पड़ने लगते हैं। और ब्रह्म-ज्ञानियों ने तो उसी गणित की बात की हैं, चाहे उनकी भाषा गणित की न हो। क्योंकि गणित से उनका कोई परिचय नहीं है।

उपनिषद् में वचन है कि पूर्ण से हम पूर्ण को भी निकाल लें, तो भी पीछे पूर्ण ही शेष रह जाता है। यह उस परम गणित का सूत्र है। साधारण गणित में तो यह ठीक नहीं बैठता। क्योंकि अगर तुम किसी चीज में से कुछ भी निकाल लो, तो पीछे चीज उतनी ही शेष नहीं रह जाएगी—जितनी निकालने के पहले थी। उतना तो कम हो जाएगा—जितना निकाल लिया। और उपनिषद् तो कहता है, अगर हम पूर्ण से पूर्ण भी निकाल लें, तो भी पूर्ण ही पीछे रहता है। थोड़ा बहुत नहीं, पूरा ही निकाल लें तो भी पीछे उतना ही शेष रहता है।

यह तो किसी और गणित की बात है। यह उस गणित की बात है, जिससे असीमा का सम्बध है—सीमित का नहीं।

पहली तो बात है कि पूर्ण से पूर्ण तुम निकाल न सकोगे। निकालकर कहाँ ले जाओगे? रखोगे कहाँ निकालकर? और कहीं कोई जगह नहीं है।

कल्पना कर लो कि अगर निकाल लो पूर्ण से पूर्ण को, तो पूर्ण का अर्थ होता है : जो असीम है। असीम में से तुम कितना भी निकाल लो असीम सीमित नहीं हो सकता। वह उसका स्वभाव नहीं है। इसलिए उस में से घट न सकेगा।

सागर में से तुम एक बूँद भी निकालते हो, तो भी सागर घट जाता है, सागर की सीमा है। लेकिन परमात्मा से तुम कुछ भी निकाल लो, घट नहीं सकता; क्योंकि उसकी सीमा नही है।

इस अस्तित्व की कोई सीमा नहीं है। पहले तो तुम उसमें से निकाल ही न सकोगे, निकालकर ले कहाँ जाओगे? रखोगे कहाँ? और जगह कहाँ है? परमात्मा के अतिरिक्त और स्थान कहाँ है? लेकिन अगर निकाल लो, तो उपनिषद् कहते हैं 'तुम पूरा भी निकाल लो, तो भी पीछे पूरा शेष रहेगा। क्योंकि वह जो पीछे है, वह असीम है।'

ऑस्पेंस्की ने दूसरा सूत्र अपनी एक बड़ी बहुमूल्य किताब 'टर्शियम आर्गनम' में

लिखा है कि साधारणतः किसी भी चीज का अगर हम कोई टुकड़ा निकालें, तो टुकड़ा पूरी चीज से छोटा होता है; होगा ही। यह साधारण गणित है। मेरा हाथ तुम मुझसे निकाल लो, तो हाथ मुझ से बड़ा थोड़े हो सकता है; मुझसे छोटा ही होगा। हाथ मेरा अंग है। तुमने सागर से चुल्लू भर पानी ले लिया, तो चुल्लूभर पानी सागर से तो छोटा ही होगा।

ऑस्पेंस्की ने लिखा है कि उस बड़े गणित में खण्ड भी पूर्ण के बराबर होता है। तुम चुल्लू भर पानी निकाल लो, वह भी पूर्ण के बराबर होता है। तुम चुल्लू भर पानी निकाल लो, वह भी पूरे समुद्र के बराबर होता है। यह बात जरा अजीब लगती है, तर्क के बाहर लगती है! लेकिन इसे थोड़ा समझ लेने जैसा है।

अगर यह पूरा अस्तित्व असीम है, तो इसका कोई भी खण्ड सीमित नहीं हो सकता। क्योंकि अगर खण्ड सीमित हो, तो कितने ही सीमित खण्डों को जोड़ो, तो असीम नहीं बन सकता।

तुम करोड़ों ईंटें जोड़ते जाओ, लेकिन हर ईंट की सीमा है। तो तुम कितना ही बड़ा भवन बना लो, हजार मंजिल का भवन बना लो, तो भी सीमित ही होगा। क्योंकि हर ईंट सीमित थी, दो सीमित मिल के, तीन सीमित मिल के, करोड़ सीमित मिल के सीमित को ही बनायेंगे। सीमा बड़ी होती जाएगी, लेकिन असीमा नहीं हो सकती।

अगर यह अस्तित्व असीम है, तो इसका हर खण्ड असीम होना चाहिए, नहीं तो कोई उपाय ही नहीं है—इसके असीम होने का। इसका यह अर्थ हुआ कि यहाँ बूँद में भी सागर छिपा है। और एक छोटे-से कण में भी विराट छिपा है। और तुम में परमात्मा छिपा है। उतना ही पूरा का पूरा जितना पूरे में फैला है, इससे कम नहीं; क्योंकि अगर यह असीम अखण्ड है, इसका हर खण्ड असीम होना ही चाहिए, कोई दूसरा उपाय ही नहीं है। इसलिए तुम्हारी सीमा वही है, जो परमात्मा की है, अगर उसकी कोई सीमा हो।

इसलिए हम परस्परतंत्रता को गहनतम खोज मानते हैं। उससे बड़ी कोई खोज नहीं है। उस खोज के लिए दो सूत्र ध्यान में रखना जरूरी है। एक तो सजगता और दूसरा—मौन। सजग तुम रहोगे, तो यहाँ और अभी जो मौजूद है, उसका तुम्हें अनुभव होगा। अगर मौन तुम रहोगे, तो ही तुम सजग रह सकोगे। नहीं तो विचार तुम्हें या तो अतीत में ले जाते हैं या भविष्य में।

एक बड़ी प्राचीन कथा है। शायद तुमने कभी पढ़ी हो। पढ़ी हो तो भी तुम समझ न पाये होओगे। क्योंकि कहानी इस ढंग से कही गई है कि उसे अज्ञानी पढ़े, तो मनोरंजन समझे; ज्ञानी पढ़े तो जीवन का परम रहस्य बन जाय।

तुमने 'बैताल पचीसी' का नाम सुना होगा। तुम कभी सोच भी नहीं सकते कि वह भी कोई ज्ञानियों की बात हो सकती है—बैताल पचीसी पर इस देश ने बड़े अनूठे प्रयोग किए हैं। इस देश ने ऐसी किताबें लिखी हैं, जिनको बहुत तलों पर पढ़ा जा सकता है, जिनमें परत-दर-परत अलग-अलग अर्थ हैं। जिनमें एक साथ दो, तीन, चार और पाँच अर्थ दौड़ते रहते हैं। जैसे एक साथ पाँच रास्ते चल रहे हैं—पैरेलल—समानान्तर। तो जिसकी जो सुविधा हो, वह वैसा समझे।

एक छोटा बच्चा भी 'बैताल पचीसी' पढ़कर प्रसन्न होगा और परम ज्ञानी भी पढ़कर प्रसन्न होगा। खोजी को मार्ग मिल जाएगा, पहुँचे हुए को मंजिल की प्रत्यभिज्ञा होगी। जो नहीं खोजी है, नहीं पहुँचा हुआ है, उसके लिये सिर्फ चित्त का मनोरंजन होगा। वह भी क्या कम है? थोड़ी देर को मन बहलाव हो जाएगा।

बैताल पचीसी की पहली कथा है...। पच्चीस ही कथाएँ बड़ी अद्भुत हैं। लेकिन पहली तुम से कहता हूँ। पहली कथा है कि सम्राट विक्रमादित्य के दरबार में एक फकीर आया। सुबह का वक्त था। रिवाज के अनुसार लोग सम्राट् को भेंट चढ़ाने सुबह-सुबह आते थे। उस फकीर ने भी एक जंगली-सा दिखाई पड़ने वाला फल सम्राट को भेंट किया। सम्राट् थोड़ा मुसकराया भी। इस फल को भेंट करने के लिए इतने दूर आने की जरूरत भी क्या थी? लेकिन फकीर है, फकीर के पास कुछ और हो भी नहीं सकता, तो उसने स्वीकार कर लिया। पास में बैठे वजीर को वह देता जाता था—।

जो भी भेंट आती थी; उसने उसे दे दिया।

यह क्रम दस वर्षों तक चला। वह फकीर रोज सुबह आता। और रोज वही—उसी तरह का फिर एक जंगली फल ले आता। दस वर्ष! और रोज सम्राट् वजीर को फल दे देता। सम्राट् ने कभी कुछ न पूछा, क्योंकि सुबह सैकड़ों भेंट देनेवाले लोग थे। फुरसद भी न थी, समय भी न था। और इस फकीर से पूछने जैसा भी कुछ नहीं लगा। पर एक दिन पास ही सम्राट का पाला हुआ बंदर भी बैठा हुआ था और सम्राट् ने वजीर को फल न देकर, बंदर को दे दिया। बंदर ने फल खाया और उसके मुँह से एक बहुत बड़ा हीरा—जो फल में छिपा था—नीचे गिर गया। सम्राट् तो चौंका। इतना बड़ा हीरा—तो उसने देखा भी नहीं था; वजीर से कहा कि 'बाकी फल कहाँ हैं?'

वजीर ने भी यह सोचा था कि जंगली फल हैं। पर फिर भी उसने सोचा कि सम्राटों के पास सम्हल कर रहना पड़ता है। तो एक तल-घर में वह फेंकता जाता था, क्योंकि फलों का करोगे क्या? जंगली थे; खाने योग्य भी नहीं लगते थे। स्वाद भी ठीक नहीं था। तल-घर खोला गया। भयंकर बदबू से भरा था, क्योंकि सारे फल

सड़ गये थे। लेकिन उन सड़े हुए फलों के बीच हीरे चमक रहे थे। ऐसे हीरे कभी सम्राट् ने देखे नहीं थे।

फकीर को कहा कि 'यह क्या राज है? तुम क्या चाहते हो? किस लिये तुम दस साल से यह भेंट ला रहे हो? और मैं कैसा अज्ञानी कि मैंने कभी देखा भी नहीं! मैंने समझा जंगली फल है।'

उस फकीर ने कहा, 'होश न हो तो जिंदगी ऐसे ही चूक जाती है।' दूसरी समानान्तर अर्थ की धारा शुरू होती है।

उस फकीर ने कहा, 'रोज ही जिंदगी लाती है। लेकिन जंगली फल समझकर तुम फकते चले जाते हो। और हर फल के भीतर हीरा छिपा है, जैसा तुमने कभी देखा नहीं। खैर जो हुआ—हुआ। अब पीछे की तरफ मत जाओ अन्यथा फिर तुम चूक जाओगे। और आगे की तरफ भी मत दौड़ो। क्योंकि मैं देखता हूँ : सपने दौड़ रहे हैं। क्योंकि इतने हीरे! दुनिया के तुम सबसे बड़े सम्राट् हो गये। आगे भी मत जाओ, पीछे भी मत जाओ। मैं कुछ और तुमसे कहना चाहता हूँ, वह सुन लो।'

सम्राट सजग होकर बैठ गया। यह आदमी कोई साधारण नहीं है। अब तक समझे थे कि फकीर है। जिंदगी साधारण नहीं है और जिंदगी ने तुम्हें जो दिया है, वह बिलकुल असाधारण है। लेकिन तुम्हें होश नहीं है।

तुम हँसोगे कि दस साल तक यह आदमी क्यों बेहोश रहा? तुम कई जन्मों से हो। राजा वीर विक्रमादित्य तुम भी हो। हजारों साल से तुम ऐसे ही बैठे हो और जिंदगी रोज फल दिये जा रही है। हर पल, छिपा हुआ जीवन का हीरा तुम्हारे पास आता है।

अब यह कोई साधारण आदमी न था। राजा सम्हल कर बैठ गया। उसने कहा, 'कहो, तुम्हारी एक-एक बात सुनने जैसी है।' उसने कहा, 'मैं दस वर्ष से आ रहा हूँ—इसी प्रतीक्षा में कि किसी दिन तुम जागोगे। क्योंकि मैं एक एसा आदमी चाहता हूँ, जो वीर हो, वह तुम हो।' इसलिए विक्रमादित्य का नाम है—वीर विक्रमादित्य। सिर्फ दो आदमियों को भारत ने वीर कहा है: एक महावीर को, एक विक्रमादित्य को।

उस फकीर ने कहा, 'निश्चित तुम वीर हो, इसमें कोई शक-सुबहा नहीं; लेकिन काफी नहीं है वीर होना। इसलिए मैं चाहता था कि जब तुम जाग जाओ—वर्तमान के प्रति, तब मेरे काम के हो सकते हो। अब दोनों बातें घट गईं। अब तुम महावीर हो—होश और साहस दोनों तुममें है। मैं एक बड़े महान तंत्र के कार्य में लगा हूँ। उसमें मुझे एक ऐसे आदमी की जरूरत है, जो बहुत वीर हो, जिसे कोई चीज भयभीत न कर सके, और जो होशपूर्ण हो। अगर तुम तैयार हो, तो आज अमावस की रात है। तुम साँझ मरघट पर पहुँच जाओ। मैं तुम्हें वहीं मिलूँगा।

वह फकीर तो चला गया। सम्राट् ने कई बार सोचा भी कि इस झंझट में पड़ना कि नहीं। लेकिन फिर यह तो कायरता होगी। और यह आदमी ऐसा है कि इसके साथ थोड़े दूर जाने जैसा है। जैसे हम जंगली फल को फेंकते रहे, पता नहीं मरघट में कौन से स्वर्ग का या मोक्ष का द्वार खुल जाए!

तो समझा-बुझा कर...। डर भी लगता था...। बहादुर से बहादुर आदमी भी डरता है। तुम यह मत सोचना कि सिर्फ कायर ही डरते हैं। डरते तो बहादुर भी हैं। फर्क क्या है बहादुर और कायर में? बहादुर डरता है, तो भी करता है। कायर डरता है, तो भाग खड़ा होता है। डरते दोनों ही हैं! डरने के सम्बन्ध में कोई फर्क नहीं है। क्योंकि जो डरे ही नहीं, तो बहादुर भी क्या उसको कहना। वह तो लोहे, लकड़ी, पत्थर का बना हुआ आदमी है। वह बदादुर भी नहीं है, जो डरे ही न। डर तो स्वाभाविक है। लेकिन बहादुर डर को किनारे पर रख देता है और घुस जाता है। और भयभीत डर को सिर पर रख देता है, भाग खड़ा होता है।

खैर, आधी रात विक्रमादित्य पहुँच गया मरघट पर। बड़ा डर लगता था। बड़ी भयंकर रात थी। साधारण रात नहीं मालूम होती थी। वह कभी मरघट आया भी नहीं था। महलों में ही सदा रहा था। मरघट सिर्फ शब्द ही था। तुम भी कभी रात—अमावस की आधी रात मरघट जाओ, तब तुम्हें इस शब्द के अर्थ का पता चलेगा। शब्द-कोश में इसका अर्थ नहीं लिखा है।

मरघट एक बड़ी अनूठी घटना है। चारों तरफ रहस्य, भय, खतरा, भूत-प्रेत, चीख-पुकार और वह तांत्रिक फकीर अपना मंडल रच के बैठा है—नग्न खोपड़ियाँ! एक जिंदा लाश! लाश को काट रहा है। उसने सब इन्तजाम अपना कर रखा है, जो उसे करना है।

सम्राट् से उसने कहा, 'आ गये; ठीक। यहाँ से थोड़ी दूर, दिखाई पड़ने वाला वह जो वृक्ष है, वहाँ एक लाश लटकी हुई है। तुम्हें उस लाश को वृक्ष से उतारकर ले आना है। लेकिन ध्यान रखना, सजग रहना और शांत रहना, क्योंकि जरा चूके, तो यह कृपाण की धार पर चलना है। जरा चूके कि गये। फिर मैं भी सहायता न कर सकूँगा।

धड़कती छाती से विक्रमादित्य उस वृक्ष के पास पहुँचा। वहाँ बड़ा भय लगने लगा उसे। क्योंकि वहाँ कोई भी न था। बिलकुल अकेला था। और उस वटवृक्ष में लाशें लटकी हुई थी। एक नहीं—पच्चीस। बड़ी बदबू आ रही थी।

किसी तरह नाक को अवरुद्ध करके मिक्रमादित्य वृक्ष पर चढ़ा। हाथ-पैर कंप रहे थे। वृक्ष पर चढ़ना मुश्किल था। किसी तरह उस लाश की डोरी काटी। वह लाश जमीन पर धम्म से नीचे गिरी! न केवल गिरी, खिलखिला के हँसी। विक्रमादित्य के

प्राण छूट गये होंगे। सोचा था, मुरदा है। यह तो जिंदा मालूम होता है। और जिंदा भी अजीब हालत में है। घबड़ाया हुआ विक्रमादित्य नीचे आया और उससे पूछा 'क्यों हँसे? क्या मामला है?'

बस, इतना कहना था कि लाश उड़ी; वापस जाकर वृक्ष पर लटक गई। और लाश ने कहा, 'शांत होना, तो ही तुम मुझे उस फकीर तक ले जा सकोगे। तुम बोले कि चूक गये।'

दोबारा लाश को काटकर नीचे लाया। बड़ा मुश्किल था चुप रहना। क्योंकि जब आदमी को भय लगता है, तब वह कुछ बोलना चाहता है। बोलने से भी थोड़ी राहत मिलती है। गीत गुनगुनाने लगता है, तो थोड़ी हिम्मत बढ़ती है। मंत्र पढ़ने लगता है; राम-राम जपने लगता है। कोई सहारा चाहिए। अब बोलना भी नहीं है और शांत भी रहना है। भयंकर है। सन्नाटा; और चारों तरफ मौत!

शायद आदमी इसीलिए अतीत की सोचता है, भविष्य की सोचता है, क्योंकि डरता है। वर्तमान के क्षण में जीवन भी है और मौत भी—दोनों हैं। क्योंकि वर्तमान में ही तुम मरोगे और वर्तमान में ही जीते हो। न तो कोई भविष्य में मर सकता है और न भविष्य में जी सकता है।

क्या तुम भविष्य में मर सकते हो? जब मरोगे, तब अभी और यहीं—वर्तमान के क्षण में मरोगे। आज मरोगे। कल तो कोई नहीं मरता। कल तो मरोगे कैसे? कल तो आता ही नहीं। जब मर नहीं सकते कल में, तो जीओगे कैसे? कल का कोई आगमन ही नहीं होता। कल है ही नहीं। जो है, वह अभी और यहाँ है। बोले कि चूक जाते हो! सोचे कि चूक जाते हो।

बड़ा कस के उसने अपने को रोका। आदमी बहादुर था। मुरदा नीचे फिर से काट के गिराया। भयंकर खिलखिलाहट की आवाज आई। छाती कंप गई। नीचे उतरा। मुरदे को कंधे पर रखा। चलने लगा। मुरदे ने कहा, 'सुनो, राह लम्बी है, रात अँधेरी है, तुम्हारा बोझ हलका करने के लिए एक कहानी कहता हूँ। ऐसी पहली कहानी।

उसने कहा कि 'तीन युवक थे ब्राह्मण...।' यह विक्रमादित्य सुनना भी नहीं चाहता था, पड़ना भी नहीं चाहता था—चक्कर में। क्योंकि जब तुम सुनो, तो पता नहीं, बीच में बोल उठो। या कुछ हो जाय। या कम से कम सुनने में ही लग जाओ और जो तुमने सम्हाल रखा है अपने को, वह चुक जाय। एक क्षण में चुक सकती है यह बात। मगर इसे 'नहीं' कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि नहीं कहते ही यह लाश उड़ जाएगी और फिर वृक्ष पर चढ़ना पड़ेगा। फिर काटो। तो वह चुप ही रहा। और वह मुरदा कहानी कहने लगा।

उसने कहा, 'एक गुरु के आश्रम में तीन युवक थे। तीनों ही गुरु की लड़की के प्रेम में पड़ गये।' कहानी में रस आने लगा। प्रेम की कहानी में किस को रस नहीं आता? विक्रमादित्य तो थोड़ा बेहोश होने लगा। लेकिन उत्सुकता जग गई; जिज्ञासा की—फिर क्या हुआ?

मुरदे ने कहा, 'तीनों युवक एक से थे, योग्य थे, अप्रतिम थे, प्रतिभाशाली थे। गुरु मुश्किल में था कि किस को चुने। युवती भी मुश्किल में थी कि किस को चुने। कोई उपाय न दीखता था। कोई रास्ता ही न सूझता था। वह इन तीन के बीच में बड़े द्वन्द्व में घिर गई थी। और तीनों चुनने योग्य थे और मुश्किल था: किस को छोड़े। और जानती थी, जिसको छोड़ेगी, वही जीवन भर पछताने का कारण रहेगा। दो को छोड़ना ही पड़ेगा। तीन से तो विवाह हो नहीं सकता।

बड़ी अड़चन थी। हल कोई था न। हल न देखकर उस युवती ने आत्म-हत्या कर ली। लाश जलाई गई।

उन तीन में से एक युवक तो मरघट पर ही उसी राख के पास रहने लगा। उस राख की धुनी रमा लेता और वहीं बैठा रहता।

दूसरा युवक इतने दुःख से भर गया कि यात्रा पर निकल गया—अपना दुःख भुलाने को। घूमता रहेगा संसार में। अब बसना ही नहीं है; क्योंकि जिसके साथ बसना था, वही न रही। अब घर नहीं बसाना है। वह परिव्राजक हो गया—एक फकीर, भटकता हुआ आवारा।

और तीसरा युवक किसी आशा से भरा हुआ था, क्योंकि उसने सुन रखा था कि ऐसे मंत्र भी हैं कि अस्थि-पंजर को पुनरुजीवित कर दें। तो उसने सारी अस्थियाँ इकट्ठी कर लीं। रोज उनको गंगा ले जाता, धोकर साफ करता। फिर ले आकर रख लेता। उनकी रक्षा करता कि कभी कोई मंत्र का जानने वाला मिल जाय।

वर्षों बीत गये। जो घूमने निकल गया था यात्रा पर, उसे एक आदमी मिल गया, जो मंत्र जानता था। उससे उसने मंत्र सीख लिया। मंत्र का शास्त्र ले लिया। भागा; अब डरा वह, घबड़ाया कि पता नहीं कि अब अस्थि-पंजर भी होंगे। शायद वे तो कभी के फेंक दिये होंगे। लेकिन आकर आश्वस्त हुआ। अस्थि-पंजर बचाये गये थे। उनको संजो के रखा था—उसके साथी ने। उसने मंत्र पढ़ा; वह युवती पुनरुजीवित हो गयी। पहले से भी ज्यादा सुंदर—मंत्र-सिक्त। उसकी देह स्वर्ण जैसी ताजी, जैसे कमल का फूल अभी-अभी खिला हो। फिर कलह शुरू हो गई कि अब वह किसकी?

अब तक सम्राट् भी भूल चुका था कि वह क्या कर रहा है और यह सुनने में लग गया। जैसा तुम सुनने में लग गये।

उस मुरदे ने पूछा कि 'सम्राट्, गौर से सुनो। फिर झगड़ा खड़ा हो गया। अब

सवाल है कि इन तीन में से युवती किसकी? तुम्हारा क्या खयाल है? और अगर तुम्हारे भीतर उत्तर आ जाए और तुमने अगर उत्तर न दिया, तो तुम इसी क्षण मर जाओगे। हाँ, उत्तर न आये, कोई हरजा नहीं।' बड़ा मुश्किल है उत्तर का न आना। आदमी का इतना वश थोड़े ही अपने मन पर। कोई बुद्ध पुरुष हो, तो न आये। ठीक है, सुन लिया प्रश्न; उत्तर न आया। कोई हरजा नहीं है।

विक्रमादित्य बड़ी मुश्किल में पड़ा। उत्तर तो आ रहा है। बुद्धिमान आदमी था, तर्क-निष्ठ तथा समझदार था, शास्त्र पढ़े थे, तर्क साफ था। मुरदे ने कहा, 'बोल, अगर उत्तर आ रहा है, तो बोल अन्यथा इसी वक्त मर जाएगा।' तो उसने कहा, 'उत्तर तो आ रहा है, इसलिए बोलना ही पड़ेगा।'

'उत्तर मुझे यह आ रहा है कि जिसने मंत्र पढ़कर युवती को जगाया वह तो पिता-तुल्य है; उसने जन्म दिया। इसलिए वह विवाह नहीं कर सकता। वह तो कट गया। जिसने अस्थियाँ सम्हाली और रोज गंगा में स्नान करता, वह पुत्र है, उसने कर्तव्य पूरा किया है, सेवा की है। उससे शादी नहीं हो सकती। प्रेमी तो वही है, जो धूनी रमाये, राख लपेटे, भूखा-प्यासा मरघट पर ही बैठा रहा, न कहीं गया, न कहीं आया। विवाह तो उसी से...।' लाश छूटी, जा कर वृक्ष से फिर लटक गई; क्योंकि यह आदमी बोल गया।

ऐसी पच्चीस कहानियाँ चलती हैं।

जीवन में तुम चूकते हो—जब भी मूर्च्छा पकड़ लेती है। जब भी तुम होश खो देते हो, जब भी जागे हुए नहीं होते, तत्क्षण जीवन का सूत्र हाथ से छूट जाता है।

जब भी तुम जरा से अशांत हो जाते हो, विचार की तरंगें चल जाती हैं, तभी जीवन का सूत्र हाथ से छूट जाता है। क्योंकि विचार की तरंग—और तुम वर्तमान से च्युत। इधर उठी तरंग, उधर तुम हटे वर्तमान से।

वह विक्रमादित्य हर बार हारता गया। ऐसी पच्चीस कहानियाँ चलती हैं पूरी रात। और हर बार विक्रमादित्य चूकता जाता है, हर बार चूकता जाता है। पच्चीसवीं कहानी पर सम्हल पाता है। हर कहानी में ज्यादा हिम्मत बढ़ती है, साहस बढ़ता है; ज्यादा देर तक रोकता है; ज्यादा देर तक विचार की तरंगें नहीं अनुकंपित करतीं।

पच्चीसवीं कहानी आते-आते कहानी चलती रहती है, विक्रमादित्य सुनता रहता है। भीतर कुछ भी नहीं होता है।

जीवन एक तैयारी है। वहाँ बहुत कुछ है—तुम्हें उलझा लेने को। बाजार है पूरा—मीना बाजार! वहाँ सब तरफ बुलावा है—उत्सुकता को, जिज्ञासा को, मनोरंजन को। प्रश्न हैं, विचार की सुविधा है, सोच-विचार का उपाय है, चिन्ता का कारण है। सब तरह के उलझाव हैं।

अगर तुम इस सारे संसार से ऐसे गुजर जाओ, जैसे विक्रमादित्य उस मरघट से बिना बोले, चुप और जागा हुआ—पच्चीसवी कहानी पर—गुजर सका, तो ही तुम वर्तमान क्षण की अनुभूति को उपलब्ध होओगे अन्यथा तुमने वर्तमान जाना ही नहीं है।

तुम वर्तमान से गुजरे जरूर हो, क्योंकि और कोई जगह नहीं है, जहाँ से तुम गुजरो। लेकिन बेहोश, सोये हुए गुजरे हो। या तो अतीत में खोये हुए गुजरे हो, या भविष्य में डूबे हुए गुजरे हो। वर्तमान से तुम्हारा कभी ताल-मेल नहीं बैठा है। वर्तमान से संगीत नहीं छिड़ा है। वर्तमान के साथ स्वर नहीं मिले। वर्तमान से स्वर मिल जाय, तो तुम पाओगे : एक ही है; अनेक उसके रूप हैं। एक है सागर; अनेक हैं लहरें।

● दूसरा प्रश्न : अचाह होने का अर्थ है कि मैं जो भी हूँ, जैसा भी हूँ, उसे यथावत् स्वीकार करूँ। इस संबंध में विचार करते हुए बार-बार प्रश्न उठता है कि क्या यह सम्भव है? क्योंकि अभी जो मैं हूँ, वह सर्वाधिक रुग्ण और गलत है। दूसरी ओर सिर पर आदर्शों की बड़ी गठरी है। उसे उतार फेंकना भी सरल नहीं दीखता!

निश्चित ही अचाह होने का यही अर्थ है कि तुम जो हो, जैसे हो, वैसे ही अपने को स्वीकार कर लो। क्योंकि किया अस्वीकार और चाह उठी। तुमने कहा, 'ऐसा नहीं होना चाहिए', तो स्वभावतः दूसरे पहलू से तुम कैसे बचोगे, जो कहता है, 'कैसा होना चाहिए।'

अगर अभी तुम अतृप्त हुए, तो भविष्य में तुम तृप्ति खोजोगे। वही तो चाह है। लगा कि धन कम है, तो चाह उठेगी। लगा कि शांति कम है, तो भी चाह उठेगी—कि और शांति चाहिए। लगा कि परमात्मा नहीं मिल रहा है, तो भी चाह उठेगी—कि परमात्मा मिलना चाहिए।

चाह उठती कहाँ है? चाह उठती है—तुम्हारी अतृप्ति से। कुछ कम है; कुछ नहीं है, जो होना चाहिए; कुछ खोया-खोया है; कोई श्रृंखला की कड़ी मिल नहीं रही है, तो चाह उठती है। और जिसकी चाह उठती है, वह कभी भी उस परम आनन्द को उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि एक चाह उठती है और हजार चाहों के बीज पड़ जाते हैं। तुम इस चाह को पूरा भी कर लोगे, तो भी कोई फर्क न पड़ेगा। क्योंकि जिस मन ने अतृप्ति उठाई थी, वह मन फिर अतृप्ति उठाएगा।

अभी तुम्हारे पास दस हजार रुपये हैं। चाह उठती है कि अगर दस लाख होते तो सब ठीक हो जाता; फिर कोई अड़चन न थी। लेकिन तुम, दस लाख जिनके पास हैं, उन्हें देखते हो? क्या उनका सब ठीक हो गया है? वे भी उतनी ही अड़चन में हैं, जितनी अड़चन में तुम हो।

अड़चन का अनुपात बदलता ही नहीं। हो सकता है, तुम्हारे पास दस हजार हैं। इसलिए तुम एक बड़ा मकान नहीं खरीद पा रहे हो। जिसके पास दस लाख है, वह भी बड़ा मकान नहीं खरीद पा रहा है। तुम्हें उसका मकान बड़ा लगता है, क्योंकि तुम्हें अभी वह दूर है। दूर के ढोल सुहावने मालूम होते हैं। उसे तो वह भी छोटा लगता है।

ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जो बड़े मकान में रहता हो। कितने ही बड़े में रहता हो, हमेशा और बड़ा मकान हो सकता है—कल्पना का। कल्पना तो कर ही सकते हो—और बड़े मकान की। वही कष्ट देगी।

जो भी है, वह तुम्हारी कल्पना के बराबर तो कभी भी नहीं हो सकता। तुम्हारी कल्पना तो विस्तीर्ण है, अनन्त है। तुम कल्पना तो कर ही सकते हो—इससे बेहतर हालत की।

मनुष्य को कल्पना ही जलाये डालती है। क्या तुम ऐसी कोई स्थिति सोच सकते हो कि जिससे आगे बेहतर की कल्पना न उठे? स्वर्ग में भी तुम पहुँच जाओगे—कोई फर्क न पड़ेगा। तुम्हारे पास अगर कल्पना होगी, तो तुम बेहतर स्वर्ग की कल्पना कर सकते हो।

कल्पना ही तो मनुष्य की पीड़ा है। पशु-पक्षी जो इतने आनंदित दिखाई पड़ रहे हैं, उसका कुल एक ही कारण है कि उनमें कल्पना नहीं है। इसलिए जो है, ठीक है। इससे भिन्न होने का कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ता।

ध्यान रखो कि ऐसी घड़ी कभी भी न आएगी, जब तुम अनुभव करो कि जो है, वह बिलकुल कल्पना के अनुकूल है; अब कुछ नहीं चाहिए। ऐसी घड़ी कभी न आएगी। तब तो एक ही उपाय है कि तुम जलते ही रहो, सड़ते ही रहो, नरक में चलते ही रहो। तब तो कोई बचती नहीं है सुविधा—इससे ऊपर उठने की।

सुविधा है। वही तो सारे धर्म का निचोड़ है। वह सुविधा यह है कि तुम जैसे हो, जो भी हो, यह देखकर कि ऐसी तो कोई घड़ी न होगी, जिस दिन कि तुम बिलकुल तृप्त हो जाओ, अपने होने से, तुम अभी ही तृप्त क्यों नहीं हो जाते। कोई फर्क नहीं है, अभी होओ या दस हजार साल बाद होओ। जब भी तुम होओगे, तुम्हारी कल्पना तो पीड़ा देती ही रहेगी।

दस हजार पर रुको, कि दस लाख पर, कि दस करोड़ पर, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। रुकना तो कभी पड़ेगा, तो अभी क्या हरजा है?

तो मैं तुम से कहता हूँ कि कल्पना ही मनुष्य की पीड़ा है और कल्पना ही मनुष्य की सीढ़ी बन सकती है। अगर तुम समझदार हो, तो तुम यह कल्पना भी क्यों नहीं कर पाते कि जब भी कहीं रुकूँगा, यही अड़चन होगी, तो अभी क्यों न रुक जाऊँ?

तो मैं तुमसे कहता हूँ कि अधूरी कल्पना का आदमी सड़ता है नरक में, पूरी कल्पना का आदमी इसी वक्त मुक्त हो जाता है।

इतना भी देख नहीं पाते तुम, इतना परिप्रेक्ष्य नहीं कर पाते कि यह तो कभी हल होने वाला नहीं है। तो क्या करना? तो जैसे हो, राजी हो जाओ।

तुम कहते हो, यह असम्भव है? तुम पूछते हो, 'क्या यह सम्भव है—अपने से राजी हो जाना?' इसके अतिरिक्त और कुछ सम्भव ही नहीं है। तुम अभी असम्भव कोशिश कर रहे हो। इसीलिए तो परेशान हो। जो नहीं हो सकता, उसको करने की कोशिश में दुःख होता है। क्योंकि वह हो ही नहीं सकता, सिर्फ विषाद आता है, असफलता मिलती है।

जो हो सकता है, वह तुम कर नहीं रहे हो। क्या अड़चन है इसमें? राजी होने में क्या अड़चन है?

तुम जैसे हो, उससे ही राजी हो जाने में क्या अड़चन है? मैं नहीं कह रहा कि तुम्हारे मकान से तुम राजी हो जाओ, तुम्हारी दुकान से तुम राजी हो जाओ। उस कूड़े-कचरे की मैं बात ही नहीं करता। उससे तुम न भी राजी हुए तो भी चलेगा। मैं तो कह रहा हूँ, तुम अपने से राजी हो जाओ। अब जैसा तुम्हें शरीर मिला है, मिला है। अब तुम अपने माँ-बाप बदल नहीं सकते। बदल भी लो जाकर—रजिस्ट्री भी करवा लो अदालत में, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा। वह घटना घट गई। तुम्हें कोष्ठ मिल गये—तुम्हारे माँ-बाप के, उसके बदलने का कोई उपाय नहीं है।

और तुम अगर सोचते हो कि यह तो हो सकता था कि मैं किसी और माँ-बाप के घर जन्म ले लेता, तो तुम तुम न होते, कोई और होता। तुम तो इन्हीं माँ-बाप से जन्म ले सकते थे। इसको समझ लो। तुम होते ही नहीं तुम। फिर कोई और होता।

इतने तो लोग हैं दुनिया में—दूसरे माँ-बाप से पैदा हुए। इनमें कोई भी तुम जैसा दिखता है? तुम जैसे हो, वैसे ही हो—वैसे ही हो सकते थे और कोई उपाय ही न था। इसी को हिन्दुओं ने भाग्य कहा।

बड़ी गहरी खोज है—भाग्य की। भाग्य बड़ा परम सूत्र है। उन्होंने कहा कि जो हो गया, वह हो गया। अब इसको अनकिया तो किया नहीं जा सकता! इसे स्वीकार कर लो। यही सम्भव है। और करोगे क्या? एक तरह की शकल है, एक तरह का मन है, एक तरह की शरीर की स्थिति है, एक तरह की चेतना है। न तुम बहुत प्रतिभाशाली हो, न तुम बहुत मूढ़ हो—मध्य में खड़े हो या बहुत मूढ़ हो या बहुत प्रतिभाशाली हो—कोई भी स्थिति है; करोगे क्या?

तुमने कभी किसी को बदलते देखा है? तुमने कभी मूढ़ को ज्ञानी होते देखा है? तुमने कभी ज्ञानी को मूढ़ होते देखा? तुमने कभी किसी को बदलते देखा है?

तुम जरा अपने पर ही विचार करो कि तुम अगर तीस साल जी लिए हो, चालीस साल जी लिए, पचास साल जी लिए, तुममें कुछ बदला है? अगर तुम जरा ईमानदारी से खोज करोगे, तो तुम पाओगे कि कुछ नहीं बदला। तुम वही के वही हो। अब भी क्रोध वैसे ही आता है। अब भी वासना वैसे ही उठती है। अब भी लोभ वैसे ही पकड़ता है!

अगर तुम गौर करोगे, तो तुम पाओगे कि तुम्हारा बचकानापन तुम्हारे व्यक्तित्व पर छाया हुआ है। कहीं कोई फर्क नहीं हुआ है। अब भी खेलखिलौनों में रस है। खेल-खिलौने अब जरा बदल गये हैं। छोटा बच्चा छोटी-सी मोटर चलाता है, जिसको चाबी भर दी। तुम जरा बड़ी मोटर चलाते हो। बाकी छोटा बच्चा जैसा पागल होता है मोटर के लिए, वैसे तुम भी पागल हो। छोटा बच्चा रात भर सो नहीं सकता, जब नई मोटर उसको मिलती है। बार-बार उठकर देख लेता है। तुम जब नई मोटर घर लाते हो, तो रात सो सके हो? क्या फर्क पड़ गया है?

छोटा बच्चा कंकड़-पत्थर बीन लाता है, नदी के किनारे से। तुम कहते हो, 'नालायक।' तुम क्या बीन रहे हो? तुमने हीरे-जवाहरात बीने हैं। वे कंकड़-पत्थर से ज्यादा हैं? अगर जमीन पर किसी दिन आदमी न रहे, तो कंकड़-पत्थर में और हीरे-जवाहरात में कोई फर्क रहेगा? पशु-पक्षी कोई भेद करेंगे कि उसको मत खराब कर देना, वह कोहेनूर है। वे कोई भेद न करेंगे। कोहेनूर पड़ा सड़ता रहेगा—पत्थरों के बीच में। कोई फिक्र न करेगा। कोहेनूर की चिंता करने के लिये कोई पागल आदमी चाहिए।

क्या फर्क पड़ा है? छोटा बच्चा स्कूल में चेष्टा करता था कि प्रथम आ जाऊँ क्लास में; तुम क्या कर रहे हो? मोरारजी इंदिरा गुजरात में क्या कर रहे हैं? वही प्रथम आने की दौड़ है सब जगह। क्या फर्क है? नाम बदल जाते हैं, कहानी वही की वही है। दौड़ लगी है, प्रतिस्पर्धा लगी है।

अगर गौर से देखोगे तो तुम पाओगे कि तुम बदले नहीं हो। और बदलने की तुमने लाख कोशिश की है। ऐसा नहीं है कि कोशिश नहीं की है। कौन ऐसा आदमी होगा, जो बदलने की कोशिश नहीं करता! ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है। मुझे तो नहीं मिला अब तक। और मैं हजारों-लाखों लोगों के करीब आया हूँ। निकट से उन्हें देखा है। उनके मन में झांका है। ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जो बदलने की कोशिश नहीं करता। बुरे से बुरा आदमी भी बदलने की आकांक्षा करता है। चोर भी साधु होना चाहता है। बेईमान ईमानदार होना चाहता है। क्रोधी शांत होना चाहता है। भोगी त्यागी होना चाहता है। मुश्किल है। और इससे उलटा भी चल रहा है।

जो त्यागी हैं, उनके भीतर भोगी होने की आकांक्षा चल रही है। वे समझते हैं कि फँस गये। वे हैं तो तुम में ही से। बस, उनको ऐसा लग रहा है कि उलझ गये। अब किसी को कह भी नहीं सकते; पूँछ कटा बैठे, तो दूसरों को भी समझा रहे कि तुम भी कटवा लो। क्योंकि अगर सब की कट जाय, तो अपने को भी हानि न मालूम पड़े। अपनी भी कटी, कोई हरजा नहीं। मगर दूसरे लोग पूँछ घुमा रहे हैं; मजे से नाच रहे हैं पूँछ के साथ। जिनकी कटी है—उसको पीड़ा दे रहे हैं।

मुझसे साधुओं ने कहा है, निकटता में, कि हमें लगता है कि कहीं हमने भूल तो नहीं की—संसार छोड़कर। क्योंकि अगर हम सच हैं, तो सभी लोग क्यों नहीं छोड़ देते। और हम कितना समझाते हैं, कोई नहीं समझता। तो भीतर शक पैदा होता है, कि कही ऐसा तो नहीं कि हम ही भूल कर रहे हैं। और फिर वासनाएँ भी उठती हैं; मन कहता है, कि क्या पाया?

बैठे रहते हैं पद्मासन लगाये, भीतर कुछ मिलता तो नहीं; पैर दुःखते हैं, परेशानी होती है। उपवास कर लेते हैं, भूखे मरते हैं, कुछ फल तो होता दिखाई नहीं पड़ता। और अगर इससे थोड़ी प्रतिष्ठा ही मिलती है, तो प्रतिष्ठा तो बाजार में भी मिल सकती थी। बड़ा मकान बना लेते तो भी मिल जाती, कुछ भूखा मरने की जरूरत न थी। प्रतिष्ठा के तो हजार उपाय थे।

ऐसा आदमी मैं नहीं देख पाता, जो बदलना न चाहता हो; जो जहाँ है, वहीं बदलना चाहता है। और मेरा अनुभव यह है कि आदमी ऐसे बदलता नहीं है।

सिर्फ एक ढंग का आदमी बदलता है और उस ढंग के आदमी न्यून हैं। वह वह आदमी है, जो अपने को स्वीकार कर लेता है। तत्क्षण क्रांति घटित हो जाती है।

तुम पूछोगे, 'यह क्रांति कैसे घटती है?' कोशिश से नहीं घटती है। और स्वीकार से घटती है। यह क्रांति कैसे घटती है, जब तुम स्वीकार कर लेते हो? इसका गहरा सूत्र है, इसका शास्त्र है।

जब कोई व्यक्ति अपने क्रोध को बदलने की चेष्टा छोड़ देता है...। उदाहरण के लिए तुम क्रोधी और तुम क्रोध छोड़ने की कोशिश में लगे हो। क्या करोगे तुम? तुम तीन बातें करोगे।

एक, तुम अक्रोध का आदर्श बनाओगे। तुम महावीर की फोटो लटकाओगे अपने घर में। और कहोगे कि 'ऐसा आदमी होना चाहिए कि कान में खीलें ठोक दिये और क्रोध न आया!' एक आदर्श तुमने बना लिया। आदर्श बना कर, महावीर की फोटो लटका कर तुम बड़े प्रसन्न हुए कि मैं कोई साधारण आदमी नहीं हूँ—आदर्शवादी हूँ। आज नहीं हूँ महावीर जैसा, लेकिन कल तो हो जाऊँगा। तुमने भविष्य पैदा कर लिया। अगर इस जन्म में न हो पाया, अगले जन्म में हो जाऊँगा।

अगर 'जिन' नहीं हो पाया, जैन तो कम से कम हो ही गया हूँ। इतना क्या कम है? दूसरे तो अभी तक असद्गुरुओं के चक्कर में पड़े हैं। मैं देखो सद्गुरु के चक्कर में पड़ा हूँ।

इस आदर्श से तुम्हारा क्रोध नहीं मिटेगा। इस आदर्श के कारण तुम्हारे क्रोध के मिटने की सम्भावनाएँ ही समाप्त हो गईं। क्योंकि तुमने अपने अहंकार को इस आदर्श से भर लिया। जो क्रोध से टूटता था और क्रोध कर-कर के तुम्हें लगता था कि मैं क्षुद्र—गया बीता आदमी हूँ; नारकीय हूँ, पापी हूँ—वह भी गया।

अब तो तुम धार्मिक हो। रोज महावीर की पूजा करते हो, फूल चढ़ाते हो। अब तुमने क्रोध में आभूषण लगा लिए। क्रोध तुम्हारा वहीं का वहीं है।

कोई महावीर की फोटो टाँगने से तुम्हारा क्रोध जाता होता, तो इससे सस्ता क्या था करना! तो दुनिया से क्रोध चला गया होता—कभी का। इससे तो कोई क्रोध जाता नहीं; इससे क्रोध की रक्षा होती है।

आदर्श, तुम जो हो, तुम्हें वैसा ही बनाये रखने में सहयोगी है। क्योंकि आदर्श तुम्हें अहंकार की तृप्ति देते हैं—भविष्य में। वर्तमान में तो कोई तृप्ति का कारण नहीं है; तुम रुग्ण हो, दुःखी हो, पीड़ित हो, नरक हो। लेकिन भविष्य का मोक्ष तुम्हें आशा देता है। आशा के सहारे तुम अपनी तसवीर बना लेते हो—भविष्य में—सुंदर प्रतिमा—महावीर जैसी; तुम भी खड़े हो, नग्न; सब त्याग कर दिया है संसार का। यह सपना तुम्हारी असलियत के चारों तरफ एक झूठा व्यामोह पैदा कर देता है। तुम आदर्शवादी हो गये।

आदर्शवादी से ज्यादा बुरा आदमी खोजना मुश्किल है। वह कहता है कि 'आज तो क्रोध है, ठीक है। इसमें कोई हरजा नहीं है। कल सब ठीक कर लूँगा। और कोई एक दिन में थोड़े ही बदलाहट होती है। धीरे-धीरे साधूँगा; क्रम-क्रम से जाऊँगा। पहले व्रत लूँगा—एक, फिर दूसरा, फिर तीसरा। पहले अणु-व्रत लूँगा, फिर महाव्रत। धीरे-धीरे साधूँगा। पहले एक प्रतिमा साधूँगा, फिर दो प्रतिमा, फिर तीन प्रतिमा—ऐसे धीरे-धीरे साधते-साधते परम अवस्था को उपलब्ध हो जाऊँगा।

यह तरकीब है—तुम्हारे मन की। यह मन यह कह रहा है कि भविष्य में सुंदर प्रतिमा बना लो, तो अभी तुम्हारी जो रुग्ण देह है, वह दिखाई पड़नी बंद हो जाएगी। यह सांत्वना है।

सब आदर्श जहर है। तुम जहर खा रहे हो। लेकिन जहर पर बड़ी मिठास लगी है। जहर की गोली पर शक्कर चढ़ी है। आदर्श किसी को बदलता नहीं है; आदर्श बदलाहट को रोकता है।

तो एक तो यह तुम करोगे।

और दूसरा तुम यह करोगे कि आदर्श की तरफ चलने की थोड़ी चेष्टा शुरू करोगे। तुम नियम लोगे, कसम खाओगे कि मैं क्रोध न करूँगा। लेकिन अगर तुम क्रोध को रोकोगे, तो तुम हैरान होओगे कि क्रोध को रोको तो काम-वासना बढ़ती है। क्योंकि ऊर्जा कहीं से बाहर जानी चाहिए।

तुमने खयाल भी किया होगा, अगर तुम काम-वासना को रोको, तो क्रोध बढ़ जाएगा। थोड़ा प्रयोग करके देखो। एक महीने का ब्रह्मचर्य ले लो। तुम पाओगे, उस महीने में तुम ज्यादा चिड़चिड़े, क्रोधी हो गए।

ब्रह्मचारी चिड़चिड़े और क्रोधी हो जाते हैं। इसलिए तुम्हारे साधु दुर्वासा मालूम पड़ते हैं। तैयार ही खड़े हैं कि तुम कुछ कहो, वे अभिशाप दे दें। जनम-जनम बिगाड़ दें तुम्हारे।

तुमने देखा है नाथ-पंथी साधु, दरवाजे पर खड़े हो जाते हैं, अपना चमीटा हिलाते हैं, आगे-पीछे जाते हैं और घबड़ाहट पैदा कर देते ह तुममें कि भैया दे ही दो; कुछ पता नहीं क्या करे यह आदमी। वे तुम्हारी तरफ देखते ही नहीं, माँगते भी नहीं; बस, आगे-पीछे चलते रहते हैं और चमीटा आगे करके बजाते रहते हैं कि सम्हल जाओ। वे तुमको डरा रहे हैं।

तुम अगर ब्रह्मचर्य साधोगे, क्रोध बढ़ जाएगा; इसको तुम करके देखो। यह तो सीधा गणित है; केमिस्ट्री है शरीर की। जो ऊर्जा क्रोध से बाहर निकल रही थी, वह कहीं से तो बाहर निकलेगी?

भोजन तो तुम करते रहे हो, और मल-मूत्र का त्याग बंद कर दिया है, तो क्या होगा? क्रोध की जिन चीजों से निर्मिति होती हैं, वह तो जारी है। और क्रोध तुमने करना बंद कर दिया हैं।

थोड़ी-सी केमिस्ट्री समझो, शरीर का रसायन समझो। यह क्रोध कहीं से तो निकलेगा। या तो यह लोभ बन जाएगा या यह काम बन जाएगा। यह कोई रास्ता निकाल लेगा, या यह अहंकार बन जाएगा, लेकिन कुछ न कुछ बनेगा।

तुम एक दरवाजा रोकोगे, वह दूसरा दरवाजा खोलेगा। तुम दूसरे दरवाजे को रोकोगे, तो वह तीसरा दरवाजा खोलेगा। यह कुछ बचना नहीं है। यह तुम व्यर्थ ही जीवन को उलझा रहे हो।

और ध्यान रहे, अगर काम-वासना शुद्ध काम-वासना हो, तो ब्रह्मचर्य तक जाना आसान है। जब काम-वासना क्रोध बन जाती है, तो ब्रह्मचर्य तक जाना मुश्किल है, क्योंकि क्रोध असली बीमारी नहीं है। और तुम समझोगे कि क्रोध मेरी बीमारी है। तुम क्रोध को सम्हालने के उपाय करोगे। और असली बीमारी दूसरी है।

ठीक बीमारी हो, तो ठीक निदान किया जा सकता है। ठीक निदान हो, तो इलाज

हो सकता है। मगर बीमारी ही झूठी हो, असली बीमारी ही न हो; किसी दमन से पैदा हुई हो, तब सब निदान के सूत्र खो जाते हैं, डायग्नोसिस खो जाती है, औषधि का उपाय नहीं बनता।

तो तुम यह करोगे कि तुम कसमें लोगे। इसीलिए तुम पाओगे तुम्हारे साधुओं को—क्रोधी, दम्भी, अकड़े हुए, झुक नहीं सकते! साधु तो विनम्र होना चाहिए। यह अकड़ साधु में? तो फिर संसारी में अकड़ है, तो उसमें क्या हरजा है?

संसारी में कम अकड़ है, क्योंकि संसारी साधु के चरण छूता है। जैन साधुओं के सम्प्रदाय हैं, जो हाथ जोड़कर नमस्कार नहीं करते। क्योंकि साधु कैसे संसारी को नमस्कार कर सकता है? यह बात बिलकुल बेहूदी है। क्योंकि तुम संसारी को देखते ही क्यों हो? तुम्हें आत्मा नहीं दिखाई पड़ती भीतर? परमात्मा नहीं दिखाई पड़ता? तुम कपड़े देखते हो? तुम्हें प्राण नहीं दिखाई पड़ते? लेकिन जैन साधु किसी को नमस्कार नहीं कर सकता, क्योंकि नमस्कार और साधु करे—और गृहस्थ को करे? असम्भव।

इससे तो सूफी फकीर बेहतर हैं, जो किसी के भी पैर छू देते हैं—किसी के भी। सूफी फकीर से कोई मिलने जाएगा और पैर छू लेगा; क्योंकि वह कहता है कि विनम्रता तो साधु का लक्षण होना चाहिए। सभी पैर परमात्मा के हैं। किस बहाने आए, तुम जानो। हम तो पैर छूए लेते हैं। किस शकल में आए, यह तुम फिक्र करो; हम क्यों चिंता करें? जैसे भी आए, राजी हैं हम। इसलिए सूफी फकीर में जो विनम्रता दिखाई पड़ेगी, जैन साधु में नहीं दिखाई पड़ेगी।

दबाओगे—रोग कहीं न कहीं से उभरेगा। फिर तुम क्या करोगे? क्या उपाय है तुम्हारे पास? तीसरा उपाय यह है—ये तीन चीजें तुम करोगे। आदर्श पैदा करोगे व्रत लेकर; दमन पैदा करोगे; और तीसरा उपाय है कि जीवन की ऊर्जा को क्षीण करोगे। क्योंकि उससे तुम्हें भय पैदा हो जाएगा।

अगर तुम ठीक से भोजन करोगे, तो काम-वासना पैदा होगी, तो तुम डरने लगोगे भोजन से। तो तुम उपवास करने लगोगे। यह बात सच है कि अगर ठीक भोजन न किया जाए, जरूरत की ताकत भोजन से शरीर को न मिले, तो काम-वासना पैदा नहीं होती है। लेकिन काम-वासना मिटती नहीं है। वह ऐसी हो जाती है, जैसे तुमने कभी, वर्षा के दिनों में किसी बाढ़ आई नदी को देखा हो। फिर गर्मी के तप्त दिनों में उसी नदी को देखो, तो रूखा-सूखा बाट रह जाता है! रेत रह जाती है; पानी खो जाता है। फिर वर्षा आएगी, फिर नदी आपूर होकर बहेगी।

तो व्यक्ति भोजन कम कर लेता है, नींद कम कर लेता है, क्योंकि वह डरने लगता है; ज्यादा नींद ले, तो भय आता है। ज्यादा भोजन करे, तो भय आता है। ठीक से जिये, भय आता है। तो जिसने अपनी जीवन-ऊर्जा कम कर ली, वह सूखी हुई नदी हो जाएगा। नदी मिटती नहीं; नदी मौजूद है। सिर्फ बरसा की प्रतीक्षा है, सब मौजूद है। पानी आया और नदी बहने लगेगी।

तुम अपने साधुओं को एक महीना ठीक से भोजन दो, ठीक से विश्राम दो, आराम से बिस्तर पर सोने दो, और तुम पाओगे कि वे तुम जैसे हो गए। तो फर्क क्या था, जो महीने भर में मिट गया? सिर्फ वे दीन-ऊर्जा से जी रहे हैं।

पश्चिम में बड़े प्रयोग किये गए हैं। इक्कीस दिन के उपवास के बाद काम-वासना क्षीण हो जाती है। क्योंकि शरीर के पास शक्ति नहीं रहती। शक्ति हो, तभी तो काम-वासना पैदा होती है। लेकिन तीन दिन के भोजन के बाद फिर काम-वासना लौट आती है। तो क्या फर्क पड़ा? यह तो धोका हुआ, प्रवंचना हुई।

ये तीनों बातें व्यर्थ हैं। फिर क्या करना? और तुम कहते हो कि 'क्या यह सम्भव है कि हम अपने को स्वीकार कर लें?' यही केवल सम्भव है, बाकी सब असम्भव है।

असम्भव तुम बहुत कर चुके, सम्भव करके देख लो। सम्भव यह है कि तुम स्वीकार कर लो—अपने क्रोध को, अपने काम को। वे हैं; प्रकृति के हिस्से हैं; तुम्हारे हिस्से हैं। क्या फर्क होगा?

जैसे ही तुम स्वीकार करोगे, तुम्हारा अहंकार नीचे गिरेगा, जो कि आदर्शों से सम्हाला गया है, वह तत्क्षण गिर जाएगा। जब तुम देखोगे अपना क्रोध, और नरक, और देखोगे अपना अज्ञान और मूर्च्छा, और देखोगे अपने भीतर की वासनाएँ—साँप-बिच्छुओं, जहरीले जानवरों की तरह घूमती हुई। और देखोगे भीतर का अंधकार और दुर्गंध, और नरक, तो तुम्हारा अहंकार कैसे टिकेगा?

तो पहली क्रांति घटती है—कि अपने को ठीक से देखनेवाले व्यक्ति का अहंकार गिर जाता है। और अहंकार के गिरते ही क्रांति शुरू होती है।

दूसरी घटना घटती है—जब तुम अपने क्रोध को गौर से देखते हो, और स्वीकार करते हो, और कहते हो कि 'मैं क्या कर सकूँगा, मेरी क्या सामर्थ्य है? न मैंने क्रोध पैदा किया है, न मैं मिटा सकूंगा।' जब तुम अपने क्रोध को स्वीकार कर लेते हो, न केवल अपने भीतर बल्कि अपने आस-पास, मित्र-प्रियजनों को भी कह देते हो कि मैं क्रोधी आदमी हूँ; तुम ज्यादा मुझ पर भरोसा मत करना। मैं किसी भी वक्त उपद्रव खड़ा कर सकता हूँ। मैं एक जलती हुई आग हूँ, जिसमें कभी भी विस्फोट हो जाए। मैं एक छिपा हुआ ज्वालामुखी हूँ।' जब तुम अपने प्रियजनों को ये सारी बातें कह दोगे, जब तुम अपने को उघाड़ कर रख दोगे, तो तुम अचानक पाओगे कि इस उघाड़ने में ही क्रोध के प्राण निकल गये। और यह कहते-कहते ही तुम पाओगे कि तुम्हारे भीतर एक शांति आनी शुरू हो गई, जो तुमने कभी नहीं जानी थी।

जब बेईमान स्वीकार कर लेता है कि मैं बेईमान हूँ; तो ईमानदारी की शुरुआत हो गई। क्योंकि इससे बड़ा कोई ईमान नहीं है दुनिया में—यह स्वीकार कर लेने से बड़ा कि मैं बेईमान हूँ। क्रोध कोशिश करता है कि मैं और क्रोधी? सारी दुनिया क्रोधी है! मुझे तो क्रोध अगर करना भी पड़ता है, तो लोगों को सुधारने के लिये। वरना कभी क्रोध करता ही नहीं। या तो मैं सिर्फ दिखावा करता हूँ। वह कोई क्रोध थोड़े ही है।

झूठ बोलने वाला कोशिश करता है समझाने की, कि वह कभी झूठ नहीं बोलता। लेकिन अगर तुम घोषणा कर दो कि मैं झूठा आदमी हूँ, बेईमान हूँ, (छिपाओ मत) तो तुमने सच्चा होना शुरू कर दिया।

यह तुम्हें बड़ा उलटा दिखाई पड़ेगा। झूठ को स्वीकार कर के—कि मैं झूठा आदमी हूँ, तुमने सचाई की तरफ पहला कदम उठा लिया।

इससे बड़ी कोई सचाई है? जो आदमी कहता है—मैं झूठा हूँ, क्रोधी हूँ, कामी हूँ, यह साधु होना शुरू हो गया। जैसे-जैसे इसकी प्रतीति गहरी होगी, यह अपने को प्रकट करेगा, जैसा यह है, वैसा ही प्रकट करेगा; न छिपाएगा, न दबाएगा!

क्या फायदा है छिपाने से? किसके सामने प्रतिमा खड़ी करनी है? अहंकार के गिरते ही अपनी अच्छी प्रतिमा बनाने का मोह भी गिर जाता है। किसके सामने? किसको समझाना है? दुनिया मुझे बहुत बड़ा साधु समझे, इससे लाभ क्या है? जो मैं हूँ, मैं हूँ। मेरा नरक भीतर है। सारी दुनिया समझे कि मैं स्वर्ग में जी रहा हूँ, इससे क्या फर्क पड़ता है।

जिस व्यक्ति ने अपने को स्वीकार कर लिया—प्रामाणिकता से, राजी हो गया, क्रांति शुरू हो जाती है। क्रांति तुम्हारे 'करने' से नहीं होती। क्रांति तो तुम्हारी स्वीकृति से होती है।

'भाग्य' बड़ी क्रांति का सूत्र है। वह शब्द बिगड़ गया है। हमने खराब कर दिया। उसका राज चला गया। अन्यथा उसका मतलब केवल इतना है कि तुम अपने को स्वीकार करो। और तुम जैसे हो, वैसे ही रहो। और वैसे ही अपने को प्रकट करो। धीरे-धीरे तुम पाओगे कि तुम्हारे जीवन में क्रांति उतर रही है, जो तुम्हारे द्वारा आई है।

मैंने केवल उन्हीं लोगों को बदलते देखा है, जिन्होंने बदलने का प्रयास छोड़ दिया और अपने को अंगीकार कर लिया।

स्वीकार, संतोष, सहजता—ये क्रांति के सूत्र हैं।

अब सूत्र।

'हे अर्जुन, ओम् तत् सत्—ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है। उसी से सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे

गए हैं। इसलिए ब्रह्मवादिन श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएँ सदा ओम् ऐसे इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं। और तत् अर्थात तत् नाम से कहे जाने वाले परमात्मा ही सब है—ऐसे इस भाव से फल को न चाहकर नाना प्रकार की यज्ञ और तप तथा दान रूप क्रियाएँ मोक्ष की आकांक्षा वाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं।'

समझें : 'हे अर्जुन, ओम् तत् सत—ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघनरूप ब्रह्म का नाम कहा है।' तत् का अर्थ होता है : वह—दैट' भक्त भगवान् को कहता है : 'तू'—'वह' नहीं। क्योंकि भक्त कहता है, 'वह' तो बड़ा बेजान शब्द है। इसमें कुछ रस नहीं मालूम होता। बड़ी दूरी मालूम पड़ती है। तू में निकटता है, आत्मीयता है, अपनापन है, सामीप्य है। 'वह', रेगिस्तान जैसा सूखा है। जहाँ जल की जरा भी धार नहीं मालूम होती; जहाँ कोई दिखाई नहीं पड़ता; जहाँ हरियाली का कोई पता नहीं चलता।

'वह' शब्द बड़ा तटस्थ शब्द है; इसमें कोई भाव नहीं है—बड़ा अनासक्त, रूखा-सूखा, संगीत शून्य। जैसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, कोई निकटता नहीं है। इसलिए भक्त तो 'तू'का उपयोग करते रहे हैं, लेकिन ज्ञानी तत् का उपयोग करते हैं।

पश्चिम में एक बहुत बड़ा यहूदी विचारक हुआ—मार्टिन बूबर। इस सदी की कुछ महत्त्वपूर्ण किताबों में उसकी एक किताब है—'आई एण्ड दाऊ—मैं और तू। उसमें बूबर ने सिद्ध करने की कोशिश की है कि हिन्दुओं का 'वह—तत्' यहूदियों के तू से ऊपर नहीं जाता। बूबर गलत है। किताब बड़ी कीमती है। उसका भाव भी ठीक है, लेकिन उसकी धारणा सही नहीं है।

'तू' तो कितना ही निकट मालूम पड़े, उसमें 'मैं' थोड़ा-सा मौजूद रहता है। क्योंकि बिना मैं के तू कैसे अर्थपूर्ण होगा? जब हम कहते हैं : 'तू', तो मैं भी हूँ। अन्यथा कौन कहेगा तू? मैं तो बना ही रहेगा। कितनी ही फीकी हो जाए रेखा, कितना ही छिप जाए, लेकिन छिपा हुआ भी तो होगा। अन्यथा कौन कहेगा तू? तू में तो मैं मिला ही हुआ है।

'तू' में बहुत सामीप्य है; सौंदर्य है; वह प्रेमपूर्ण है; भक्त के भाव को प्रकट करता है। निकटता की सूचना देता है। आर्द्र है। हृदय से भरा है। धड़कता है।

'वह', निर्जीव लगता है, लेकिन 'वह' की अपनी खूबी है। 'वह' 'तू'से आगे जाता है। और 'वह' में भी रस है। लेकिन वह तभी तुम्हें दिखाई पड़ेगा, जब तुम मैं और तू से आगे गए, उसके पहले नहीं दिखाई पड़ेगा।

हम वृक्षों को कहते हैं : 'वह'। तुम वृक्ष को तो 'तू' नहीं कहते? पत्थर को कहते हैं—वह। पत्थर को तो तुम तू नहीं कहते? तुम्हें पता ही नहीं है। इसीलिए

जब तुम ब्रह्म को भी 'वह' कहोगे—'तत्' कहोगे, तब तुम्हें लगेगा कि यह तो ज्ञानियों की बड़ी सूखी बात हो गई; इसमें हृदय में कहीं धड़कन नहीं होती, वीणा कहीं बजती नहीं भीतर की। यह तो कुछ बुद्धिगत, बौद्धिक मालूम होती है बात; भक्त को आप्लावित नहीं करती, नचाती नहीं।

'वह' के आसपास नाचना बड़ा मुश्किल है। कृष्ण की गोपियाँ 'तू' के आसपास नाच रही हैं। 'वह' के आसपास कैसे नाचोगे? नाच बंद हो जाएगा। तार हाथ से छूट जाएँगे। गीत अवरुद्ध हो जाएगा।

तो सारे भक्तों ने—यहूदी, इसलाम, हिन्दू—जहाँ-जहाँ भक्ति पैदा हुई, उन्होंने 'ओम् तत् सत्' को इनकार किया है। उन्होंने 'वह' परमात्मा है—ऐसी बात नहीं कही। 'तू' परमात्मा है—ऐसी बात कही है।

लेकिन कृष्ण कहते हैं—'ओम् तत् सत्'। वह ओंकार-स्वरूप है। वह स्वरूप है और सत्य है।

इसे ठीक से समझ लें, इसका अनुभव तुम्हें नहीं है—'वह' के आनन्द का, इसलिए सूखा लगता है। अन्यथा 'वह' जैसे बादल कभी घिरते ही नहीं। और जैसी वर्षा उनसे होती है, तू से क्या खाक होगी? क्योंकि तू में तुम तो रहोगे मौजूद। मैं भी मौजूद रहेगा और उतनी ही अड़चन रहेगी। तुम परमात्मा के निकट भले पहुँच जाओ, परमात्मा न हो सकोगे।

और जितनी निकटता बढ़ती है, उतनी दूरी खलती है। जितने-जितने पास आते हो, उतना ही लगता है—कब एक हो जायँ, कब छलाँग हो जाय? उतना ही विरह का ज्वर पैदा होता है। सिर्फ 'वह' की वड़ी ही, तुम्हें एक कर पायेगी।

'वह' के दो हिस्से हैं—एक है 'ओम् तत् सत्'। परमात्मा 'वह' स्वरूप है—'दैटनेस'।

और दूसरा सूत्र हैं उपनिषदों का, जो इसे पूरा करता हैं; 'तत्त्वमसि श्वेतकेतु—वह तू ही है श्वेतकेतु, वह कोई अलग नहीं है।' तो इसे कैसे तुम अनुभव करोगे?

'वह' की थोड़ी साधना करनी पड़ेगी। वृक्ष के पास बैठो; शांत होकर बैठो। कोई शब्द—विचार न उठे मन में। सिर्फ बैठो। वृक्ष को छूओ भला, बोलो मत, सोचो मत; वृक्ष को आलिंगन कर लो; इस बात की प्रतीति करो कि तुम्हारे और वृक्ष के बीच में कोई शब्द न रह जाए। अचानक तुम पाओगे : तुम वृक्ष हो गये, वृक्ष तुम हो गया। अचानक सीमा टूट गयी। बीच में कुछ बहने लगा। दोनों के बीच कोई सेतु बन गया; कोई सागर लहराने लगा। वृक्ष तुम्हारे पास आने लगा। तुम वृक्ष के भीतर, वृक्ष तुम्हारे भीतर। वृक्ष की हरियाली तुम्हें हरा करने लगी। तुम्हारा चैतन्य, वृक्ष को चेतन बनाने लगा। तब तुम्हें थोड़ी-सी प्रतीति 'वह' की होगी। न तुम रहे, न वृक्ष रहा।

वृक्ष के साथ शायद कठिन हो। जिसे तुम प्रेम करते हो—पत्नी को, प्रेयसी को, मित्र को, कभी उसका हाथ हाथ में लेकर बैठ जाओ और एक ही प्रयोग करो कि दोनों के चित्त में कोई विचार न हो। थोड़ी कठिनाई है—वृक्ष की अपेक्षा; क्योंकि यहाँ दूसरे के भी विचार बाधा बनेंगे। इसलिए मैंने पहले वृक्ष के साथ प्रयोग करने को कहा।

दोनों शांत बैठ जाओ। देखते रहो आकाश में उगे चाँद को, पूर्णिमा की रात में। शांत बैठे रहो—मौन। प्रेम को ध्यान बनाओ।

थोड़ी ही देर में तुम कभी-कभी झलक पाओगे; एकाध क्षण को जब तुम दोनों के विचार बंद हो जाएँगे, ऐसा मेल जब बैठ जाएगा—संयोग से, तो तुम अचानक पाओगे : किसी विराट् ऊर्जा ने तुम्हें घेर लिया; 'वह' ने तुम्हें घेर लिया। तुम दोनों एक हो गये। और उस एकता के क्षण में न तो 'मैं' था, और न 'तू' था।

ऐसी ही अनुभूति की अंतिम सीमा है—ओम् तत् सत्—जब कोई व्यक्ति इस पूरे अस्तित्व के साथ एकता का अनुभव करता है; कोई भेद नहीं रह जाता; अंश अंशी के साथ मिल जाता है। लहर सागर में खो जाती है।

'हे अर्जुन, ओम् तत् सत्—ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानंदघन ब्रह्म का नाम कहा है।' इसलिए हिन्दुओं की जो परम प्रज्ञा है, उसने परमात्मा को 'वह' कहा है। 'वह' कोरा शब्द नहीं है, न रूखा शब्द है। हाँ, तुम्हें रूखा मालूम पड़ता है, क्योंकि तुमने उसका स्वाद कभी लिया नहीं। जिन्होंने उसका स्वाद लिया है, उनके लिए मैं और तू शब्द बिलकुल फीके हो गए। उन्होंने असली को जान लिया, तो मैं और तू छायाएँ मालूम पड़ने लगीं।

कितनी ही सुंदर हो छाया, चित्र कितना ही प्यारा हो, मूल के साथ एक-सा तो नहीं हो सकता। और कितना ही प्यारा हो, मूल तो नहीं हो सकता। 'वह' मूल है। 'वह' दो में टूट गया है—मैं और तू। और जब तक मैं और तू न मिल जायँ, तब तक तुम्हें 'उसका' कोई अनुभव न होगा। और ओम् उसका नाम है।

ओम् तीन मात्राओं से बना है—अ, उ, म—ए, यू, एम। यहाँ कृष्ण त्रिगुण की ही चर्चा किये चले जा रहे हैं। वे सब दिशाओं से अर्जुन को कह रहे है कि सारा अस्तित्व तीन से बना है। ओम् भी तीन से बना है।

ओम् कोई शब्द नहीं है। उसका कोई भाषा-कोशगत अर्थ नहीं है। वह ध्वनि है; और बड़ी अद्भुत ध्वनि है। और वह ध्वनि मनुष्य निर्मित नहीं है। वह ध्वनि तब उपलब्ध होती है, जब तुम्हारे सब विचार शून्य हो जाते हैं।

जब तुम्हारी मनुष्यता खो जाती है, सभ्यता, संस्कृति—सब खो जाती है, जब तुम कोरे आकाश जैसे खाली रह जाते हो, कोरे कागज जैसे, तब तुम्हारे भीतर एक नाद

का आविर्भाव होता है। आविर्भाव होता है कहना ठीक नहीं। नाद तो बज ही रहा था; तुम खाली न थे, इसलिए सुन न पाते थे। अब तुम सुन रहे हो। खाली हो गये हो; अब बाजार का कोलाहल बंद हो गया; अब मन की बकवास बंद हो गयी, अब तुम सुन पाते हो।

तुम्हारे भीतर जो नाद अहर्निश चल रहा था, उस अहर्निश नाद का ढंग ओम् है। वह ओंकार जैसा मालूम होता है; जैसे भीतर कोई ओम्, ओम्, ओम् की अहर्निश ध्वनि किये जा रहा है। तुम नहीं कर रहे हो; तुम तो चुप हो; तुम तो हो ही नहीं; तुम तो खो गये हो, ओंकार गूँज रहा है। इसलिये मैं कहता हूँ—अपने साधकों को, कि तुम ओंकार को साधना मत। नहीं तो तुम्हारा सधा हुआ ओंकार, तुम्हें कभी उस ओंकार को न जानने देगा—उस ओंकार से तुम्हें वंचित रखेगा—जो अनाहत है।

अनाहत का अर्थ ही होता है, कि जो तुम्हारे द्वारा पैदा नहीं हुआ; जो किसी से पैदा नहीं हुआ। अब इसे थोड़ा समझ लो।

तुम ओंकार से पैदा हुए हो; ओंकार तुमसे पैदा नहीं हुआ। ओंकार तुमसे पूर्व है। तुम ओंकार का ही सघन रूप हो। ओंकार मूल तत्त्व है। ओंकार का मतलब है—वह नाद, जो सारे अस्तित्व में चल रहा है। उस नाद के अलग-अलग रूप अलग-अलग ढंग हैं। तुम जब बिल्कुल शांत हो जाओगे, तुम उसे बजता हुआ पाओगे।

बड़ी कठिनाई है; अगर तुमने ओम् का रटन शुरू कर दिया, और तुम ओम्-ओम् जपते रहे तो तुम जो ओम् सुनोगे, वह मन का ही नाद होगा। वह तुम्हारा ही ओम् है। तुमसे पैदा हुआ है, झूठा है। वह, वह ओंकार नहीं है, जिसकी कृष्ण अर्जुन से बात कर रहे हैं।

'ओम् तत् सत्—ऐसे तीन प्रकार का, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है।' यह सच्चिदानन्द भी तीन शब्दों से बना है—सत्, चित्, आनन्द। अ, उ, म की तीन मात्राओं में 'अ' सत् का प्रतीक है, 'उ' चित का, 'म' आनन्द का। ओम् प्रतीक है—सच्चिदानन्द का।

जब उस ओंकार की ध्वनि तुम्हारे भीतर बजेगी, तब तुम तीन चीजें अपने भीतर पाओगे। पाओगे कि तुम हो; तुम्हारा होना; 'तुम' नहीं—होना; 'मैं' नहीं—अस्तित्व। हम कहते हैं : मैं हूँ, उसमें से मैं तो कट जाएगा, 'हूँ' बचेगा। हूँ-भाव सत् है।

और दूसरी चीज तुम पाओगे चित्, चैतन्य—कि तुम परम चैतन्य से भरे हो—होश—जागृति। दिन हो गया, रात कट गई। मूर्च्छा गई, प्रमाद टूटा। दीया जल रहा है; अकम्प उसकी लौ है।

और आनन्द; और तुम अपने को आनन्द से घिरे हुए पाओगे; जैसे आनन्द के बादल तुम पर बरस रहे हों।

ये तीन उसके लक्षण हैं—उसके मंदिर के करीब पहुँचने के। और ओंकार उसका नाद है।

'उसी से सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये।' फिर तीन—ब्राह्मण, वेद और यज्ञ। यह बड़ा सारपूर्ण वचन है। उसी ओंकार से, उसी 'वह' से सब जन्मा है। जन्म को तीन हिस्सों में बाँट रहे हैं कृष्ण।

ब्राह्मण—ब्राह्मण का अर्थ है वह, जिसने 'उसे' जान लिया। ब्राह्मण का अर्थ है—ज्ञानी। ब्राह्मण का अर्थ है—ब्रह्म को उपलब्ध। ब्राह्मण का अर्थ है : जो ब्रह्म स्वरूप हो गया; जिसने अपने भीतर अहर्निश अनाहत नाद को सुन लिया। जो सच्चिदानंदघन रूप हो गया, वह ब्राह्मण।

इसका क्या मतलब हुआ—कि 'आदि में उससे ही ब्राह्मण पैदा होते हैं? इसका अर्थ हुआ कि जब भी कोई ब्रह्म को जानता है, तो अपने द्वारा नहीं जानता; ब्रह्म के द्वारा जानता है। खुद को तो मिटा लेता है; बस, इतना ही तुम्हें करना है, कि तुम मिट जाओ, खाली जगह हो जाओ, सिंहासन से उतर जाओ। और ब्रह्म सिंहासन पर उतर आता है। ब्राह्मण तुम अपनी चेष्टा से नहीं हो सकते।

बड़ी पुरानी कथा है कि विश्वामित्र क्षत्रिय घर में पैदा हुए और ब्राह्मण होना चाहते थे। लेकिन कोई कैसे अपनी चेष्टा से ब्राह्मण हो सकता है? उन्होंने बड़ी चेष्टा की, बड़ा तप किया।

वशिष्ठ उन दिनों ब्रह्म-ज्ञानी थे। और जब तक वशिष्ठ न कह दें कि तुम ब्राह्मण हो गए, तब तक स्वीकृति न थी। बड़ी तपश्चर्या की, बड़ी कोशिश की। लेकिन वशिष्ठ ने न कहा, न कहा।

यह कथा कोई वर्ण-व्यवस्था की कथा नहीं है। यह चेष्टा और प्रसाद की कथा है। लोगों ने यही समझा है कि वर्ण-व्यवस्था की कथा है कि क्षत्रिय कैसे ब्राह्मण हो सकता है। क्योंकि वर्ण तो जन्म से है।

नहीं, इस कथा से वर्ण का कोई सम्बन्ध नहीं है। कथा चेष्टा और प्रसाद की है। कोई चेष्टा से कैसे ब्राह्मण हो सकता है? परमात्मा के प्रसाद से होता है। और विश्वामित्र तो क्षत्रिय थे। क्षत्रिय तो चेष्टा से जीता है। वही तो फर्क है।

राजस व्यक्ति चेष्टा से जीता है। सात्त्विक व्यक्ति प्रसाद से जीता है। आलसी व्यक्ति न तो चेष्टा से जीता है, न प्रसाद से जीता है। वह तो मुरदे की तरह पड़ा रहता है; ऐसे ही घसिटता है; जीता ही नहीं।

क्षत्रिय ने बड़ी चेष्टा की। महान तप किया। वर्षों बीत गये। लेकिन वशिष्ठ के मुँह से

न निकली यह बात, कि विश्वामित्र ब्राह्मण हैं। क्षत्रिय तो क्षत्रिय। और वशिष्ठ के मुँह से न निकली; कारण भी यही था कि अभी भी क्षत्रिय मौजूद था; अभी भी चेष्टा मौजूद थी। अहंकार मौजूद था कि मैं ब्राह्मण होकर रहूँगा। ब्राह्मण जो कर सकता है, वह सब मैं कर रहा हूँ। ब्राह्मण को जो शुद्धि चाहिए, वह सब मुझ में हो गई है। मंदिर पूरा तैयार है, लेकिन मंदिर के पूरे तैयार होने से कोई परमात्मा की प्रतिष्ठा थोड़े ही हो जाती है। मंदिर बिलकुल तैयार है। सब ठीक है, लेकिन मंदिर में मूर्ति नहीं है।

मूर्ति तुम न ला सकोगे। तुम तो मंदिर तैयार कर सकते हो। प्रार्थना कर सकते हो—कि आओ, उतरो। आह्वान कर सकते हो। उतर आये परमात्मा, उतर आये। न उतरे—क्या करोगे?

हमेशा उतर आता है—जब तुम खाली होते हो, जब मंदिर तैयार होता है। लेकिन थोड़ी अड़चन थी; विश्वामित्र खाली न थे; अहंकार से भरे थे, चेष्टा से भरे थे।

वर्षों बीत गये, बुढ़ापा करीब आने लगा। विश्वामित्र से एक दिन उसके शिष्यों ने कहा कि हम फिर गये थे पूछने। वशिष्ठ को पूछा; उन्होंने कहा, 'विश्वामित्र और ब्राह्मण? कभी नहीं। वह क्षत्रिय था और क्षत्रिय ही है।'

क्रोध आ गया; उठा ली तलवार। क्षत्रिय ही थे, भूल गये वे—तप, तपश्चर्या—सब तंत्र-मंत्र सब बंद। वर्षों का ब्राह्मण का जो रूप था, वह खो गया। रूप का कोई मूल्य नहीं है। अंतर-आत्मा चाहिए। अंतर-आत्मा क्षत्रिय की थी—चेष्टा, संकल्प। ब्राह्मण है समर्पण। क्षत्रिय है संकल्प, 'विल-पावर'। खींच ली तलवार; भागे।

पूरे चाँद की रात थी। वशिष्ठ अपने झोपड़े के बाहर, अपने शिष्यों से कुछ ब्रह्म-चर्चा करते थे। मौका ठीक नहीं था, इस समय बीच में कूद पड़ना उचित न था। बहुत लोग थे। तो विश्वामित्र छिप गये, एक झाड़ी के पीछे, जब लोग विदा हो जाएँगे, और वशिष्ठ अकेले रह जाएँगे, तो आज इसको खत्म ही कर देना है। मैं—और ब्राह्मण नहीं!

झाड़ी के पीछे बैठे सुनते रहे। चर्चा चलती थी कि किसी शिष्य ने वशिष्ठ को पूछा—कि 'आप विश्वामित्र को कब ब्राह्मण कहेंगे? उसकी पीड़ा को समझें, उसकी तपश्चर्या को देखें!'

वशिष्ठ ने कहा, 'सब पूरा हो गया है। किसी भी क्षण कहने को मैं राजी हूँ अब। जरा-सी कमी रह गई है। अहंकार शुद्ध हो गया है, लेकिन मौजूद है अभी। मैं ब्राह्मण कहने को तैयार हूँ, किसी भी क्षण। जरा-सी कमी है; एक बारीक रेखा अहंकार की रह गई है, बस। जिस क्षण पूरी हो जाय। विश्वामित्र करीब-करीब ब्राह्मण है। तुम से ज्यादा ब्राह्मण है।'

वे शिष्य जन्म-जात ब्राह्मण थे, जो पूछ रहे थे। वशिष्ठ ने कहा, 'तुमसे ज्यादा

ब्राह्मण है; लेकिन अगर इसी तरह का ब्राह्मण उनको बनना हो, तो मैं कहने को राजी हूँ, इसमें क्या अड़चन है। मगर विश्वामित्र से बड़ी आशा है। बड़ी सम्भावना छिपी है उस आदमी के भीतर। और इसलिये मैं रोक रहा हूँ, रोक रहा हूँ, रोक रहा हूँ। मैं उसी दिन कहूँगा, जिस दिन बात बिलकुल पूरी हो जाय। उसके पहले कहने से रुकावट पड़ेगी।'

सुना विश्वामित्र ने, छिपे हुए झाड़ी में। फेंक दी तलवार। भागे। वशिष्ठ के चरणों पर गिर पड़े। वशिष्ठ ने कहा, 'ब्राह्मण, उठो।'

विश्वामित्र ब्राह्मण हो गये—एक क्षण में। हाथ में तलवार थी, क्षत्रिय था, राजस था। एक क्षण में तलवार गिरी, संकल्प गिरा, समर्पण हुआ, पैर छू लिये, विनम्र हो गए। ब्राह्मण हो गए। ब्रह्म उतर आया।

ब्राह्मण का अर्थ है—जिसमें ब्रह्म उतर आया।

कृष्ण कहते हैं : पहली चीज, ब्राह्मण, परमात्मा ने बनाई। फिर ब्राह्मण ने जो कहा —ब्रह्म को जानकार जो कहा—उससे वेद निर्मित हुए। वे परमात्मा से जरा दूर हैं; जरा-सी दूरी है। ब्राह्मण—ब्रह्म-ज्ञानी बीच में खड़ा है।

ब्रह्म-ज्ञानी परमात्मा के निकटतम है। फिर ब्रह्म-ज्ञानी ने जो कहा, वह भी परमात्मा ही बोल रहा है; क्यों कि ब्रह्म-ज्ञानी अब है नहीं, अब तो ब्रह्म ही है; वही बोल रहा है। लेकिन एक सीढ़ी का फासला है। बीच में—गुरु खड़ा है, ब्रह्म-ज्ञानी खड़ा है, ब्राह्मण खड़ा है।

ब्राह्मण ने जो बोला, वे वेद। और वेद को मानकर जो किया जा सकता है— वह यज्ञादि।

और एक कदम का फासला हो गया। वेद को मानकर जो कृत्य किये जा सकते हैं— कर्मकाण्ड—वह यज्ञ इत्यादि। परमात्मा—ब्राह्मण—वेद—यज्ञ।

जो तमस् प्रकृति का आदमी है, वह यज्ञादिकों को चुनेगा। जो रजस् प्रकृति का व्यक्ति है, वह वेद आदि को चुनेगा। जो सत्त्व प्रकृति का आदमी है, वह गुरु, ब्राह्मण, सद्गुरु को चुनेगा।

अगर ब्राह्मण उपलब्ध हो, तो वेद को मत चुनना। क्योंकि क्या फायदा—सेकेण्ड हैण्ड, बासे शब्दों में? जब ब्राह्मण उपलब्ध हो, जहाँ से कि ताजी सरिता अभी वेद की पैदा हो रही हो, तो वेद को मत चुनना।

अगर गुरु उपलब्ध हो, तो शास्त्र व्यर्थ। अगर गुरु उपलब्ध न हो, तो शास्त्र को चुनना, क्रिया-काण्ड को मत चुनना। शास्त्र को समझना। शास्त्र समझने के लिए है, करने के लिए नहीं। समझ से मुक्ति होती है। समझ पर्याप्त है।

जो शास्त्र के रहते क्रिया-काण्ड चुन लेता है, वह निपट मूढ़ है। लेकिन अगर

शास्त्र भी उपलब्ध न हो, तब क्रिया-काण्ड ही शेष रह जाता है। क्रिया-काण्ड आखिरी प्रतिध्वनि है परमात्मा की।

एक आदमी मंदिर में थाली लेकर पूजा कर रहा है। यह आखिरी ध्वनि है परमात्मा की। फिर एक आदमी गीता का अध्ययन कर रहा है, स्वाध्याय कर रहा है, समझने की कोशिश कर रहा है। यह जरा निकट है। यह मंदिर में आरती उतारने से ज्यादा निकट है। यह आग जला कर, उसमें घी फेंकने से ज्यादा निकट है। यह क्रिया-काण्ड से ज्यादा गहरी है, क्योंकि यह चैतन्य में प्रवेश करेगी। फिर एक आदमी गुरु के पास बैठा है, कुछ भी नहीं कर रहा है। न क्रिया-काण्ड है गुरु के पास, न शास्त्र का अध्ययन है। सामीप्य है, सत्संग है। गुरु के पास बैठा है। सिर्फ पास होना है, निकटता है, कुछ घट रहा है।

तीन ही तरह के व्यक्ति हैं और तीन ही परमात्मा के कदम हैं।

यज्ञादिकों से बचा जा सकता है, तो बचना। शास्त्रों से बचा जा सके—बचना। अगर गुरु खोज सको जीवित, ब्राह्मण खोज सको जीवित, तो वहाँ से ब्रह्म का सीधा, निकटतम द्वार है।

यह भी सम्भव है कि बिना गुरु के भी ब्रह्म मिल जाय। अगर वह भी सम्भव हो सके, तो गुरु से भी बचना। लेकिन वह अति कठिन है। कठिन तो है यज्ञ से ही बचना। फिर और कठिन है शास्त्र से बचना। फिर अति कठिन है गुरु से बचना। अपनी जीवन-स्थिति को सोचकर अपने कदम को चुनना।

'ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादिक रचे...।' 'ब्रह्मवादिन श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्रविधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएँ सदा ओम्—ऐसे परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।' सारे शास्त्र भारत के, ओंकार से शुरू होते हैं, ओंकार पर पूर्ण होते हैं। यह प्रतीक है। यह प्रतीक है कि परमात्मा ही आरम्भ है और परमात्मा ही अंत है। वहीं से तुम आते हो, वहीं लौट जाते हो। वहाँ वर्तुल पूरा होता है। वही पहला कदम, वही आखिरी कदम। वही जन्म, वही मृत्यु। इसलिए ओम् से शुरू होते हैं; ओम् पर पूर्ण होते हैं।

और ऐसा ही तुम्हारा जीवन होना चाहिए; ओम् से ही शुरू हुआ है और ओम् पर ही पूर्ण हो। शुरू तो ओम् से ही हुआ है, तुम्हें चाहे पता भी न हो। तुम्हें पता भी नहीं हो सकता, जब तक कि ओम् पर पूर्ण न हो। जिस दिन ओम् पर पूर्ण होगा, उस दिन, तुम जानोगे कि ओम् से शुरू हुआ। ओम् में ही पूरा हुआ। जैसे मछली सागर में पैदा होती है, सागर में ही जीती, सागर में ही लीन हो जाती। ऐसे ही, शास्त्रों में प्रतीक है कि ओम् से शुरू होता, ओम् पर पूर्ण होता। ऐसा ही तुम्हारा जीवन भी हो। तुम्हारा प्रत्येक कृत्य ओम् से शुरू हो, और ओम् पर पूरा हो।

थोड़ा खयाल करो—तुम दुकान पर बैठो, ओम् से ही दुकान खोलो। यह ओम् कई तरह का हो सकता है। यह ओम् सिर्फ यज्ञादिक हो सकता है। तब करीब-करीब व्यर्थ है। तुमने कह दिया, लेकिन कोई प्रयोजन नहीं है। आदत है। एक औपचारिकता है; पूरा कर दिया। लेकिन यह भाव का भी हो सकता है। यह गहरा भी हो सकता है। तुमने पूरे हृदय से कहा, तो तुम्हारे जीवन की प्रक्रिया में अंतर पड़ जाएँगे। तो तुम दुकान पर बैठोगे, लेकिन तुम वही न हो पाओगे, जो कल तक थे। और जब ग्राहक आएगा और तुम बेचना शुरू करोगे, अगर ओम् से ही शुरू किया तो तुम ग्राहक को उस आसानी से न लूट पाओगे, जिस आसानी से तुम लूट लेते। थोड़ी करुणा होगी, थोड़ी दया होगी, थोड़ा सद्भाव होगा।

प्रत्येक कृत्य को ओम् से शुरू करने की अगर दृष्टि आ जाय—भाव से, तो तुम पाओगे कि एक छोटी-सी घटना तुम्हारे पूरे जीवन को बदल देती है। लेकिन औपचारिकता हो, तो कोई सार नहीं। ऐसा हुआ:

मैं एक घर में मेहमान था, आगरा में। और घर के जो मालिक थे, वे एक बड़े फोटोग्राफर थे और बड़े भक्त थे। पहली ही दफा उनके घर मेहमान था, तो उन्होंने कहा, 'आपको स्टूडियो चलना पड़ेगा।'

(घर से ही लगा हुआ स्टूडियो था।) 'और कुछ चित्र आपके मैं बिना लिये नहीं जाने दूँगा।' तो मैंने कहा, 'ठीक है।' मैं गया।

देखा तो बड़े धार्मिक आदमी थे। धार्मिक अतिशय थे—जितनी कि अपेक्षा भी नहीं कर सकते। मुझे कुर्सी पर बिठाएँ तो ओम्, प्लग लगाएँ बिजली का तो ओम्; पंखा चलाएँ, तो ओम्। अद्भुत आदमी हैं। कुर्सी उठाएँ, तो ओम्। हर काम करें, तो ओम्। बटन दबाएँ कैमरे की, तो ओम्। और मेरे साथ एक मित्र थे, जो मिलने आये थे। आगरा ही रहते हैं। वे मेरे पास ही बैठे थे—एक कुर्सी पर।

एक नौकरानी निकली और उन्होंने कहा कि 'मुझे जरा प्यास लगी है; एक गिलास पानी ले आओ।' वे फोटोग्राफर सज्जन एकदम नाराज हो गये, बोले, 'ओम्। शर्म नहीं आती, पुरुष होकर और स्त्री को आज्ञा देते हो।'

मैं थोड़ा हैरान हुआ कि मामला क्या है। इसमें ऐसी कोई नाराज होने की बात न थी। लेकिन इसके पहले भी उन्होंने ओम् जरूर कहा। 'ओम्, शर्म नहीं आती, मर्द होकर स्त्री को आज्ञा देते? खुद जाते नहीं बनता?'

मैं थोड़ा चौंका। जब वे बाहर चले गये, तब तो मित्र उठ कर बाहर चले गये। मैं थोड़ा चौंका। और नास्तिक को मैं पानी भी नहीं उन्होंने कहा, 'ओम्, यह आदमी कम्युनिस्ट है। और नास्तिक को मैं पानी भी नहीं पिलाना चाहता। आप कुछ और मत सोचना। आप यह मत सोचना कि मैं कोई...। मगर मैं नास्तिक को पानी भी नहीं पिलाना चाहता।'

मगर यह आदमी ओम् कहे जा रहा है; कोई प्यासा हो, उसको पानी नहीं पिला सकता। इसके पहले भी ओम् कहता है। यह ओम् यांत्रिक हो गया। अब इस को पता ही नहीं कि यह क्या कर रहा है; यह पागलपन हो गया। इस ओम् से इसका कोई सम्बन्ध भी न रहा। यह ओम् अब अपने-आप ही चल रहा है। यह किसी की हत्या भी करेगा, तो कहेगा, 'ओम्', फिर छुरा मारेगा। निकालेगा छुरा, तो कहेगा—'ओम्!' इसको कुछ पता नहीं रहा कि यह क्या कर रहा है।

अधिक लोगों का जीवन धर्म के नाम पर ऐसा ही यांत्रिक हो जाता है।

नहीं, ओम् के भी तीन रूप हैं। एक: यज्ञादिक। कर रहे हैं। दूसरा—वेद से, बोध से, अध्ययन से, स्वाध्याय से, मनन से, चिंतन से। और तीसरा—ब्राह्मणों जैसा—भाव से, अंतर्भाव से!

'और तत् अर्थात् तत् नाम से कहे जानेवाले परमात्मा का ही यह सब है, ऐसे भाव से फल को न चाह कर, नाना प्रकार की यज्ञ, तप-रूप क्रियाएँ तथा दान-रूप क्रियाएँ मोक्ष की आकांक्षा वाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं।'

इस वचन में एक बड़ा गहरा विरोधाभास है। तुम्हें अड़चन मालूम होगी! क्योंकि यह कहता है कि 'यह सब उसी का है—ऐसे भाव से, फल को न चाह कर, मोक्ष की आकांक्षा वाले पुरुषों द्वारा...।'

तो मोक्ष की आकांक्षा तो फल की चाह है। तो यह सूत्र तो बड़ी उलझन में डालने वाला है। मगर कोई उलझन है नहीं, अगर समझ लो, तो बात सीधी-सीधी है।

मोक्ष की आकांक्षा पहले पैदा होती है। तुमने संसार की आकांक्षा की है। स्वभावतः तुम आकांक्षा करने में कुशल हो गए हो। तुम कुछ और कर भी नहीं सकते। तुम अचानक अनाकांक्षा कैसे करोगे? अ-चाह कैसे करोगे? तुम्हें पहले तो संसार की आकांक्षा की जगह मोक्ष की आकांक्षा करनी पड़ेगी। लेकिन जैसे ही तुमने मोक्ष की आकांक्षा की, तुम मुश्किल में पड़ोगे, क्योंकि संसार की आकांक्षा से संसार मिल जाता है; मोक्ष की आकांक्षा से मोक्ष नहीं मिलता। इसे तुम थोड़ा ठीक से समझ लो।

संसार की आकांक्षा से संसार मिल जाता है। अगर तुम ठीक से दौड़-धूप करोगे, तो तुम धन कमा ही लोगे; इसमें ऐसी क्या अड़चन है? अगर न कमा पाओ, तो दौड़-धूप ठीक से नहीं की—इतना ही सिद्ध होता है।

अगर तुम पद पर पहुँचना चाहते हो, तो पहुँच ही जाओगे; गधे पहुँच गये हैं, तो तुम्हें क्या अड़चन है? कोई भी पहुँच सकता है? सिर्फ एक पागलपन चाहिए दौड़ने का। और फिर किसी की सुनने की बुद्धि नहीं चाहिए, बुद्धि चाहिए ही नहीं पद पर पहुँचने के लिए। बुद्धि अड़चन बन जाती है। तुमने किसी की सुनी, तो दूसरा निकल जाएगा आगे—उतनी देर में! सुनना ही मत!

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन बाजार गया था, साड़ियाँ खरीदने। साड़ियाँ सस्ते में बिक रही थीं। दुकान बंद होने को थी। और सस्ते में साड़ियाँ नीलाम हो रही थीं। तो बहुत स्त्रियाँ पहुँच गई थीं। वह बेचारा सज्जनता के वश पीछे-पीछे खड़ा था। स्त्रियाँ कोई सज्जन तो होती ही नहीं! सज्जनता तो पुरुषों के लिए है। वह पीछे खड़ा था। स्त्रियाँ तो धूम-धड़ाका मचा कर भीतर घुस रही थीं। वहाँ कोई 'क्यू' नहीं, कोई हिसाब नहीं।

वह कोई घण्टे भर खड़ा रहा, पीछे ही पीछे रहा। आगे जाने का कोई उपाय ही न था। और पत्नी जान खा लेगी—कि साड़ी लिए बिना आ गए। आखिर उसने भी एकदम से धक्का दिया। सिर झुका कर नीचे, जैसे कि बैल घुस जाय भीड़ में, ऐसा वह स्त्रियों की भीड़ में घुस गया—जोर से!

आखिर कई स्त्रियाँ चौंकीं और उन्होंने कहा, 'शर्म नहीं आती, मर्द हो कर और सभ्य आदमी होकर असभ्य व्यवहार कर रहे हो? पुरुषोचित व्यवहार करो!'

उसने कहा, 'चुप रहो! पुरुषोचित व्यवहार घण्टे भर से कर रहा हूँ। अब स्त्रियोचित व्यवहार करता हूँ।'

तो अगर पद चाहिए और तुम चूक जाओ, तो उसका कुल मतलब इतना ही है कि तुम जरा सज्जनता का व्यवहार कर रहे थे और कुछ मामला नहीं है। तुम्हें पागल बैल की तरह, सिर झुकाकर घुस जाना चाहिये था। तुम दिल्ली पहुँच कर ही रुकते। कोई बीच में रोकनेवाला तुम्हें मिलने वाला नहीं था। एक दफा भीड़ में घुसने की हिम्मत हो, तो फिर भीड़ ही तुम्हें लिए चली जाती है। फिर तुम्हें पता ही नहीं चलता कि कैसे तुम दिल्ली पहुँचे! पहुँच ही जाते हो!

संसार में तो आकांक्षा पूरी हो जाती है। आकांक्षा और संसार का कोई विरोध नहीं है। क्योंकि 'क्षुद्र' की आकांक्षा है। क्षुद्र तो आकांक्षा से मिल जाता है, विराट् नहीं मिलता।

अब यहाँ तुम बड़ी अड़चन पाओगे। तुम्हें धर्मगुरु समझाते हैं कि आकांक्षा से संसार में कुछ न मिलेगा। मैं कहता हूँ कि आकांक्षा से सब मिल जाता है। जिनको नहीं मिलता, उन्होंने ठीक से नहीं की। या की, तो कुनकुनी! पूरी उबली नहीं; पूरे प्राण नहीं लगाये। या प्राण भी लगाये, तो मोक्ष को भी बचाने की चेष्टा साथ में जारी रखी—कि धन भी कमा लें और ईमानदारी भी बची रहे। अब ऐसा कहीं हो सकता है? धन कमाना है, तो बेईमानी रास्ता है। वह तो उसका गणित है। धन कमाना है, तो बेईमान होने को राजी हो जाओ। फिर मोक्ष की फिक्र छोड़ दो। फिर धर्म और धन दोनों को सम्हाला, तो दो नावों पर सवार हो रहे हो; कहीं न पहुँचोगे।

तो जिसको जाना है संसार में, वह निश्चित पहुँच जाता है। धर्मगुरु तुमसे ठीक नहीं

कहते। वे तुमसे कहते हैं कि 'परमात्मा की आकांक्षा करो; क्या संसार की आकांक्षा कर रहे हो ?' और मैं तुमसे कहता हूँ कि 'यह बात ही उलटी है। संसार की आकांक्षा करने वाला तो संसार को पा ही लेता है। सिकन्दर, सिकन्दर हो जाते हैं। नेपोलियन, नेपोलियन हो जाते हैं। मिल जाता है।'

परमात्मा की आकांक्षा असम्भव आकांक्षा है। वह आकांक्षा से मिलता ही नहीं। लेकिन पहला कदम यही होगा कि संसार को चाह-चाह कर तुमने कुछ सार न पाया...।

दो तरह के लोग हैं संसार में! एक—जिन्होंने पा लिया सब-कुछ—जो चाहते थे। लेकिन पा कर भी सार न पाया। क्योंकि सार तो यहाँ है नहीं। सार तो परमात्मा है। और दूसरे—जिन्होंने पाने की ठीक से कोशिश न की, इसलिए आकांक्षा में जले, पड़े रहे।

पहले लोग ही ठीक अर्थों में धार्मिक हो सकते हैं। दूसरे तरह के लोग ठीक अर्थों में धार्मिक नहीं हो सकते। धार्मिक होने के लिये संसार की दौड़, असार सिद्ध हो जानी चाहिए; तब नई दौड़ शुरू होती है। तब तुम पूरे प्राण से नई दौड़ में लगते हो। तब तुम परमात्मा को चाहते हो, मोक्ष चाहते हो, सत्य चाहते हो! एक आकांक्षा पैदा होती है—मोक्ष की आकांक्षा!

लेकिन जब आकांक्षा में तुम दौड़ोगे, तब तुम्हें धीरे-धीरे पता चलेगा कि मोक्ष की आकांक्षा करना, मोक्ष से बचने का उपाय है। यहाँ तो आकांक्षा गिर जाय, तो मोक्ष मिलता है। क्योंकि मोक्ष का अर्थ ही आकांक्षा से मुक्त हो जाना है; कोई और अर्थ नहीं है। परमात्मा को पाने का अर्थ ही यह है कि जहाँ पाने की कोई चाह नहीं रही, वहीं परमात्मा उपलब्ध हो जाता है। इसलिए विपरीत शब्दों का उपयोग कृष्ण ने किया है। वे कहते हैं, 'फल को न चाह कर, मोक्ष की आकांक्षा करनेवाले पुरुषों द्वारा...।' 'मोक्ष की आकांक्षा' पैराडॉक्सिकल है, विरोधाभासी है। वहाँ आकांक्षा बाधा है।

शुरू आकांक्षा से करोगे, अंत निराकांक्षा पर होगा। चढ़ोगे, चाह से; धीरे-धीरे अनुभव बताएगा कि चाह पहुँचाती नहीं, भटकती है। तब एक दिन चाह गिर जाएगी। और जहाँ तुम अचाह हुए, वहीं उपलब्धि है।

आज इतना ही।

मन का महाभारत • लोक-मंगल • सजगता और आत्म-स्वीकार

ओम् तत् सत्

ग्यारहवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, दिनांक ३१ मई, १९७५

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्ध पार्थ युज्यते ॥ २६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८॥
ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे श्रद्धात्रयविभाग योगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

और सत्—ऐसे यह परमात्मा का नाम सत्य-भाव में और श्रेष्ठ-भाव में प्रयोग किया जाता है। तथा पार्थ, उत्तम कर्म में भी 'सत्' शब्द प्रयोग किया जाता है।

तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, वह भी सत् है—ऐसे कही जाती है। और उस परमात्मा के अर्थ किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत् है—ऐसे कहा जाता है।

और हे अर्जुन, बिना श्रद्धा के होमा हुआ हवन तथा दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह समस्त असत् है—ऐसे कहा जाता है। इसलिए वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के पीछे ही लाभदायक है।

॥ श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : कहा जाता है कि कृष्ण द्वारा अठारहवाँ अध्याय पूरा करते ही महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हो गया। क्या आपके द्वारा भी अठरहवाँ अध्याय पूरा होने पर किसी महाभारत की सम्भावना है? ज्योतिषी भी कहते हैं कि बाईस जुलाई को आठ ग्रह एक ही स्थान पर इकट्ठे हो रहे हैं!

महाभारत न तो कभी शुरू होता और न कभी अंत; वह मनुष्य के अज्ञान के साथ चलता ही रहता है। कृष्ण ने गीता कही, उसके पहले भी वह चल रहा था; कृष्ण ने गीता पूरी की, तब भी वह चलता रहा। अज्ञान ही महाभारत है। कभी शीत, कभी गरम; कभी प्रकट, कभी अप्रकट, लेकिन मूर्च्छा में तुम लड़ते ही रहोगे। मूर्च्छा में लड़ना ही जीवन मालूम होता है।

हजार रूपों में युद्ध चल रहा है; तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। युद्ध के लिए कोई आकाश से बम-वर्षा होनी आवश्यक नहीं है। वह तो आखिरी परिणति है। वह तो युद्ध का आखिरी रूप है। लेकिन युद्ध की तैयारी तो घर-घर में चलती है; तैयारी तो हृदय में चलती है।

युद्ध युद्ध के मैदानों पर नहीं लड़े जाते, मनुष्य के अंधकार में लड़े जाते हैं।

इसे ठीक से समझ लो अन्यथा धोखा खड़ा होता है। पहला तो धोखा यह खड़ा हो जाता है कि हम सोचने लगते हैं : महाभारत कोई बाहर का युद्ध है।

महाभारत बाहर का युद्ध नहीं है। अगर युद्ध बाहर का होता तो गीता के जन्म का उपाय ही न था। युद्ध तो भीतर का है। बाहर भी उसकी प्रतिध्वनि सुनी जाती है; बाहर भी परिणाम होते हैं। लेकिन युद्ध सदा भीतर है।

तुम चौबीस घंटे बँटे हुए हो, लड़ रहे हो। किसी दूसरे से तो बाद में लड़ोगे, पहले तुम अपने से लड़ रहे हो।

एक भी ऐसी तुम्हारे जीवन की पल-दशा नहीं है, जब तुम्हारा किसी न किसी अर्थों में संघर्ष न चल रहा हो। और जहाँ संघर्ष है, वहाँ कैसे शांति होगी? और जहाँ संघर्ष है, वहाँ कैसे समाधि फलित होगी? फिर तुम्हारा संघर्ष—तुम जिनसे जुड़े हो, उन में फैल जाता है—क्षुद्र बातों पर...।

तुमने कभी ध्यान किया : कितनी छोटी बातों पर तुम लड़ते हो! जैसे बातें तो बहाना हैं; लड़ना तुम चाहते हो, इसलिए कोई भी बहाना काम दे देता है।

एक बड़ी प्रसिद्ध हंगेरियन कहानी है—कि एक आदमी का विवाह हुआ। झगड़ेल प्रकृति का था, जैसे कि आदमी सामान्यतः होते हैं। माँ-बाप ने यह सोचकर कि—शायद शादी हो जाए, तो यह थोड़ा कम क्रोधी हो जाए; थोड़ा प्रेम में लग जाए, जीवन में उलझ जाए, तो इतना उपद्रव न करे—शादी कर दी।

शादी तो हो गई...।

आदमी झगड़ेल होते हैं, उससे ज्यादा झगड़ेल स्त्रियाँ होती हैं। झगड़ेल होना ही स्त्री का पूरा शास्त्र है—जिससे वह जीती है।

माँ-बाप लड़की के भी यही सोचते थे कि विवाह हो जाए, घर-गृहस्थी बने, बच्चा पैदा हो, तो सुविधा हो जाएगी। उलझ जाएगी, तो झगड़ा कम हो जाएगा। लेकिन जहाँ दो झगड़ेल व्यक्ति मिल जायँ, वहाँ झगड़ा कम नहीं होता; दो गुना भी नहीं होता; अनन्त गुना हो जाता है। जब दो झगड़ेल व्यक्ति मिलते हैं, तो जोड़ नहीं होता गणित का, दो और दो चार—ऐसा नहीं होता; गुणन फल हो जाता है।

पहली ही रात—सुहाग-रात, भेंट में जो चीजें आई थीं, उनको खोलने को दोनों उत्सुक थे। पहला डब्बा हाथ में लिया; बड़े ढंग से पैक किया था। पति ने कहा कि 'रुको, यह रस्सी ऐसे न खुलेगी। मैं चाकू ले आता हूँ।' पत्नी ने कहा कि 'ठहरो, मेरे घर में भी बहुत भेंटें आती रहीं। हम भी बहुत भेंटें देते रहे। तुमने मुझे कोई नंगे-लुचों के घर से आया हुआ समझा है? ऐसे सुंदर फीते चाकुओं से नहीं काटे जाते, कैंची से काटे जाते हैं।'

झगड़ा भयंकर हो गया—कि 'फीता चाकू से कटे कि कैंची से कटे।' दोनों की इज्जत का सवाल था। बात इतनी बढ़ गई कि डब्बा उस रात तो खोला ही न जा सका; सुहाग-रात भी नष्ट हो गई—उसी झगड़े में। और विवाद...? क्योंकि प्रतिष्ठा का सवाल था; दोनों के परिवार दाँव पर लगे थे—कि कौन सुसंस्कृत है!

वह बात इतनी बढ़ गई कि वर्षों तक झगड़ा चलता रहा। फिर तो बात ऐसी सुनिश्चित हो गई कि जब भी झगड़े की हालत आए, तो पति को इतना ही कह देना काफी था—'चाकू'; और पत्नी उसी वक्त चिलाकर कहती—'कैंची'। वे प्रतीक हो गए। वर्षों खराब हो गये। आखिर पति के बरदाश्त के बाहर हो गया। और डब्बा

अनखुला रखा है! क्योंकि जब तक यही तय न हो—कि कैंची या चाकू, तब तक वह खोला कैसे जाए। कौन खोलने की हिम्मत करे?

एक दिन बात बहुत बढ़ गई, तो पति समझा-बुझा के झील के किनारे ले गया पत्नी को। नाव में बैठा; दूर—जहाँ गहरा पानी था, वहाँ ले गया और वहाँ जाकर बोला कि 'अब तय हो जाय। यह पतवार देखती है, इसको तेरी खोपड़ी में मार के पानी में गिरा दूँगा। तैरना तू जानती नहीं है; मरेगी। अब क्या बोलती है? चाकू या कैंची?' पत्नी ने कहा, 'कैंची।'

जान चली जाय, लेकिन आन थोड़े ही छोड़ी जा सकती है? 'रघुकुल रीत सदा चली आई, जान जाय पर वचन न जाई।' पति ने भी उस दिन तय कर लिया था कि कुछ निपटारा कर ही लेना है। यह जिंदगी बरबाद हो गई—और चाकू कैंची पर बरबाद हो गई! लेकिन वह यही देखता है कि पत्नी बरबाद करवा रही है। यह नहीं देखता है कि मैं भी चाकू पर अटका हुआ हूँ—अगर वह कैंची पर अटकी है। तो दोनों कुछ बहुत भिन्न नहीं हैं। पर दूसरे का दोष तो युद्ध के क्षण में, विरोध के क्षण में, क्रोध के क्षण में दिखाई नहीं पड़ता।

उसने पतवार जोर से मारी; पत्नी नीचे गिर गई। उसने कहा, 'अभी भी बोल दे।' तो भी उसने डूबते हुए आवाज दी—'कैंची!' एक डुबकी खाई मुँह-नाक में पानी चला गया। फिर ऊपर आई। फिर भी पति ने कहा, 'अभी भी जिंदा है। अभी मैं तुझे बचा सकता हूँ। बोल।' उसने कहा, 'कैंची।' अब पूरी आवाज भी नहीं निकली; क्योंकि मुँह में पानी भर गया। तीसरी डुबकी खाई; ऊपर आई। पति ने कहा, 'अभी भी कह दे; क्योंकि यह आखिरी मौका है।' वह बोल भी नहीं सकती थी। डूब गई। लेकिन उसका एक हाथ उठा रहा और दोनों अंगुलियों से कैंची चलती रही; दोनों अंगुलियों से वह कैंची बताती रही—डूबते-डूबते, आखिरी क्षण में!

महाभारत के लिये कोई कुरुक्षेत्र नहीं चाहिए; महाभारत तुम्हारे मन में है। क्षुद्र बातों पर तुम लड़ रहे हो। तुम्हें लड़ने के क्षण में दिखाई भी नहीं पड़ता कि किस क्षुद्रता के लिए तुमने आग्रह खड़ा कर लिया है। और जब तक तुम्हारा अज्ञान गहन है, अंधकार गहन है। अहंकार सघन है, तब तक तुम देख भी न पाओगे कि तुम्हारा पूरा जीवन एक कलह है। जन्म से लेकर मृत्यु तक, तुम जीते नहीं, सिर्फ लड़ते हो। कभी-कभी तुम दिखलाई पड़ते हो, कि लड़ नहीं रहे हो, वे लड़ने की तैयारी के क्षण होते हैं; जब तुम तैयारी करते हो।

गीता के शुरू और अंत होने से युद्ध का कोई सम्बन्ध नहीं है। न ही आठ ग्रहों के इकट्ठे होने से कुछ लेना-देना है।

आदमी हमेशा दोष दूसरे पर देने में बड़ा कुशल है। युद्ध तुम करोगे; आठ ग्रहों

का मिलना जुम्मेवार होगा। वह भी तरकीब है; बेईमानी है। युद्ध तुम करोगे, लड़ोगे तुम, युद्ध तुम्हारे भीतर से आएगा, आठ निर्दोष ग्रहों के मिलने से युद्ध का क्या लेना-देना!

लेकिन हम हमेशा ही दोष किसी को देकर अपने को बचा लेना चाहते हैं। जब कोई भी नहीं मिलता, तो निर्दोष ग्रह मिल जाते हैं— कि ग्रह मिल रहे हैं—कि सूर्य-ग्रहण हो गया—कि चन्द्र-ग्रहण हो गया।

आदमी क्या-क्या तरकीबें निकलता है, सिर्फ एक बात को देखने से बचने के लिए—कि उसके भीतर शांति नहीं है! तुम अशांत हो। तुम जो भी करोगे, तुम जो भी छुओगे, वहीं तुम अशांति का रोग फैलाओगे। तुम जिसके पास जाओगे, वहीं कलह खड़ी हो जाएगी। तुम प्रेम करने जाओगे और सिर्फ घृणा पैदा होगी। तुम सोना छुओगे और मिट्टी हो जाएगा।

रोग तुम्हारे भीतर हैं, आठ ग्रह तुम्हारे भीतर मिले हुए हैं। और तब पण्डित हैं, पुजारी हैं, वे मिल जाएँगे समझाने—कि युद्ध आने के करीब है; आठ ग्रह मिल रहे हैं; शांति के लिये महायज्ञ होने चाहिए। करोड़ों रुपये महायज्ञों पर फूँके जाएँगे।

महायज्ञ की जरूरत तुम्हारे भीतर है। और बाहर किसी अग्नि में घी डालने से काम न चलेगा, परमात्मा की अग्नि में तुम्हें स्वयं को ही डालना पड़ेगा। वही एक मात्र यज्ञ है—जीवन-यज्ञ, जहाँ तुम अपनी आहुति दे देते हो—और अपने अहंकार को जल जाने देते हो। अहंकार के बाद जो बच रहता है, उसमें फिर कोई युद्ध नहीं है; फिर कोई उपाय ही नहीं है युद्ध का।

तुम्हारे भीतर—युद्ध का सूत्र टूटना चाहिए।

आदमी जैसा है, वैसा तो लड़ता ही रहेगा। कितना ही बचाओ, कितना ही समझाओ—अहिंसा का पाठ पढ़ाओ, कोई फर्क न पड़ेगा। वह अहिंसा के लिए लड़ेगा। कोई फर्क नहीं पड़ता। तलवारें उठ जाएँगी, क्योंकि अहिंसा की रक्षा करनी है! कितना ही धर्म सिखाओ; वह धर्म के लिए लड़ेगा—कि इसलाम खतरे में है, हिन्दू-धर्म खतरे में है।

कोई भी मूढ़ जोर से शोरगुल मचा दे: 'हिन्दू-धर्म खतरे में है, फिर कोई नहीं पूछता कि हिंदू-धर्म है कहाँ, जो खतरे में है? कहीं धर्म भी खतरे में होते हैं? लेकिन लड़ने के लिये बहाने हैं। कोई भी बहाने काम दे जाते हैं।

आदमी ऐसी-ऐसी चीजों पर लड़ा है कि भरोसा नहीं आता अब। बड़ी क्षुद्र बातों पर लड़ा है। इससे एक बात सिद्ध होती है कि बातों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है; आदमी लड़ना चाहता है। बातें तो बहाने हैं; वे तो खूँटियाँ हैं—जिन पर हम अपनी भीतर की घृणा, विद्वेष, ईर्ष्या, जलन टाँग देते हैं। खूँटियों को क्या लेना-देना? कोट

—तुम, खूँटी न मिलेगी, तो दरवाजे के कोनों पर टाँग दोगे। कहीं न कहीं जगह खोज लोगे टाँगने के लिए।

असली सवाल युद्ध नहीं है; असली सवाल मनुष्य की युद्ध से भरी चित्त-दशा है। और इस चित्त-दशा को तुम थोड़ा गहराई से समझने की कोशिश करो; क्योंकि इस चित्त-दशा का जो पहला आधार-बिंदु है, वह 'अपने से लड़ना' है।

दूसरे से लड़ने को तुम बाद में जाते हो, पहले तुम अपने से लड़ते हो। और तुम्हारे तथाकथित आदर्शवादियों ने तुम्हें वह लड़ाई सिखाई है। वे कहते हैं: 'तुम्हारे भीतर क्रोध है तो लड़ो क्रोध से।' युद्ध शुरू हुआ। तुम्हारे भीतर काम-वासना है, तो लड़ो काम-वासना से। युद्ध शुरू हुआ। और जब तुम अपने से लड़ोगे, तब तुम दुनिया में किसी के भी साथ बिना लड़े नहीं रह सकते। जो अपने से बिना लड़े नहीं रह सका, वह किस से बिना लड़े रह जाएगा!

इसलिए समस्त युद्धों के पीछे शैतानों का हाथ नहीं है—तुम्हारे तथाकथित महात्माओं का हाथ है। उन्होंने तुम्हें विभाजित कर दिया है, तोड़ दिया है—दो हिस्सों में। वे कहते हैं, 'तुम्हारे नीचे का हिस्सा बुरा, ऊपर का हिस्सा अच्छा। लड़ो; तुम्हारे भीतर शैतान छिपा है, उससे लड़ो।' वे तुम्हें खण्डित करते हैं। और तुम्हें एक युद्ध-स्थल में बदल देते हैं। फिर तुम अपने से ही लड़ते हो। जैसे कोई अपने ही दायें बायें हाथ को लड़ाये। जीत कभी नहीं होती; सिर्फ मिटते हो, नष्ट होते हो, समाप्त होते हो, सड़ते हो।

और जितना ही जीवन खोता जाता है—लड़ाई में, उतना ही क्रोध बढ़ता जाता है; क्योंकि तुम जीवन के आनन्द को अनुभव नहीं कर पाए। आए और गए; अवसर ऐसे ही खो गया; मंदिर के द्वार तक पहुँच गए थे और द्वार के भीतर प्रवेश न हुआ। अधूरे, अपूर्ण, अतृप्त—और बिदा का क्षण आ जाता है; मौत करीब आ जाती है।

तुम्हारे आदर्शवादियों ने तुम्हें अपने से लड़ना सिखाया है। कृष्ण की सारी शिक्षा यही है अर्जुन से कि तू अपने से मत लड़, तू अपने को स्वीकार कर। तू क्षत्रिय है, तू ब्राह्मण होने की नाहक चेष्टा मत कर। वह तेरा गुण-धर्म नहीं है; वह तेरा स्वभाव नहीं है।

कृष्ण सभी महात्माओं के विपरीत हैं। इससे महात्मा कृष्ण का नाम लेने में भी जरा डरते हैं। और अगर लेते हैं, तो कृष्ण के ऊपर अपनी धारणाएँ थोप देते हैं, अपनी व्याख्या थोप देते हैं।

कृष्ण का मूल संदेश क्या है अर्जुन को? एक छोटी-सी बात कृष्ण उसे समझा रहे हैं कि 'जो तेरा स्वधर्म है, जो तेरा होने का ढंग है, जैसा तू आदमी है, तू क्षत्रिय है, तू लड़ाका है। तेरे जीवन की सारी कला, तेरी सारी कुशलता तेरी वीरता में है, तेरे

क्षत्रियत्व में है। आज अचानक तू ब्राह्मण होने के खयाल से भर रहा है; आज अचानक तू अपने क्षत्रिय से लड़ने जा रहा है...!'

अर्जुन सोचता है कि वह एक बड़े युद्ध से बच रहा है। और कृष्ण देख रहे हैं कि वह एक बड़े युद्ध की शुरुआत कर रहा है! यह बड़ा बुनियादी और बारीक मामला है।

अर्जुन तो ऊपर से ऐसे ही दिखाई पड़ता है, यह कह रहा है कि 'मुझे जाने दें; संन्यस्त हो जाऊँगा। वानप्रस्थ दशा पैदा हो गई। अब तो विराग आ गया; अब क्या मारना इन लोगों को; इस युद्ध में मुझे कोई रस नहीं मालूम होता।

'हे कृष्ण, मेरा गाण्डीव शिथिल हो गया है; मेरे गात्र शिथिल हो गये हैं। लड़ने का कोई उन्मेष नहीं है; लड़ने की कोई ऊर्जा नहीं है, लड़ने का भाव नहीं है। इन अपनों को मारकर मैं क्या करूँगा। इससे तो अच्छा है, मैं संन्यस्त हो जाऊँ। क्या सार है—धन को पा लेने में। पद-प्रतिष्ठा, राज-सिंहासन—करूँगा क्या? अपने ही न बचेंगे, भोगने वाले न बचेंगे, उत्सव मनाने वाले न बचेंगे; फायदा क्या है? मैं हट जाता हूँ। सम्हालने दो कौरवों को; भोगने दो उन्हें। मैं युद्ध से अपने को अलग कर लेता हूँ।'

जो भी ऊपर से देखेगा, उसे लगेगा कि अर्जुन युद्ध से हटना चाह रहा है, शांतिवादी है। बर्ट्रेंड रसेल, महात्मा गांधी, विनोबा का अनुयायी है; पेसिफिस्ट है; पहला पेसिफिस्ट—शांतिवादी है। और जो ऊपर से देखता है, उसको लगेगा : कृष्ण युद्धवादी हैं; क्योंकि कृष्ण कहते हैं : 'तू लड़।' और मैं तुमसे कहता हूँ : बात बिलकुल उलटी है।

कृष्ण अर्जुन को युद्ध से बचा रहे हैं; क्योंकि अर्जुन एक भीतरी युद्ध में पड़ने की कोशिश कर रहा है। और बाहर के युद्ध तो सिर्फ प्रतिध्वनियाँ हैं; असली युद्ध तो भीतर है।

अर्जुन अपने क्षत्रियत्व को इनकार कर रहा है—जिसका कि उसके खून-खून में, रोएँ-रोएँ में वास है; खून की बूँद-बूँद में जो छिपा है, उसके कण-कण में जो बना है, उसके भीतर सब तरफ क्षत्रिय है। वह स्वभाव से क्षत्रिय है।

कृष्ण का वचन बड़ा अद्भुत है, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः—अपने स्वभाव में, स्वधर्म में, अपने ढंग में, अपनी शैली में मर जाना बेहतर है।' 'पर धर्मो भयावहः—और दूसरे के धर्म में, दूसरों की शैली में जाना बड़ा भयावह है अर्जुन।' तू चूक जाएगा। ब्राह्मण होना तेरी नियति नहीं है। क्षत्रिय होना तेरी नियति है। उसके लिये ही तू निर्मित हुआ है। वही तेरी मांस-मज्जा में समाया है; वह तेरी आत्मा है।

कृष्ण यह कह रहे हैं : तू अपनी निजता को मत झुठला। तू अगर जंगल में भी भाग जाएगा और संन्यासी होकर झाड़ के नीचे बैठ जाएगा और तुझे एक हरिण

दिख जायेगा, तो हरिण को देखकर तुझे सौंदर्य का खयाल न आएगा, तू आसपास टटोलेगा कि मेरा धनुष-बाण कहाँ है। हरिण को देखकर कविता पैदा न होगी तेरे मन में; धनुष-बाण की खोज शुरू हो जाएगी। अगर सिंह तुझे दिख जाएगा और धनुष-बाण भी न हुआ तो तू छलाँग लगाकर कूद पड़ेगा और युद्ध में उतर जाएगा। तेरा रोआँ-रोआँ क्षत्रिय का है। वह तेरा गुण-धर्म है; वह तेरा स्वधर्म है।

मैं भी तुमसे यही कहता हूँ : 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' तुम अगर गृहस्थ हो, और वही तुम्हारा सुख और शांति है, और अगर तुमने वहीं पाया है—अपनी नियति को, तो तुम संन्यासियों की मत सुनना। होगा उनका स्वधर्म संन्यास; तुम्हारा नहीं है। जहाँ तुम्हें शांति मिल रही हो, जहाँ तुम्हें जीवन की ऊर्जा सहजता से प्रवाहित होती मालूम होती हो, जहाँ ऊर्जा में कोई स्खलन न होता हो, जीवन एक प्रवाह हो—अगर दुकान पर हो, तो दुकान; दफ्तर में हो, तो दफ्तर; पहाड़ पर हो, तो पहाड़।

मैं तुमसे यह नहीं कहता कि कोई स्थान चुनने योग्य है। तुम्हारे जीवन की सहजता चुनने योग्य है।

एक बड़ी अनूठी कहानी है—अशोक के जीवन में घटी। कहना मुश्किल है कि कहाँ तक सच है। लेकिन बड़ी गहरी सचाई की खबर देती है।

एक संध्या, वर्षा के दिन हैं, पाटलीपुत्र में—पटना में अशोक गंगा के किनारे खड़ा है। भयंकर बाढ़ आई है गंगा में। सीमाएँ तोड़कर गंगा बह रही है। बड़ा विराट् उसका रूप है; भयंकर ताण्डव करता उसका रूप है। न मालूम कितने गाँव बहा ले गई। न मालूम कितने खेतों को विनष्ट कर दिया; कितने पशु-पक्षी बहे चले जा रहे हैं! अशोक खड़ा है अपने आमात्यों, अपने मंत्रियों के साथ और उसने कहा कि 'क्या यह सम्भव है—क्या कोई ऐसा उपाय है—कि गंगा उलटी बह सके?' ऐसा अचानक उसको खयाल उठ आया कि क्या कोई रास्ता है कि गंगा उलटी बह सके—स्रोत की तरफ? आमात्यों ने कहा, 'असम्भव। और अगर चेष्टा भी की जाए तो अति कठिन है।'

एक वेश्या भी अशोक के साथ गंगा के किनारे आ गई है। वह नगर की सब से बड़ी वेश्या है। उन दिनों में वेश्याएँ भी बड़ी सम्मानित होती थीं। वह नगरवधू है। उस वेश्या का नाम था : बिन्दुमति। वह हँसने लगी और उसने कहा, 'अगर आप आज्ञा दें, तो मैं इसे उलटा बहा सकती हूँ।' अशोक चौंका। उसने कहा, 'क्या ढंग है, क्या मार्ग है—इसको उलटा बहाने का? तेरे पास ऐसी कौन-सी कला है?' तो उस वेश्या ने कहा, 'मेरी निजता का सत्य।' बड़ी अनूठी कहा-नी है। उसने कहा, 'मेरी निजता का सत्य, मेरे जीवन का सत्य, मेरी सामर्थ्य। मैंने उसका कभी उपयोग नहीं किया। बड़ी ऊर्जा मेरे जीवन के सत्य की—मेरे भीतर पड़ी है। अगर आप कहें,

तो यह गंगा उलटी बहेगी—मेरे कहने से बहेगी। इसका मुझे पक्का भरोसा है। क्योंकि मैं अपने सत्य से कभी भी नहीं डिगी।'

सम्राट् को भरोसा न आया, पर उसने कहा, 'देखें।' वेश्या ने आँखें बंद कीं; और कहानी कहती है कि गंगा उलटी बहने लगी! सम्राट् तो चरणों पर गिर पड़ा वेश्या के; और उसने कहा, 'बिन्दुमति, हमें तो कभी पता ही न चला कि तू वेश्या के अतिरिक्त भी कुछ और है। यह राज, यह रहस्य तूने कहाँ सीखा? यह तो बड़े सिद्ध पुरुष भी नहीं कर सकते हैं।' वेश्या ने कहा, 'मुझे सिद्ध पुरुषों का कोई पता नहीं। मैं तो सिर्फ एक सिद्ध वेश्या हूँ। और वही मेरे जीवन का सत्य है।'

'क्या है तेरे जीवन का सत्य—तू खोलकर कह,' अशोक ने कहा। उसने कहा, 'मेरे जीवन का सत्य इतना है कि मैं जानती हूँ: वेश्या होना ही मेरे जीवन की शैली है, वही मेरी नियति है। अन्यथा मैंने कभी कुछ और होना नहीं चाहा। अन्यथा की चाह ही मैंने कभी अपने भीतर नहीं आने दी। मैं समग्र हूँ; मैं सिर से लेकर पैर तक वेश्या हूँ। मेरा रोआँ-रोआँ वेश्या है। और मैंने वेश्या के धर्म से कभी अपने को च्युत नहीं किया।'

अशोक ने पूछा, क्या है वेश्या का धर्म? पागल मैंने कभी सुना नहीं कि वेश्या का भी कोई धर्म होता है! हम तो वेश्या को अधार्मिक समझते हैं। और यही मैं मानता था कि तू कितनी ही सुंदर हो, लेकिन तेरे भीतर एक गहरी कुरूपता है, क्योंकि तू शरीर को बेच रही है, सौंदर्य को बेच रही है। इससे क्षुद्र तो कोई व्यवसाय नहीं है।'

वेश्या ने कहा: व्यवसाय क्षुद्र और बड़े नहीं होते। व्यवसायी पर सब निर्भर करता है। मेरे जीवन का सत्य यह है कि मेरे गुरु ने, जिसने मुझे वेश्या होने की शिक्षा और दीक्षा दी, उसने मुझे कहा, कि 'एक सूत्र भर को सम्हाले रखना तो तेरा मोक्ष कभी तुझसे छिन नहीं सकता। और वह सूत्र यह है कि चाहे धनी आये, चाहे गरीब आये; चाहे शूद्र आये, चाहे ब्राह्मण आये; चाहे सुंदर पुरुष आये, चाहे कुरूप पुरुष आये; चाहे जवान, चाहे बूढ़ा; कोढ़ी आये, रुग्ण आये—जो भी तुझे पैसे दे, तू पैसे पर ध्यान रखना और व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार करना। न तो तू कोढ़ी को और रोगी को घृणा करना, न सुंदर को प्रेम करना। वह वेश्या का काम नहीं है। तू तटस्थ रहना। तेरा काम है—पैसा ले लेना। बस, बात खतम हो गई।

'तेरा ध्यान पैसे पर रहे। ब्राह्मण आये, तो तू अतिशय भाव से उसके पैर मत छूना। और शूद्र आये तो तू उसे इनकार मत करना। तेरा काम है पैसा। वेश्या का ध्यान पैसे पर। बाकी कोई भी आये, तू समभाव रखना। वही तेरा सम्यक्त्व है, वही तेरा सत्य है।' और मैंने उसे सम्हाला है!

'मैंने न तो कभी किसी के प्रति प्रेम किया, लगाव दिखाया, आसक्ति बनाई, मोह

किया। नहीं। न मैंने कभी किसी को घृणा की, जुगुप्सा की। नहीं। मैं दूर तटस्थ खड़ी रही हूँ।' तब तो वेश्या भी संन्यस्थ हो जाती है। कृष्ण ठीक कहते हैं: स्व-धर्मे निधनं श्रेय:।

कृष्ण अर्जुन को यही समझा रहे हैं कि 'तू ठीक से पहचान ले, तेरा स्वधर्म क्या है। अगर तू कहता है संन्यासी होना तेरा स्वधर्म है, अगर तू मानता है, समझता है कि संन्यासी होना तेरा स्वधर्म है, तो तू जा। लेकिन आज तक तुझमें संन्यास की कोई झलक दिखाई नहीं पड़ी। काफी जीवन तेरा बीत गया। हम पुराने संगी-साथी हैं। कभी तुझमें मैंने ब्राह्मण की कोई झलक नहीं देखी; संन्यासी का कोई भाव नहीं देखा। तू शुद्ध क्षत्रिय है। (अर्जुन से ज्यादा शुद्ध क्षत्रिय खोजना भी मुश्किल ह।) तो तू इससे भिन्न न हो सकेगा। तो एक ही उपाय है कि तू अपने ही धर्म के सत्य को उपलब्ध हो; निजता को मत छोड़।'

कृष्ण यह कह रहे हैं कि 'तू अपने भीतर अगर निजता को छोड़कर किसी और के पीछे चलेगा, किसी और की सुनेगा, किसी और आदर्श से प्रलोभित होगा, तो तेरे भीतर द्वन्द्व पैदा हो जाएगा।'

और जिस व्यक्ति के भीतर द्वन्द्व पैदा हो गया, वहीं असली युद्ध है। फिर एक संघर्ष शुरू होता है, जिसका कोई अंत नहीं है। क्योंकि तुम अपने से ही लड़ते हो, अंत हो कैसे सकता है! और तुम सभी लड़ रहे हो।

कोई क्रोध से लड़ रहा है, कोई काम से लड़ रहा है, कोई लोभ से लड़ रहा है। लोभ भी 'तुम्हारा' है, क्रोध भी तुम्हारा है—लड़ने वाले भी तुम हो—करोगे क्या? तुम अपने को ही बाँट लोगे—दो हिस्सों में—और अपने से ही लड़ोगे। क्या जीत सकते हो? क्या जीत सम्भव है? तुम व्यर्थ ही खो जाओगे।

अपने को स्वीकार कर लो—'स्वधम निधनं श्रेयः'। अपने को परिपूर्ण से स्वीकार कर लो।

तुम जो हो, उससे अन्यथा होने का उपाय नहीं है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम्हारे जीवन में क्रांति न होगी। जिस दिन तुम स्वीकार कर लोगे कि तुम जो हो, उससे अन्यथा होने का उपाय नहीं है; तुम्हें तुम्हारे धर्म का सत्य उपलब्ध हो जाएगा। तुम भी 'गंगा' को उलटी बहा सकते हो।

बड़ी ऊर्जा है तुममें, अगर तुम अखण्ड हो। वह वेश्या अखण्ड रही होगी। और उसने बड़ी निष्णात कुशलता से सम्यक्त्व को साध लिया था। वेश्या का सवाल नहीं है, न संन्यासी होने का सवाल है। क्योंकि यह हो सकता है: संन्यासी जंगल में बैठा हो और वेश्या का विचार करे; तब उसके भीतर द्वन्द्व है, संघर्ष है, कुरुक्षेत्र है। और वेश्या वेश्यालय में बैठी हो और संन्यास की धारणा करे; उसके भीतर भी द्वन्द्व है।

तुम जहाँ हो, वहाँ पूरे रहो। तुम्हारी समग्रता ही तुम्हें मोक्ष की तरफ ले जाएगी—मुक्ति की तरफ ले जाएगी।

और बड़ी अनूठी बात यह है कि जिस दिन तुम अपने को परिपूर्ण स्वीकार कर लेते हो, उसी दिन तुम्हारे भीतर क्रांति शुरू हो जाती है। जिसने स्वीकार कर लिया—अपने क्रोध को, उसके स्वीकार में ही अतिक्रमण है। वह क्रोध से ऊपर उठ गया, वह क्रोध के पार हो गया। उस स्वीकार में ही वह अलग हो गया, साक्षी हो गया।

वह वेश्या अपने वेश्यापन को स्वीकार करके साक्षी हो गई, अलग हो गई, भिन्न हो गई। अब सब खेल रह गया, लीला रह गई। इसलिए तो कोढ़ी आये, स्वस्थ आये, बीमार आये, युवा आये, बूढ़ा आये—कोई अंतर न रहा, सब खेल हो गया, सब नाटक हो गया। वेश्या दूर खड़ी हो गई।

अर्जुन को कृष्ण यही कह रहे हैं कि 'तू बीच में मत आ, दूर खड़ा हो जा—तटस्थ भाव से, फलाकांक्षा शून्य, अनासक्त। जो तेरी निजता है, उसको प्रकट होने दे। इस क्षण से भाग मत; और अपने से भाग मत।'

अपने से कोई कहीं भाग नहीं पाया है कभी! कहाँ जाओगे भागकर अपने से? जहाँ जाओगे, तुम तो तुम्हीं रहोगे। जिसने अपने को समरूप में स्वीकार कर लिया—(इसे लाओत्से ने तथाता कहा है)—उसके जीवन में परितोष आ जाता है, संतोष बरस जाता है, उसी संतोष में क्रांति घटित होती है।

तुम जरा कोशिश करके देखो। लड़कर तो तुमने बहुत कोशिश करके देख ली—जन्मों-जन्मों से। पिछले जन्म तुम्हें याद भी न हों, तो इस जन्म में तुमने लड़कर कोशिश कर ली। तुम एक साल भर के लिए मेरी मान लो कि तुम लड़ो मत, तुम अपनी निजता में बहो।

संसार कुछ भी कहे, लोग कितना ही समझाएँ कि तुम्हें बुद्ध होना है, महावीर होना है, राम होना है, कृष्ण होना है, तुम किसी की मत सुनना; क्योंकि तुम्हें तुम ही होना है; न राम होना है, न बुद्ध होना है, न कृष्ण होना है। वे सब विजातीय हैं तुम्हारे लिए। तुम चेष्टा करके राम अगर हो भी गये, तो झूठे—राम-लीला के राम हो पाओगे। उसका कोई मूल्य नहीं है; दो कौड़ी भी मूल्य नहीं है। यह भी हो सकता है कि रामलीला के राम के भी लोग पैर छूते हैं, तुम्हारे भी छूएँ। पर इससे तुम कुछ प्रसन्न मत होना। इसमें कुछ सार नहीं है। तुम तुम ही होने को पैदा हुए हो।

कृष्ण के वचनों से बड़ी संसार में कोई दूसरी व्यवस्था नहीं है अनुशासन की, जिसने व्यक्ति को उसके निजता के परम स्वीकार के लिये आग्रह किया हो।

अर्जुन जैसे ही राजी हो जाएगा, समझ लेगा कि मैं क्षत्रिय हूँ और इससे अन्यथा मैं कैसे हो सकता हूँ, कौन होगा इससे अन्यथा? मेरा सारा होना यही है—उसी क्षण

क्षत्रिय के बाहर एक सूत्र खड़ा हो गया—जो साक्षी का है। फिर युद्ध में उतर सकता है। फिर यह युद्ध एक नाटक है।

यदि चाहते हो कि महाभारत न हो, तो तुम्हारे हाथ में केवल इतना ही है कि भीतर जो युद्ध चलता है, उसे तुम रोक दो। और नकल में मत पड़ो। कोई और होने की कोशिश मत करो। तुम्हारी कोशिश ऐसी ही है, जैसे गुलाब का फूल कमल होना चाहे। पागल हो जाएगा। कमल तो क्या होगा, गुलाब भी न हो पाएगा। शक्ति लग जाएगी कमल होनें में, गुलाब होने से वंचित रह जाएगा।

तुम वही हो सकते हो, जो तुम हो। तुम्हें पूरा ही बनाया गया है; कुछ अधूरा नहीं है, कुछ कमी नहीं है।

तुम जरा एक वर्ष के लिए अपने को स्वीकार करके देख लो और देखो कैसी शांति तुम्हारे चारों तरफ घनी हो जाती है।

बड़ी कठिनाई होगी; क्योंकि सैकड़ों वर्षों की शिक्षा तुम्हें सदा—जैसे बैल को कोई पीछे से कोंचे चला जाता है, ऐसे तुम्हें कोंच रही है, कोड़े लगा रही है। कुछ बनो, दौड़ो; ऐसे खड़े-खड़े जीवन गँवा दोगे! बुद्ध बनो, महावीर बनो, कृष्ण बनो। जैसे परमात्मा तुम्हें स्वीकार नहीं करता, सिर्फ बुद्धों को स्वीकार करता है!

और कभी तुम यह भी तो देखो कि बुद्ध बुद्ध कैसे बने। उन्होंने कोई और बनने की कोशिश नहीं की, इसीलिए बुद्ध बने।

मैंने सुना है एक सूफी फकीर अपने गुरु के आसन पर विराजमान हुआ—गुरु की मृत्यु के बाद। लोगों में बड़ी अफवाएँ चलीं। लोगों में बड़े शक-संदेह उठे। आखिर गाँव के लोग इकट्ठे हो गए। कहना जरूरी था। क्योंकि बात जरा गलत थी। क्योंकि इस शिष्य का व्यवहार गुरु से बिलकुल भिन्न था। यह गुरु के पद का अधिकारी न था।

लोगों ने कहा, 'क्षमा करें; नाराज न हों; लेकिन आप गुरु के पद के अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि आपमें ऐसी कोई बात हमें नहीं दिखाई पड़ती, जो गुरु की मान्यतानुसार हो!' वह फकीर हँसने लगा। उसने कहा, 'इसीलिए। मेरे गुरु भी अपने गुरु की नहीं मानते थे। इसीलिए मैं उनका शिष्य हूँ। मेरे गुरु अपने ढंग के आदमी थे। उनके गुरु अपने ढंग के आदमी थे। मैं अपने ढंग का आदमी हूँ। और मेरे गुरु ने स्वयं को मेरे ऊपर नहीं थोपा। सिर्फ मुझे सहारा दिया कि मैं वही हो सकूँ, जो मैं हो सकता हूँ।

सद्‌गुरु और असद्‌गुरु का यही फर्क है। सद्‌गुरु तुमसे कहेगा, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'—अपने धर्म में—अपनी निजता में मर जाना भी ठीक; दूसरे की निजता को ओढ़कर जीना भी गलत। सफलता भी मिल जाए—दूसरे के पाखण्ड की ओढ़कर, दूसरे के वस्त्रों में छिपकर, तो वैसी सफलता दो कौड़ी की है। असफल भी होना

पड़े--अपनी निजता को बचाते हुए, तो असफल होना भी श्रेयस्कर, क्योंकि उस असफलता से भी तृप्ति होगी कि तुम तुम ही रहे।

तुम्हारे कण्ठ पर ही जब पानी की बूँद पड़ेगी, तभी तृप्ति आयेगी। दूसरे के कण्ठों पर पानी पड़ने से कुछ हल न होगा। तुम्हारी आँख जब देखेगी प्रकाश को, तभी सूर्योदय होगा। दूसरे की आँखों से देखने से कुछ भी न होगा।

तुम उधार मत बनना।

अर्जुन के मन में बड़े उधार बनने की चेष्टा पैदा हो गई थी। कृष्ण की सारी व्यवस्था यही है कि वह उधार न बने। नगद--स्वयं रहे।

वहीं से युद्ध शुरू होता है; फिर युद्ध फैलता चला जाता है। फिर तुम घर में लड़ते हो, परिवार में लड़ते हो, समाज में लड़ते हो, राज्य...। फिर युद्ध फैलाता चला जाता है; फिर पूरी पृथ्वी एक युद्ध है।

चाँद-तारों को दोष मत दो। थोड़ा भीतर देखो। आदमी के अतिरिक्त और कोई दोषी नहीं है।

● दूसरा प्रश्न : इस अत्यंत आक्रमणशील युग में स्त्रैण-चित्त वाले लोगों को कोई भी जगह जीना कठिन लगता है; क्योंकि शिक्षा ही आक्रमक होकर जीने की दी जाती है। लोग अपने जैसा ही करके छोड़ेंगे, ऐसा लगता है, तो क्या करें?

तुम्हें एक पुरानी कहानी कहता हूँ। यहूदियों में कथा है कि छत्तीस छिपे हुए संत सदा पृथ्वी पर घूमते रहते हैं; वे लोगों को जगाने की कोशिश करते हैं। गिरतों को सम्हालने की कोशिश करते हैं, भटकों को बुलाने की कोशिश करते हैं, दुखियों को सांत्वना बँधाते हैं। और वे छिपे होते हैं, उनकी कोई घोषणा नहीं होती। वे चुपचाप अदृश्य हाथों से इन सारे कामों को करते रहते हैं। यद्यपि, कहानी का जो असली सूत्र है, वह यह है कि उनके करने से कुछ परिणाम नहीं होता। न तो वे गिरों को उठा पाते हैं, न वे सोयों को जगा पाते हैं, न वे दुखियों को सुखी कर पाते हैं। लेकिन उनकी चेष्टा के कारण परमात्मा संसार को बनाए रखता है।

यह बड़ी मीठी कथा है--यहूदियों में। जिस दिन वे छत्तीस आदमी निराश हो जाएँगे, उस दिन पृथ्वी विलीन हो जाएगी। यद्यपि उन छत्तीस से कुछ भी नहीं होता; हो नहीं सकता; क्योंकि जो आदमी गिरा है, वह अपनी मरजी से गिरा है, उसकी मरजी के बिना तुम उसे उठा नहीं सकते। और तुम्हारी सब उठाने के चेष्टाएँ, उसे और गिरने का आमंत्रण बन जाएँगी।

जो सोया है, वह जान कर सोया है। तुम उसे जगा नहीं सकते। और जो दुःखी है, उसने दुःख में कुछ नियोजित कर रखा है, उसका इन्वेस्टमेन्ट; तुम उसे सुखी नहीं कर सकते। क्योंकि उसे तुम सुखी करोगे, तो उसके इन्वेस्टमेन्ट का क्या होगा?

समझो कि एक पत्नी बीमार पड़ी है घर में। रोती रहती है; अपनी हजार झूठी-सच्ची बीमारियों की चर्चा करती रहती है। और तुम उसे सुखी करना चाहते हो। वह तुम उसे न कर पाओगे; क्योंकि उसकी इस बीमारी के पीछे एक राज है। यह बीमारी पति को नियंत्रित करने का उपाय है। वह उसका इन्वेस्टमेन्ट है।

इसी ढंग से वह पति को वश में करती है। क्योंकि जब पत्नी बीमार होती है, तो पति क्या कर सकता है! मानना पड़ता है--जो भी पत्नी कहती है। स्वस्थ पत्नी को इनकार भी कर दो। अब मर रही है; बिस्तर पर पड़ी है, उसको क्या कहो! झुकना पड़ता है।

एक दफा स्त्रियों को पता चल जाता है कि तानाशाही करने का सुगम उपाय बीमारी है, फिर बहुत मुश्किल है। तब ऐसा भी होता है कि पति जब बाहर जाता है, तब पत्नी बिलकुल ठीक रहती है, पास-पड़ोस में जाती है, बातचीत करती है, रस लेती है। अखबार पढ़ती है, रेडियो चलाती है; जैसे ही पति के आने का वक्त होता है, रेडियो बंद, अखबार हट जाते हैं, बिस्तर पर लेट जाती है। और जितनी बीमारी होती है, उससे हजार गुना करके बताती है।

डॉक्टरों को पता है कि स्त्रियों की बीमारियों को एकदम से भरोसा नहीं किया जा सकता; पचास प्रतिशत झूठी होती हैं। और बाकी जो पचास प्रतिशत में जितना बड़ा पहाड़ बनाकर बताया जाता है, उतनी नहीं होतीं। छोटा-सा, राई--तिल--और पर्वत जैसा बताया जाता है। कारण हैं।

इस स्त्री को तुम सुखी नहीं कर सकते, क्योंकि वह सुखी होना नहीं चाहती। वह दुःखी जानकर है। दुःख उसका व्यवसाय है। उसने दुःख में से रास्ता बना लिया है।

छोटे-छोटे बच्चे भी समझ लेते हैं। जब बच्चा बीमार होता है, तो बाप भी आकर पास बैठता है, पैर दबाता है। जब बच्चा बीमार होता है, तो पड़ोसी देखने आते हैं। जब बच्चा स्वस्थ होता है, कोई फिक्र नहीं करता, कोई देखता ही नहीं; कोई ध्यान ही नहीं देता।

बच्चे ने एक गणित सीख लिया है कि जब तक तुम दुःखी न होओ, तुम पर ध्यान नहीं दिया जा सकता।

और ध्यान की बड़ी गहरी आकांक्षा है सब में--कि लोग ध्यान दें।

लोग ध्यान देते हैं, उससे तुम्हारे अहंकार की पुष्टि होती है। तो बच्चा बीमार है, वह बाहर जाकर टांग तोड़कर आ जाता है, हाथ में चोट मारकर आ जाता है। ध्यान माँग रहा है। वह यह कह रहा है कि ध्यान दो--मेरी तरफ।

तुमने कभी खयाल किया है : छोटे बच्चों को--जब तुम्हारे घर में मेहमान आते हैं तब तुम कह देते हो, शांत बैठना। ऐसे वे शांत ही बैठे रहते हैं। लेकिन मेहमान

आ जायँ, फिर वे हजार उपद्रव खड़े करने लगते हैं। क्योंकि वे देखते हैं कि मेहमानों की सारी नजर और सारा ध्यान तुम ही लिए ले रहे हो। उन पर भी ध्यान जाना चाहिए। वे भी ध्यान का केंद्र होना चाहते हैं। और अड़चन नहीं है; आखिर बच्चे हैं छोटे। बड़े बड़े, राजनीतिज्ञ, बड़े नेता भी ध्यान पर सारा जोर लगाये रखते हैं।

अभी मोरारजी ने अनशन किया; उस अनशन में उन्होंने एक पत्थर से दो चिड़ियाँ मारने की कोशिश की। एक तो इंदिरा को झुका लें और दूसरा—जयप्रकाश को जगह पर बिठा दें। क्योंकि जयप्रकाश का नाम जोर से बढ़ता जाता है। और ऐसा लगता है कि विरोध में वे अग्रणी हो गये हैं; वह भी पीड़ा है। तो अगर आमरण अनशन कर दो, तो अखबार में नाम अग्रणी हो जाएगा।

अब ये बड़े खेल चलते हैं। छोटे बच्चों से लेकर बड़े बूढ़ों तक कोई अंतर नहीं पड़ता। क्योंकि आकांक्षा—अहंकार के तृप्ति की—बनी रहती है।

तो यहूदियों में यह कथा है कि वे छत्तीस छिपे हुए संत पृथ्वी पर घूमते रहते हैं, यद्यपि उनसे किसी को सहायता नहीं मिलती। वे किसी को जगा नहीं पाते। कोई उनकी सुनता नहीं। मगर वे अपने प्रेम से अपना काम जारी रखते हैं।

तुम क्या सोचते हो, मैं तुमसे बोल रहा हूँ, तो इस भरोसे से कि तुम सुन ही लोगे। वह सवाल बड़ा नहीं है। तुम सुनोगे, इसकी सम्भावना बहुत कम है। लेकिन मैं निराश नहीं हूँ इससे। तुम सुनोगे या नहीं सुनोगे, यह तुम्हारे ऊपर है। मैं कहे चला जाऊँगा। मैं अपनी तरफ से तुम्हारी चिंता करता हूँ, यह बताये चला जाऊँगा। तुम न सुनोगे, वह तुम्हारी जिम्मेवारी।

तो ऐसा हुआ कि एक नगर था सोदोम; पुराना नगर था इजरायल का। अंगरेजी में एक शब्द है—सोदोमी। वह उसी नगर से बना है—सोदोम से। सोदोम में लोग बिलकुल भ्रष्ट हो गए थे। वे इतने भ्रष्ट हो गए थे कि पुरुष पुरुषों से संभोग करते थे, स्त्रियाँ स्त्रियों से संभोग करती थीं। यहीं तक नहीं, लोग पशुओं के साथ संभोग करने लगे थे—कुत्ता, बिल्ली, जानवर...! इसलिए अंगरेजी में जो शब्द है—सोदोमी, उसका मतलब है : पशुओं के साथ संभोग करना। वह उसी नगर से आया है—सोदोम से।

परमात्मा बहुत नाराज हो गया, क्रुद्ध हो गया कि इस नगर को तो बिलकुल मिटा ही देना है, जला ही देना है।

जैसे ही उन छत्तीस में से एक को खबर मिली, जो कहीं पास ही सोदोम के घूम रहा था, वह भागा हुआ सोदोम आ गया। कहते हैं, उसके सोदोम में आ जाने के कारण परमात्मा को रुकना पड़ा। अब क्या करो! वह जलाने जा ही रहा था सोदोम को, मगर वह एक संत आ गया और वह चिल्लाने लगा—नगर के रास्तों पर; लोगों

को समझाने लगा कि 'विनष्ट हो जाओगे। पाप से जागो। यह तुम क्या कर रहे हो? यह तो विकृति है। संस्कृति तो दूर, प्रकृति तक तुमने खो दी; धर्म तो दूर, तुमने जीवन का साधारण स्वास्थ्य भी खो दिया! यह तुम क्या कर रहे हो!'

वह चिल्लाता फिरता, लोगों को जगाता फिरता, लेकिन कोई उसकी सुनता न।

पहले तो लोगों ने समझा—पागल है; हँसे। फिर धीरे-धीरे उपेक्षा करने लगे। फिर तो हँसना भी बंद कर दिया। फिर तो कोई उसकी बात पर ध्यान ही न देता। लोग बहरे हो गए। लेकिन वह चिल्लाता रहा।

परमात्मा बड़ी अड़चन में पड़ गया; क्योंकि वह अपना काम रोके और गाँव छोड़े, तो परमात्मा गाँव को जला दे। तो इस एक आदमी की वजह से जो इतनी फिक्र करता है, जो इतनी चिंता करता है, जिसके मन में ऐसी करुणा है, लेकिन उसकी कोई नहीं सुनता है। तो भी वह लगाए जा रहा है अपनी रट...।

एक दिन एक बच्चे ने उसे रोका; क्योंकि वह बच्चा उसे देखता था। कभी-कभी संतों और बच्चों के बीच संवाद हो जाता है; क्योंकि संत भी बच्चे हैं। और बच्चे भी थोड़े-से संत हैं, इसलिए थोड़ा-सा सूत्र मिल जाता है। एक बच्चे ने कहा कि 'सुनो जी, कितने दफे तुम चिल्लाते हो, कोई सुनता नहीं है। बंद क्यों नहीं हो जाते?' तो उसने कहा, 'पहले मैं चिल्लाता था, कि लोग बदल जाएँगे, सुन लेंगे राजी हो जाएँगे; और यह दुर्भाग्य जो आ रहा है—बच जाएगा।' उस बच्चे ने कहा, 'ठीक है, पहले की छोड़ो; अब किसलिए चिल्लाते हो? कोई नहीं सुन रहा है।' उसने कहा, 'अब इसलिए चिल्लाता हूँ...। पहले चिल्लाता था कि लोग बदल जाएँगे— इस आशा से; अब इस आशा से चिल्लाता हूँ कि कहीं लोग मुझे न बदल दें। चिल्लाना तो जारी ही रखेगा। ये लोग बड़े कठिन मालूम पड़ते हैं। इनको मैं तो न बदल पाया, लेकिन कहीं ये लोग मुझे न बदल दें!'

यह जो प्रश्न है कि आक्रमक शिक्षा है, दीक्षा है, सारा समाज आक्रमक है—इसमें सरल चित्त लोग, अनाक्रमक लोग, अहिंसक लोग हृदय से भरे लोग—जिनको स्त्रैण-चित्त कहता है लाओत्से—इनकी क्या जगह है? कहाँ ये खड़े हों? कहीं ऐसा तो न होगा कि लोग अपने जैसा ही करके छोड़ेंगे?

नहीं, जगाने की, उठाने की चेष्टा में संलग्न रहे। अगर तुम लोगों की आक्रमणशीलता को क्षीण करने के उपाय करते रहे—यह जानते हुए भी कि शायद कोई भी न बदलेगा—निराश न हुए...।

करुणा कभी निराश नहीं होती। करुणा को कभी कोई निराश नहीं कर पाया है। करुणा कभी हताश नहीं होती। करुणा ने हताशा जानी ही नहीं है।

तो अगर तुम्हें लगता है कि लोग आक्रमक हैं, युद्धखोर—हिंसक हैं, तो बैठे मत

रहो, चुप मत रहो, जो तुम से बन सके—उनकी आक्रमणशीलता को क्षीण करने के लिए—करो; यह जानते हुए कि शायद तुम कुछ भी न कर पाओगे।

लेकिन तुमसे मैं कहता हूँ कि उन्हें बदलने की कोशिश में एक बात कम से कम होगी, वे तुम्हें न बदल पायेंगे; और वह भी कुछ कम नहीं है। वह भी काफी है।

इसलिए मुझसे जब पूछते हैं मित्र कि 'हम क्या करें? आप की बात हमारे हृदय को भर देती है। हम चाहते हैं कि जाकर लोगों को कहें, समझाएँ, लेकिन डर लगता है कि फिर कोई सुनेगा तो नहीं?।' सुनी कब किसकी है?

बुद्ध की किसी ने सुनी है? कि महावीर की या कृष्ण की किसी ने सुनी है? अगर सुन ही ली होती, तो दुनिया दूसरी होती; सुनाने को कोई बचता ही न। नहीं सुनी है किसी ने।

तुम क्यों फिक्र करते हो कि लोग सुनेंगे या नहीं। कम से कम तुम तो सुनोगे—अपनी ही बोलते हुए। उस से तुम्हारा बल बढ़ेगा। उससे कम से कम एक बात पक्की है कि लोग तुम्हें न बदल पाएँगे, वह भी कुछ कम नहीं है।

जाओ; और इसके लिये फिक्र मत करो कि लोग हँसेंगे। लोग हँसेंगे ही। वे सदा से हँसते रहे हैं। लोग अपना स्वभाव नहीं बदलते, तुम अपना क्यों बदलते हो?

तुम्हारे मन में भाव उठा है कि लोगों को कुछ देना है, तो दे दो, बाँट दो। इसकी चिंता मत करो कि वे हँसेंगे, फेंक देंगे। यह उनका काम है। यह तुम्हें विचार करने की जरूरत नहीं है। तुम अपने हृदय को उंडेल दो, उससे तुम हलके हो जाओगे। जैसे कोई बादल आकाश में घिरता है—जल से भरा हुआ; बरस जाता है। पहाड़ पर भी बरसता है, झील पर भी बरसता है। पहाड़ इनकार कर देते हैं, तो भी बादल पहाड़ पर बरसना बंद नहीं करते। झील स्वीकार कर लेती है, भर लेती है। तो भी बादल झील-झील पर ही नहीं बरसते, सब जगह बरसते रहते हैं।

तुम बरसो। तुम्हारे भीतर अगर कोई थोड़ी-सी भी प्रतीति आई है, तो तुम डरो मत; उस प्रतीति को बाँटो। बाँटने से वह तुम्हारे भीतर बढ़ेगी। कम से कम घटने की संभावना मिट जाएगी।

तुम इसकी चिंता मत करो कि दूसरों को यह प्रतीति हो पाएगी या नहीं। वह तुमने चिंता की, तो तुम डर जाओगे, सिकुड़ जाओगे। और डरा हुआ, सिकुड़ा हुआ आदमी दूसरों के द्वारा बदला जा सकता है।

और ध्यान रखना हिंसक और अज्ञानी आक्रमक होते हैं। हिंसक व अज्ञानी पहल लेते हैं। शांत आदमी संकोच करता है; दो दफा सोचता है—'कहना कि नहीं कहना।' अशांत फिक्र ही नहीं करता। वह एकदम हमला कर देता है—तुम्हारे ऊपर।

तुम्हारी दया, तुम्हारी करुणा, तुम्हारा ज्ञान, तुम्हारा ध्यान—तुम अगर बाँटोगे, तो तुम्हारे चारों तरफ उनसे एक परकोटा बन जाएगा, वह तुम्हें बचाएगा।

उस फकीर ने ठीक ही कहा कि कि 'पहले मैं इस आशा में चिल्लाता था कि लोग बदल जाएँगे। अब मैं इस आशा में चिल्लाये चला जाता हूँ कि कहीं लोग मुझे न बदल लें।'

लेकिन जब तक फकीर उस गाँव में रहा, सोदोम जलाया न जा सका। कहते हैं, तब परमात्मा को कुछ उपाय करना पड़ा। और एक संदेश-वाहक भेजना पड़ा कि 'तेरी दूसरे गाँव में भी जरूरत है।' दूसरा गाँव था—गोमोरा। वहाँ जरूरत है, वहाँ लोग बड़े पाप से भरे हैं—यहाँ से भी ज्यादा। संत वहाँ गया भागा हुआ। जैसे ही वह गाँव से बाहर हुआ, सोदोम पर अग्नि बरसी, सोदोम सदा के लिये नष्ट हो गया।

यह कहानी बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रतीक है, बड़ी सिम्बॉलिक है। यह हो सकता है कि संसार में आदमी जीता है, सिर्फ इसीलिए कि कुछ लोग परमात्मा से जुड़े रहते हैं अन्यथा तुम्हारा जीवन बिलकुल सड़ जाए। कोई एक भी उस स्रोत से जुड़ा रहता है, तो थोड़ी-सी जीवन की धारा आती-जाती है। तुम्हारे मरुस्थल में एक मरूद्यान बना रहता है। तुम्हारी तपती दुपहरी में कहीं कोई एक वृक्ष होता है, जिसके नीचे कभी तुम क्षण भर छाया ले लो, विश्राम कर लो।

● आखिरी प्रश्न : सजगता से आत्म-स्वीकार फलित होगा या कि आत्म-स्वीकार से सजगता फलित होती है।

ऐसे प्रश्नों में मत पड़ो। ये तो मुरगी-अण्डे जैसे प्रश्न हैं—कि मुरगी पहले होती है कि अण्डा पहले होता है! अण्डा पास हो, आमलेट बना लो; मुरगी पास हो सोरबा बना लो।

इन सवालों में मत पड़ो। जहाँ से शुरू करना हो—अण्डे से करना हो—अण्डे से; मुरगी से करना हो—मुरगी से। दोनों तरह से शुरू हो सकता है। अण्डा खरीद लाओ, मुरगी बन जाएगी। मुरगी खरीद लाओ, अण्डा रख देगी। लेकिन दार्शनिक सवालों में मत पड़ो। उन्हें कभी कोई हल नहीं कर पाया। सिवाय मुल्ला नसरुद्दीन के लड़के को।

मैं उसके घर था—एक सुबह और मुल्ला नसरुद्दीन बड़े दार्शनिक भाव में था। और उसने मुझसे पूछा कि 'आप बड़ी-बड़ी बातें किया करते हैं, एक सवाल का जबाब दे दो कि—मुरगी पहले या अण्डा? इसके पहले कि मैं कुछ कहूँ, उसके बेटे ने कहा, 'इसका जबाब तो मैं ही दे सकता हूँ।' मैं भी प्रसन्न हुआ; मैं भी थोड़ा हैरान हुआ कि जबाब देगा कैसे! पर उसने जबाब दे दिया। नसरुद्दीन ने कहा, 'तू...? क्या जबाब है?' उसने कहा, 'अण्डा पहले मुरगी बाद में; अण्डा नाश्ते में, मुरगी भोजन में।' बस, यही मेरा जबाब भी है।

चीजें संयुक्त हैं।

लोग पूछते हैं : 'ज्ञान पहले? या आनन्द पहले? वे संयुक्त हैं, एक ही सिक्के के

दो पहलू हैं। इधर ज्ञान—उधर आनन्द। इधर आनन्द—उधर ज्ञान। या तो तुम आनन्द पा लो, तो तुम ज्ञान की उपलब्ध हो जाओ। या तुम ज्ञान को पा लो, तो आनन्द को उपलब्ध हो जाओ।

सजगता से आत्म-स्वीकार फलित होता है। जैसे-जैसे तुम जागोगे, तुम अपने को स्वीकार कर लोगे। क्योंकि तुम तुम ही हो; और तुम सिर्फ तुम ही हो सकते हो। और कुछ होने का उपाय ही नहीं है। और सब असम्भव है, व्यर्थ है। उस दौड़ में जो भटका, वह भटका; कभी नहीं पहुँचा। तुम ही तुम्हारी मंजिल हो।

जैसे जैसे सजग होओगे, वैसे-वसे तुम स्वीकार करने लगोगे। और जैसे-जैसे तुम अपने को स्वीकार करोगे, तुम पाओगे, तुम्हारी स्वीकृति सजगता को बढ़ाती है। वे एक दूसरे के सहारे से बढ़ जाते हैं।

तुम बायें पैर से चलते हो कि दायें पैर से? कोई ऐसा सवाल नहीं पूछता; क्योंकि कोई सवाल का अर्थ ही नहीं है। तुम दोनों से चलते हो। जब तुम बायाँ उठाते हो, तब बायाँ उठता है, दायाँ सम्हाले रहता है तुमको। दायें के सम्हालने के बिना बायाँ उठ न सकेगा। आर जब बायाँ जमीन पर जम जाता है, तब दायाँ उठ आता है।

दो पैर हैं, दो पंख हैं; वे अलग-अलग नहीं हैं; तुमने उनको अलग बाँट लिया कि फिर उपद्रव शुरू हो जाता है। फिर सवाल खड़ा होता है, जिसका कोई हल नहीं हो सकता।

पश्चिम में एक बहुत बड़ा मनसविद् हुआ—विलियम जेम्स; उसने बड़ी अनूठी किताब लिखी है—'व्हेरायटीज ऑफ रिलिजस एक्सपीरियन्स—धार्मिक अनुभव के विविध रूप'। फिर वैसी किताब दोबारा नहीं लिखी गई। बहुत लोगों ने कोशिश की, लेकिन विलियम जेम्स ला-जवाब है।

बड़ी खोज की, सारी दुनिया में घूमा। वह भारत भी आया। यहाँ एक महात्मा से मिलने वह हिमालय गया। उसने अपने संस्मरणों में लिखा है कि मैंने महात्मा से पूछा कि 'हिन्दू शास्त्रों में कहा है कि परमात्मा ने पृथ्वी बनाई; फिर परमात्मा ने आठ श्वेत हाथी बनाए और आठों दिशाओं में हाथियों को खड़ा कर दिया और पृथ्वी उन्हीं के ऊपर सम्हली है।'

महात्मा ने कहा, 'बिलकुल ठीक पढ़ा और ठीक समझे।' पर विलियम जेम्स ने कहा, 'फिर सवाल उठता है कि हाथी किस पर खड़े हैं, किस पर सम्हले हैं!' महात्मा ने कहा, और बड़े-बड़े सफेद हाथी हैं, वे उन पर खड़े हैं।' विलियम जेम्स थोड़ा हैरान हुआ कि महात्मा समझ नहीं पाया—मेरे प्रश्न को। उसने कहा, 'फिर सवाल उठता है कि वे बड़े-बड़े हाथी किस पर खड़े हैं?' महात्मा ने कहा, 'और भी बड़े-बड़े हाथी हैं, वे उन पर खड़े हैं।'

विलियम जेम्स ने कहा, 'आप समझ नहीं पा रहे हैं!' महात्मा ने कहा, 'मैं समझ रहा हूँ, पर मैं कर भी क्या सकता हूँ। हाथी के ऊपर हाथी, हाथी के ऊपर हाथी; हाथी के नीचे हाथी, हाथी के नीचे हाथी। मैं कर भी क्या सकता हूँ? जैसा है, वैसा कह रहा हूँ। तुम पूछे चले जाओ, जन्मों-जन्मों तक, मैं यही कहूँगा—कि और नीचे खड़े हैं; क्योंकि शास्त्र गलत हो ही नहीं सकते।'

दार्शनिक सवाल, चीजों को दो में तोड़ लेते हैं और उलझन हो जाती है। 'पृथ्वी कहाँ सम्हली है?—तुमने पूछा कि गड़बड़ शुरू हो गई। पृथ्वी स्वयं सम्हली है, कोई हाथी सम्हाले हुए नहीं है। और अगर हाथी सम्हाले हुए हैं, तो अड़चन आने ही वाली है, क्योंकि फिर हाथी को कान सम्हाले हुए है!

यहाँ सभी चीजें स्वयं सम्हली हुई हैं, क्योंकि स्वयं का सत्य ही परमात्मा का सत्य है। यहाँ कोई किसी को सम्हाले हुए नहीं है अन्यथा कोई अंत न होगा सम्हालने का। मुरगी से हटोगे, तो अण्डा मिलेगा। फिर सवाल उठेगा कि अण्डा कहाँ से आया; वह फिर मुरगी से आयेगा। फिर मुरगी—पूछोगे कि—कहाँ से आई? वह फिर अण्डे से आएगी। इसका कोई अंत न होगा।

लेकिन जीवन में इसका अंत हो जाता है।

कौन फिक्र करता है कि मुरगी पहले या अण्डा पहले। जब भूख लगी हो, तो मुरगी अण्डे को सामने रखकर कोई विचार करता है? तब आदमी भोजन करता है।

मैं तुमसे भी यही कहता हूँ। तुम या चाहो तो सजगता से शुरू कर दो, तो भी तुम वहीं पहुँच जाओगे। सजगता से पैदा हो जाता है—आत्म-स्वीकार। या आत्म-स्वीकार से शुरू कर दो, तो भी वही पहुँच जाओगे। बायें पैर से यात्रा शुरू करो कि दायें से—इससे कोई फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि दोनों पैर तुम्हारे हैं। और दोनों पैर तुम्हें ले जाएँगे।

तुम दोनों पैर के ऊपर सम्हले हुए हो। दोनों पंख तुम्हारे हैं। लेकिन अलग-अलग लोगों को अलग-अलग सुविधा होगी। कुछ लोग हैं, जो दायें पैर से शुरू करेंगे; कुछ लोग हैं, जो बायें पैर से शुरू करेंगे। अपनी-अपनी सुविधा, अपना-अपना ढंग।

दो तरह के लोग हैं: एक तरह के लोग हैं, जो आत्म-स्वीकार से शुरू करेंगे; ये शांत तरह के लोग हैं। ये बहुत अशांत नहीं हैं। ये संतुष्ट प्रवृत्ति के लोग हैं। इनका ढंग जन्मों-जन्मों में संतोष का हो गया है, शांति का हो गया है। ये आत्म-स्वीकार से शुरू कर सकेंगे, और सजगता परिणाम में आयेगी।

जो लोग अशांत हैं, परेशान हैं, वे कैसे स्वीकार कर सकेंगे अपने को? अशांति को कौन स्वीकार कर पायेगा। बहुत कठिन होगा उनके लिये। सजगता से यात्रा शुरू होगी। पर फर्क कुछ भी नहीं पड़ता; क्योंकि कहीं से शुरू करो, चलते तुम हो, मंजिल पर तुम पहुँचते हो।

मंजिल पर पहुँच कर आदमी भूल ही जाता है कि बायें से शुरू किया था कि दायें से। शुरू किया था।

गुठलियाँ मत गिनो। रामकृष्ण कहते थे, 'जब आम पक गये हों, तो आम चूस लो; गुठलियाँ मत गिनो। और ये सब गुठलियाँ हैं और दर्शन-शास्त्र गुठलियाँ गिनता रहता है और धार्मिक व्यक्ति आम चूस लेता है।

फिलासॉफी और धर्म—दर्शन और धर्म का यही भेद है। दार्शनिक सोचता ही रहता है और धार्मिक अनुभव कर लेता है।

यहाँ मैं तुम्हें दार्शनिक बनाने को नहीं हूँ धार्मिक बनाने को हूँ।

अब सूत्र।

'और सत्—ऐसे यह परमात्मा का नाम सत्य-भाव में और श्रेष्ठभाव में प्रयोग किया जाता है। तथा हे पार्थ, उत्तम कर्म में भी सत् शब्द प्रयोग किया जाता है। तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, वह भी सत् है—ऐसे कही जाती है। और उस परमात्मा के अर्थ किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत् है—ऐसा कहा जाता है। हे अर्जुन, बिना श्रद्धा के होमा हुआ हवन तथा दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह समस्त असत् है—ऐसा कहा जाता है। इसलिए वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के पीछे उस दूसरे लोक में।'

'ओम् तत् सत्'—इन तीन शब्दो में सभी कुछ आ जाता है।

ओम् शब्द नहीं है, ध्वनि है। इसका कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि सभी अर्थ मनुष्यों के दिये हुए हैं। यह अर्थातीत ध्वनि है। जैसे नदी में कल-कल नाद होता है; क्या अर्थ है—कल-कल का? कोई अर्थ नहीं है। हवाएँ वृक्षों से गुजरती हैं; सरसराहट होती है। क्या अर्थ है सरसराहट का? कोई अर्थ नहीं है। आकाश में मेघ गरजते हैं; क्या अर्थ है उस गर्जना में। कोई भी अर्थ नहीं है। अर्थ तो आदमी के दिए हुए हैं।

ओंकार मौलिक ध्वनि है—जिससे सब विस्तार हुआ है। उस ध्वनि के ही अलग-अलग सब न रूप अलग-अलग ढंग से प्रकट हुए हैं।

उस ओंकार में कोई भी अर्थ नहीं है। तुम चाहो तो उसे अर्थहीन कह सकते हो। और चाहो तो अर्थातीत कह सकते हो। एक बात पक्की है कि वहाँ कोई अर्थ नहीं है। अर्थ हो नहीं सकता; क्योंकि उसके पूर्व कोई मनुष्य नहीं है।

इसलिए हमने ओंकार को परमात्मा का प्रतीक बना लिया, क्योंकि परमात्मा कोई तुम्हारा दिया हुआ अर्थ नहीं है। परमात्मा तुम से पहले है और तुम से बाद में है। तुम में भी है, तुम से पहले भी है, तुम से बाद में भी है।

परमात्मा तुम से विराट् है। तुम छोटी तरंग की तरह हो, वह सागर है। तरंग कैसे सागर को अर्थ दे पाएगी? और तरंग का दिया हुआ अर्थ क्या अर्थ रखेगा?

इसलिए हमने ओम् को परमात्मा का प्रतीकवाची शब्द चुना है। इसका हिन्दुओं से कुछ लेना-देना नहीं है। अर्थ होता तो हिन्दुओं से कुछ लेना-देना होता।

भारत में तीन धर्म पैदा हुए; चार धर्म कहना चाहिए—जैन, बौद्ध, हिन्दू और सिक्ख। इनमें बड़े मत-भेद हैं, बड़ी दार्शनिक झंझटें हैं—झगड़े हैं। लेकिन ओंकार के सम्बन्ध में कोई मत-भेद नहीं है।

नानक कहते हैं, 'इक ओंकार सत नाम'। ओम् तत् सत्—इसका ही वह रूप है। जैन ओम् का प्रयोग करते हैं—बिना किसी अड़चन के; बौद्ध प्रयोग करते हैं—बिना किसी अड़चन के।

यह एक मात्र शब्द है, जो गैर-साम्प्रदायिक मालूम पड़ता है। बाकी सब पर झगड़ा है। ब्रह्म' शब्द का उपयोग जैन न करेंगे। 'आत्मा' शब्द का उपयोग बुद्ध न करेंगे। लेकिन ओम् के साथ कोई झगड़ा नहीं है।

और ईसाई, इसलाम, यहूदी—तीन धर्म जो भारत के बाहर पैदा हुए हैं, उनके पास भी ओंकार की ध्वनि है; उसे वे ठीक से पकड़ नहीं पाये।

कहीं कुछ भूल हो गई। वे उसे कहते हैं 'आमीन, आमेन'।

हर प्रार्थना के बाद मुसलमान कहता है 'आमीन'। वह ओंकार की ही ध्वनि है; वह ओम् का ही रूप है।

इसलिए एक ही अर्थहीन शब्द है, जो सारे धर्मों को अनुस्यूत किये हुए है। अगर दुनिया में कोई एक शब्द खोजना चाहें— जो गैर-साम्प्रदायिक है, जिसके लिए सभी धर्मों के लोग राजी हो जाएँगे, तो वह ओम् है।

यह ओम् बड़ा अद्भुत है। सभी ने इसकी प्रतिध्वनि सुनी है। जो भी भीतर गए हैं, उन्होंने ओंकार को सुना है। लेकिन ओंकार को सुन कर बाहर उसकी खबर देने में थोड़े-थोड़े भेद पड़ गए हैं; पड़ ही जाएँगे।

तुमने कभी गौर किया : ट्रेन में बैठे हो, ट्रेन चलती है। अब वह किस तरह की आवाज हो रही है? झक-झक, छक-छक या भक-भक, भक-भक?—तुम जैसा सुनना चाहो, वैसा सुन ले सकते हो। और एक दफे तुम्हें पकड़ जाए एक बात कि यह झक-झक हो रहा है, यह भक-भक हो रहा है, फिर मुश्किल है; फिर वह पैटर्न पकड़ गया, फिर वह ढाँचा पकड़ गया, फिर वह तुम्हें वही सुनाई पड़ेगा। फिर लाख तुम्हें कोई दूसरा समझाए कि नहीं, यह ठीक नहीं है, तो भी तुम्हें वही सुनाई पड़ेगा, क्योंकि तुम्हारे मन में एक ढाँचा पकड़ लिया।

ओम् की शुद्धतम ध्वनि अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग तरह से सुन ली होगी।

आमीन की तरह सुन ली। वह सम्भव है। लेकिन इस संबंध में कोई विवाद नहीं है।

यह एकमात्र शब्द है, सारे धर्मों को जोड़े हुए है। यह शिखर शब्द है। जैसे मंदिर के खम्भे अलग-अलग खड़े हैं, लेकिन मंदिर का शिखर एक है।

अगर हम धर्म का कोई मंदिर बनाएँ और हर सम्प्रदाय के लिए एक-एक खम्भा बना दें, तो शिखर पर हमें ओंकार को रखना पड़ेगा।

'ओम् तत् सत्।' तत् यानी वह। सत् यानी—है। तत् के संबंध में हमने कल बात की कि हम क्यों उसे 'तत्' कहते हैं—क्यों कहते हैं—वह—दैट।

हम उसे 'तू' नहीं कहते। तू कहने से हमारा 'मैं' निर्मित होता है, बनता है, और तू कहने से हम परमात्मा को थोड़ा नीचे लाते हैं—उसके तत् रूप से—उसकी दैटनेस से। वह इतना पार! उसे हम खींच कर अपने घर के पास ले आते हैं। तब वह हमारा प्रेमी हो जाता है, पिता हो जाता है, पत्नी हो जाता है। फिर हम उससे एक संबंध बना लेते हैं।

जैसे ही हमने परमात्मा को 'तू' कहा, हम परमात्मा को खींच कर संसार में ले आते हैं। इसलिए भक्त तू के पार जाने में मुश्किल पाता है। फिर संबंध छूट जाएगा।

भक्ति संबंध है, ज्ञान असंबंध है। भक्ति में तुम कितने ही करीब आ जाओ, लेकिन फिर भी दूरी रहती है। ज्ञान में तुम एक ही हो जाते हो। इसलिए ज्ञानियों ने उसे तत् कहा है—वह एक तटस्थ शब्द है, जिसमें हमारा कोई भी राग-रंग नहीं जुड़ता।

और तीसरा शब्द है—सत्।

इन तीन में सारे भारत का वेदांत, सारा सार, सारी भारत की आत्मा समाई है। सब बुद्ध, सब महावीर, सब कृष्ण—इन तीन शब्दों में समाये हैं।

सत् का अर्थ है—जो है। वृक्ष भी है, पहाड़ भी है, तुम भी हो, मैं भी हूँ; लेकिन परमात्मा का होना, इस होने से भिन्न है। क्योंकि वृक्ष कल नहीं हो जाएगा; मैं आज हूँ, कल नहीं होऊँगा; पहाड़ अभी है, कल मिट जाएगा।

वैज्ञानिक कहते हैं कि जब आर्य भारत आए, आज से कोई तीस-पैंतीस हजार वर्ष पूर्व, तो हिमालय था ही नहीं। हिमालय बाद में पैदा हुआ। और हिमालय है भी बचकाना—अभी भी। वह बड़ा बहुत है, जैसे कोई छोटा बच्चा बाप से बड़ा हो जाय—लम्बा हो जाय—ऐसा हिमालय बड़ा बहुत है, ऊँचाई उसकी कोई नहीं छू सकता, लेकिन वह बिलकुल नया है; अभी भी बढ़ रहा है। हर वर्ष कोई चार इंच बढ़ जाता है। अभी भी बढ़ती जारी है। अभी भी प्रौढ़ नहीं हुआ है, बढ़ती रुकी नहीं।

विंध्याचल सब से पुराना पहाड़ है। उसकी कमर झुक गई है, बूढ़ा है। विंध्याचल के आसपास की जो भूमि है, वह संसार की सब से पुरानी भूमि है। नर्मदा की खूबी

उस भूमि में बहना है—जो सर्वाधिक प्राचीन है, जो सब से पहले सागर के बाहर आयी।

हिमालय बच्चा है; कभी पैदा हुआ—कभी नहीं था—और कभी एक दिन विलीन हो जाएगा।

पहाड़ भी बनते हैं, समाप्त हो जाते हैं, इसलिए परमात्मा के 'है-पन' में एक फर्क ध्यान रखना। हमारा होना एक तथ्य है—फैक्ट; कभी था, कभी फिर नहीं हो जाएगा। दो तरफ न-होने की खाई और बीच में होने की छोटी-सी ऊँचाई। जैसे एक पक्षी कमरे में चला आये तुम्हारे, क्षण भर तड़फड़ाये; एक खिड़की से प्रवेश करे, दूसरी खिड़की से निकल जाए। ऐसा क्षण भर को हमारा होना है, फिर गहन न-होना हो जाता है।

परमात्मा सदा है। सत् का अर्थ है—जो सदा है, जिसके न-होने का उपाय नहीं है। इसलिए तुम तो मिटोगे, तुम्हारे भीतर का परमात्मा कभी नहीं मिटता है। और जब तक तुमने अपने मिटने वाले स्वरूप के साथ अपने को एक समझा, तभी तक तुम भटकोगे, तब तक तुम दुःखी रहोगे, तब तक मौत तुम्हें डराएगी। लेकिन जिस दिन तुम्हारी नजर बदली और तुमने अपने भीतर उसको पहचान लिया, जो सत् है, जो न कभी मिटता, न कभी पैदा होता; जो बस है, जो शुद्ध 'है-पन' है—इजनेस।

इसलिए 'परमात्मा है', ऐसा कहना पुनरुक्ति है; गॉड इज—ऐसा कहना पुनरुक्ति है। 'वृक्ष है'—यह कहना तो ठीक है। क्योंकि वृक्ष कभी नहीं भी हो जाएगा। 'परमात्मा है'—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'है' का क्या मतलब? परमात्मा है—इसका तो मतलब हुआ कि जो है, वह है; यह तो पुनरुक्ति है। इसलिए हमने परमात्मा को सत् कहा है। हमने कहा कि वह 'है-पन' है। उसको मत कहो कि 'परमात्मा है'।

इसलिए उपनिषद् को—वेदांत को—नास्तिक भी इनकार नहीं कर सकता, क्योंकि वेदांत दावा ही नहीं करता कि परमात्मा है। इसलिए तुम कैसे खण्डन करोगे, कैसे सिद्ध करोगे कि वह नहीं है! यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है।

वेदांत यह नहीं कहता है कि परमात्मा है। वेदांत यह कहता है—जो है, वही परमात्मा है। है-पन—होना मात्र परमात्मा है। इसलिए भारत में नास्तिक पनप नहीं सके, क्योंकि हमारा दावा ही बड़ा अनूठा है।

पश्चिम में नास्तिक पनपे और ईसाई धार्मिक गुरु नास्तिकों को कभी भी समझा नहीं पाया; क्योंकि तुम कहते हो, 'ईश्वर है'—जैसे वृक्ष है, पहाड़ है। और नास्तिक कहते हैं कि 'नहीं है। जो है, उसे सिद्ध किया जा सकता है कि वह नहीं है।

इसलिए नीत्से का बहुत प्रसिद्ध वचन है, जिसमें उसने कहा, 'गॉड इज डैड'। ईसाइयत से इसका कोई विरोध नहीं है। क्योंकि अगर तुम कहते हो कि परमात्मा भी

वैसा ही है, जैसे और चीजें हैं, तो जैसे और चीजें मरती हैं, वैसे ईश्वर भी मर सकता है।

तो नीत्से ठीक कहता है कि 'ईश्वर मर गया है। अब तुम व्यर्थ पूजा कर रहे हो चर्च में। बंद करो; ईश्वर मर चुका; तुम किस की पूजा कर रहे हो? अब वह नहीं है!'

जो है, वह 'नहीं है' हो सकता है। लेकिन हमारी घोषणा ही भिन्न है। हम कहते हैं: 'वह सत् है।' सत् उसका स्वरूप है—उसका गुण नहीं। यह थोड़ी सूक्ष्म बात है।

गुण कभी खो सकता है, स्वरूप कभी खोता नहीं। तुम्हारा होना गुण है, स्वरूप नहीं। परमात्मा का होना स्वरूप है, गुण नहीं। वह सदा है। उचित तो यही होगा कि हम कहें कि जो सदा है—उसी का एक नाम परमात्मा है।

इसलिए 'ओम् तत् सत्'—इन तीन में सब आ जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन ने ये तीन शब्द एक बार पढ़ लिए—कहीं किसी शास्त्र में। और यह भी पढ़ लिया कि इन तीन शब्दों से जो भी तादात्म्य बना ले—जो भी इन तीन को —समझ ले—इसकी गहराई में उतर जाए, वह मोक्ष को उपलब्ध हो जाता है। वह बड़ा खुश और प्रसन्न चित घर लौटा। और उसने अपनी पत्नी से कहा कि, सुनो, एक बड़ा हीरा हाथ लग गया है—रामरतन धन पायो।' पत्नी तो, ऐसे कई हीरे उसके हाथ लगते पहले ही देख चुकी थी। पत्नी कहीं किसी पति को मानती है—कि इनके हाथ—और हीरे लग सकते हैं? हीरा भी लग जाए तो समझेगी कि कहीं का कंकड़-पत्थर उठा लाये हैं। तुम्हारे हाथ—और हीरा लग जाए! इतनी तुम्हारी योग्यता? कोई पत्नी पति की मानती ही नहीं।

सारी दुनिया पति को मानने लगे, लेकिन पत्नी को संदेह बना रहता है कि यह आदमी इतना प्रसिद्ध कैसे होता जा रहा है? यह आदमी, तो कुछ भी नहीं!

पत्नी ने कहा कि 'छोड़ो बकवास, कहाँ का हीरा? देखें।' उसने कहा, 'यह हीरा बड़ा भीतरी है।' पत्नी ने कहा, 'हम पहले ही समझ गये थे कि हीरा भीतरी ही होगा; जिसमें कि बताने की जरूरत न रहे।' नसरुद्दीन ने कहा, 'मजाक की बात नहीं है। मैंने तीन शब्द पढ़े और शास्त्र कहता है कि इन तीन शब्दों को जो जान ले, वह मोक्ष को उपलब्ध हो जाता है।'

पत्नी ने कहा कि 'तुम बेकार, व्यर्थ ही, नाहक ही मेहनत किये। हमसे पूछ लेते तीन शब्द। हम ही बता देते।' नसरुद्दीन ने कहा, 'बोलो।' उसने कहा, 'फाँसी लगा ली। है तीन शब्द? मुक्ति हो जाएगी।'

लेकिन अगर बहुत गौर से देखो, तो इन तीन शब्दों से फाँसी लगती है। इसे तुम मजाक मत समझना।

'ओम् तत् सत्—यानी फाँसी लगा लो। मैं भी इनका यही अर्थ करता हूँ।

तुम मिटोगे, तो ही 'ओम् तत् सत्' सत्य हो पाएगा। तुम मरोगे, तुम खो जाओगे, विलीन हो जाओगे, तो ही परमात्मा के होने की प्रगाढ़ता का तुम्हें अनुभव होगा।

तुम ही बंधन हो। तुम बँधे हो—ऐसा नहीं; तुम ही बंधन हो। तुम मुक्त हो जाओगे—ऐसा भी नहीं; तुमसे ही मुक्ति चाहिए। जिस दिन तुम ना रहोगे, उस दिन शेष रह जाता है—ओम् तत् सत्।

कृष्ण कहते हैं, सत् ऐसे यह परमात्मा का नाम सत्य-भाव में और श्रेष्ठ भाव में प्रयोग किया जाता है। तथा हे पार्थ, उत्तम कर्म में भी सत् शब्द प्रयोग किया जाता है।' और जहाँ-जहाँ अहंकार शून्य होकर कुछ भी होगा, वहीं सत् शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। उस कर्म को हम सत्-कर्म कहते हैं, जो निरअहंकार भाव से किया जाए। इस परिभाषा को ठीक से याद रख लेना।

सत्-कर्म का अर्थ है—जिसे तुमने न किया हो, वरन् जो तुम्हारे द्वारा परमात्मा से हुआ हो। सत्-कर्म का कोई अर्थ नहीं है—दूसरा—कि तुमने दक्षिणा दी, दान दिया, सेवा की। इनसे कुछ फर्क नहीं पड़ता।

तुमने अगर सेवा की और 'तुमने' ही की, तो वह सत्-कर्म नहीं है। तुम से अगर सेवा हुई और परमात्मा ने की, तो वह सत्-कर्म है।

अगर दान देते वक्त अहंकार खड़ा हो गया, तो वह असत्-कर्म हो गया। अगर दान देते वक्त तुमने अपना हाथ परमात्मा के हाथ में दे दिया और उसने ही दान दिया, तुम सिर्फ उपकरण रहे—निमित्त मात्र—तो सत्-कम हो गया।

सत्-कर्म की यह व्याख्या अनूठी है। इस में कुछ सम्बन्ध नहीं है दूसरे से। इसमें अच्छे कर्म का सवाल नहीं है। इस में सवाल है—निरअहंकारिता का। परमात्मा से हो—तो सत् हो जाता है कृत्य। तुम से हो—तो असत् हो जाता है कृत्य।

'तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, वह भी सत् है—ऐसा कहा जाता है। और उस परमात्मा के अर्थ किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत् है—ऐसे कहा जाता है।' कृष्ण यह कह रहे हैं कि अर्जुन, युद्ध न तो सत् ह आर न असत्। कैसे तू करता है, इस पर सब निर्भर है। तो तू यह मत कह की युद्ध असत् है, हिंसक है, बुरा है, दुष्कर्म है; मैं न करूँगा; पाप है।

कृष्ण पूरी व्याख्या को बड़ी गहराई पर ले जा रहे हैं। वे कह रह हैं कि सवाल युद्ध का नहीं है; सवाल करने वाले का है। अगर तू ऐसे युद्ध में उतरता है, जैसे तू है ही नहीं, परमात्मा ही तेरे द्वारा जो करवा रहा है, वह हो रहा है, तू बीच से हट जाए, तो सत्-कर्म है। तो युद्ध भी धर्म-युद्ध हो जाता ह। और अगर 'तू' युद्ध कर

रहा है और परमात्मा को तू पीछे हटा देता हैं; खुद आगे आ जाता है, तो असत् हो जाता है।

इसका यह अर्थ हुआ कि कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है—सत् और असत् होने का। एक वेश्या भी सत् को उपलब्ध हो सकती है—एक चोर भी, एक हत्यारा भी—अगर उसने अपना अहंकार छोड़ दिया और परमात्मा ने जो करवाया—वह निमित्त-मात्र हो गया।

कबीर कहते हैं, 'मैं तो बाँस की पोंगरी हूँ। गीत तेरे हैं।' बस, तब गीत जो भी हो, वह सत् हो जाएगा।

और चाहे तुम दान करो, तप करो, यज्ञ करो, लेकिन अगर अहंकार के ही आभूषण जोड़ रहे हो, तो कृत्य अच्छे दिखाई पड़ते हैं, लेकिन सत् नहीं हैं।

परमात्मा के हाथ की छाप जिस पर पड़ जाए, वही कृत्य सत् है, क्योंकि परमात्मा सत् है।

'हे अर्जुन, बिना श्रद्धा के होमा हुआ हवन तथा दिया गया दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया जाए, वह कर्म असत् है—ऐसा कहा जाता है।'

श्रद्धा का अर्थ है—समर्पण; श्रद्धा का अर्थ है—निमित्त हो जाना। श्रद्धा का अर्थ है—मैं नहीं हूँ, तू है। श्रद्धा का अर्थ है—मैं हटा, तू आ और विराजमान हो जा। श्रद्धा का अर्थ है—मैं सिंहासन छोड़ता हूँ—तेरे लिए।

श्रद्धा का अर्थ है—अब मैं जैसे जीऊँगा, ऐसे तू जिलाएगा; अब मेरी कोई मरजी नहीं, अब तेरी मरजी ही मेरी मरजी है। श्रद्धा का अर्थ है—'फाँसी'। श्रद्धा का अर्थ है—मैं मरा; अब तू मुझसे जी।

जिस क्षण तुम शववत् हो जाते हो, उसी क्षण तुम शिववत् हो जाते हो। जिस क्षण मुरदे की भाँति हो जाते हो, उसी क्षण परमात्मा का शिवत्व तुम्हारे भीतर से अहर्निश बहने लगता है। फिर तप करो, न करो—करने वाला न रहा, कोई फल की आकांक्षा न रही— तुम उसके हाथ की लकड़ी हो गये। फिर न तो तुम्हें पाप लगते, न पुण्य लगता। फिर कर्म के सारे जाल तुम्हें नहीं छूते। तुम फिर कमलवत् इस संसार में रह सकते हो—अस्पर्शित।

'और वह सब असत् है, जो बिना श्रद्धा के किया जाता है। इसलिए वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के पीछे ही।' उसके धोखे में मत पड़ना।

सूत्र रूप में—सार रूप में—एक आखिरी बात स्मरण रखना कि जो भी तुमसे हो, वह अधर्म है। जो 'तुम करो' वह अधर्म है। जो अहंकार से बहे, वह पवित्र गंगा नहीं है। इस किनारे तीर्थ न बनेंगे। जो निरअहंकार से आये...।

एक ही यज्ञ है—तुम्हारा जल जाना। नाहक घी मत जलाओ; घी की वैसे ही कमी

है। नाहक अनाज मत फेंको; अनाज वैसे ही बहुत कम है। मूढ़ताएँ मत करो।

एक ही तप है...। धूप में मत खड़े रहो, क्योंकि उस धूप में तुम्हारा अहंकार ही और अकड़ेगा—भरेगा। व्यर्थ अपने को भूखा मत मारो, क्योंकि उस भूखे मरने में तुम्हारा अहंकार और सघन होगा।

एक ही तप है कि तुम मिटो। एक ही यज्ञ है कि तुम मिटो। एक ही दान है कि तुम अपने को दे डालो। फिर जो बच रहता है—लहर के खो जाने पर जो बच रहता है सागर, उसका ही नाम है—ओम तत् सत्।